स-पर्यालोचन

भीमसेन शास्त्री
एम्० ए०, पी० एच्० डी०

वाराणसीस्थ-पाणिनिविद्यालय-पुस्तकालयाय प्राभृतीक्रियते ग्रन्थ एष प्रणेत्रा

(भीमसेन शास्त्री)
१३-६-८०



A STUDY OF NYĀSA

[A Critical Study of Jinendrabuddhi's Nyāsa, the Commentary on Kāśikā]



Thesis approved for the Degree of Doctor of Philosophy by the University of Delhi in 1979.

Bhim Sen Shastri
M. A. Ph. D. Sahityaratna

Published by the author :

BHIM SEN SHASTRI
M. A. Ph.D.
596/11-D. Mukerji Street,
Gandhi Nagar, Delhi-110031

FIRST EDITION : 1979
Price : Rupees One Hundred only.

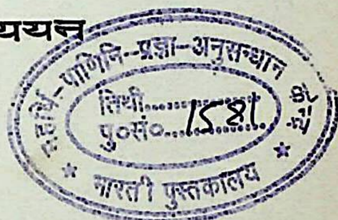
Sole Distributers :
BHAIMI PRAKASHAN
537, LAJPATRAI MARKET,
DELHI-110006 (INDIA)

Composed by : **B. K. Composing Agency**
And Printed in : **RADHA PRESS, DELHI.**

दिल्लीविश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधप्रबन्ध—

न्यास-पर्यालोचन

जिनेन्द्रबुद्धिकृत
काशिकाविवरणपञ्जिका
का
आलोचनात्मक अध्ययन



भीमसेन शास्त्री
एम्. ए., पी. एच्. डी., साहित्यरत्न

प्राप्ति-स्थान
मैत्री प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-११०००६

प्रकाशक (लेखक)—
भीमसेन शास्त्री M. A. Ph. D.
५९६/११–डी. मुखर्जी स्ट्रीट,
गान्धीनगर, दिल्ली-११००३१

प्रथम संस्करण : १९७९
मूल्य : एक सौ रुपये

इस ग्रन्थ के एकमात्र वितरक
भैमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-११०००६

बी०के० कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा कम्पोज़ करवा कर
राधा प्रेस, गांधीनगर, दिल्ली-११००३१ में मुद्रित



न्यासकार ! नमस्तुभ्यं सूत्रकारमतानुग !
सूत्रकारे रतिर्मेऽपि त्वादृशी जायतां ध्रुवा ॥

वार्त्तिकाद्यनपेक्षेण सूत्रमात्राऽवलम्बिना ।
येन व्याकरणं प्रोच्य वदातं श्रितं यशः ॥
बुद्धयन्ताय जिनेन्द्राय न्यासग्रन्थकृते नमः ।
काशिकातत्त्वविज्ञाने यस्य दीपायितं वचः ॥



पूर्वपीठिका

जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास से मेरा परिचय तब हुआ जब मैं १६ वर्ष की वय में गुरुकुल-पोठोहार (रावलपिण्डी) में सुप्रसिद्ध दार्शनिक और महावैयाकरण आचार्य-प्रवर श्रीमुक्तिराम उपाध्याय जी से वैशेषिकदर्शन और व्याकरण का विशेष अध्ययन करने गया था। आचार्यमहोदयों ने काशिका का प्रथम पाठ पढ़ाते ही कहा था कि काशिका की गुत्थियों को सुलझाने वाला न्यास ग्रन्थ तुम्हें अवश्य देखना होगा, इस के विना तुम्हारी काशिका अधूरी ही रहेगी। तुरन्त मेरे लिये लवपुर (लाहौर) से न्यास ग्रन्थ मंगवाया गया। यह घटना सम्भवतः सन् १९३५ की है। तब से मैं बराबर न्यास ग्रन्थ के सम्पर्क में हूं। दैवयोग से कई बार मैंने न्यास का स्वाध्याय प्रारम्भ किया और परिस्थितियों के वश उसे मध्य में छोड़ दिया। परन्तु इस के प्रति मेरा जो आकर्षण आरम्भतः जागृत हुआ था वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया उस में कभी न्यूनता एवं ह्रास का अनुभव नहीं हुआ। लघुकौमुदी की भैमीव्याख्या का पूर्वार्ध लिखते समय सन् १९४१-१९४६ में भी मैंने इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। परन्तु १९६८ में जब दिल्ली विश्वविद्यालय से मुझे 'A Study of Nyasa' विषय पर शोध करने की अनुमति प्राप्त हुई—तब मेरे हर्ष का पारावार न रहा और मैं इस ग्रन्थ के विशेष अध्ययन में जुट गया। इस बीच मुझे वैयाकरण-भूषण-सार (धात्वर्थप्रकरण) पर हिन्दीभाष्य तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या का द्वितीय भाग भी लिखना पड़ा, इस से यह अनुसन्धानकार्य कुछ अवरुद्ध सा हो गया। परन्तु गत तीन-चार वर्षों से निरन्तर निर्बाध गति से इस ग्रन्थ पर अनुसन्धान चलता रहा। इस के लिये शतशः पाणिनीय-व्याकरण-ग्रन्थों तथा दर्जनों पाणिनीतर-व्याकरण-ग्रन्थों का भी मुझे गहन अध्ययन करना पड़ा। कातन्त्र, दुर्गसिंहवृत्ति, दुर्गसिंहरचित तट्टीका, संक्षिप्त-सार, गोयीचन्द्रविरचित तद्व्याख्या, व्याकरणदर्शनेर-इतिहास आदि कुछ ग्रन्थ बंगला लिपि में ही उपलब्ध थे उन का भी किसी तरह पारायण किया गया। इन सब के परिणाम-स्वरूप यह शोध-प्रबन्ध आज उपस्थित किया जा रहा है।

न्यास ग्रन्थ के विषय में जो कथनीय है वह सब आगे कह दिया गया है अतः यहां उस का पुनरुल्लेख पिष्टपेषणवत् होगा। यहां मुझे इस शोधप्रबन्ध के ढांचे और साहाय्य-प्राप्ति के विषय में ही कुछ शब्द कहने हैं।

इस प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार के विषय में सामान्य-परिचय दिया गया है। इस परिचय में काशिका की प्रथम व्याख्या न्यास, न्यासनामकरण का रहस्य, न्यासकार का काल, धर्म और जन्मस्थानादि, न्यासकार की शैली, भाषा, वैशिष्ट्य, अनुसूत्रपदता, हरदत्त के साथ तुलना आदि कोई दो दर्जन विषयों पर सप्रमाण विवेचन उपस्थित किया गया है। इस

अध्याय के तैयार करने में मुझे न्यास और पदमञ्जरी के कई बार पारायण करने पड़े जिस से मुझे अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।

द्वितीय अध्याय में 'न्यास के ऋणी उत्तरवर्त्ती वैयाकरण' नामक विषय का वर्णन है। इस अध्याय में न्यासकार के ६६ योगदानों का सप्रमाण उल्लेख किया गया है जो उन्होंने उत्तरवर्त्ती संस्कृतव्याकरणजगत् को प्रदान किये हैं। वैसे तो न्यासकार के शतशः योगदान उत्तरवर्त्तियों को प्राप्त हुए हैं परन्तु निदर्शनार्थ यहां ६६ योग ही समलोचनापूर्वक ग्रथित किये गये हैं। इन योगदानों के उल्लेख के साथ-साथ न्यासकार पर पड़े पूर्ववर्त्ती पाणिनीतर व्याकरणों के प्रभाव को तथा न्यासोत्तरवर्त्ती पाणिनीतर व्याकरणों पर पड़े न्यासकार के प्रभाव को भी आंका जाना आवश्यक समझा गया है। पाणिनीतर व्याकरणों में मुख्यतः कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, भोजदेवकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत इन दस प्रमुख व्याकरणों को ही सम्मिलित किया गया है।

तृतीय अध्याय में 'उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन' नामक विषय संगृहीत किया गया है। उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने न्यासकार की सैंकड़ों बातों एवं मान्यताओं का जो अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है उन में से निदर्शनार्थ कुछ प्रमुख बातों का यहां औचित्य-अनौचित्य के आधार पर आलोचनात्मक लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। इस के साथ-साथ उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों की चिन्तनप्रक्रियागत मौलिक मतभेदों के कारणों को भी खोजने का प्रयत्न किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में 'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन' नामक महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया गया है। अद्यत्वे काशिका के पाठ इतने भ्रष्ट हो चुके हैं कि किन्हीं दो स्थानों के मुद्रित काशिका ग्रन्थ परस्पर नहीं मिलते। इन में प्रतिलिपिकरों तथा सम्पादकों की मनमानी भी कम कारण नहीं है। काशिका के ये भ्रष्ट पाठ न्यास के आलोक में कैसे शुद्ध किये जा सकते हैं इस विषय का सोदाहरण विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस में यह भी बताया गया है कि न्यास केवल काशिका के पाठसंशोधनों में ही सहायता प्रदान नहीं करता अपितु महाभाष्य, अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्ति, विट्ठलकृत प्रसाद तथा हरदत्तमिश्रकृत पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों के अनेक भ्रष्ट पाठों के संशोधन में भी महोपकारक सिद्ध हो सकता है। काशिका तथा अन्य ग्रन्थों के ७२ भ्रष्ट पाठ इस अध्याय में निदर्शनार्थ शुद्ध करने के लिये समालोचनापूर्वक प्रस्तुत किये गये हैं।

पञ्चम अध्याय में अद्यत्वे मुद्रित न्यास ग्रन्थ के भ्रष्टपाठों एवं न्यासकार की स्वकीय भ्रान्तियों तथा प्रमादों का उल्लेख किया गया है। इस में न्यासीय एक सौ भ्रष्ट पाठों पर विचार करते हुए न्यास के भावी सम्पादन में अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इस में इस बात का भी विवेचन किया गया है कि कौन सा भ्रष्ट पाठ लेखकप्रमादज है और कौन सा न्यासकार का स्वकीय ?

षष्ठ अध्याय उपसंहारात्मक है। इस में एक प्रकार से सारे शोधप्रबन्ध का विहंगम दृश्य तथा कुछ पूर्वोत्सृष्ट अस्पृष्ट बातों की भी विवेचना उपस्थित की गई है।

इस शोधप्रबन्ध के लिखने में साहाय्य प्रदान करने वालों में सबसे प्रथम मैं अपने प्रातःस्मरणीय स्वर्गत पूर्व गुरुजनों का कृतज्ञतापूर्वक नतमस्तक हो कर स्मरण करता हूं जिन्होंने अपनी असीम अनुकम्पा से व्याकरण जैसे शुष्क विषय में मुझे रसवत्ता का भान कराया। इन में स्वनामधन्य ऋषिकल्प व्याकरण के सूर्य काशी के मूर्धन्य पण्डित हरनारायण जी त्रिपाठी (तिवारी जी), गुरुकुलपोठोहार के तपःपूत आचार्य मुक्तिराम उपाध्याय जी (बाद में—स्वामी आत्मानन्द जी) और अष्टाध्यायी-क्रम को पठनपाठन में लाने में अग्रणी श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी प्रमुख हैं। मैं यह गम्भीरतापूर्वक अनुभव करता हूं कि लाख यत्न करने पर भी मैं इन गुरुजनों के ऋण से कदापि उऋण नहीं हो सकता।

इस शोधप्रबन्ध के निर्देशक प्रो० सत्यव्रत जी शास्त्री व्याकरणाचार्य भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग एवं डीन कलासंकाय दिल्ली विश्वविद्यालय का आभार तो मैं शब्दों द्वारा व्यक्त ही नहीं कर सकता जिन के द्वार मेरे लिये सदा अनावृत रहे और जिन्होंने पद पद पर मेरा मार्गनिर्देशन किया।

पितृकल्प श्रद्धेय श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री का यहां वर्णन न करना तो कृतघ्नता की पराकाष्ठा होगी जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को अक्षरशः पढ़कर मुझे अत्यन्त उत्साहित तथा प्रेरित किया और स्थान-स्थान पर अपने अनुभवपूर्ण सुझावों से उपकृत किया।

श्रीयुधिष्ठिरमीमांसक जी जो मेरे सतीर्थ्य अग्रज हैं, उन का भी मैं चिर-आभारी हूं। उन्होंने अस्वस्थ रहते हुए भी मेरे प्रबन्ध के कुछ भाग को पढ़कर मुझे इस कार्य में सतत प्रवृत्त रहने को बहुत उत्साहित किया है। इस के अतिरिक्त उन्होंने अपने तथा रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय से जो दुर्लभ कुछ ग्रन्थ मुझे प्रदान करने की महती कृपा की है, वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती।

इस शोधप्रबन्ध के लिखने में मैंने बहुत अधिक ग्रन्थों से सहायता ली है। इतने ग्रन्थों का एक स्थान पर संग्रह बहुत कम देखने को मिलता है। दिल्ली नगर में तो शायद कहीं उपलब्ध न था। इस में मेरे निजी पुस्तकालय का ही प्रधानतया योगदान रहा है जिसे मैंने धीरे-धीरे पिछले चालीस वर्षों में संगृहीत किया है। सत्य तो यह है कि यदि यह दुर्लभ-ग्रन्थराशि पाकिस्तान से बच कर मेरे पास न आई होती तो यह शोधप्रबन्ध इस रूप में कदापि लिखा ही न जा सकता, फिर इस का रूप शायद दूसरा होता जो कम से कम मेरे हृदय को सन्तुष्ट न कर पाता।

इस शोधप्रबन्ध के लिये सामग्री तथा प्रमाणसंकलन बहुत अधिक मात्रा में हो चुका था, उस सब का यहां उपयोग करता तो सम्भवतः इस से भी द्विगुण आकार का

शोधप्रबन्ध बन जाता, अतः उस संकलन का सार भाग लेकर ही इस में उपयोग किया गया है। फिर भी प्रबन्ध का आकार बड़ा हो गया है इस के लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं।

इस शोधप्रबन्ध के छापने में दिल्लीविश्वविद्यालय के अधिकारियों ने जो अनुमति प्रदान की है उस का मैं चिर आभारी हूं। इस ग्रन्थ के प्रूफ आदि शोधन तथा ग्रन्थ की साज-सज्जा संवारने में मेरे आयुष्मान् सुपुत्रों पतञ्जलिकुमार शास्त्री एम्० ए० तथा अश्विनीकुमार बालक का पूर्ण सहयोग रहा है। ग्रन्थ को शुद्धतम तथा शीघ्र छापने में बी. के. कम्पोज़िंग एजेन्सी तथा राधाप्रेस के सञ्चालक श्रीव्यासनन्दनशर्माजी का भी मुझे बहुत सहयोग प्राप्त हुआ है अतः उन का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

यदि मेरा यह सारा अध्यवसाय संस्कृतव्याकरणप्रेमियों के लिये कुछ उपकारक सिद्ध हुआ तो मैं अपने यत्न को सफल मानूंगा।

यत्नेनैतेन सर्वेण ज्ञानज्वालोन्नमेद्यदि।
धन्यं मंस्ये तदात्मानं शान्ति लप्स्ये परामिति॥

५९६/११-D, मुकर्जी गली
गांधीनगर—दिल्ली
वैशाख कृष्ण १, संवत् २०३६ वै०
(१३—४—१९७९)

सुरभारतीसमुपासक
भीमसेन शास्त्री

संकेत-सूची

इस शोधप्रबन्ध में सुविधा को दृष्टि में रखते हुए प्रायः संकेतों का प्रयोग बहुत कम किया गया है। थोड़े से जो संकेत क्वचित् प्रयुक्त किये गये हैं उनकी तालिका निम्नस्थप्रकारेण समझनी चाहिये—

अनुशा० = अनुशासनपर्व
अमोघा० = अमोघावृत्ति (शाकटायन)
उ० = उत्तरार्ध
उद्योत० = प्रदीपोद्योत (नागेशभट्ट)
ऋ० = ऋग्वेद
कुमार० = कुमारसम्भव
कृदन्त० = कृदन्तपाद (संक्षिप्तसार)
क्षीर० = क्षीरतरङ्गिणी
गणरत्न० = गणरत्नमहोदधि
गु० प्र० = गुरुप्रसादशास्त्री
गोयी० = गोयीचन्द्रव्याख्या
चान्द्र० = चान्द्रव्याकरण
चारुदेवसं० = चारुदेवशास्त्रिसंस्करण
चिकित्सित० = चिकित्सितस्थान सुश्रुत
जैनेन्द्र०, जै० व्या० } = जैनेन्द्रव्याकरण
जैनेन्द्रमहा० = जैनेन्द्रमहावृत्ति
तत्त्व० = तत्त्वबोधिनी
दुर्ग० = दुर्गसिंहवृत्ति (कातन्त्र)
नि० सा० = निर्णयसागर प्रेस बम्बई
प० शे०, परिभाषे० शे० } = परिभाषेन्दुशेखर
पस्पशा० = पस्पशाह्निक महाभाष्य
पू० = पूर्वार्ध
पृ० = पृष्ठ
प्रक्रिया कौ० = प्रक्रियाकौमुदी
प्रक्रिया स० = प्रक्रियासर्वस्व
प्रत्या० = प्रत्याहारसूत्र
प्रदीप० = महाभाष्यप्रदीप (कैयट)
प्राच्यसं० = प्राच्यसंस्करण काशी
बालमनो० = बालमनोरमा
बृ० श० शे० = बृहच्छब्देन्दुशेखर
भट्टि० = भट्टिकाव्य
भा० वृ० = भाषावृत्ति
मनु० = मनुस्मृति
मा० धा० वृत्ति = माधवीया धातुवृत्ति
मुग्ध० = मुग्धबोधव्याकरण
यजुः० = यजुर्वेद
यु० मी० = युधिष्ठिर मीमांसक
राजशाही० = राजशाहीसंस्करण
ल० रत्न = लघुशब्दरत्न
ल० श० शे० = लघुशब्देन्दुशेखर
लौ० गृ० सूत्र = लौगाक्षिगृह्यसूत्र
वा० = वार्त्तिक
व्या० दी० = व्याकरणदीपिका
व्या० मि० = व्याकरणमिताक्षरा
व्या० सि० सु० = व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि
शाकटायन० = शाकटायनव्याकरण
श्रीसिद्धहेम० = श्रीसिद्धहेचन्द्रशब्दानुशासन
श० न्यास = शब्दार्णवन्यास (हैम)
सरस्वती० = सरस्वतीकण्ठाभरणव्याकरण
सं० = संस्करण
संक्षिप्त० = संक्षिप्तसारव्याकरण
सारस्वत० = सारस्वतव्याकरण
सि० कौ० = सिद्धान्तकौमुदी
सि० चन्द्रिका = सिद्धान्तचन्द्रिका
हृदय० = हृदयहारिणी
हैम० = श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन

इस ग्रन्थ में दशमलवयुक्त दो संख्याओं में प्रथम संख्या अध्यायबोधक तथा दूसरी अनुच्छेदबोधक है। यथा—(४.२) अर्थात् चतुर्थाध्याय का दूसरा अनुच्छेद।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

[न्यास का सामान्य परिचय]

न्यासस्य न्यासकारस्य तद्वैशिष्ट्यादिकस्य च ।
सामान्येन विचारोऽत्र प्रथमाऽध्यायगोचरः ॥

[१.१] काशिका की व्याख्येयता—

पाणिनीय व्याकरण के काशिकावृत्ति जैसे प्रौढ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर व्याख्याओं का लिखा जाना स्वाभाविक है। काशिकावृत्ति की रचना खिष्टीय सप्तमशताब्दी के पूर्वार्ध में हुई यह अब सुनिश्चितप्राय हो चुका है।[1] अपने पूर्वातिशायी गुणों के कारण[2] काशिका का प्रसार व प्रचार द्रुतगति से हुआ और यह संस्कृतव्याकरण के पठन-पाठन में शीघ्र ही प्रचलित हो गई। चीनी यात्री इत्सिंग के भारत-आगमन (सन् ६७३) तक इसका खूब प्रचार हो चुका था। यह सब इत्सिंग के यात्रा-विवरण के पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है।[3] काशिका पर यद्यपि अनेक व्याख्याओं व टीकाओं की रचना हुई[4] तथापि इनमें इस समय प्रधानतया दो व्याख्याएं ही उपलब्ध होती हैं। (१) जिनेन्द्रबुद्धिकृत काशिकाविवरणपञ्चिका या काशिकाविवरणपञ्जिका। इसी का ही दूसरा सुप्रसिद्ध नाम 'न्यास' है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में खण्डशः प्राप्यमाण पर क्वचिदपि समग्रतया अनुपलभ्यमान इस ग्रन्थ के जीर्णोद्धार व सम्पादन का श्रेय राजशाही (पूर्वी बंगाल) के श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती प्राध्यापक ढाकाविश्वविद्यालय को है जिन्होंने लुप्तप्राय इस ग्रन्थ के सम्पादन व प्रकाशन में अपने जीवन के बहुमूल्य १२ वर्षों (सन् १९१३-१९२५) का समय लगा दिया।[5] (२) हरदत्तकृतपदमञ्जरी।

---

१. Consequently, the काशिका is probably to be dated in the seventh century, a date generally accepted by modern scholars.
(George Cardona : 'पाणिनि-A Survey of Research.' P. 281)

२. इष्टयुपसंख्यानवती शुद्धगणा विवृतगूढसूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम॥ (काशिका-उपक्रम श्लोक २)

३. 'इत्सिंग की भारत-यात्रा', इलाहाबाद संस्करण, चौंतीसवां परिच्छेद, (पृष्ठ २५७—८३)।

४. युधिष्ठिरमीमांसक, 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग, अध्याय १५।

५. यह ग्रन्थ राजशाही (बंगाल) से Varendra Research Society द्वारा प्रकाशित किया गया था जो देश के विभाजन के बाद बहुत काल से दुष्प्राप्य था। इसका पुनर्मुद्रण वाराणसी से स्वामिद्वारिकादासशास्त्री और पं० कालिकाप्रसादशुक्ल के संयुक्त सम्पादकत्व में सन् १९६५—१९६७ में हुआ है। इस द्वितीयसंस्करण में न्यास के साथ-साथ मूलकाशिका और पदमञ्जरी-व्याख्या को भी छाप कर प्रकाशकों ने जहाँ व्याकरणजगत् को बहुत उपकृत किया वहाँ सम्पादकों ने तीनों ग्रन्थों के बहुत से पाठ भ्रष्ट छाप कर उसका बड़ा अपकार भी किया है। इन भ्रष्ट पाठों के लिए इस शोधप्रबन्ध का अध्याय (५) देखें।

जिसका सम्पादन काशी के श्रीदामोदरशास्त्री भारद्वाज ने सन् १८९८ में किया था। जो अब पुनः वाराणसी से काशिका और न्यास के साथ मुद्रित की गई है। इन दोनों में जिनेन्द्रबुद्धिकृतन्यास ही पूर्वभावी है और पदमञ्जरी परवर्त्तिनी रचना—यह सब आगे स्पष्ट किया जायेगा।

[१.२] काशिका की प्रथम व्याख्या—

जिनेन्द्रबुद्धि ने न्यास में यद्यपि सैंकड़ों स्थानों पर **अन्ये, एके, अपरे, केचित्**[1] आदि पदों से अन्य व्याख्याओं की ओर निर्देश किया है तथापि उनका निर्देश काशिका की ही अन्य व्याख्याओं की ओर है—यह सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके सामने पूर्ववर्त्ती अनेक वृत्तियों और उन पर अनेक व्याख्योपव्याख्याओं की विपुल ग्रन्थराशि विद्यमान थी जिसका सारसंग्रह उन्होंने अपनी व्याख्या में किया है। वे ग्रन्थ के आदि में लिखते भी हैं—

'अन्यतः सारमादाय कृतैषा काशिका यथा।
वृत्तिस्तस्या यथाशक्ति क्रियते पञ्जिका तथा॥'

इस समय तक काशिका पर न्यास से प्राचीन कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हुई और न ही किसी अन्य पूर्ववर्त्ती व्याख्या का नाम तक ज्ञात हो सका है। इससे हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सम्भवतः न्यास ही काशिका की सर्वप्रथम व्याख्या है। डॉ० कीलहार्न ने पदमञ्जरी को ही न्यास का उपजीव्य व स्रोत वतलाया है जो सर्वथा निर्मूल और नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि पदमञ्जरीकार न केवल न्यासकार के सैंकड़ों वचन यथावत् उद्धृत करते हैं बल्कि उसका नामनिर्देश करते हुए कई स्थानों पर उन में संशोधन, परिवर्धन तथा उन का प्रत्याख्यान भी प्रस्तुत करते हैं—यह सब आगे बहुत स्पष्ट किया जायेगा। डा० कीलहार्न के मत का समर्थक शायद इस समय कोई नहीं, सब अनुसन्धाता न्यासकार को हरदत्तमिश्र का पूर्ववर्ती मानते हैं।[2]

[१.३] 'न्यास' का नामकरण—

काशिकाविवरणपञ्जिका अपरनाम न्यास के रचयिता जिनेन्द्रबुद्धि ही हैं यह इसके प्रत्येक पाद के अन्त में लिखी पुष्पिकाओं से सुस्पष्ट है।[3] जिनेन्द्रबुद्धि ने यद्यपि अपने ग्रन्थ का नाम कहीं न्यास नहीं लिखा तथापि उनकी कृति का यही नाम वैयाकरणनिकाय में

---

१. निदर्शनार्थ देखें—
अन्ये (पृष्ठ ७, २१, ३३), **एके** (पृष्ठ ३६), **अपरे** (पृष्ठ ७, १९), **केचित्** (पृष्ठ ३, १२, ३३, ३८) आदि।

२. देखें, श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिकृतन्यासभूमिका (पृष्ठ २३)।

३. 'इति श्रीबोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां काशिकाविवरणपञ्जिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः' इत्यादि।

सर्वत्र प्रचलित है। अतएव उन्हें न्यासकृत् या न्यासकार के नाम से ही बहुधा पुकारा जाता है। उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने न्यास के नाम से जितने उद्धरण अपने-अपने ग्रन्थों में दिये हैं वे प्रायः सब जिनेन्द्रबुद्धि के इस ग्रन्थ में ही मिल जाते हैं। खिृष्टीय पञ्चमशताब्दी से पूर्व व्याकरणव्याख्यावाचक यह 'न्यास' शब्द था या नहीं इसका कुछ पता नहीं चलता। खिृष्टीय पञ्चमशताब्दी के उत्तरार्ध व षष्ठशताब्दी के पूर्वार्ध में क्षपणकन्यास रचा गया जिसके जैनेन्द्रव्याकरण के कर्त्ता पूज्यपाद देवनन्दी रचयिता थे।[1] सम्भवतः व्याख्यावाचक न्यासशब्द व्याकरण के क्षेत्र में इसी काल की देन है। न्यासशब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—न्यस्यते = स्थाप्यते = दृढीक्रियते मूलोक्तोऽर्थोऽनेनेति न्यासः। जिससे वृत्त्युक्त या मूलोक्त बात का समर्थन किया जाये उसे 'न्यास' कहते हैं। न्यास का प्रणयन केवल पाणिनीय–व्याकरण तक ही सीमित नहीं अपितु पाणिनीतरव्याकरणों पर भी न्यास लिखे गये हैं। जैनेन्द्र, शाकटायन, हैम आदि व्याकरणों के भी न्यास सुप्रसिद्ध हैं। पर इतरव्याकरण प्रान्तविशेषों तक ही सीमित रहे, उन को प्रायः अखिलभारतीय या सार्वभौम प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई और यह प्रतिष्ठा केवल पाणिनीयव्याकरण को ही प्राप्त हुई है अतः पाणिनीयव्याकरण के इस न्यास की जैसी प्रसिद्धि हुई वैसी अन्य किसी न्यास की नहीं। यही कारण है कि आज न्यास का नाम लेते ही जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास ही पुरतः उपस्थित होता है कोई अन्य न्यास नहीं। इसमें न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि की स्वकीय सर्वातिशायिनी व्याख्याशैली भी कम कारण नहीं है—यह आगे स्पष्ट करेंगे।

---

१. देखें—श्रीगुरुपदहालदार का 'व्याकरणदर्शनेर इतिहास' (पृष्ठ ३९७)।
कुछ लोग क्षपणक को देवनन्दी से पृथक् व्यक्ति मानते हुए इसे महाराज–विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में गिनते हैं—

धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

(ज्योतिर्विदाभरण २२.१०)

इन के मतानुसार क्षपणक ने अपने एक पृथक् व्याकरण का निर्माण किया था। इस व्याकरण के यत्र तत्र कुछ उद्धरण भी उपलब्ध होते हैं (जैसे—**अत एव नावमात्मानं मन्यत इति विगृह्य परत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति नावंमन्य इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्**—तन्त्रप्रदीप १.४.५५, भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९३)। तन्त्रप्रदीप (४.१.१५५) में क्षपणकप्रणीत महान्यास का भी उल्लेख प्राप्त होता है (देखें—धातुप्रदीप पर श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती की भूमिका पृ० १)। 'महान्यास' में 'महा' लगा रहने से क्षपणक के न्यास का भी अनुमान होता है।

[१.४] न्यासकार का काल–

न्यास के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि हैं–यह तो निर्विवाद है, पर इनका काल विवादास्पद है। उन्होंने २२०६ पृष्ठात्मक[1] इतने विस्तृत अपने ग्रन्थ में भी अपना परिच्छद कहीं नहीं दिया। अतः इनके काल और जन्म आदि के विषय में इससे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इन का काल जांचने के लिए हमें अधिकतर वहिरङ्गप्रमाणों का ही आश्रय लेना पड़ता है। न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती के अनुसार इन का समय सन् ७२५–७५० है। उन्होंने अपने मत की सिद्धि के लिए न्यास की भूमिका में दो प्रवल प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। प्रथम प्रमाण यथा–

> अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
> शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ (माघ २.११२)

माघप्रणीत शिशुपालवध के इस सुप्रसिद्ध पद्य में श्लेष के द्वारा पाणिनीयव्याकरण के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का निर्देश किया गया है। इसमें न्यास, वृत्ति (काशिका) तथा निवन्धन (महाभाष्य)[2] का स्पष्ट उल्लेख आया है। न्यास को यहां 'अनुत्सूत्रपद' कहा गया है। इसका अभिप्राय है—'अनुत्क्रान्तानि सूत्रपदानि यस्मिन्' अर्थात् सूत्रपदों का उल्लङ्घन न करने वाला। न्यासकार जिस तरह युक्तियुक्तप्रकार से प्रत्येक वार्त्तिक, उपसंख्यान व इष्टि आदि का प्रतिपादन सूत्र के पदों से ही करते जाते हैं इससे न्यास का यह विशेषण सर्वथा अन्वर्थ प्रतीत होता है। अतः न्याससम्पादक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस पद्य में प्रतिपादित न्यास जिनेन्द्रबुद्धिकृतन्यास के सिवाय दूसरा कोई हो नहीं सकता। माघ का काल उन्होंने ८०० ई० के आसपास माना है, इसे देखते हुए न्यासकार का काल ७२५–७५० ई० ही कहा जा सकता है। इससे पूर्व न्यासकार को रखने में चीनी यात्री इत्सिंग (जो भारतप्रवास में सन् ६७३ से ६८९ तक रहे) के यात्राविवरण से विरोध आता है। उसने अपने भारत यात्राविवरण में जहां काशिकाकार, चूर्णिकार (महाभाष्यकार), भर्तृहरि आदि सुप्रसिद्ध वैयाकरणों का और पठन-पाठन में आ रहे उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है वहां उसने न्यासकार जैसे उल्लेखनीय आचार्य का कोई निर्देश नहीं किया।[3] इससे यही प्रमाणित होता है कि इत्सिंग

---

१. यह पृष्ठसंख्या राजशाहीमुद्रित संस्करण के अनुसार है। पी० वी० काणे ने अपने 'History of Sanskrit Poetics' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ११७ पर न्यास के इस संस्करण की पृष्ठ संख्या ११४९ दी है जो सर्वथा अशुद्ध है। काणे ने सम्भवतः न्यास के द्वितीय भाग के अन्त में लिखी पृष्ठ संख्या को देखते हुए ही ऐसा लिखा होगा, प्रथमभाग की पृष्ठसंख्या १०६४ का उन्हें ध्यान नहीं रहा होगा।

२. 'निवन्धन' शब्द से महाभाष्य के ग्रहण में भर्तृहरि की यह कारिका प्रमाण है–

> 'कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
> सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥' (वाक्यपदीय २.४७९)

३. 'इत्सिंग की भारतयात्रा' इलाहावादसंस्करण, ३४वां परिच्छेद (पृष्ठ २५७-८३)।

के भारत छोड़ने (सन् ६८६) तक न्यास का निर्माण नहीं हुआ था। किञ्च इत्सिंग के लेखानुसार काशिकाकार जयादित्य की मृत्यु सन् ६६१-६६२ के मध्य हुई।[1] इधर न्यासकार के कुछ अन्तरङ्ग निर्देशों से यह भी सिद्ध होता है कि काशिकानिर्माण और न्यासनिर्माण के मध्य पर्याप्त काल बीत चुका था।[2] इस काल को यदि एक-दो पीढ़ी तक भी सीमित मान लें तो इस तरह न्यासकार का काल अष्टमशताब्दी का पूर्वार्ध ही निश्चित होता है।

दूसरा प्रमाण–

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत्॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा॥

(भामहकाव्यालंकार ६–३६,३७)

न्यास के सम्पादक का कहना है कि भामह ने यहाँ स्पष्ट न्यासकार का उल्लेख करते हुए कहा है कि शिष्टों द्वारा प्रयुक्त न होने तथा न्यासकार द्वारा समर्थित न होने से काव्य में तृजन्त के साथ षष्ठ्यन्त पदों के समास का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[3] भामह के काव्यालंकार पर काश्मीरनरेश जयापीड के सभापति उद्भट

---

१. 'इत्सिंग की भारतयात्रा' पृष्ठ २७० पर फुटनोट।

२. (क) 'अन्ये तूत्तरसूत्रे कणिता श्वो रणिता श्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्। इह तु दुर्विन्यस्तकाकुपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति।' (न्यास १.१.५)

(ख) 'औटष्टकारः सुडिति प्रत्याहारग्रहणार्थः। वृत्तौ त्वेष ग्रन्थो नास्ति। भवितव्यं त्वनेन। लेखकप्रमाददोषादिदानीमन्तर्हितः।' (न्यास ४.१.२)

(ग) "दिवेः कनिन् युवृषि॰ इत्यादिना कनिन्प्रत्यये रूपम्। हलि चेति। 'उपधायां च' इत्येतद् इदानीन्तनकुलेखकैः प्रमादाल्लिखितम्।" (न्यास १.१.५८)

(घ) 'ससंग्रहमित्येतदुदाहरणं प्रमादादिदानीन्तनैः कुलेखकैर्लिखितम्।' (न्यास ६.३.७९)

न्यासकार के यहाँ 'इति वर्णयन्ति', 'इदानीम्', 'इदानीन्तनैः कुलेखकैः, आदि निर्देशों से स्पष्ट द्योतित होता है कि काशिकाकार का काल न्यासकार के काल से पर्याप्त प्राचीन है।

३. So भामह perhaps means that शिष्टप्रयोगमात्रेण हेतुना अथवा न्यासकारमतेन हेतुना तृचा समस्तषष्ठीकं कथंचिन्नोदाहरेत्, that is, in accordance with the uses of the learned who never compound a तृजन्त word with a षष्ठ्यन्त one or as the opinion of the न्यासकार is against such a compound, such words should never be used.

(न्यास राजशाही॰ भूमिका पृष्ठ २५)

ने[1] कोई विवरण लिखा था—ऐसा कई व्याख्याकारों की व्याख्याओं से ज्ञात होता है।[2] महाराज जयापीड का काल सन् ७७९–८१३ सुनिश्चित है अतः उद्भट का काल भी यही होना चाहिए। इस तरह भामह को उद्भट से कुछ पूर्ववर्त्ती मानना पड़ता है। भामह को यदि सन् ७७५ के आस-पास रखते हैं तो उसमें उद्धृत न्यासकार का काल सुतरां ७२५–७५० ई० ही सिद्ध होता है। इत्थं न्यास-सम्पादक के अनुसार इन लेखकों की समयतालिका इस प्रकार है—

न्यासकार	—	सन् ७२५–७५०
भामह	—	सन् ७७५
उद्भट	—	सन् ७८५
माघ	—	सन् ८००

परन्तु न्याससम्पादक के इन दोनों प्रमाणों पर अनेक विद्वज्जनों ने विविध आक्षेप किये हैं। तद्यथा प्रथम प्रमाण पर—

उपर्युक्त विवेचन में शिशुपालवध के रचयिता माघकवि का समय जो सन् ८०० ई० के आस-पास निश्चित किया गया है वह मान्य नहीं। क्योंकि डा० एफ़्० कीलहार्न (Dr. F. Kielhorn) को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक किसी स्थान पर महाराज वर्मलात का सन् ६२५ (सम्वत् ६८२ वि०) का एक शिलालेख मिला है।[3] वर्मलात माघकवि के दादा सुप्रभदेव के आश्रयदाता थे।[4] इस प्रकार माघ के दादा का समय सन् ६२५ निश्चित होता है। दादा और पौत्र में काल का अन्तर २५-५० वर्षों तक का सम्भव है अतः माघ का काल सन् ६५०-६७५ ई० के आस-पास ही होना चाहिए। परन्तु इत्सिंग के यात्राविवरण को देखते हुए इस काल तक न्यास का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। अतः माघ के उपर्युक्त पद्य में किसी अन्य पूर्ववर्त्ती न्यास का ही उल्लेख सम्भव है जिनेन्द्रबुद्धिकृतन्यास का नहीं।

---

१. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥ (राजतरङ्गिणी ४-४९५)

२. परवर्त्ती लेखकों ने 'भामहविवरण' का अनेकशः उल्लेख किया है। तद्यथा—अभिनवगुप्त ने अपने लोचन में (पृष्ठ १०, ४०, १३४, १५९), हेमचन्द्र ने (टीका पृष्ठ १७, ११०), प्रतीहारेन्दुराज ने (पृष्ठ १३) इत्यादि। (देखें, डा० सुशीलकुमार डे, 'History of Sanskrit Poetics, Pt. I,' (पृष्ठ ६८)।

३. 'द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे।
जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुंगवैः॥'

४. 'सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलाख्यस्य बभूव राज्ञः।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा॥
तस्याभवद् दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः।
तस्यात्मजः सुकविकीर्त्तिदुराशयादः काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम्॥
(शिशुपालवध के अन्त में)

न्याससम्पादक के दूसरे प्रमाण पर भी यह आक्षेप किया जाता है कि भामह ने न्यासकार के जिस मत का अपने श्लोकों में वर्णन किया है वह मत जिनेन्द्रबुद्धि के समग्र न्यास में कहीं पाया ही नहीं जाता। किञ्च उस श्लोक का जो भाव न्यास के सम्पादक ने निकाला है वह भी अस्वाभाविक और भामह के शब्दों के स्वारस्य से नितान्त विपरीत है। भामह का आशय यह नहीं है कि शिष्टों का प्रयोग तथा न्यासकार का मत तृजन्त के साथ षष्ठचन्तों के समास का निषेध करता है। वे तो यह कहना चाहते हैं कि शिष्टों के कुछ प्रयोगों को देखकर या न्यासकार के समर्थन को देखकर काव्य में तृजन्तों के साथ षष्ठचन्त का समास प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। यदि न्याससम्पादक का उपर्युक्त भाव स्वीकार किया जाये तो श्लोक में 'मात्र' शब्द का स्वारस्य विहत हो जायेगा। न्याससम्पादकोक्त उपर्युक्त भाव पर पी० वी० काणे ने भी बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया है।[1] अतः भामहोक्त न्यासकार के मत को देखते हुए यही निश्चित होता है कि भामह जिस न्यास के मत को उद्धृत कर रहे हैं वह न्यास जिनेन्द्रबुद्धिकृत नहीं अपितु कोई अन्य पूर्ववर्ती न्यास है। जिनेन्द्रबुद्धि से पूर्व भी अनेक न्यासों का उल्लेख यत्र तत्र पाया जाता है।[2]

---

१. It is rather strange that the editor of the न्यास understands (P. 25 Intro.) that what भामह meant was that the learned people and न्यासकार both condemned the use of the compound of a noun in तृच् with another and a poet therefore should follow them. This interpretation is against the whole drift of Bhamaha's words and particularly loses sight of the word मात्रेण.
(P. V. Kane, History of Sanskrit Poetics, Page 119)

२. (क) बाणभट्टकृत हर्षचरित में—
'कृतगुरुपदन्यासा······लोक इव व्याकरणेऽपि' (निर्णय-सागर सं० पृ० ९६)। इसकी व्याख्या शङ्कर ने इस प्रकार की है—'कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिविवरणो यैः।' ध्यान रहे कि बाणभट्ट का काल हर्षवर्धन का राज्यकाल (सन् ६०६-६४८) है। तब इस न्यास की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता।

(ख) महाभाष्य-दीपिका में—
'तस्मादनर्थकमन्तग्रहणं दृश्यते। न्यासे तु प्रयोजनमन्तग्रहणस्योक्तम्—स्वभावर्जन्तप्रतिपत्त्यर्थम्, इह मा भूत् कुम्भकारेभ्य इति।'
(महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २३३)
यहां यह स्मर्त्तव्य है कि जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास में यह उद्धरण कहीं उपलब्ध नहीं होता। अतः यह किसी अन्य न्यास की ओर संकेत है।

(ग) पूज्यपाददेवनन्दीद्वारा पाणिनीयव्याकरण पर लिखे शब्दावतार नामक किसी न्यास का भी उल्लेख मिलता है—

वादि-प्रतिवादियों की इन सब युक्ति-प्रतियुक्तियों को देखते हुए हमारे विचार में न्याससम्पादक का पहला प्रमाण स्वल्प संशोधन के साथ ठीक पर दूसरा नितान्त अशुद्ध है। प्रथमप्रमाणान्तर्गत माघ के उपर्युक्त पद्य में जिनेन्द्रबुद्धिकृतन्यास का ही उल्लेख सम्भव है, क्योंकि उसमें न्यास का विशेषण 'अनुत्सूत्रपद' दिया गया है। यह विशेषण इसी न्यास पर ही सुष्ठुतया घटित होता है अन्य किसी पूर्ववर्ती न्यास के लिए इस विशेषण का प्रयोग कहीं भी देखा नहीं गया। अत एव माघ के मल्लिनाथप्रभृति व्याख्याकारों ने भी इस पद्य की व्याख्या के प्रसंग में 'वृत्ति' से काशिकावृत्ति और 'न्यास' से जिनेन्द्र-बुद्धिकृत न्यास का ही ग्रहण किया है।[1] माघ के पितामह सुप्रभदेव का समय वसन्तगढ़ के लेखानुसार सन् ६२५ ई० सुनिश्चित मान लेने पर भी शिशुपालवधनिर्माण का समय उससे ५० वर्षों से अधिक अन्तर पर भी सम्भव है। क्योंकि पितामह और पौत्र की कृति में सौ वर्षों से भी अधिक का अन्तर आ सकता है यह कोई असम्भव बात नहीं। यदि पितामह सन् ६२५ में वीस-पच्चीस वर्ष के युवा हों और ४०-५० वर्ष की अवस्था में उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई हो और उस पुत्र को भी यदि ४०-५० वर्ष की वय में सुत प्राप्त हुआ हो तो इस प्रकार सन् ७०० तो आ ही सकता है। तब उस पौत्र के युवा होने और काव्यनिर्माणक्षम होने तक यदि कम से कम २५ वर्ष भी मान लें तो सन् ७२५ हो ही सकता है। तब इसके प्रणीत ग्रन्थ में सन् ७०० के आसपास बने न्यास का वर्णन सम्भव हो सकता है। और इधर न्यासकार को सन् ७०० ई० के आसपास रखने में कोई भी विप्रतिपत्ति सामने नहीं आती। इत्सिंग की भारतयात्रा सन् ६८९ से पूर्व समाप्त हो चुकी थी और उसके जाने के वाद ही न्यास का निर्माण हुआ। निर्माण के वाद १०-२० वर्षों में उसकी प्रसिद्धि हो जाने पर सन् ७२५ के आसपास माघकविप्रणीत शिशुपालवध में उसका उल्लेख कथमपि विसंगत नहीं ठहराया जा सकता। अत एव कीथ ने भी इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखा है—

"इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि माघ काशिकावृत्ति से परिचित थे। इससे भी

'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपादः
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचाः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥'

(शिमोगा जिला के नगर तहसील का ४६वां शिलालेख, देखें 'जैन-साहित्य का वृहद् इतिहास' पञ्चम भाग पृ० १०)।

१. 'न्यासो जिनेन्द्रकृतः' (माघ वल्लभदेवटीका पृ० ६६, चौखम्बा०)।
"अन्यत्र अनुत्सूत्रपदन्यासा अनुत्सृष्टसूत्राक्षर इष्ट्युपसंख्यानैनैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रतिपादको न्यासो वृत्तिव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा तथोक्ता। ...अन्यत्र सती वृत्तिः काशिकाख्यसूत्रव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा।"
(माघ, मल्लिनाथटीका पृष्ठ ६६, चौखम्बा०)

अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि शिशुपालवध के दूसरे सर्ग के ११२वें पद्य की एकमात्र सहज व्याख्या यही हो सकती है कि उसमें काशिका के टीकाकार न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि का ही उल्लेख है जिनका समय ७०० ई० के लगभग होना चाहिए। उस पद्य की अन्यथा व्याख्या करने के प्रयत्न की अपेक्षा उक्त तिथि को स्वीकार करना और माघ के समय को उसके आसपास रखना अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य होगा। इस तिथि को अधिक अर्वाचीन समझने का कोई कारण नहीं है।"

(कीथ—A History of Sanskrit Literature, हिन्दी सं०, पृष्ठ १५२)

कुछ लोग भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य के 'भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता'[1] इस वचन के आधार पर 'श्रीधरसेननरेन्द्र' से वलभी के चतुर्थ श्रीधरसेन (राज्यकाल सम्वत् ७०२-७०५ अर्थात् सन् ६४५-६४८ ई०) को लेकर भागवृत्ति का काल सन् ६४५-६४८ स्वीकार करते हैं और सीरदेवीयपरिभाषा-वृत्ति में उद्धृत भागवृत्ति के एक उद्धरण में माघ के 'पुरातनीर्नदी:' (१२-६०) प्रयोग के असाधुत्व को देखकर[2] माघ को सन् ६४५ ई० से भी पूर्ववर्ती मानते हैं।[3] परन्तु भागवृत्ति का यह काल अत्यन्त सन्देहास्पद और विश्वास के अयोग्य है। क्योंकि भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में कैयट ही सबसे प्राचीन हैं[4] और कैयट का समय ग्यारहवीं शती ई० का पूर्वार्ध है। अतः भागवृत्ति को कैयट से चार सौ साल पहले रखने में कोई आधार दिखाई नहीं देता। क्या इन चार सौ वर्षों में किसी ने भागवृत्ति जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को उद्धृत नहीं किया? सृष्टिधराचार्य के उपर्युक्त वचन में श्रीधरसेननरेन्द्र कौन और कहां का है—यह अद्यावधि अज्ञात है। इसी बात को दृष्टिकोण में रखते हुए श्रीगुरुपदहालदार ने भागवृत्ति का समय नवमशताब्दी ही माना है जो अत्यन्त समुचित प्रतीत होता है।[5]

युधिष्ठिरमीमांसक अपने 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४२८ पर माघ को काशिकाकार से भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध करने के लिए

---

१. देखें—पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति, राजशाही सं०, भूमिका (पृष्ठ १९)।

२. बाधकान्येव निपातनानि इति सर्वादिसूत्रे व्याख्यातम्। अत एव तत्रैव सूत्रे भागवृत्तिः—पुरातनमुनेर्मुनिताम् (किरात० ६-१९) इति, पुरातनीर्नदी: (माघ १२-६०) इति च प्रमादपाठावेतौ, गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते, न तेषां लक्षणं चक्षुरिति। (सीरदेवकृता परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १३६-३७)

३. यु० मीमांसक, 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, (पृ० ४३४)।

४. 'भागवृत्ति-संकलनम्' भूमिका (पृष्ठ ५)।

५. ध्यान रहे कि न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती का भी भागवृत्ति को काशिका से भी पूर्ववर्त्ती मानना चिन्त्यतम है। क्योंकि भागवृत्ति के अनेक उद्धरणों में काशिका के मत का खण्डन पाया जाता है जो इस तरह उपपन्न नहीं हो सकता (देखें 'भागवृत्तिसंकलनम्' के पृष्ठ १, ७, १०, १३ आदि)।

एक नवीन प्रमाण उपस्थित करते हैं। उपयोगी होने से उस पर भी यहाँ विचार कर लेना उचित है। वे माधवीय-धातुवृत्ति को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

"धातुवृत्तिकार सायण के अनुसार काशिका की रचना शिशुपालवध से उत्तरकालीन है—'क्षमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इति माघे सकर्मकत्वं वृत्तिकारादीनामनभिमतमेव (धातुवृत्ति पृष्ठ ४२३)।"

परन्तु हमारे विचार में धातुवृत्ति के इस उद्धरण से मीमांसकजी का निकाला निष्कर्ष युक्त नहीं कहा जा सकता। सायण का तत्रत्य समग्र पाठ इस प्रकार है—

"बोधयति पद्मम्—बुधयुध० (१.३.८६) इति क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वेऽपि परस्मैपदम्। 'अत्र बुधादीनां चतुर्णाम् अकर्मकादित्येव सिद्धे वचनमिदमचित्तवत्कर्तृकार्थम्'—इति वृत्तौ। 'तत्त्वं बुध्यते' इति धर्मकीर्त्तिप्रयोगे सकर्मकत्वमन्तर्भावितण्यर्थत्वेन नेयम्। क्षमादमुं नारद इत्यबोधि स इति माघे सकर्मकत्वं वृत्तिकारादीनामनभिमतमेव। यद्वाऽयमर्थभेदेन सकर्मकोऽकर्मकश्च।" (माधवीयधातुवृत्ति पृष्ठ ४२३)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सायण ने काशिका का 'अत्र बुधादीनाम्......' यह वचन उद्धृत कर उसके पारिप्रेक्ष्य में अन्यत्र प्रयुक्त दैवादिक बुध् के अण्यन्तावस्था के सकर्मक प्रयोगों का अन्वाख्यान आरम्भ किया है। धर्मकीर्त्ति के प्रयोग का समाधान कर उसी प्रसंग में उन्होंने शिशुपालवध (१–३) का भी प्रयोग उद्धृत किया है जहां बुध् धातु को सकर्मकत्वेन प्रयुक्त किया गया है और इस पर उनका कहना है कि बुध् का इस तरह सकर्मकत्वेन प्रयोग वृत्तिकार को अनभिमत है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वृत्तिकार के आगे माघ का यह प्रयोग उपस्थित था। यह तो इस तरह समझना चाहिए कि जैसे मैं पाणिनीयसूत्र-विरुद्ध किसी पद का प्रयोग करूं और दूसरा व्याकरणवित् उसे सुनकर कहे कि यह प्रयोग पाणिनि को अनभिमत है। क्या इससे यह सिद्ध हो सकेगा कि मैं पाणिनि से भी पूर्ववर्त्ती हूं? जैसे यह सिद्ध नहीं होता, ठीक वैसे उपर्युक्त वचन के विषय में भी समझना चाहिए। वृत्तिकार (काशिकाकार) के आगे माघ का यह वचन न था परन्तु बुध् धातु के इस तरह के सकर्मक प्रयोग वृत्तिकार को अभीष्ट नहीं—बस यह है सायणाचार्य का तात्पर्य। अतः इससे शिशुपालवध की सत्ता वृत्तिकार से पूर्व कथमपि सिद्ध नहीं होती। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि जहां परवर्त्ती वैयाकरणों ने अपने-अपने ग्रन्थों में शिशुपालवध के दर्जनों प्रयोगों की आलोचना-प्रत्यालोचना की है वहां काशिका और न्यास में कहीं इसकी गन्ध तक नहीं पाई जाती।

दूसरे प्रमाण के अन्तर्गत भामह के विषय में विद्वानों ने उपर्युक्त जो विचार व्यक्त किए हैं वे ठीक प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त भामह का जो काल (सन् ७७५) न्याससम्पादक ने निश्चित किया है वह भी युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भामह के तीन श्लोक किंचित् परिवर्त्तन के साथ बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' में उद्धृत किए हैं।[1] शान्तरक्षित का काल सन् ७०५-७६२ तक माना जाता है।

१. भामहकाव्यालंकार (६—१७, १८, १९) और तत्त्वसंग्रह (९१२, ९१३, ९१४)।

किंच भामह का एक श्लोक स्कन्दस्वामी ने भी अपनी निरुक्तटीका में उद्धृत किया है।[1] स्कन्दस्वामी का काल डॉ० लक्ष्मणसरूप के अनुसार छठी शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन सब को देखते हुए भामह न्यासकार से पर्याप्त प्रचीन प्रतीत होते हैं। अतः उन के ग्रन्थ में उद्धृत न्यास कोई अन्य पूर्ववर्त्ती न्यास ही हो सकता है—इसमें सन्देह नहीं।

इत्थम् उपरिनिर्दिष्ट इस समग्र ऊहापोह से हम इस परिणाम पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि का काल सन् ७०० ई० के आस-पास ही उचित प्रतीत होता है।

[१.५] क्या न्यासकार बौद्ध था ?

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि को कुछ लोग जैन[2] परन्तु बहुत से विद्वान् **'बोधिसत्त्व-देशीयाचार्य'** इस पुष्पिकागत विरुद के कारण बौद्ध समझते हैं। इनके बौद्ध होने में प्रधानतया दो हेतु दिए जाते हैं—

(१) 'बोधिसत्त्वदेशीय' शब्द में 'बोधिसत्त्व' से हुआ देशीयर् (**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः**—५.३.६७) प्रत्यय इस बात का द्योतक है कि वे बोधिसत्त्व से कुछ कम पर उन के समान महत्त्वपूर्ण आचार्य थे। अथवा 'बोधिसत्त्वदेश' शब्द से गहादित्वात् (४.२.१३७) या अन्यथा छप्रत्यय करने से 'बोधिसत्त्वदेशीय' शब्द निष्पन्न होता है। बोधिसत्त्वदेश का आचार्य होने से भी उनका बौद्ध होना सुस्पष्ट परिलक्षित होता है।[3]

(२) भट्टोजिदीक्षित ने उनको स्पष्टतया वेदबाह्य कहा है। किंच दीक्षित उन का निर्देश सर्वत्र न्यासकृत् या न्यासकार के नाम से ही करते हैं। वेदबाह्यबौद्ध (नास्तिक) होने के कारण वे उनका कहीं स्वनाम तक ग्रहण करना पसन्द नहीं करते।[4]

---

१. निरुक्त स्कन्दटीका लाहौर सं० चतुर्थ भाग (पृ० १८)।
२. V. Varadachari—A History of Sanskrit Literature, P. 185.
३. श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती की न्यासभूमिका, (पृ० २०)।
४. डा० हर्षनाथ अपने शोधप्रबन्ध 'चान्द्रवृत्तेः समालोचनात्मकमध्ययनम्' में—

"बौद्ध-धर्मित्वादेवायं न्यासकारो दीक्षितेन स्वग्रन्थे सर्वत्रोपेक्षितः। तेन स्वग्रन्थे हरदत्तस्य नाम गृहीतं किन्तु जयादित्यजिनेन्द्रबुद्धयोर्नामाक्षरं श्रीमुखेन न कदाप्युच्चारितम्। मनोरमायां न्यासकारः काशिकाकार इति तूपलभ्यते किन्तु जयादित्यो जिनेन्द्रबुद्धिश्चेति नाम न दृश्यते प्रायः।" (पृष्ठ ३१)

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि डा० हर्षनाथ ने उपर्युक्त पङ्क्तियां भट्टोजिदीक्षित की सकल कृतियों को देखे विना ही लिखी हैं। दीक्षित ने जयादित्य का नाम तो कई जगह अपनी कृतियों में लिया है। यथा—

(१) **एतच्च सर्वं जयादित्यमतेनोक्तम्**— (५.४.४२ पर प्रौढमनोरमा)।
(२) **जयादित्योऽप्येवम्**— (शब्दकौस्तुभ १.१.५)।
(३) **जयादित्यस्तु ग्रासुयुवपीतिसूत्रे लषिं रपेरुपरि प्रक्षिप्य अनुक्तसमुच्चयार्थेन चकारेण दमेः संग्रहमाह**— (३.१.१२६ पर प्रौढमनोरमा)।

हमारे विचार में उपर्युक्त दोनों हेतु निर्मूल हैं। प्रथम हेतु में 'बोधिसत्त्वदेशीय' पद अस्पष्ट तथा अनिर्णीत है। अभी तक इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। बौद्धसाहित्य में बोधिसत्त्व की कल्पना तो है पर बोधिसत्त्वदेशीय की नहीं। देशवाचक 'बोधिसत्त्व' का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अतः इस अस्पष्ट पद के आधार पर जिनेन्द्रबुद्धि को बौद्ध समझने में कोई स्थिर आधार नहीं है। द्वितीय हेतु भी हेत्वाभासतुल्य ही है। क्योंकि भट्टोजिदीक्षित के लेख में जिनेन्द्रबुद्धि को वेदबाह्य नहीं कहा गया है अपितु 'मुद्गलानी' पर न्यासकार का स्वरकथन वेदबाह्य कहा गया है। दीक्षित के वे वचन निम्नस्थ हैं—

> 'यत्तु न्यासकृतोक्तं मुद्गलानीशब्दे द्वितीय उदात्त इति तत्तु वेदबाह्यम् अयुक्तमेव।' (शब्दकौस्तुभ ४. १. ४९)
>
> 'यत्तु न्यासकृतोक्तं मुद्गलानीशब्दे द्वितीय उदात्त इति तद् वेदबाह्यत्वप्रयुक्तमेव।' (प्रौढमनोरमा, वैदिकप्रकरण, पृष्ठ ८४९)

शब्दकौस्तुभ के पाठ में तो 'तत्तु वेदबाह्यमयुक्तमेव' इस तरह स्पष्टतया न्यासकृतोक्त वचन की ही निन्दा की गई है। प्रौढमनोरमा के पाठ में भी 'तद् वेदबाह्यत्वप्रयुक्तमेव' से न्यासोक्त कथन की ही निन्दा व्यक्त होती है। यदि दीक्षित का न्यासकार को ही वेदबाह्य कहना अभीष्ट होता तो वे 'त्व' प्रत्यय न लगा कर सीधा 'वेदबाह्यप्रयुक्तमेव' कहते। अतः इससे न्यासकार को वेदबाह्य या नास्तिक सिद्ध करना कथमपि उचित प्रतीत नहीं होता। हां! यह बात ठीक है कि न्यासकार कोई प्रामाणिक वैदिक विद्वान् न थे अतएव उन्होंने न्यास में वेद-सम्बन्धी अनेक भयंकर भूलें की हैं।[1] परन्तु यह सब तो ऐसे ही है जैसे अद्यत्वे अनेक विद्वान् व्याकरणशास्त्र के अच्छे ज्ञाता होते हुए भी वैदिकज्ञान से शून्य होते हैं। इससे उनको नास्तिक या बौद्ध नहीं समझा जा सकता। शेष रहा भट्टोजिदीक्षित का न्यासकार को बौद्ध व नास्तिक समझ कर नामनिर्देश न करना। यह वस्तुतः उनके ग्रन्थ न्यास की प्रसिद्धि के कारण ही ऐसा किया गया है। स्वनाम की प्रसिद्धि की अपेक्षा उनकी कृति (न्यास) का नाम ही लोक में अधिक प्रसिद्ध है अतः दीक्षित ने उन्हें न्यासकार या न्यासकृत् के नाम से ही उद्धृत किया है। यदि ऐसा न होता तो प्रौढमनोरमा में अमरसिंह, हेमचन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, वर्धमान, मैत्रेयरक्षित आदि बौद्ध और जैन ग्रन्थकारों को स्वनाम से स्मरण न किया जाता।[2] इस के अतिरिक्त दीक्षित ने प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता प्रसादकार विट्ठल को भी कहीं स्वनाम से निर्दिष्ट नहीं किया अपितु सर्वत्र प्रसादकृत् के नाम से ही निर्दिष्ट किया है, परन्तु आज तक किसी ने परमवैष्णव विट्ठल को नास्तिक या बौद्ध नहीं माना है। किंच शरणदेवविरचित दुर्घटवृत्ति एक सुप्रसिद्ध बौद्धकृति है। इसमें न्यास का लगभग ४७ वार उल्लेख किया गया है किन्तु एक बार भी

---

१. इनका कुछ दिग्दर्शन इसी अध्याय में आगे (१.११) पर प्रस्तुत किया गया है।

२. देखें—डा० सीतारामशास्त्रिसम्पादिता बृ०शब्दरत्न-लघुशब्दरत्नसहिता प्रौढमनोरमा (पृष्ठ ७६३)।

स्वनाम से नहीं, सर्वत्र 'न्यासकृत्' या 'न्यासे' 'न्यास:' कह कर ही उद्धरण उपस्थित किये जाते हैं। शरणदेव तो एक सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् था उसे जिनेन्द्रबुद्धि का नाम लेने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी। परन्तु उसने भी ऐसा नहीं किया। अतः 'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार लोक में जिसका प्राधान्य होता है उसी के अनुसार व्यपदेश या निर्देश किये जाते हैं। कहीं लेखक अपनी कृति की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध होता है तो कहीं उसकी कृति, क्वचित् दोनों की भी प्रसिद्धि हुआ करती है। अतः दूसरे ग्रन्थों के उद्धरणांशों में नामनिर्देश या ग्रन्थनिर्देश को देखकर किसी ग्रन्थ-लेखक के धार्मिक मन्तव्यों का निर्णय नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त जब हम न्यास का गहन अन्तरङ्ग अध्ययन करते हैं तो हमें वैदिक मान्यताओं, वैदिक प्रक्रियाओं, वैदिक कथाओं आदि का जगह जगह उल्लेख मिलता है बौद्धकथाओं व बौद्धप्रक्रियाओं का बिल्कुल नहीं मिलता, इससे न्यासकार स्पष्ट वैदिकमतानुगामी ही प्रतीत होते हैं। भला निम्नस्थ वचन क्या किसी बौद्ध की लेखनी से प्रसूत माने जा सकते हैं—

१. इह तु व्याकरणं प्रस्तुतम्। तच्च वेदाङ्गम्। अङ्गञ्चोपकारकम्भवति। एवं च तद् वेदोपकारकं भवति। (न्यास 'अथ शब्दानुशासनम्' पर)

२. तथाविधशब्दव्युत्पादने हि व्याकरणस्यावेदाङ्गतापि स्यात्। (न्यास 'अथ शब्दानुशासनम्' पर)

३. प्रधानख्यापनं तु वैदिकानां यत्नेनापभ्रंशनिरासार्थम्। तेषां ह्यपभ्रंशे याज्ञे कर्मणि महान् प्रत्यवायो दृष्टो हेलयो हेलय इति। (न्यास 'अथ शब्दानुशासनम्' पर)

४. एतच्च साक्षात् प्रयोजनम्। पारम्पर्येण तु वेदरक्षणादीनि प्रयोजनानि भाष्यादवधार्याणि। (न्यास 'अथ शब्दानुशासनम्' पर)

५. शास्त्रमावर्त्यमानमभ्युदयाय भवति यथा मन्त्रजपादयः। (न्यास १.२.६०)

६. आनुपूर्व्यं च वर्णानां जन्मकृतमिति लोकव्यवहारे प्रसिद्धम्। प्रसिद्धिश्च श्रुतिकृता। श्रुतौ हि पठचते—मुखतो ब्राह्मणमसृजद् बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, पद्भ्यां शूद्रमिति। (न्यास २.२.३४)

७. यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति तस्मात्ते ततो बहिष्कृताः। (न्यास २.४.१०)

८. वृषलस्य=शूद्रस्य वैदिकमन्त्रजाप्यं प्रत्यनधिकारात्। (न्यास ३.१.२४)

९. 'जपेः शब्दकर्मकत्वात्' इस काशिकावचन की व्याख्या करते हुए—
गायत्रीं जपति, अनुवाकं जपतीत्यत्र शब्दकर्मकस्यैव प्रयोगदर्शनात्। (न्यास ३.२.१३)

१०. फलं स्वर्गः। तस्य या भावनोत्पादना यजमानसम्बन्धी व्यापारस्तत्राग्निष्टोमयागः करणम्भवति। ननु चाग्निष्टोमव्यतिरेकेण यजमानस्य व्यापारो भावनाख्यो नास्त्येव यत्र यागः करणमिष्यते। तथा ह्यग्निष्टोमाख्येनैव ह्यसौ यागेन स्वर्गाख्यं फलमुत्पादयति। नैतदेवम्। विशेषव्यापारे हि सामान्यव्यापारोऽस्ति। विशेषस्य

सामान्यस्याऽव्यभिचारात् । सामान्यव्यापार एव ह्यादौ फलार्थिनो बुद्धौ सन्निविशते । तथाहि प्रतिपत्ता फलं समीहमानः स्वयमेव फलकामः सन् स्वर्गो मनसि कर्त्तव्य इति सामान्यव्यापारं बुद्धावारोपयति ततोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजत इति शास्त्रस्याग्निष्टोमेन करणेन स्वर्गं भावयेदितीममर्थं प्रतिपद्य स्वर्गभावनां प्रति करणत्वेनाग्निष्टोममाश्रयति । तस्मात् सामान्यव्यापारे स्वर्गस्योत्पादो विशेषव्यापारोऽग्निष्टोमाख्यो यागः स्वर्गभावनायां करणं भवति । (न्यास ३.२.८५)

११. नहि भार्याविरहितस्त्रैवर्णिकः केवलो यज्ञेऽधिक्रियते । (न्यास ४.१.३३)

१२. शूद्रस्यैव तावद् यज्ञेऽनधिकृतत्वाद् यज्ञेन संयोगो नास्ति किं पुनस्तद्भार्यायाः । (न्यास ४.१.३३)

१३. अग्निसाक्षिपूर्वकं भार्यार्थं यस्याः पाणिग्रहणं क्रियते सा पाणिगृहीती भवति । (न्यास ४.१.५२)

१४. अनधीतवेदत्वादज्ञो मूढः । मूढत्वादेव प्रतिषिद्धाचरणत्वाद्वा कुत्सितो यः स ब्राह्मणजातीयो माणव उच्यते । (न्यास ४.१.१६८)

१५. यथा देवता पूजार्हा तथा मन्त्रस्तुत्यमपि वस्तु । ततो देवतासाधर्म्यात् तदपि देवतेत्युपचरन्ति विद्वांसः । (न्यास ४.२.२४)

१६. क्रियाविशेषः कश्चित् शास्त्रोक्तेन विधिना साध्यः श्राद्धग्रहणेन गृह्यते । (न्यास ४.३.१२)

१७. अभ्यर्हितत्वं तु वासुदेवशब्दस्य देवताविशेषत्वात् । (न्यास ४.३.९८)

१८. यथैव हि प्रयाजादीनां धर्माणामुत्पत्त्याधारभूतौ दर्शपौर्णमासौ प्रकृती भवत एवमुदकस्यौत्पत्त्याधारभूतत्वात् कूपः प्रकृतिर्भवति । (न्यास ५.१.१२)

१९. विद्याग्रहणार्थं यदोपनीयते ततः सेवितव्यो यो नियमविशेषस्तद् ब्रह्म । तच्चरतीति ब्रह्मचारी । तत्र नियमविशेषाचरणे ब्राह्मणादीनामेव त्रयाणां वर्णानामधिकारः, न शूद्रस्य । (न्यास ५.२.१३४)

२०. वृषलशब्दस्य हि शूद्रो वाच्यः । स यदा पलाण्ड्वादिकमपि साधुजनगर्हितमभ्यवहरति तदा परिपूर्णत्वं तस्य शूद्रत्वम् । शूद्रः सर्वाशी सर्वविक्रयीति । (न्यास ५.३.६६)

२१. कथं पुनर्व्याकरणमवक्षेपणम् । तस्याध्ययनं शास्त्रविहितम् वेदाङ्गत्वात् । (न्यास ५.३.९५)

२२. ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीत्यनेनाभिप्रायेण योऽन्नं साधयति स जन्मान्तरे भवन्फलमभ्युदयलक्षणं प्राप्नोति । (न्यास ६.१.४९)

२३. दीक्षितपरिव्राजकौ शास्त्रे प्रतिषिद्धत्वान्न पचतः । (न्यास ६.२.१५७)

इन उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में न्यासकार को बौद्ध या जैन समझना केवल साहसमात्र ही कहा जा सकता है ।

[१.६] न्यासकार के जन्मस्थान आदि—

न्यासकार के माता-पिता या जन्मस्थान आदि के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। इन्हों ने अपने अतिविपुल ग्रन्थ में इस का कहीं संकेतमात्र भी नहीं दिया। आत्मोद्द्योतनविहीन पूर्वज मनीषियों की परम्परा का इन्हों ने जिस तरह पूर्णभावेन पालन किया है—वह देखते ही बनता है। कहां तो काशिका के दूसरे व्याख्याकार हरदत्तमिश्र की "प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः। हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते"[1] जैसी गर्वोक्तियां और कहां न्यासकार का सर्वथा आत्मविकत्थनाभाव ? अन्तरं महदन्तरम्। केवल प्रत्येक पाद के अन्त में दी हुई पुष्पिकाओं में न्यासकार को बोधिसत्त्वदेश का आचार्य कहा गया है, परन्तु बोधिसत्त्वदेश कौन सा और कहां है ? यह अद्यावधि अज्ञात है। इन्हें स्पष्टतः 'आचार्य' बतलाया गया है, इससे इनके विद्वत्समाज में आदृत तथा लब्धप्रतिष्ठ अध्यापनपटु होने का संकेत मिलता है। इन के जन्मस्थान की गवेषणा में न्यास का एक स्थल ध्यान देने योग्य है—

'अथ शब्दानुशासनम्' के बाद 'केषां शब्दानाम्' इस भाष्योद्धृत काशिकावचन की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यासकार पूर्वपीठिका का अवतरण करते हुए लिखते हैं—

"शब्दानुशासनमित्यत्र शब्दशब्दः सामान्यवचनः। न च सामान्यशब्दः प्रकरणादिरहितो विशेषे वर्त्तितुमुत्सहते। सन्ति हि समुद्रघोषादयोऽपि बहवश्शब्दाः, अतस्तेषामपि व्युत्पादनं प्राप्नोतीति।" (न्यास पूर्वार्ध पृष्ठ ४)

यहां 'शब्द' इस सामान्यनिर्देश से 'सन्ति हि समुद्रघोषादयोऽपि बहवः शब्दाः' इस प्रकार समुद्रघोष की ओर संकेत करना कदाचित् इस बात को ज्ञापित करता है कि न्यासकार भारत के किसी समुद्रतटवर्ती प्रदेश के निवासी थे। कैयट ने यहां 'तन्त्रीशब्द-काकवाशितादीनाम्'[2] कहा है। समुद्र के साथ घनिष्ठ परिचय के विना किसी व्याख्याकार का 'शब्द' शब्द से समुद्रघोष की ओर ध्यान जाना सम्भव नहीं। वह तटवर्ती प्रदेश कौन सा हो सकता है इस जिज्ञासा में न्यासकार के निम्नशब्द सम्भवतः कुछ प्रकाश डालते हैं—

"अयं च (हयवरट्सूत्रस्थः) दन्त्योष्ठ्यो वकारः, यस्तु 'जबगडदश्' इष्यते, स ओष्ठ्यो वेदितव्यः।" (न्यास पूर्वार्ध पृष्ठ २०)

यहां न्यासकार सावधान कर रहे हैं कि 'हयवरट्' में वकार दन्त्योष्ठ्य है और 'जबगडदश्' में ओष्ठ्य। इससे न्यासकार के वंगप्रान्तनिवासी होने की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है, क्योंकि वंगनिवासियों में व-ब को एक समान उच्चारण करने का दोष बहुत चिरकाल से अभी तक चला आ रहा है। अतः वंगनिवासी लेखक प्रायः

---

१. पदमञ्जरी (१.१.४)।

२. महाभाष्यप्रदीप नवाह्निक निर्णयसागर सं० पृष्ठ ६ पर—
शब्दशब्दस्य सामान्यशब्दत्वाद् विना प्रकरणादिना विशेषेऽवस्थानाऽभावात् तन्त्रीशब्द-काकवाशितादीनामप्यनुशासनप्रसङ्ग इति मत्वा पृच्छति—केषामिति।

इस प्रकार की चेतावनी दिया करते हैं[1]। इसके अतिरिक्त न्यास के सुप्रसिद्ध व्याख्याता तन्त्रप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित का भी वंगप्रदेशीय होना[2] तथा न्यास-तन्त्रप्रदीप आदि की अध्ययनाध्यापनपरम्परा का इस शताब्दी के पूर्वार्ध तक वंगप्रदेश के राजशाही आदि जिलों में अक्षुण्ण रहना[3]—इस बात की ओर इङ्गित करता है कि न्यासकार सम्भवतः वंगप्रान्तनिवासी ही थे। बस इससे अधिक न्यासकार के विषय में अभी और कुछ कहा नहीं जा सकता।

[१.७] वृत्ति का भाव समझाने में न्यास का योगदान—

सम्भवतः न्यास ही काशिकावृत्ति की प्रथम व्याख्या है यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है। काशिका जैसा प्रौढ ग्रन्थ व्याख्यागम्य है इस सर्वजनीना प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता। पूर्ववृत्तिकारों व व्याख्याकारों के अनेक उदाहरणों, प्रत्युदाहरणों, सिद्धान्तों और मतमतान्तरों को अपने में समेटे हुई इस काशिकावृत्ति में महाभाष्य के अनेक विस्तृत व्याख्यानों व शास्त्रार्थों को आलोचनापूर्वक एक या दो पङ्क्तियों में ही उट्टङ्कित कर दिया जाता है जो अत्यन्त उपयुक्त और समुचित है, अन्यथा वर्तमानवृत्ति का कलेवर कईगुना बढ़कर असाधारण रूप धारण कर लेता जो वृत्ति के वृत्तित्व के लिए ही अननुरूप होता। उदाहरणार्थ—महाभाष्य के प्रथमाह्निक को वृत्ति में "केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। कथमनुशासनम्? प्रकृत्यादिविभागकल्पनया सामान्यविशेषवता लक्षणेन। अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः? प्रत्याहारार्थः। प्रत्याहारो लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः।" इस प्रकार दो-तीन पङ्क्तियों में संक्षिप्त किया गया है। 'अ इ उ ण्' पर भाष्योक्त २५-३० पङ्क्तियों के विस्तृत व्याख्यान को "ह्रस्वमवर्णं प्रयोगे संवृतम्, दीर्घप्लुतयोस्तु विवृतत्वम्। तेषां सावर्ण्यप्रसिद्ध्यर्थमकार इह शास्त्रे विवृतः प्रतिज्ञायते। तस्य प्रयोगार्थम् 'अ अ' इति शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिः करिष्यते।" इस प्रकार अत्यन्त संक्षिप्तरीत्या प्रस्तुत किया गया है। 'ञमङणनम्' में भाष्योक्त मकारानुबन्ध के प्रत्याख्यान को "केचितु सर्वाण्येतानि प्रत्याहारग्रहणानि ञकारेण भवन्त्विति मकारमनुबन्धं प्रत्याचक्षते। तथा तु सति ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यमित्यत्रागमिनोर्झभोरभावादागमाभावप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिगौरवं भवति।" इन दो पङ्क्तियों द्वारा आलोचनापूर्वक अस्वीकार किया गया है। इस प्रकार के वृत्तिस्थ वचन तथा अन्य अनेक स्थल सम्यग्व्याख्यान के बिना यथावत् बुद्धिगम्य नहीं हो सकते थे।

---

१. यथा—भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव 'जबगडदश्' सूत्र पर प्रत्याहारपरिगणन के प्रसंग में 'अश् हश् वश् झश् जश् पुनर्बश्' लिखते हुए 'वश्' और 'बश्' का सांकर्य बचाने के लिए 'पुनः' पद का प्रयोग करते हैं। इसी तरह के कुछ निर्देश मैत्रेयरक्षित के धातुप्रदीप में भी मिलते हैं जिनका आगे इसी अध्याय में वर्णन किया जायेगा।

२. यु० मी० 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' द्वितीय भाग, (पृष्ठ ९७)।

३. देखें—श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती का न्यास पर Introduction (पृष्ठ २९-३०)।

इसलिये वृत्ति पर तदनुरूप व्याख्या की महती आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को वृत्ति के प्रथम व्याख्याकार न्यासकार ने जिस तरह पूर्ण कर उच्च ख्याति अर्जित की है, वह व्याकरणजगत् में अपूर्व है। आज लगभग तेरह सौ वर्षों से वृत्ति का कोई टीकाकार न्यास को इस महोच्च पद से च्युत नहीं कर सका है। तात्पर्य यह है कि न्यास से सरल कोई व्याख्या अभी तक बन नहीं सकी है। यही कारण है कि जहां काशिका का अध्ययनाध्यापन होता है वहां न्यास का होना भी जरूरी समझा जाता है[1]। आज सिद्धान्तकौमुदी को समझने में जो स्थान वासुदेवदीक्षितरचित बालमनोरमा व्याख्या को प्राप्त हुआ है ठीक वही स्थान बल्कि उससे भी अधिक काशिकावृत्ति को समझने में न्यास का है। न्यास में यद्यपि लम्बे-चौड़े शास्त्रार्थ नहीं हैं जो उत्तरकालीन पदमञ्जरी आदि व्याख्या-ग्रन्थों में पाये जाते हैं तथापि वृत्ति को समझने-समझाने का जो प्रसादपूर्ण सशक्त सरल भाषा में प्रयत्न न्यास में पाया जाता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि उत्तरवर्त्ती अनेक लेखकों ने न्यासकार के न केवल भावों को अपितु उनकी शब्दावली को भी चुरा-चुराकर अपने ग्रन्थों का कलेवर बढ़ाया है। इनके उदाहरण इस शोधप्रबन्ध के 'न्यास के ऋणी उत्तरवर्त्ती वैयाकरण' नामक द्वितीय अध्याय में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। उनके अतिरिक्त यहां कुछ अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत हैं जिनमें न्यासकार का अक्षरशः अनुकरण हरदत्तमिश्र आदियों ने किया है—

न्यास	पदमञ्जरी
(१) "कंसवधश्चिरकालवृत्तत्वाद् इदानीन्तनप्रयोक्तुर्दर्शनविषयो न भवति। यस्तु कंसवधेन तुल्यकालः प्रयोक्ता स लङमेव प्रयुक्तवान्—अहन् कंसं वासुदेव इति। मूलोदाहरणेऽपि प्रयोक्ता साकेतावरोधतुल्यकालो वेदितव्यः। तस्यैव ह्यसौ दर्शनविषयः, नाऽन्यस्य।" (न्यास ३.२.१११)	(१) "कंसवधश्चिरकालवृत्तत्वाद् इदानींप्रयोक्तुर्दर्शनविषयो न भवति। यस्तु कंसवधेन तुल्यकालः प्रयोक्ता स लङमेव प्रयुक्तवान्—आहत कंसं वासुदेव इति। मूलोदाहरणेऽपि प्रयोक्ता साकेतरोधेन तुल्यकालो वेदितव्यः। तस्यैव ह्यसौ दर्शनविषयः, नाऽन्यस्य।" (पदमञ्जरी ३.२.१११)
(२) "एतेन गुणवृद्धिविशेषणं क्ङिद्-	(२) "एतेन गुणवृद्धिविशेषणं क्ङिद्-

१. अतएव व्याकरणजगत् में यह उक्ति प्रसिद्ध है—
"यत्पञ्चिकानावमिमामासाद्य सुधियः सुखम्।
तरन्ति काशिकाम्भोधिं स जिनेन्द्रो जयत्ययम्॥ (न्यासभूमिका, पृष्ठ १६)
न्यासग्रन्थ को वृत्ति पर अत्यन्त प्रामाणिक व्याख्या मानते हुए भाषावृत्ति के व्याख्याता आचार्य सृष्टिधर भी कहते हैं—
"न्यासग्रन्थार्थतात्पर्यपर्यालोचनशालिभिः।
शोध्योऽयं करुणावद्भिः कृतिभिर्मे परिश्रमः॥"
(भाषावृत्त्यर्थविवृति एशियाटिक् सं० पृष्ठ १)

न्यास

ग्रहणम् इति दर्शयति। ननु च विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रतिषेधस्यैवैतद् विशेषणं युक्तम्, नैतदस्ति, यत्र हि गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानोपकाराय महते प्रभवति तत्र प्रधानस्यैव भूयांसमुपकारं कर्त्तुमात्मनः संस्कारमनुभूय प्रधानेन सम्बन्धमनुभवति। तथा चोक्तम्—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥
॥इति॥

इह हि गुणवृद्ध्योः क्ङिद्ग्रहणेन विशेषितयोर्महान् प्रधानस्य प्रतिषेधस्योपकारो भवति, व्यवहितस्यापि तत्सिद्धेः।"

(न्यास १.१.५)

(३) "स्वशब्दस्तु **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्** इति वचनाद् ज्ञातिधनयोरसर्वनामसंज्ञकः, तेन तस्मात् कप्रत्ययेनैव भवितव्यं नाऽकचा। तत्र यदि नञ्समासं कृत्वा कप्रत्ययः क्रियते, तदन्ताच्च टाप्, तदाऽसौ सुबन्तात् परो न भवति कप्रत्ययेन व्यवधानादिति असर्वनामसंज्ञकः स्वशब्दो नञ्पूर्वोऽपि विकल्पं प्रयोजयति।"

(न्यास ७.३.४७)

(४) "खरीत्यनुवर्त्तत इति। खरवसानयोर्विसर्जनीय इत्यतोऽनुवृत्तिश्च मण्डूकप्लुतिन्यायेन, स्वसम्बन्धानुवृत्त्या वा वेदितव्या, अन्यथा पूर्वसूत्रेऽपि खरि कार्यं विज्ञायेत।" (न्यास ८.३.३४)

(५) "न च खनेः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति।" (न्यास ३.३.१२५)

पदमञ्जरी

ग्रहणम् इति दर्शयति। ननु च विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रतिषेधस्यैवैतद् विशेषणं युक्तम्, नैतदस्ति, यत्र हि गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानोपकाराय महते प्रभवति तत्रात्मनोऽपि संस्कारमनुभूय प्रधानेन सम्बध्यते यथा पानीयमेलादिसंस्कृतं पुरुषेण। उक्तं च—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥
॥ इति ॥

इह हि गुणवृद्ध्योः क्ङिद्ग्रहणेन विशेषितयोर्महान् प्रधानप्रतिषेधस्योपकारो भवति, व्यवहितस्यापि तत्सिद्धेः।"

(पदमञ्जरी १.१.५)

(३) स्वशब्दो हि **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्** इति वचनाद् ज्ञातिधनयोरसर्वनामसंज्ञकः, तेन तस्मात् कप्रत्ययेनैव भवितव्यं नाऽकचा। तत्र यदा नञ्समासे कप्रत्ययः क्रियते, तदन्ताच्च टाप्, तदाऽसौ सुपः परो न भवति, केन व्यवहितत्वात्। तेनाऽसर्वनामसंज्ञकः स्वशब्दो नञ्पूर्वोऽपि भवत्येव प्रयोजकः।"

(पदमञ्जरी ७.३.४७)

(४) "खरीत्यनुवर्त्तत इति। तदनुवृत्तिश्च मण्डूकप्लुतिन्यायेन सम्बन्धानुवृत्त्या वा वेदितव्या, अन्यथा हि पूर्वत्रापि खरि कार्यं विज्ञायेत।"

(पदमञ्जरी ८.३.३४)

(५) "न खनः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति।" (पदमञ्जरी ३.३.१२५)

माधवीयधातुवृत्ति

"न च खनः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति।" (धातुवृत्ति पृष्ठ १५०)

न्यास	बृ० शब्देन्दुशेखर
	"न हि खनः चजोरिति कुत्वयोग्यः कश्चिदवयवोऽस्ति।" (बृ० श० पृष्ठ २१३८)
	प्रसादटीका
(६) "किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? यावता दिवादिषु 'रुप लुप विमोहने' इति रुपिः पठ्यते तस्य रोपयतीति भविष्यति। रुहेस्तु रोहयतीति। जन्मार्थेऽपि रोपयतीति प्रयोगो यथा स्यात्। अन्यथा हि विमोहनार्थस्यैव स्यात्। अनेकार्थत्वाद् धातूनां रुपिर्जन्मनि वर्त्तिष्यत इति चेद् ? नैतदस्ति, अनेकार्था हि धातवः, न तु सर्वार्थाः।" (न्यास ७.४.४३)	(६) "किमर्थमिदमुच्यते ? यतो 'रुप परिमोहने' इति दिवादिस्तस्य रोपयतीति स्यात्। 'रुह जन्मनि' इत्यस्य रोहयतीति चेत् ? सत्यम्, जन्मार्थस्य रोपयतीति प्रयोगार्थम्। धातूनामनेकार्थत्वात् स्यादिति चेत् ? अनेकार्था हि धातवो न सर्वे सर्वार्थाः।" (प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद उत्तरार्ध पृ० ३१७)
	पदमञ्जरी
(७) 'न हि सप्तमी-वहुवचनादन्यः सुप् खरादिरस्ति।' (न्यास ८.३.१६)	(७) 'न हि सप्तमीवहुवचनादन्यः सुप् खरादिरस्ति।' (पदमञ्जरी ८.३.१६)
	महाभाष्यप्रदीप
	'न च सप्तमीवहुवचनादन्यः खरादिः सुवस्ति।' (महाभाष्यप्रदीप ८.३.१६)
	बृ० शब्देन्दुशेखर
	'न हि सप्तमीवहुवचनादन्यः खरादिः सुबस्ति।' (बृ० श० पृष्ठ ५८२)

ऐसे उदाहरण चार-पांच नहीं किन्तु सैकड़ों की संख्या में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस से न्यासव्याख्या का प्रभाव भलीभांति परिलक्षित होता है।

[१.८] न्यास में वृत्ति से अधिक विषयप्रतिपादन—

वृत्तिस्थ वचनों की व्याख्या के अतिरिक्त न्यासकार ने पूर्वव्याख्याकारों के तथा निजी अनेक विचार अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किए हैं। वृत्तिकार का लक्ष्य केवल **'परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत्'** तक सीमित था अतः उन्होंने अनेक बातों को **'शिष्टः परिकरबन्धः'** के अन्तर्गत छोड़ दिया।[1] परन्तु परिकरबन्ध जैसे पादप आदियों के लिए आवश्यक होते हैं, वैसे व्याकरण के वृत्तिप्रतिपादित शरीर के लिए भी उनका होना

१. "व्याकरणस्य शरीरं परिनिष्ठितशास्त्रकार्यमेतावत्।
शिष्टः परिकरबन्धः क्रियतेऽस्य ग्रन्थकारेण॥" (काशिकादौ श्लोक ३)

कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। उनको प्रस्तुत करना वृत्तिकारों का काम नहीं अपितु व्याख्याकारों व न्यासकारों का काम होता है। मनीषी या विशिष्ट जिज्ञासु जब इन परिकरबन्धों के भंवर-जाल में फंस जाते हैं तो उनको उनसे उबारना भी आवश्यक होता है, इसके विना उनकी आत्म-सन्तुष्टि नहीं हो पाती और इस प्रकार आगे की शास्त्रप्रवृत्ति भी कुण्ठित हो जाती है। इस काम को न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने जिस तरह सुचारुरूपेण प्रस्तुत किया है वह व्याकरणजगत् में अपनी तुलना नहीं रखता। निदर्शनार्थ कुछ प्रसङ्ग देखिए—

(१) काशिकावृत्ति में **अस्मद्युत्तमः** (१.४.१०७) सूत्र की साधारण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। परन्तु व्युत्पन्न मनीषियों के मस्तिष्क में यह शङ्का प्रायः घूमा करती है कि जब किसी एक ही क्रिया के साथ युष्मद् और अस्मद् दोनों का युगपत् उल्लेख करना हो तो कौन सा पुरुष प्रयुक्त होगा मध्यम या उत्तम? काशिका में इस का कोई उत्तर उपलब्ध नहीं। अब देखिए यहां का न्यास—

"यदा युष्मदस्मदी द्वे अप्येते उपपदे स्तः, तदा कथं भवितव्यम्? यदि कर्तृशक्ती आधारप्रतिनियते अपेक्ष्येते, तदाऽऽख्यातमपि पृथगेव प्रयुज्यते—पचसि पचामि चेति। अथाऽविरोधाच्छक्तिद्वयेऽपि लकार उत्पद्यते, तदा विप्रतिषेधाद् उत्तम एव भवति—त्वं चाहं च पचाव इति। यद्यपि **त्यदादीनां यद् यत् परं तच्छिष्यते** इत्यस्मच्छब्दस्य शेषो भवति तथापि स्थानिन्यपीति मध्यमस्य प्राप्तौ सत्यां परत्वाद् उत्तम एव भवति। आवां पचाव इत्यत्र ह्यस्मच्छब्दस्य युष्मदर्थोऽपि वाच्यः, अन्यथा हि द्विवचनं न स्यात्। न ह्यस्मच्छब्दस्यैव द्वित्वमुपपद्यते।" (न्यास १.४.१०७)

कैसा सुन्दर व्याकरणशास्त्रोचित समाधान है। अब कोई शङ्का ही शेष नहीं रह जाती। अत एव हरदत्तमिश्र आदियों ने भी इसी समाधान को अपने-अपने ग्रन्थों में ग्रथित किया है।

(२) **लिट्यन्यतरस्याम्** (२.४.४०) सूत्र पर 'लिटि परतोऽन्यतरस्यां घस्लादेशो भवति' इस प्रकार की साधारण व्याख्या काशिका में उपलब्ध है। परन्तु विशिष्ट जिज्ञासुओं के आगे बार-बार यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब धातुपाठ में **घस्लृ अदने** (भ्वा० प०) धातु मौजूद है तो उसका लिट् में 'जघास' और इस **अद भक्षणे** (अदा० प०) का 'आद' इस प्रकार दो रूप तो बन ही सकते हैं पुनः इस सूत्र की आवश्यकता क्या? यह कोई साधारण शङ्का नहीं है जिसकी उपेक्षा की जाये। इस प्रकार की शङ्काओं से तो आचार्य पाणिनि के प्रति आस्था ही हिल सकती है। अब देखिए न्यासकार इस शङ्का को लेकर इसका कैसा सुन्दर समाधान प्रस्तुत करते हैं—

"ननु च **घस्लृ अदने** इत्येतस्य जघास, जक्षतुः, जक्षुरिति भविष्यति, **अद भक्षणे** इत्यस्य आद, आदतुः, आदुरिति। अस्ति घसिः प्रकृत्यन्तरम्, **सृघस्यदः क्मरच्** इति क्मरज्विधानात्। तत्कथमिह लिटि विकल्पविधानम्? घसेः प्रकृत्यन्तरस्याऽसर्व-विषयत्वज्ञापनार्थम्। तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधातुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनं च, तत्र प्रयोगो न भवति।" (न्यास २.४.४०)

न्यासकार का यह समाधान अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। यही कारण है कि आज तेरह सौ साल से पाणिनीय अपाणिनीय सब वैयाकरण इसी का आश्रय करते आ रहे हैं।[1]

(३) मृदस्तिकन् (५.४.३९) सूत्र द्वारा मृद् से तिकन् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् करने पर 'मृत्तिका' रूप सिद्ध होता है—काशिकाकार ने यहां इतना ही लिखा है। परन्तु विशिष्ट जिज्ञासुओं को यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है जिसका उल्लेख व समाधान वृत्ति में नहीं दिया गया। परन्तु न्यासकार इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"किमर्थं पुनस्तिकन् विधीयते, न तकन्नेव विधीयेत, नित्यश्च स्त्रीप्रत्ययोऽयम्, तत्र टापि कृते प्रत्ययस्थात् कात्० इतीत्त्वेनैव सिद्धम् ? यत्र र्ताह लुगभावः क्रियते, तत्र न सिध्येत्—पञ्चभिर्मृत्तिकाभिः क्रीतः पञ्चमृत्तिक इति। तत्र हि अध्यर्ध-पूर्वद्विगोः० इत्यादिनाऽर्हीयस्य ठको लुकि कृते लुक् तद्धितलुकि इति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक्। तत्र यदि तकन् विधीयते तदा टापोऽभावादिकारो न श्रूयेत, प्रक्रियागौरवं च स्यात्, इकारस्य शास्त्रान्तरेण विधीयमानत्वात्।" (न्यास ५. ४. ३९)

इसी शङ्का और इसके इसी समाधान का उल्लेख हरदत्तमिश्र, अभयनन्दी तथा ज्ञानेन्द्रसरस्वती आदियों ने भी अपनी-अपनी व्याख्याओं में किया है।

(४) निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (३. ३. ४१) सूत्र पर काशिकाकार ने साधारण व्याख्या की है। परन्तु इस सूत्र के 'आदेश्च कः' अंश पर चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरणों में जो आक्षेप किया गया है उसका वृत्तिकार ने कोई उत्तर नहीं दिया। न्यासकार उस सबको ध्यान में रखते हुए अपनी व्याख्या में लिखते हैं—

"यद्येवं 'चः कः' इति वक्तव्यम् ? एवं र्ताह यदा यङ्लुगन्तादुत्पद्यते तदाऽन्त्य-विकारेऽन्त्यसदेशस्येति द्वितीयस्य चकारस्य मा भूद्—इत्येवमर्थमादिग्रहणम्।"

(न्यास ३. ३. ४१)

न्यासकार का यह समाधान उत्तरवर्ती वैयाकरणों को अतीव प्रिय लगा है अत एव प्रायः सब ने इसी का अनुसरण किया है।[2]

५) स्मोत्तरे लङ् च (३. ३. १७६) इस पाणिनीयसूत्र के स्थान पर चान्द्र-व्याकरण में स्मपरे लङ् च (चान्द्र० १. ३. ५) सूत्र बनाया गया है। चान्द्र-व्याकरणकार आचार्य चन्द्रगोमी को लाघव करना अभिप्रेत था अतः उन्होंने पाणिनि के बह्वक्षर 'उत्तर' शब्द को हटा कर उसके स्थान पर स्वल्पाक्षर 'पर' शब्द प्रयुक्त किया है। काशिकाकार के आगे यह चान्द्रसूत्र विद्यमान था किन्तु उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि ने पाणिनीय तन्त्र पर लगे इस शङ्काकलङ्क को धोने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। वे न्यास में लिखते हैं—

---

१. देखें—इसी ग्रन्थ का द्वितीयाध्याय 'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण' (नं० १२)।
२ पूर्वोक्त, (नं० २१)

'स्मशब्द उत्तरम्=अधिकं यस्य माङः स तथोक्तः।' (न्यास ३. ३. १७६)

इस प्रकार न्यासकार, पाणिनि के 'उत्तर' शब्द को दिशावाचक न मान कर अधिकवाचक मानते हैं। इस से समाधान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उन के इस स्थल का आश्रय लेकर हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'अत्रोत्तरशब्द आधिक्यवचनो न दिग्वचनः। तेन पूर्वभूतेऽपि स्मशब्दे भवति।' (पदमञ्जरी ३. ३. १७६)

अभिप्राय यह है कि यदि पाणिनि उत्तरशब्द के स्थान पर परशब्द का प्रयोग करते तो 'मा स्म करोत्', 'मा स्म हरत्' आदि में 'मा स्म' के साथ तो काम चल जाता, परन्तु 'स्म मा हरत्, स्म मा करोत्' इत्यादि में स्मशब्द के पूर्व होने से अथवा 'मा देवदत्तः स्म करोत्' इत्यादि में व्यवधान के होने से लङ्प्रयोगोपपत्ति न हो सकती। अतः मुनि ने सोच-समझ कर 'पर' शब्द का प्रयोग न कर अधिकवाची 'उत्तर' शब्द का प्रयोग किया है। सुन्दर समाधान है। इसका सम्पूर्ण श्रेय न्यासकार को ही मिलना चाहिए। न्यासकार की इस व्याख्या का प्रभाव उत्तरवर्त्ती प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य पाल्यकीर्त्ति पर स्पष्ट पड़ा प्रतीत होता है। वे शाकटायनव्याकरण में अपना सूत्र और उस पर स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति बड़ी सावधानी से रचते हुए लिखते हैं—

"लङ् च स्मेन (४.४.१३८) स्मशब्देन सह माङ्युपपदे धातोर्लङ् लुङ् च प्रत्ययौ भवतः। मा स्म करोत्, मा स्म कार्षीत्, मा देवदत्तः स्म हरत्, मा देवदत्तः स्म हार्षीत्।" (शाकटायन अमोघा पृष्ठ ४३०)

जहां पर दोनों तरफ का योग अभीष्ट होता है वहां पर सूत्रकार प्रायः तृतीया-विभक्ति से निर्देश किया करते हैं यथा—स्तोः श्चुना श्चुः, यहां पर स्तु का श्चु के साथ योग उभयतः अभीष्ट है। 'हरिश्चोरयति' में श्चु का पर-योग तथा 'याच्ञा' में श्चु का पूर्वयोग है। अतः सूत्रकार ने 'श्चुना' इस प्रकार तृतीया से निर्देश किया है। यहां प्रकृत में पाल्यकीर्त्ति ने भी 'लङ् च स्मेन' सूत्र में 'स्मेन' इस प्रकार तृतीया लगा कर पूर्वोक्त न्यासकारोपलब्धि से पूरा-पूरा लाभ उठाया है।

न्यासकार इस प्रकार की सैंकड़ों शङ्काओं—जो वृत्ति में उल्लिखित नहीं—का समाधान अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत करते हैं। इनके अतिरिक्त सूत्रकार के गूढ आशय को भी अनेक स्थानों पर प्रस्फुटित करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (८.४.२) और नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८.३.५८) सूत्रों में 'अपि' ग्रहण की आवश्यकता के लिए तथा कृत्याः (३.१.९५) तद्धिताः (४.१.७६) आदि में बहुवचन के प्रयोग के लिए न्यासकार का समाधान देखते ही बनता है। इनके अतिरिक्त कुछ आवश्यक बातें भी वृत्तिकार से अनजाने में छूट गई हैं, उन का उल्लेख भी हम न्यास में यथावत् पाते हैं। निदर्शनार्थ यथा—प्राप्तापन्ने च द्वितीयया (२.२.४) सूत्र पर काशिका में 'प्राप्ता जीविकाम् प्राप्तजीविका' इस रूप का उल्लेख नहीं पाया जाता। हालांकि काशिकाकार से पूर्व महाभाष्य तथा चान्द्रवृत्ति (२.२.१९)

आदि में भी इस के समाधान का यत्न पाया जाता है। परन्तु सर्वतोजागरूक न्यासकार का इस ओर ध्यान गया, वे इसका समाधान प्रकट करते हुए लिखते हैं—

"अथ यदा प्राप्ता जीविकामिति विगृह्य समासः क्रियते तदा किमुदाहरणम् ? प्राप्तजीविकेति । टापः श्रवणं कस्मान्न भवति ? स्त्रियाः पुंवत्० इति योगविभागात् पुंवद्भावेन टापो निर्वर्त्तितत्वात् ।" (न्यास २.२.४)

इस प्रकार न्यास में हम केवल वृत्ति की व्याख्या ही नहीं पाते बल्कि उससे कहीं अधिक विषयप्रतिपादन पाते हैं जिसके लिए उत्तरवर्त्ती वैयाकरण न्यास के ऋण से कभी उऋर्ण नहीं हो सकते।

[१.९] वृत्तिकार से न्यासकार का मतभेद व विरोध—

वृत्त्युक्त विषय के समर्थन के लिए ही न्यासग्रन्थों की रचना की जाती रही है। यह न्यास की **'न्यस्यते=स्थाप्ते=दृढीक्रियते मूलोक्तोऽर्थोऽनेन'** इस व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है। यही कारण है कि हम न्यास में वृत्ति का विरोध बहुत कम पाते हैं। न्यासकार ने स्वयं भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं—

"नहि वृत्तिं व्याख्यातुमुद्यतस्य तद्विरुद्धं व्याख्यानं युज्यते कर्त्तुम् ।"
(न्यास पूर्वार्ध पृष्ठ ३५)

परन्तु फिर भी मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना या मानवसुलभ प्रमाद व स्वभाव के कारण मतभेद या विरोध का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे स्थलों का प्रथम तो बहुधा परिहार किया जाता है मगर कहीं-कहीं जब विचारों का दबाना कठिन होता है तो वे उभर कर भी सामने आते हैं। न्यास में ऐसे स्थल यद्यपि बहुत थोड़े हैं, तथापि उन स्थानों पर भी न्यासकार खुल कर काशिका का विरोध नहीं करते। वे वृत्ति से अपना विरोध प्रायः दो प्रकार से व्यक्त करते हैं—

१. **'प्रमादपाठः'** या **'अयुक्तपाठः'** आदि कह कर।

न्यासकार का प्रायः जहां मूलोक्त विवरण या विचार से विरोध होता है वे वहां खुल कर अपना विरोध प्रकट नहीं करते अपितु **'प्रमादपाठोऽयम्', 'अयुक्तोऽयं पाठः'** इत्यादिप्रकारेण विरोध द्योतित करते हैं। उदाहरणार्थ—

'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' (४.१.७८) सूत्र पर "अणिञोरिति किम् ? ऋतभागस्यापत्यम्, बिदादित्वादञ्—आर्तभागी । गुरूपोत्तमादिकं सर्वमस्तीति न त्वणिञौ । टिड्ढाणञ् ० इति ङीबेव भवति ।"

इस काशिकोक्त वचन का विरोध करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"टिड्ढाणञ् इति ङीबेव भवतीति । प्रमादपाठोऽयम् । यथैव हि वैदीति जातित्वाद् अन्नन्तात् 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीन् भवति तथेहापि ङीनैव भवितव्यम् । जातित्वं तु गोत्रत्वाद् । तस्मात् 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् इति ङीनेव भवति' इत्ययमेवात्र पाठो द्रष्टव्यः ।"[1] (न्यास .४.१.७८)

---

१. पदमञ्जर्यां हरदत्तेनाप्येवमत्र व्याख्यायि—
'प्राप्तिमात्राभिप्रायेणेदमुक्तम् । अत्र हि जातित्वात् 'शार्ङ्गरवाद्यञः०' इति ङीना भाव्यम् ।' (पदमञ्जरी ४.१.७८)

२. 'उदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता' आदि कह कर।

कई स्थानों पर जहां न्यासकार का वृत्तिकार के उदाहरणों या प्रत्युदाहरणों से विरोध होता है वे उस उदाहरण व प्रत्युदाहरण की अयुक्तता प्रतिपादित कर 'उदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता' या 'प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। निदर्शनार्थ यथा—

(क) रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः (२.३.५) सूत्र पर काशिका में 'भाववचनानामिति किम्? नदी कूलानि रुजति' यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस प्रत्युदाहरण का खण्डन करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"नदी कूलानि रुजतीति। रुजिरत्र द्रव्यकर्तृकः, न भावकर्तृकः, नद्या द्रव्यत्वात्। नैतद् युक्तं प्रत्युदाहरणम्। रुजाशब्दो हि रूढिशब्दत्वाद् व्याधिमेवाचष्टे। न चात्र व्याधिवचनः, किं तर्हि भङ्गवचनो रुजिः। एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता वृत्तिकृता। इदन्त्वत्र प्रत्युदाहरणम्—श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति। व्याधिना ग्राहयतीत्यर्थः।"[1] (न्यास २.३.५४)

(ख) प्राग्दिशो विभक्तिः (५.३.१) सूत्र पर तसिलादियों की विभक्तिसंज्ञा करने का प्रयोजन बतलाते हुए काशिकाकार कहते हैं—

"तसिलादीनां विभक्तित्वे प्रयोजनम्—त्यदादिविधयः, इदमो विभक्तिस्वरश्च। ततः। इह। ऊडिदम् (६.१.१७१) इति विभक्त्युदात्तत्वं सिद्धम्भवति।"

यहां इदम् से परे विभक्त्युदात्तत्व का उदाहरण 'इह' बतलाया गया है। परन्तु काशिकोक्त इस उदाहरण की आलोचना करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"अत्र तु प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमाद्युदात्तत्वम्। तस्माच्चोदाहरणदिगियं प्रदर्शिता। इदन्त्वत्रोदाहरणं युक्तम्—इत इति। इदमस्तसिल्, पूर्ववदिश्। अत्र ह्यसति विभक्तित्वे लिति प्रत्ययात् पूर्वम् आद्युदात्तत्वं स्यात्।"[2] (न्यास ५.३.१)

(ग) सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् (३.२.६१) सूत्र में 'सुपि' की अनुवृत्ति आ रही है। उपसर्ग भी अव्ययत्वात् सुवन्त होते हैं अतः 'सुपि' कथन से उन का भी ग्रहण हो जाएगा। पुनः उन के लिए सूत्र में 'उपसर्गेऽपि' कहना उचित प्रतीत नहीं होता। इसका समाधान करते हुए काशिकाकार कहते हैं—

---

१. हरदत्तोऽप्यत्र न्यासकारमनुससार। उक्तं च तेन पदमञ्जर्याम्—

"नदीकूलं रुजतीति। अत्र नदी कर्त्री, न भावः। ननु रुजाशब्दो व्याधौ रूढ इति नात्र प्रसङ्गः? एवं तर्हि प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता। इदन्तु प्रत्युदाहरणम्—श्लेष्मा पुरुषं रुजतीति, व्याधिना कासादिना ग्राहयतीत्यर्थः।" (पदमञ्जरी २.३.५४)

२. इहापि हरदत्तो न्यासकारमनुगतः। आह चासौ पदमञ्जर्याम्—

"अत्र प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमुदात्तत्वम्। तस्मादित इत्येवोदाहरणं विभक्तिस्वरस्य। अन्यथा लितीति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं स्यात्"। (पदमञ्जरी ५. ३. १)

'उपसर्गग्रहणं ज्ञापनार्थम्—अन्यत्र सुब्ग्रहणे उपसर्गग्रहणं न भवतीति **वदः सुपि क्यप् च** इति ।'

काशिकाकार ने यहां एक ज्ञापक (सुब्ग्रहण उपसर्गग्रहणं न भवतीति) निकाला है और उसे घटित करने के लिए उदाहरणरूपेण **वदः सुपि क्यप् च** (३. १. १०६) सूत्र को प्रस्तुत किया है । यहां 'सुपि' से उपसर्गभिन्न सुप् का ही ग्रहण होगा । इस से उपसर्गभिन्न सुवन्त के उपपद होने पर ही **'वदः सुपि क्यप् च'** सूत्र से क्यप् की प्रवृत्ति होगी परन्तु इस सूत्र में पिछले **गदमदचरयमश्चानुपसर्गे** (३. १. १००) सूत्र से 'अनुपसर्गे' का अनुवर्तन होता है इस से उपसर्ग के उपपद रहते स्वतः ही सूत्र की प्रवृत्ति न होगी अतः ज्ञापक का यहां कोई लाभ नहीं । फलतः काशिकोक्त उदाहरण अयुक्त ठहरता है । काशिकोक्त इस उदाहरण की अयुक्तता को प्रकट करने के लिए न्यासकार के शब्द यहां देखिए—

"ननु च 'वदः सुपि क्यप् च' इत्यत्र 'गदमदचरयमश्चाऽनुपसर्गे' इत्यतोऽनुपसर्गग्रहणमनुवर्त्तते । एवं चोपसर्गे प्रत्ययो न भविष्यति, तत्किं ज्ञापनार्थेनोपसर्गग्रहणेन ? विस्पष्टार्थमुपसर्गग्रहणमित्येके । तत्रानुपसर्गग्रहणं नाऽनुवर्त्तितव्यमिति वा ज्ञापनार्थमुपसर्गग्रहणम् । विकल्पप्रदर्शनार्थं कर्तव्यमित्यन्ये । अपरे त्वाहुः—**ज्ञापकप्रयोजनदिगियमिति वृत्तिकारो दर्शयति** । इदं तु स्पष्टं ज्ञापकस्य प्रयोजनम् —'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यत्र सुपीत्यधिकाराद् असति ज्ञापक उपसर्गग्रहणे सुवन्तेऽप्युपसर्गे स्यात्—उपस्पृशति, संस्पृशतीति । अस्माज्ज्ञापकान्न भवति ।" (न्यास ३. २. ६१)

परन्तु एक स्थान पर न्यासकार ने ज़ोरदार शब्दों में भी काशिकावृत्ति की आलोचना की है । तथाहि—

नाधार्थप्रत्यये च्व्यर्थे (३.४.६२) सूत्र पर काशिकाकार के 'धार्थमर्थग्रहणं ना पुनरेक एव **विनञ्भ्यां नानाञौ** इति' । इस विवरण से अपना मतभेद प्रकट करते हुए न्यासकार कहते हैं—

"**वयं तु ब्रूमो**—नार्थमप्यर्थग्रहणं कर्त्तव्यमेव । तथाहि—द्वौ नाप्रत्ययौ, एको निरनुबन्धकः, द्वितीयः सानुबन्धकः । तत्रासत्यर्थग्रहणे 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति नाप्रत्ययस्यैव ग्रहणं स्यात्, न सानुबन्धकस्य नाञः । अर्थग्रहणे तु सति तस्यापि ग्रहणम्भवति ।" (न्यास ३.४.६२)

इस प्रकार के शब्दों द्वारा वृत्ति का विरोध अन्यत्र न्यास में कहीं नहीं देखा जाता ।

[१.१०] न्यासकार का वैशिष्ट्य—

आज लगभग तेरह सौ वर्षों से न्यास पाणिनीयव्याकरणजगत् में टिका हुआ है। केवल टिका हुआ ही नहीं अपितु अपनी अमिट छाप व प्रभाव छोड़ता चला आ रहा है। विना वैशिष्ट्य या विशिष्टगुणों के ऐसा होना असम्भव है । यह जगत् वैशिष्ट्य का ही पुजारी है । निश्चय ही न्यास में कुछ ऐसे विशिष्ट तत्त्व व गुण विद्यमान हैं जिनसे

वह व्याकरणजगत् में इतना लोकप्रिय हो सका है। कैयट, हरदत्तमिश्र आदि उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने यद्यपि न्यासकार की सैंकड़ों मान्यताओं व्याख्यानों और टिप्पणियों का निराकरण किया है तथापि वे न्यासकार को वैयाकरणनिकाय में प्राप्त प्रतिष्ठित उच्च पद से हटाने में समर्थ नहीं हो सके हैं। इसमें न्यासकार की स्वकीय गुणगरिमा ही कारण है। अब यहां न्यासकार के उन विशिष्ट गुणों का संक्षिप्तरीत्या कुछ दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है जिनके कारण न्यासग्रन्थ की लोकप्रियता अक्षुण्ण बनी हुई है। वह वैशिष्टच इन पांच शीर्षकों के अन्तर्गत यहां प्रतिपादित किया गया है—

(क) दुर्बोधस्थलों का उद्घाटन, (ख) भाषा-सौष्ठव और भाषा-सारल्य, (ग) रूपसिद्धि, (घ) अनुत्सूत्रपदत्व, (ङ) प्राचीनसामग्री का बाहुल्य।

अब क्रमशः इनका संक्षिप्त विवेचन करते हैं—

(क) दुर्बोध स्थलों का उद्घाटन—

काशिका में पदे-पदे दुर्बोधस्थल व फक्किकाएं विद्यमान हैं—यह हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं। इन दुर्बोधस्थलों का उद्घाटन व विस्फोरण जैसा न्यास में पाया जाता है वैसा अन्यत्र कहीं देखा नहीं जाता। न्यासकार ऐसे स्थलों पर प्रायः पहले पूर्वपीठिका या पूर्वपक्ष को बड़े घटाटोप से स्थापित करते हैं और बाद में उस स्थल का उद्घाटन। इससे जिज्ञासुगण तत्तत्स्थलों के अन्तस्तल तक बड़ी सरलता से पहुंच कर सकल ईप्सित विषय को शीघ्र हस्तामलकवत् साक्षात् कर लेते हैं। छात्रों और जिज्ञासुओं में यह शैली चिरकाल से ही अत्यन्त प्रिय चली आ रही है। इसी शैली के कारण सिद्धान्तकौमुदी पर वासुदेवदीक्षित की बालमनोरमा ने अतीव लोकप्रियता प्राप्त की है। इसी के कारण दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में वाचस्पतिमिश्र आदियों ने ख्याति अर्जित की है। न्यास में इस शैली के कुछ नमूने यथा—

(१) उपाच्च (१.३.८४) सूत्र पर काशिकावृत्ति में यह पाठ पाया जाता है—

'उपपूर्वाद् रमेः परस्मैपदम्भवति। देवदत्तमुपरमति। यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीति यावत्। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र रमिः॥'

अब यहां न्यासकार की व्याख्या देखिए—

"उपरमति देवदत्तमिति। ननु चोपपूर्वो रमिरकर्मक एव भवति। तथाहि उपपूर्वस्यास्य विनाशोऽर्थो भवति, यथा—उपरतानि नष्टानीति गम्यते। निवृत्तिर्वा भवति, स्वाध्यायादुपरमते, निवर्त्तत इति गम्यते। न चास्मिन्नर्थे वर्त्तमानस्य सकर्मकत्वमुपपद्यते। तत्कथं सकर्मकस्योदाहरणं युज्यत इत्याह—उपरमयतीति यावदिति। एतेन ण्यर्थवृत्तितामुपरमतेर्दर्शयन् सकर्मकतामुपपादयतीति। अकर्मको हि धातुर्ण्यर्थे वर्त्तमानः सकर्मको भवति। अथ पुनरण्यन्तस्य ण्यर्थवृत्तितोपपद्यते कथम्? अत आह—अन्तर्भावितण्यर्थो रमिरित्यादि। अन्तर्भावितो बुद्धचनुवेशितो ण्यर्थः प्रयोज्यप्रयोजकभावो यस्य स तथोक्तः। एवंविधस्यं तस्य प्रयोज्येन कर्मणा सकर्मकत्वमुपपद्यत एव।" (न्यास १.३.८४)

कितनी सुन्दर पूर्वपीठिका देने की शैली है। इस से पाठक वृत्ति के अभिप्राय को झटिति आत्मसात् कर लेता है।

(२) यू स्त्र्याख्यौ नदी (१.४.३) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

'ई च ऊ च=यू । अविभक्तिकोऽयं निर्देशः । स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्यौ । मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः ।'

अब इस की व्याख्या न्यास में देखिए—

"ई च ऊ च यू इति। ननु च दीर्घाज्जसि च इति प्रथमयोः पूर्वसवर्णत्वे प्रतिषिद्धे यणादेशे सति 'य्वौ' इति भवितव्यम्, तत्कथं 'यू' इति निर्देश इत्यत आह—अविभक्तिकोऽयं निर्देश इति। 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेर्लुप्तत्वात् । नास्माद् विभक्तिर्विद्यत इत्यविभक्तिकः ।"

"स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्याविति। ननु च कर्मण्यण् इत्यणि कृते आतो युक् चिण्कृतोः इति युकि च स्त्र्याख्यायाविति भवितव्यम्, तत्कथं स्त्र्याख्याविति ? आतोऽनुपसर्गे कः इति कप्रत्यये कृते एतद्रूपमिति चेद्, न, चक्षिङोऽत्र सोपसर्गत्वादित्यत आह—मूलविभुजादिदर्शनादिति। मूलविभुजादिष्वपि कप्रत्यय इष्यते। तथा च वक्ष्यति तृतीयेऽध्याये कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् इति। तेन 'स्त्र्याख्यौ' इति शब्दस्य मूलविभुजादिषु दर्शनात् कप्रत्ययः ।" (न्यास १.४.३)

कितना स्पष्ट सरल भाषा में व्याख्यान किया गया है।

(३) यू स्त्र्याख्यौ नदी (१.४.३) सूत्र का अर्थ काशिका में इस प्रकार दिया गया है—

'ईकारान्तमूकारान्तं च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञं भवति।'

अब इस की व्याख्या न्यास में देखिए—

"इह ईदूतोरेवेयं संज्ञा विधीयते ? तदन्तयोर्वा ? तत्र यद्याद्यः पक्ष आश्रीयेत कृत्स्त्रियां न स्यात्—हे लक्ष्मि, हे मधु इति। समुदायौ ह्यत्र स्त्र्याख्यौ न तु ईदूताविति। इमम् आद्ये पक्षे दोषं दृष्ट्वा द्वितीयं पक्षमाश्रित्याह—ईकारान्तम् ऊकारान्तमित्यादि। ननु च सुप्तिङन्तम्पदम् इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न लभ्यते ? नैष दोषः, यदयम् नेयङुवङ्स्थानौ० इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयति—भवतीह प्रकरणे तदन्तविधिरिति। अन्यथा प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्। न हीकारोकारमात्रं स्त्र्याख्यम् इयङुवङ्स्थानमस्ति, किं तर्हि ? तदन्तम् ।" (न्यास १.४.३)

इस प्रकार के व्याख्यान को पाकर जिज्ञासु जन वृत्तिकार के अन्तस्तल तक पहुँच कर आत्मविभोर हो उठते हैं। इस तरह की सरल भाषा में इस प्रकार का व्याख्यान कदाचित् आज तक हो नहीं सका है।

(४) 'आतश्चोपसर्गे' (३.३.१०५) सूत्र पर काशिका में यह वचन उपलब्ध होता है—

'श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिः—श्रद्धा, अन्तर्धा।'

इस से काशिकाकार का भाव व्यक्त नहीं होता। अब देखिए न्यास में इस की व्याख्या—

"श्रदन्तरोरित्यादि। उपसर्गे इव उपसर्गवत्, यादृश्युपसर्गे वृत्तिः प्रत्ययोत्पत्तिलक्षणा तादृश्येव तयोरपि भवति। तेन यथा—प्रधा, उपधेत्युपसर्गे भवति तथा श्रदन्तरोरपि श्रद्धा, अन्तर्धेत्यादि। न चेयं वृत्तिरुपसंख्यानसाध्या, यतः श्रद्धाशब्दस्तारकादिषु च पाठात् साधुत्वमनुभवति। अन्तर्धाशब्दोऽपि ज्ञापकात्, यदयम् अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति इत्यन्तर्धिशब्दस्य किप्रत्ययान्तस्य निर्देशं करोति, ततो ज्ञायते भवत्यन्तःशब्द उपसर्गकार्यस्य निमित्तमिति, अन्यथा हि तस्मिन्नुपपदे उपसर्गे घोः किः इति किप्रत्ययो न स्यात्, ततश्च 'अन्तर्धौ' इति निर्देशो नोपपद्यते।" (न्यास ३.३.१०६)

न्यास के इस व्याख्यान से वृत्तिकार का पूरा-पूरा भाव हृदयंगत हो जाता है तथा मन में किसी प्रकार का संशय व सन्देह शेष नहीं रहता।

इस तरह न्यास के सैंकड़ों स्थल निदर्शनरूपेण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहां वृत्तिकार के आशय का स्पष्टीकरण न्यास में सुचारुरूपेण हुआ है। इसके अतिरिक्त काशिकागत लगभग १२७ कारिकाओं की व्याख्या भी न्यास में अत्यन्त सरल शैली में सोदाहरण उपलब्ध होती है। ये कारिकाएं काशिका में प्रायः महाभाष्य से तथा कुछ अन्य पूर्ववर्ती वृत्तिकारों के ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार न्यास का यह व्याख्यान भाष्यगत इन कारिकाओं की प्रथमव्याख्या भी कहा जा सकता है, क्योंकि इन पर इससे प्राचीन व्याख्या अभी तक कोई उपलब्ध नहीं हुई।[1]

(ख) भाषा-सौष्ठव और भाषासारल्य—

भाषासौष्ठव और भाषासारल्य न्यासकार की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसी विशेषता के कारण ही वे छात्रों, जिज्ञासुओं और पाठकों के अन्तस्तल तक पहुंच कर उनके प्रिय व्याख्याकार माने जाते हैं। इस प्रकार की सरल-सुललित-प्रसन्नपदा प्रवाहमयी भाषा संस्कृतव्याकरण के क्षेत्र में महाभाष्य के बाद यदि किसी ग्रन्थ में है

---

१. यथा— ओकारोऽयं शीविधौ ङिद्गृहीतो
ङिच्चास्माकं नास्ति कोऽयं प्रकारः।
सामान्यार्थस्तस्य चासञ्जनेऽस्मिन्
ङित्कार्यं ते श्यां प्रसक्तं स दोषः॥ १॥
ङित्त्वे विद्याद् वर्णनिर्देशमात्रं
वर्णे यत्स्यात्तच्च विद्यात्तदादौ,
वर्णश्चायं तेन ङित्त्वेऽप्यदोषो
निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात्॥ २॥

यद्यपि शालिनीछन्दोपनिबद्ध ये दोनों कारिकाएं महाभाष्य और काशिका दोनों में समानरूपेण विद्यमान हैं तथापि इनकी व्याख्या भाष्य या काशिका किसी में भी उपलब्ध नहीं। इदानीं वैयाकरणनिकाय में सर्वप्रथम न्यास में ही इन की व्याख्या प्राप्त होती है।

तो वह जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास में ही है। कठिन से कठिन पङ्क्ति व फक्किका न्यासकार द्वारा व्याख्यात होने पर अत्यन्त सरल व सुवोध वन जाती है। वे हरदत्तमिश्र की तरह संक्षिप्त-गूढ-परिमितपदा भाषाशैली के उपासक नहीं हैं, वे तो छोटी से छोटी बात को भी स्पष्ट सुन्दर छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा समझाते हुए आगे वढ़ते हैं, ग्रन्थविस्तर का मानो उन्हें कोई भय ही नहीं रहता। एक स्थान पर उन्होंने भाषासम्वन्धी अपनी धारणा को व्यक्त करते हुए कहा भी है—

यदि लौकिके शब्दव्यवहारे लाघवमाद्रियेत तदा तरुशब्दस्यैव प्रयोगः स्यात्, वनस्पतिप्रभृतयस्तूच्छिद्येरन्। न चैवम्, तस्मान्नास्ति लौकिके शब्दप्रयोगे गुरुलाघवं प्रत्यादरः। (न्यास ३.४.५)

ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी इस धारणा को अपनी व्याख्या में मूर्त्तरूप दिया है। उदाहरणार्थ तस्य लोपः (१.३.९) सूत्र पर "तस्यग्रहणं सर्वलोपार्थम्। अलोऽन्त्यस्य मा भूत्—आदिर्ञिटुडवः" इस विषय की चर्चा महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ और लघुशब्देन्दुशेखर में देखें।

सर्वप्रथम महाभाष्य में—

"तस्यग्रहणं किमर्थम्? इत्संज्ञकः प्रतिनिर्दिश्यते। नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रकृतमिदिति वर्त्तते। क्व प्रकृतम्? उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१.३.२) इति। तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः। अर्थाद् विभक्तिविपरिणामो भविष्यति। तद्यथा—उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि, आमन्त्रयस्वैनम्। देवदत्तमिति गम्यते। देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेयः। देवदत्त इति गम्यते। पुरस्तात् षष्ठीनिर्दिष्टं सद् अर्थाद् द्वितीयानिर्दिष्टं प्रथमानिर्दिष्टं च भवति। एवमिहापि पुरस्तात् प्रथमानिर्दिष्टं सद् अर्थात् षष्ठीनिर्दिष्टं भविष्यति। इदं तर्हि प्रयोजनम्—येऽनेकाल इत्संज्ञास्तेषां लोपः सर्वादेशो यथा स्यात्। अथ क्रियमाणेऽपि च तस्यग्रहणे कथमिव लोपः सर्वादेशो लभ्यः? लभ्य इत्याह। कुतः? वचनप्रामाण्यात्। तस्यग्रहणसामर्थ्यात्।" (महाभाष्य १.३.९)

न्यास में—

"अथ किमर्थं 'तस्य' इत्युच्यते, यावतेत्संज्ञायाः प्रकृतत्वाद् यस्येत्संज्ञा विहिता सामर्थ्यात् तस्यैव लोपो भविष्यतीत्यत आह—तस्यग्रहणमित्यादि। कः पुनरित्संज्ञको योऽलोऽन्त्यस्य निवृत्त्यर्थं तस्यग्रहणं प्रयोजयतीत्यत आह—आदिर्ञिटुडव इति। असति तस्यग्रहणे, एषामपि ञिप्रभृतीनाम् अलोऽन्त्यस्य इति वचनादन्त्यस्य लोपः स्यात्। तस्यग्रहणेन तु प्रकृत इत्संज्ञके सन्निधापिते सर्वस्य लोपो भवति, नाऽन्त्यस्य, अन्यथा हि तस्यग्रहणमनर्थकं स्यात्। यदि तु 'नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः' इत्येषाऽऽश्रीयते तदा तस्यग्रहणमकर्तुं शक्यते।" (न्यास १.३.९)

पदमञ्जरी में—

"तस्यग्रहणं किमर्थम्, यावताऽभावो लोपः, स च कस्यचिदेव भवति, तत्र प्रकरणादित्संज्ञकस्यैव लोपो भविष्यतीत्यत आह—तस्यग्रहणमित्यादि। आदिर्ञिटुडव इति।

असति तस्यग्रहणे येऽनेकाल इत्संज्ञका ञिप्रभृतयस्तेष्वलोऽन्त्यस्य लोपः स्यात्,तस्य ग्रहण-सामर्थ्यात्तु सर्वस्य भविष्यति। एतच्च नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरित्यनाश्रित्योक्तम्।"
(पदमञ्जरी १.३.६)

शब्दकौस्तुभ में—

"तस्यग्रहणं सर्वलोपार्थम्। ञिटुडूनामलोऽन्त्यस्य मा भूत्। नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधि-रिति तु नास्ति। अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधेतिसूत्रे तस्य प्रत्याख्यानात्।"
(शब्दकौस्तुभ १.३.६)

लघुशब्देन्दुशेखर में—

"उपदेशेऽजित्यत इदित्यनुवृत्त्या विभक्तिविपरिणामेन च सिद्धौ तस्यग्रहणं सर्व-लोपार्थम्। तेन ञिटुडूनामन्त्यस्य लोपो न। नानर्थक इति परिभाषा तु भाष्ये प्रत्याख्या-तैवेति दिक्।"
(ल० शब्देन्दु० १.३.६ पर)

इन सबके तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि न्यास की पदावली जितनी सरल और झटित्यर्थप्रत्यायिका है वैसी अन्य किसी की नहीं। विद्यार्थी न्यास की पदावली के द्वारा अन्य सब के अभिप्राय को भी यथेष्ट समझ लेता है।

न्यासकार का भाषाप्रवाह उसमें यत्र-तत्र अनायास आ गई सुललित वाग्-धाराओं और लौकिक व्यावहारिक बातों के आश्रय के कारण और भी स्वच्छ, नैसर्गिक और मनोहर प्रतीत होने लगता है। इस से व्याकरणशास्त्र में भी काव्यवत् आनन्द आने लगता है। न्यासकार के इस स्वच्छ भाषाप्रवाह के कुछ नमूने देखिए—

(१) न च चौरोऽसीति शतकृत्वोऽपि ब्रुवता पुरुषस्य शक्यते चौरत्वमुपपा-दयितुम्।
(न्यास ३.४.२५)

(२) यथा हि कितवः किं तवाऽस्तीति धनवत्तामात्रमपेक्षमाणो द्यूते प्रवर्त्तते न तु तस्य जात्यादिकमपेक्षते तथा याज्ञिकोऽपि याजने प्रवर्त्तमानो यस्तृष्णया याज्यस्य धनवत्तामात्रमपेक्षते न तु तस्य यागार्हतां स याज्ञिककितव इत्युच्यते। (न्यास २.१.५३)

(३) य एव पुरुषोऽलसो भवति स एवं मन्यते दुःखायैवैतदध्ययनमिति।
(न्यास १.४.२६)

(४) यो नास्तिको पुरुषो भवति स एवं पश्यति—नाऽस्माद् धर्मात् किञ्चि-दिष्टं सम्पद्यते। दुःखमेव केवलं तदारम्भनिमित्तकं भवति। स एवं विचारयंस्तं बुद्ध्या प्राप्नोति प्राप्य च ततो निवर्त्तते।
(न्यास १.४.२४)

(५) भिक्षा हि प्रचुरव्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना रसनानुकूलं तृप्तिविशेषमुपज-नयन्त्येव।
(न्यास ३.१.२६)

(६) यस्य हि जटाः सन्ति लोके महानयं तपस्वीत्युपजातसंप्रत्ययैः पूज्यते।
(न्यास १.३.७०)

(७) यच्च निष्पन्नं तन्न शक्यं वचनशतेनाप्यनिष्पन्नसत्तायामापादयितुम्। अन्यथा नहि कश्चिद् दुःखविवशां दशामनुभवेत्। (न्यास ८.२.१)

(८) य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स एवं पश्यति दुःखहेतुरयमधर्मो नाम। अतो नार्हत्येनं सचेताः कर्तुमिति। एवं विचारयंस्तं बुद्धया प्राप्नोति। प्राप्य च ततो निवर्त्तते। (न्यास १.४.२४)

(९) यदेवालस्यापहतं प्रति दूरं भवति तदेवोत्साहसम्पन्नं प्रत्यन्तिकम्। (न्यास ८.२.८४)

(१०) भिन्ना हि भावानां शक्तयः। तथाहि यामेव क्रियां भारोद्वहनादिकां कश्चित् सहायसापेक्षः करोति तामन्यः सहायनिरपेक्षः। (न्यास ८.१.४)

(११) उत्पादयितैवापत्येन सम्बध्यते। एवं हि लोके दृश्यते पितामहस्योत्सङ्गे दारकमासीनं दृष्ट्वा कश्चित् पृच्छति कस्यायमिति। स आह—देवदत्तस्येति। तेनोत्पादयितारं व्यपदिशति नाऽऽत्मानम्। (न्यास ४.१.९३)

(१२) चिरातीतोऽप्यर्थो बुद्धौ परिभाव्यमानो वर्त्तमानतां प्रतिपद्यते। यथाद्य कंसो हन्यतामिति। (न्यास ४.१.१०३)

(१३) वाहोर्योऽवयवो हस्तः स देवदत्तस्याप्यवयवो भवत्येव, अन्यथा हस्तवान् देवदत्त इति प्रयोगो न स्यात्। (न्यास ६.१.७३)

(१४) कारीषोऽग्निरपि निर्वातप्रदेशेषु सुप्रज्वलितोऽध्ययनविरोधिनं शीतादिकृतमुपद्रवमुपशमयन् अध्ययनानुकूलं सामर्थ्यमादधाति। (न्यास ३.१.२६)

(१५) विकृतिरेषा स्त्रीणां यत्स्वातन्त्र्यमिति। (न्यास ५.१.१२)

(१६) परपदार्थेषु हि प्रयुज्यपाना: शब्दा अन्तरेणापि इवशब्दप्रयोगमिवार्थं गमयन्ति। यथा—अग्निर्माणवो गौर्वाहीक इति। (न्यास 'ए ओ ङ्' पर)

(१७) यस्मिन् पक्ष आश्रीयमाणे सर्वेषामनुग्रहो भवति स एवाऽऽश्रयितुं युक्तः। (न्यास ३.४.७८)

(१८) ग्रन्थाधिक्यादर्थाधिक्यं भवति। (न्यास ४.१.८५)

(१९) एवं हि विस्मरणशीलानामनुग्रहो भवति। (न्यास ३.३.१)

(२०) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदः शक्यते कर्त्तुम्। नाऽन्यथा। नहि प्रदीपेऽनुच्छिन्ने तत्प्रभोच्छिद्यते। (न्यास ३.१.९४)

(२१) जातिर्हि द्रव्यस्योत्पत्तेः प्रभृति आविनाशात् स्वाधारं नैव जहाति। (न्यास २.१.५७)

(२२) लक्ष्यदर्शनवशाद् अविच्छिन्नाचार्यपारम्पर्योपदेशाच्च विशेषाऽवगतिः। (न्यास १.४.३२)

(२३) साम्प्रतिकाऽभावे हि भूतपूर्वगतिर्भवति। (न्यास ८.३.३०)

(२४) लोके चार्थपरत्वादनर्थकस्य प्रयोगो नोपपद्यते। (न्यास ८.१.६)

(२५) दीर्घोच्चारणाद ह्रस्वोच्चारणं लघु भवति। (न्यास १.२.१७)

(२६) इह आढ्यत्वं कस्यचित् साधनसम्बन्धकृतं कस्यचिद् यत्नकृतं कस्यचिद् भाग्यसम्पत्कृतम्। (न्यास ८.१.१२)

'नहि' तथा 'न च' शब्द को वाक्य के आदि में रख कर न्यासकार की प्रयोग-चातुरी देखते ही बनती है। इस के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) नहि प्रपचतीति प्रयोक्तव्ये कश्चित् पचति प्रेति प्रयुङ्क्ते। (न्यास १.१.१)

(२) नहि विना चित्रगवीभिर्देवदत्तश्चित्रगुर्भवति। (न्यास १.२.१)

(३) नहि प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते। (न्यास १.४.२५)

(४) नहि भार्याविरहितस्त्रैवर्णिकः केवलो यज्ञेऽधिक्रियते। (न्यास ४.१.३३)

(५) नहि ह्रस्वस्य दीर्घस्य वा गुणे कृते कश्चिद्विशेषोऽस्ति। (न्यास ६.४.१६)

(६) नहि स्वावयवो व्यवधायको भवति। (न्यास ६.१.१८६)

(७) नहि विनाध्ययनेनाध्याय्युपपद्यते। (न्यास ४.१.७१)

(८) नहि अनवधारिताभ्यां प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां शक्यं धातुजत्वं कस्यचिन्निश्चेतुम्। (न्यास ३.३.१)

(९) न च प्रयत्नस्य तुलया सम्मितत्वं सम्भवति। (न्यास १. १. ९)

(१०) नहि वृत्तिं व्याख्यातुमुद्यतस्य तद्विरुद्धं व्याख्यानं युज्यते कर्त्तुम्। (न्यास १. १. १)

(११) नहि धातोः सुब्विभक्तिरुत्पत्तुमुत्सहते, तस्याः प्रातिपदिकाद्विधानात्। (न्यास ३. १. २७)

(१२) नहि प्रदीपेऽनुच्छिन्ने तत्प्रभोच्छिद्यते। (न्यास ३. १. ९४)

(१३) न च निमित्तिना निमित्तं व्याहन्यते, अन्यथा हि तस्य निमित्तत्वमेव न स्यात्। (न्यास १. ४. ५६)

(१४) नह्यनिष्टार्था शास्त्रे प्रक्लृप्तिर्युक्ता। (न्यास ३. १. २१)

(१५) नहि मृत्तिकावस्थायां सन्तो घटादय उत्पद्यन्ते। (न्यास ८. १. ६)

(१६) नहि हिमवान् गङ्गायाः कारणम्, सा ह्यन्येभ्य एव कारणेभ्य उत्पन्ना हिमवति तु प्रथमत उपलभ्यते। (न्यास १. ४. ३१)

शब्दार्थसम्बन्ध में की गई न्यासकार की टिप्पणियां तथा सरल उक्तिवैचित्र्य भी अपने क्षेत्र में अनुपम हैं। इसके कुछ नमूने यथा—

(१) न चाऽनेकार्थाभिधायिनः शब्दस्य वचनशतैरप्येकार्थाभिधायित्वं शक्यते कर्तुम्। (न्यास २. ४. १)

(२) न च सामान्यशब्दाः प्रकरणादिकमन्तरेण विशेषेऽवस्थातुमुत्सहन्ते। (न्यास ८. १. ४)

(३) स्वच्छन्दतो हि वचसां प्रवृत्तिरर्थस्तु परीक्षणीयः। (न्यास १. ३. ११)

(४) समुदायस्य हि कर्मत्वेऽवयवा अपि कर्मत्वमनुभवन्ति। अवयवात्मकत्वात् समुदायस्य। (न्यास ३. १. ७)

(५) असति हि वचनस्यावकाशेऽध्याहारो युक्तो न तु सति। (न्यास ३. १. १)

(६) रूढिशब्दो हि यथाकथञ्चिद् उत्पाद्यते, न तत्रावश्यमवयवार्थोऽपेक्ष्यः। क्वचिदवयवार्थसम्भवात्। तथाहि तैलं पिबतीत्येवं तैलपायिकाशब्दो व्युत्पाद्यते, स च तैलपानक्रियारहित एव क्वचित् प्राणिविशेषे वर्त्तते। (न्यास ४. ३. ४२)

(७) विषयभेदे हि सति बाध्यबाधकभावो भवति। (न्यास ८. २. ८४)

(८) द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृत्यर्थं गमयतः। (न्यास ७. ३. ६)

(९) उपदेशाद् हि शब्दरूपं निश्चीयते लौकिकाद्वा प्रयोगात्। (न्यास ६. ४. १४)

(१०) दृश्यते हि सादृश्यादर्थान्तरेऽपि शब्दानां वृत्तिः। यथा सिंहो माणवक इति। (न्यास ६. १. ५७)

(११) नह्युपलक्षणं कार्योपयोगि भवति। तथाहि यथा चित्रगुरानीयताम् इत्युक्ते यस्य चित्रा गावः सन्ति स एवानीयते न तूपलक्षणभूता गावोऽपि। (न्यास ६. १. १)

(१२) भवति हि करणस्य कर्तृत्वेन विवक्षा यथा साध्वसिश्छिनत्ति। (न्यास ५. २. ४७)

(१३) अकर्मका अपि अन्तर्भावितण्यर्थाः सकर्मका भवन्ति। (न्यास ४. २. ६८)

(१४) यथैव हि सामीप्याद् गङ्गायां घोष इति गङ्गासमीपस्थे देशे गङ्गा-शब्दो वर्त्तते तथेहापि पुष्यादयो नक्षत्रविशेषवाचिनः शब्दाः पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि वर्त्तन्ते। (न्यास ४. २. ३)

(१५) अनुकरणं द्वैधम्। अर्थस्य शब्दमात्रस्य चेति। ज्ञापितमाचार्येणैतद् द्वैधा निर्देशात्। परिव्यवेभ्यः क्रियः (१. ३. १८), विपराभ्यां जेः (१. ३. १९) इतीयङादेशस्य करणाकरणाभ्याम्। (न्यास ४. १. १)

(१६) सत्यपि प्रवृत्तिनिमित्तत्वे रूढ्या नियतविषयत्वाच्छब्दा विशिष्ट एवार्थे वर्त्तन्ते, नाऽविशिष्टे। मयूरादिशब्दवत्। नहि मह्यां रौतीति सर्वो मयूर इत्युच्यते। नापि गच्छतीति सर्वो गौरित्युच्यते। किं तर्हि ? विशिष्ट एव प्राणी। (न्यास ३. १. १२७)

(१७) विना ह्येवकारप्रयोगेणावधारणं गम्यते विवक्षितत्वात्। यथा पार्थो धनुर्धर इति। (न्यास ८. १. १२)

(१८) अभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा भवन्ति। (न्यास ७. २. ११७)

(१९) द्विविधो हि संख्याशब्दः। संख्यानवचनः संख्येयवचनश्च। (न्यास ५. २. ४८)

(२०) इह आदशभ्यः संख्याः संख्येये वर्त्तन्ते। (न्यास ६. १. १)

इस प्राकर भाषासौष्ठव और भाषासारल्य की दृष्टि से व्याकरणजगत् में न्यास एक अनुपम कृति है इसमें सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु न्यासकार इस विषय में भाष्यकार पतञ्जलि के ही अधमर्ण प्रतीत होते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि उनके

सामने अनेक प्राचीन वृत्तियों और व्याख्याओं का विपुल ग्रन्थभण्डार विद्यमान था, जिस का उन्होंने उपयोग कर स्थान-स्थान पर सारसंग्रह किया है तथापि जितनी बार उन्होंने भाष्य और भाष्यकार को उद्धृत किया है उतना और किसी को नहीं। न जाने उन्हों ने भाष्य के कितने पारायण किये होंगे। इस से अनुमान होता है कि भाषा के विषय में वे भाष्यकार से ही अधिक प्रभावित हुए हैं। भाष्य और न्यास भाषा की सरलता और सौष्ठव की दृष्टि में यद्यपि एक समान हैं तथापि आरम्भिक विद्यार्थियों के लिए जहाँ पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष और सिद्धान्तपक्ष में उलझे भाष्य का आशय समझ पाना कठिन होता है वहाँ न्यासकार का तात्पर्य समझना बहुत ही सरल। निदर्शन के लिये इसी प्रकरण में (पृष्ठ ३१ पर उद्धृत) **तस्य लोपः** (१.३.९) सूत्रगत 'तस्य' ग्रहण का प्रयोजन बतलाने वाले महाभाष्यस्थ और न्यासस्थ पाठ का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इससे सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि विद्यार्थी भाष्यस्थ पाठ की अपेक्षा न्यास के पाठ को ही शीघ्र ग्रहण कर सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम भाष्य की अपेक्षा न्यास को ही श्रेष्ठतर सिद्ध करना चाहते हैं। न्यास जहाँ वृत्ति को समझने के लिए उत्सुक आरम्भिक जिज्ञासुओं के लिए रचा गया है, भाष्य वहाँ वृत्ति पढ़ चुके प्रौढ और विशिष्ट जिज्ञासुओं के प्रयोजनार्थ बनाया गया है। अतः दोनों की प्रतिपादनशैली में महदन्तर होना स्वाभाविक और नितान्त आवश्यक भी है।

(ग) रूपसिद्धि—

रूपसिद्धि या प्रयोगसिद्धि भी न्यासकार का अपना एक अपूर्व वैशिष्ट्य है। वे वृत्ति में आये प्रायः प्रत्येक उदाहरण की ससूत्र साधनप्रक्रिया दर्शाते हुए आगे बढ़ते हैं। इस से छात्रों के आगे सूत्रस्थ या वृत्तिस्थ विषय स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला जाता है कोई ज्ञानबाधा उपस्थित नहीं होती। महाभाष्य या प्रौढमनोरमा आदि प्रौढ ग्रन्थों में ऐसा नहीं किया जाता। वहाँ प्रायः बिना साधनप्रक्रिया दर्शाए ही किसी उदाहरण को आगे रखकर शङ्का-समाधान प्रारम्भ किया जाता है, इससे अपरिपक्व या विस्मरणशील-प्रक्रिया वाले विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, वे जब तक उदाहरण में हुए प्रक्रियाजन्य परिवर्तन को समझ न लें विषय को सम्यक्तया ग्रहण कर नहीं पाते। न्यासकार इस विषय में आरम्भ से ही जागरूक हैं यह बड़े हर्ष और आश्चर्य का विषय है।

न्यास में कई सहस्र रूपों की साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है। न्यास का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग इस साधनप्रक्रिया को ही समर्पित हुआ है, इससे इसका महत्त्व पूर्णतया समझा जा सकता है। यह गुरुतर कार्य सम्भवतः पाणिनीयसूत्रव्याख्या के प्रसङ्ग में इतने विशाल परिमाण में किसी अन्य ग्रन्थ में आज तक उपलब्ध नहीं। काशिकावृत्ति की दूसरी व्याख्या पदमञ्जरी में भी क्वचित् क्वचित् साधनप्रक्रिया प्रदर्शित की गई है परन्तु न्यास की अपेक्षा बहुत कम और संक्षिप्त, अतएव वह विद्यार्थियों को विशेष रुचिकर प्रतीत नहीं होती। विद्यार्थी आवश्यक प्रक्रिया जानने में संक्षेपरुचि नहीं हुआ करते—

यह विश्वजनीना प्रतीति है, अत एव वृत्ति को समझने के लिए विद्यार्थी आज भी प्रक्रिया के ज्ञानार्थ केवल न्यास की ओर ही निहारते हैं, इसके सिवाय उनके आगे और कोई मार्ग ही नहीं होता।

न्यासनिर्दिष्ट इस साधनप्रक्रिया के प्रदर्शन में विद्यार्थियों को तो लाभ होता ही है पर अद्यत्ने इस विषय के तुलनात्मक अध्ययन में भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि न्यासकार ने प्राचीन वृत्तिकारों व व्याख्या-कारों की परम्परा का आश्रय लेकर ही तत्तत्प्रयोगों की साधनप्रक्रिया को प्रदर्शित किया है, परन्तु आजकल सिद्धान्तकौमुदी आदि के प्रचार व प्रसार के कारण इसमें कहीं-कहीं भारी फेरबदल भी हो गया है। प्राचीनप्रक्रिया की कई बातें लुप्तप्राय हो चुकी हैं और उनका स्थान नवीन वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट नवीनप्रक्रियाओं ने ले लिया है। उदाहरणार्थ न्यासकार 'चक्रतुः, चक्रुः, पपतुः, पपुः, जघ्नतुः, जघ्नुः' आदि की प्रक्रिया में द्वित्वनिमित्तक अच् के परे रहते सर्वत्र धातु के अच् के स्थान पर प्रथम आदेश कर वाद में द्विर्वचनेऽचि (१.१.५९) द्वारा स्थानिवद्भाव के कारण रूपातिदेश मानकर पहले रूप को लेते हुए धातु को द्वित्व किया करते हैं जो आजकल की प्रचलित प्रक्रिया के नितान्त विपरीत है। अद्यत्वे द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५९) सूत्र का अर्थ स्थानि-वत्परक न मानकर निषेधपरक मानने से प्रथम द्वित्व और वाद में अजादेश करने की प्रक्रिया प्रसिद्ध है। यह प्रक्रिया सत्रहवीं शती में सिद्धान्तकौमुदी के निर्माता भट्टो-जिदीक्षित ने आरम्भ की है। इस का विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है अतः यहां पिष्टपेषण व्यर्थ है।[1]

इसी तरह न्यासकार द्वारा निर्दिष्ट 'उत्थाता, मज्जति' आदि की प्रक्रिया में भी नवीनवैयाकरणों की प्रक्रिया से महदन्तर है। इस के अतिरिक्त प्रक्रियासम्बन्धी कुछ अन्य परिवर्त्तन भी हैं जिनका आगे सविस्तर उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।

(घ) अनुत्सूत्रपदत्व—

भारतीय मनीषियों व आलोचकों की दृष्टि में न्यास का सबसे बड़ा वैशिष्टय अनुत्सूत्रपदत्व[2] है। अर्थात् न्यासकार प्रत्येक वार्त्तिक, उपसंख्यान, इष्टि व विशिष्ट व्याख्यान आदि को सूत्रों के पदों से ही सिद्ध करते हैं[3]। उनकी यह दृढ़ धारणा प्रतीत

---

१. देखें—लघुसिद्धान्तकौमुदी पर मत्प्रणीता भैमीव्याख्या द्वितीयभाग (पृष्ठ १४४-४६)।

२. अनुत्क्रान्तानि नोल्लङ्घितानि सूत्रपदानि सूत्राक्षराणि येन यस्मिन् वा तस्य भावस्तत्त्वम्।

३. 'अनुत्सृष्टसूत्राक्षर इष्टयुपसंख्याननैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रतिपादको न्यासो वृत्तिव्याख्यानग्रन्थविशेषः।' (मल्लिनाथ—माघ २.११२)।

'अनुत्सूत्रपदन्यासो न्यासकारो नाम नियतं वार्त्तिकप्रत्याख्यायी।'

(श्रीशचन्द्रटिप्पण, न्यास, पूर्वार्धं पृष्ठ १०२)

होती है कि प्रत्येक वार्त्तिक आदि का मूल सूत्र में ही निहित होता है। अतः सूत्रगत पदों से ही उनका अनुमोदन होना चाहिए। वैसे इस प्रकार की धारणा कोई नई नहीं है, भाष्यकार के 'यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत' (महाभाष्य पस्पशा० पृष्ठ १२) 'इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो गम्यते' (महाभाष्य ६.१.३७) इत्यादि वचन भी इसी की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। वैयाकरणनिकाय में सुप्रसिद्ध एक श्लोक में भी यही कहा गया है—

"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ॥"[1]

इस धारणा के पीछे पाणिनि की सर्वज्ञता की मान्यता निहित है। मुनि मानो अव्याहतगति त्रिकालदर्शी थे। उनके सामने सम्पूर्ण शब्दार्थविषय प्रत्यक्षवत् विद्यमान था। अपने तन्त्र को संक्षिप्त करने के लिए ही उन्होंने अनेक उपाय रचे हैं। उन उपायों से शिष्टप्रतिपादित छूट गये अन्य अनेक प्रयोगों का भी संग्रह कर लेना चाहिए। अष्टाध्यायी का प्रयोजन ही शिष्टज्ञानार्था है[2]। मुनि यदि ये उपाय न रचते तो अष्टाध्यायी का कलेवर इतना बड़ा हो जाता जो साधारणतया मानवबुद्धि से गृहीत न हो सकता। जैसे किसी भवन में शुद्ध ताज़ा वायु के प्रवेश के लिए रोशनदानों, खिड़कियों और द्वारों आदि की रचना की जाती है ठीक उसी तरह मुनि ने भी अपने तन्त्र में अनेक प्रावधान किये हैं, इस से उन के तन्त्र में छूटे हुए या आगे होने वाले शिष्ट प्रयोगों का समावेश हो जाता है।[3]

न्यासकार ने पाणिनीयतन्त्र के एतद्विषयक निम्नस्थ मुख्य-मुख्य उपाय प्रतिपादन द्वारा[4] अनावृत किये हैं—

---

१. देखें—दुर्गसिंहकृतकातन्त्रपरिभाषासूत्रवृत्ति पृष्ठ १; तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ ६०६, (इसके लिए 'पाणिनीयव्याकरण का अनुशीलन पृष्ठ २१)।

२. 'यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं किमष्टाध्याय्या क्रियते। शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी।' (महाभाष्य ६.३.१०९)

३. "एतद्भाष्यप्रामाण्याद् वार्त्तिकानामपि सूत्रसम्मतत्वमाहुः। तदुक्तमभियुक्तैः—'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके' इति।—पाणिनिश्च तज्ज्ञानेऽपि अन्याभ्यां तस्य वाच्यत्वात् स्वयं वार्त्तिकभाष्योक्तानर्थान् नोक्तवान् इति साम्प्रदायिकाः।" (देखें सि०कौ०ल०शब्देन्दु० पूर्वार्ध गुरु०प्र०सं० पृष्ठ ४९४)

४. जहां कहीं भी वक्तव्यम्, वाच्यम्, उपसंख्यानम् आदि का प्रयोग होता है न्यासकार उस का अर्थ प्रतिपादनम् या व्याख्येयम् आदि ही करते हैं। तद्यथा—
'परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यमिति। परस्परशब्द उपपदं यस्य तस्मात् प्रतिषेधो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—' (न्यास १.३.१६)।
'उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। उपसंख्यानशब्दोऽत्रानेकार्थत्वाद् धातूनां प्रतिपादने वर्त्तते। तत्रेदम्प्रतिपादनम्—' (न्यास १.३.१५)।

(१) **चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः।** चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थक मानना। यह न्यासकार द्वारा प्रतिपादित सर्वप्रमुख उपाय है। तद्यथा—

'तत्रेदं व्याख्यानम्—पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्तते, तस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् स्वाङ्गकर्मकादपि भवति।' (न्यास १.३.२७)

'तत्रेदं व्याख्यानम्—उत्तरसूत्रे चकारोऽनुवर्त्तते। स चाऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन उपपूर्वात्तिष्ठतेर्देवपूजादिष्वर्थेष्वात्मनेपदं भवति।' (न्यास १.३.२५)

(२) **'वा' 'अन्यतरस्याम्' या 'विभाषा' को व्यवस्थितविभाषा मानना।** यह न्यासकार का दूसरा सबसे बड़ा उपाय है। तद्यथा—

'वक्तव्यमिति व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—इहान्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो भविष्यति।' (न्यास १.४.४८)

(३) **'बहुलम्' की अनुवृत्ति ला कर—**

"क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥" (न्यास ३.३.१)

इस प्रकार उसके चतुर्विध व्याख्यानद्वारा अभीष्ट सिद्ध करना। तद्यथा—

'तत्रेदम्प्रतिपादनम्—पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणमनुवर्त्तते, तेनाऽनचोऽपि परस्य भविष्यति।' (न्यास ८.४.२६)

"तत्रेदं व्याख्यानम्···चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि इत्यतो बहुलग्रहणमनुवर्त्तते। तेनाकृकारयोः प्रयोगे नियमो न भविष्यतीति। शेषे विभाषेत्यस्याऽप्यर्थो बहुलग्रहण-समाश्रयेण व्याख्यातव्या।" (न्यास २.३.६६)

(४) **सूत्रों का योगविभाग करना।** तद्यथा—

"अमि परतः छत्वं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—

परन्तु हरदत्तमिश्र उपसंख्यानम् का अपना अर्थ करते हैं—
'संख्यायते संक्षिप्य प्रतिपाद्यतेऽनेनार्थ इति संख्यानम्=सूत्रम्, तस्य उपोच्चारित-मुपसंख्यानं सूत्रम्, समीप इदमपि सूत्रं पठितव्यमित्यर्थः।' (पदमञ्जरी १.३.१५)
अन्य वैयाकरण कई जगह न्यासकारवत् भाव अभिव्यक्त करते हैं। तद्यथा नागेशभट्ट—
'तस्माण्णिग्रहणं कर्त्तव्यमित्यस्य स्वापेर्ण्यन्तस्य ग्रहणमिति व्याख्येयमित्यर्थः। स्वपिप्रकृतिकण्यन्तस्यैव शीघ्रोपस्थिकत्वेन द्युतिसाहचर्येण चानामधातोरेव ग्रहणमिति तत्त्वम्।' (भाष्यप्रदीपोद्योत ७.४.६७)
'यण इति। वाचनिकमिदम्। यद्वा वाच्यः=व्याख्येय इत्यर्थः।'
(बृ० शब्देन्दुशेखर पृष्ठ १६३)

'शश्छः' इति योगविभागः क्रियते । तेनाट्प्रत्याहारेऽसन्निविष्टे लकारादावपि भविष्यति । अतः 'अटि' इत्यतिप्रसङ्गनिरासार्थो द्वितीयो योगः—तेनाटयेव परभूते नाऽन्यत्रेति । योगविभागकरणसामर्थ्याच्चाम्प्रत्याहारान्तर्गतेऽनटयपि क्वचिद् भवत्येव । अन्यथा योगविभागकरणमनर्थकं स्यात् ।" (न्यास ८.४.६३)

(५) सिंहावलोकितन्याय के द्वारा आगे से किसी पद का अपकर्षण करना । तद्यथा—

'उत्तरसूत्रादिह चकारः सिंहावलोकितन्यायेनानुवर्त्तते । तस्याऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् वाह्यादिभ्योऽपि ष्फञ्भवतीति ।' (न्यास ४.२.९९)

(६) मण्डूकप्लुतिन्याय से किसी दूरस्थ पद का अनुवर्त्तन । तद्यथा—

'मण्डूकप्लुतिन्यायेन वेत्यनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन स्त्रियां न भविष्यतीति ।' (न्यास ८.२.८३)

"तत्रेदं व्याख्यानम्—वा निंस-निक्ष-निन्दाम् इत्यतो मण्डूकप्लुतिन्यायेन वाग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेन तद्धिते प्रतिषेधो न भविष्यतीति ।" (न्यास ८.४.३८)

(७) 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' या 'छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते' अथवा 'व्यत्ययो बहुलम्' (३.१.८५) का आश्रय करना । तद्यथा—

'त्रीणामपीष्यते छन्दसीति । एतच्चापीत्यधिकाराद्वा सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति वा लभ्यते ।' (न्यास ७.१.५३)

'सुवस्, स्वतवस्, मास्, उषस् इत्येतेषां च भकारादौ परतस्त् इत्ययमादेश इष्यते छन्दसि विषये । स च व्यत्ययो बहुलम् इत्यनेनैव लभ्यत इति वेदितव्यम् ।' (न्यास ७.४.४८)

(८) निर्देशाधिक्य, ग्रन्थाधिक्य या मात्राधिक्य से अनुक्त बातों को ऊहित करना । तद्यथा—

'वक्तव्यशब्दो व्याख्येये । तत्रेदं व्याख्यानम्—इहान्तःपूर्वाद् इत्येवं सिद्धे यदधिकं पदग्रहणं तदधिकमिह कार्यं भवतीत्येवमर्थं क्रियते, तेन समानशब्दादपि ठञ् भवतीति ।' (न्यास ४.३.६०)

'इह हि भोगसमासादिति वक्तव्ये उत्तरपदग्रहणमधिकविधानार्थम् । तेन पञ्चजनादपि भविष्यति ।' (न्यास ५.१.९)

'कथं पुनरधिकारादेव द्वितीयासमर्थविभक्तौ लब्धायामिहाधिकं द्वितीयोपादानं कृतम् ? एतेन तदधिकस्य विधिर्भवतीति सूचितम् । तेन विगृहीताद् विपरीताच्च प्रत्यय उपपद्यते ।' (न्यास ५.२.११)

'एवं तर्हि बहुवचननिर्देशोऽयं मात्राधिक्येन सूत्रप्रबन्धस्यार्थाधिक्यसूचनार्थः ।'[1] (न्यास २.२.५)

---

१. मो राजि समः क्वौ (८.३.२५) सूत्र पर मात्राधिक्य का सुन्दर उदाहरण देते हुए न्यासकार लिखते हैं—

(९) लक्षणव्यभिचार या समास में पूर्वनिपात के विपर्यय का आश्रय करना। तद्यथा—

'अथ स्वरूपस्यैव ग्रहणं कस्मान्न भवति ? च्फञोऽल्पाच्तरस्य परनिपातात्। स हि लक्षणान्तराऽनपेक्षतामाचष्टे। तेन स्वं रूपं शब्दस्य० इत्येतदपीह नाऽपेक्ष्यत इति न भवति स्वरूपग्रहणम्।' (न्यास ५.३.११३)

'अल्पाच्तरत्वाच्चाशीतिशब्दस्य पूर्वनिपाते कर्त्तव्ये परनिपातेन लक्षणव्यभिचार-चिह्नेन संख्यातानुदेशाभावः सूचितः।' (न्यास ६.३.४७)

"ननु च गा-मा-दाग्रहणेष्वविशेषः इति सर्वेषामेव ग्रहणेन भवितव्यम्। तत्कथं माङ्मेङोरेव ग्रहणं लभ्यते ? नैतदस्ति, इह (नेर्गदनदपतपदघुमेतिसूत्रे) द्वन्द्वे घि, अल्पाच्तरम् इति वचनमनपेक्ष्य 'घु' इत्येतस्य पूर्वनिपातमकुर्वता नात्र वचनानुरोधेन प्रवर्तितव्यमपि तु इच्छयेति सूचितम्। तेन यत्रेच्छा भवति स एव गृह्यते। इच्छा लक्ष्यानुरोधात्, माङ्मेङोरेव ग्रहणं भवतीति युक्तम्। अत एवेच्छया प्रवर्तित्तव्यमिति सूचनाद् यदापि मेङ आत्वाभावे मेत्येतद्रूपं न सम्भवति, तदापि तस्य ग्रहणं भवत्येव—प्रणिमयत इति।" (न्यास ८.४.१७)

(१०) आकृतिगणत्व का आश्रय करना। तद्यथा—

'प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् कुलालादयस्तत्रैव द्रष्टव्याः।' (न्यास ५.४.३६)

(११) ज्ञापक या आचार्यप्रवृत्ति का आश्रयण। तद्यथा—

'सन्प्रत्ययोऽत्र गृह्यत इति। गुप्तिज्किद्भ्यः सन् इत्यादिना यो विहितः। न सन्धातुरिति। एतच्च गर्गादिषु जिगीषुशब्दपाठाद् विज्ञायते, स हि प्रत्ययग्रहणे चोपपद्यते, न तु धातुग्रहणे।' (न्यास ३.२.१६८)

'एषा ह्याचार्यस्य शैली यत्र प्रत्येकमुपपदत्वमस्ति तत्र समुदायात् सप्तमी-मुच्चारयति यथा नाडीमुष्टचोरिति। इह तु विपर्ययः कृत इति न भवत्युपपदत्वम्।' (न्यास ३.२.३१)

(१२) सूत्रगत 'इति' शब्द को विवक्षार्थ मानना। तद्यथा—

'इतिकरणो विवक्षार्थः। तेन यत्र प्रत्ययान्ताच्छिष्टानां विवक्षा भवति तत्र प्रत्ययेन भवितव्यम्।' (न्यास ४.२.५५)

"इतिकरणमेवम्प्रकाराणामन्येषामुपसंग्रहार्थम्। तेन 'जाग्रमः' 'अदर्शम' इत्यादि सिद्धम्भवति। जाग्रम इति जाग्रतेरग्निपात्यते। अदर्शमेति लङि दृशेः पश्यादेशाभावः। जागृम, अपश्यामेति भाषायाम्।" (न्यास ७.४.७४)

मोऽनुस्वार इत्यनुस्वारः प्राप्नोति, स मा भूदित्येवमर्थं मकारस्य मकारो विधीयते। यद्येवम्, नेति प्रतिषेधः कर्त्तव्यः, एवं हि लघु सूत्रं भवति, विभक्त्यनुच्चारणात्। एवं तर्हि निर्देशाधिक्येन तु मकारविधानेनैतत् सूचयति—अत्र प्रकरणेऽधिको हि विधिर्भवतीति यवलपरे यवला वा भवन्ति इत्युपपन्नम्भवति। (न्यास ८.३.२५)

(१३) **पृषोदरादित्व का आश्रयण । तद्यथा—**

"उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। तत्रेदम्प्रतिपादनम्—सूतका सूतिका इत्यादयः शब्दाः पृषोदरान्तःपातिनः, तेन पृषोदरादित्वादेवायं विकल्पः सिद्धः।' (न्यास ७.३.४५)

'तत्रेदं व्याख्यानम्—पृषोदरादित्वाद् भविष्यतीति।' (न्यास ८.४.६१)

'तत्रेदं व्याख्यानम्—पृषोदरादित्वाद् भ्रुकुंसादीनामकारो भविष्यतीति।' (न्यास ६. ३. ६१)

(१४) **कुछ अन्यान्य लघु उपाय—**

(क) **'अपि' को अनुक्तसमुच्चयार्थ मानना। तद्यथा—**

'तत्रेदम्प्रतिपादनम्—नञ्पूर्वाणामपीत्यतोऽपिग्रहणमनुवर्त्तते। स चाऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन दोषोऽपि भविष्यति।' (न्यास ७.३. ५१)

(ख) **बहुवचन आदि के निर्देश से अनुक्त बातें स्वीकार करना। तद्यथा—**

'कृत्या इति बहुवचनेन निर्देशो बहुत्वात् संज्ञिनाम्। अथवाऽनुक्तकृत्प्रत्ययसंग्रहार्थं बहुवचनम्। तेन केलिमर उपसंख्यानमित्येतत् कर्त्तव्यं न भवति।' (न्यास ३. १. ९५)

(ग) **उदय आदि मङ्गलशब्दों का आश्रय करना। तद्यथा—**

"मङ्गलार्थं इहोदयशब्दे क्रियमाण उत्तरारम्भो मङ्गलपूर्वको भवति। तेन यद् वक्ष्यति—'दीर्घप्लुतयोश्चानेन विवृताकारेण ग्रहणं नेष्यते, संवृतेन तु मात्रिकस्य सर्वगुणयुक्तस्याकारस्य ग्रहणमिष्यते' इति तदुपपन्नम्भवति।" (न्यास ८.४.६७)

(घ) **धातुपाठोक्त उदात्तादि का आश्रय करना। तद्यथा—**

"वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यत इति। कथम्पुनरिष्यामाणोऽपि लभ्यते? अजेरुदात्तत्वात्। स हीडर्थो धातुषूदात्तः पठ्यते। यदि चाऽस्य नित्यं वीभावः स्यात् तदा तस्योदात्तपाठोऽनर्थकः स्यात्। न हि वीभावे विहित इट् प्राप्नोति तस्यानुदात्तत्वात्।" (न्यास २.४.५६)

(ङ) **आचार्यपारम्पर्योपदेश या पूर्वाचार्यलक्षण स्वीकार करना। तद्यथा—**

'कर्मधारयादेवेष्यत इति। आचार्यपारम्पर्योपदेशात्।' (न्यास ५.१.९)

"सातत्यशब्दं पूर्वाचार्यलक्षणप्रसिद्धमुच्चारयता[1] पूर्वाचार्यलक्षणमप्याश्रितम्। अतस्तेन समो मकारस्यात्र लोपो विधीयते। एवं च कृत्वाऽवश्यम्प्रभृतीनामपि कृत्यादिषु लोपः सिद्धो भवति। अतस्तदेव पूर्वाचार्यलक्षणं दर्शयति लुम्पेदित्यादि।" (न्यास ६.१.१४४)

(च) **उपलक्षण का आश्रय करना। तद्यथा—**

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु (१.३.६४) सूत्र पर स्वराद्यन्तोपसृष्टात् वार्त्तिक के विषय में—'इह सूत्रे प्रशब्दोऽजन्तोपसर्गोपलक्षणार्थः। उपशब्दोऽजाद्युपलक्षणार्थः। तेन सर्वेणाजन्तेनाजादिना चोपसर्गेण च युक्तत्वाद् युजेरात्मनेपदम्भवतीति।' (न्यास १.३.६४)

---

१. अपरस्पराः क्रियासातत्ये (६.१.१४४) इत्यत्रेति भावः।

इन उपायों में से न्यासकार कहीं किसी एक का और कहीं किसी दूसरे का आश्रय करते हैं[1]। क्वचित् इन में से दो या तीन उपायों का युगपत् समाश्रय भी करते हैं।[2] तात्पर्य यह है कि उन की लेखनी कहीं रुकती नहीं है, येनकेनप्रकारेण व्याख्यान कर ही लिया जाता है।

न्यासकारावलम्बित उपर्युक्त सब उपाय वैयाकरणों के जाने-पहचाने हैं। वे भी यथावसर इन उपायों का प्रयोग किया ही करते हैं।[3] परन्तु न्यासकार इन

---

१. वार्त्तिक आदियों का 'प्रतिपादन' करते समय न्यासकार को जो समाधान उस समय सूझता है झट कह देते हैं, वे एतद्विषयक अन्यत्र किये गये अपने समाधान की भी चिन्ता नहीं करते। तद्यथा—कत्र्यादिभ्यो ढकञ् (४.२.९५) सूत्र पर न्यासकार "कत्रिशब्दश्च तत्पुरुषः—कुत्सितास्त्रयः, कोः कत्० इति योगविभागात् कद्भावः, अत एव निपातनात्" इस प्रकार निपातन का आश्रय लेकर योग-विभागद्वारा 'कु' को 'कत्' आदेश का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु कोः कत् तत्पुरुषेऽचि (६.३.१०१) सूत्र पर इस से विपरीत अग्रिम सूत्र से चकार का अपकर्षण कर उसको अनुक्तसमुच्चयार्थ मान कर समाधान करते हैं।

२. यथा—मण्डूकप्लुति+व्यवस्थितविभाषा (८.४.३८); सिंहावलोकितन्याय+अनुक्तसमुचयार्थक चकार+निपातन (४.२.९५; ६.३.१०१) आदि।

३. (क) अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—उत्पद्यन्तेऽव्ययेभ्यः स्वादय इति। यदयम् अव्ययादाप्सुपः इति सुब्लुकं शास्ति। (महाभाष्य २.४.८२)

(ख) अथवा मण्डूकप्लुतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वद-धिकाराः। (महाभाष्य ५.२.४; १.१.३)

(ग) परिमुखं च (४.४.२९) सूत्र पर चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ऐसा काशिका, भाषावृत्ति, प्रक्रियासर्वस्व, शब्दकौस्तुभ, सि०कौमुदी, तत्त्वबोधिनी तथा बृ० शब्देन्दुशेखर आदि में सर्वसम्मत है।

(घ) अजेर्वी वा भवति व्यस्थितविभाषा चेति। (महाभाष्य २.४.५६)

(ङ) वाग्रहणमनुवर्त्य व्यस्थितविभाषाऽऽश्रयणादेव लुग्व्यस्थायां सिद्धायां बहुलग्रहणं क्वचिदन्यदेवेत्यर्थम्। तेन 'दानौ वक्तव्यौ' इत्यादि सिद्धम्। (शब्दकौस्तुभ ४.३.३७)

(च) तच्चैतन्नासिकास्तनयोरिति लक्षणव्यभिचारचिह्नादल्पाच्तरस्याऽपूर्वनिपात-नाल्लभ्यते। (काशिका ३.२.२९)

(छ) एतच्चाग्रेशब्दस्य परनिपातनादेव विज्ञायते, अन्यथा अजाद्यदन्तम् इति पूर्व-निपातः स्यात्। (पदमञ्जरी ३.२.१८)

(ज) उत्तरसूत्रादिह संज्ञाग्रहणमपकृष्यते तेनायं प्रकारनियमः सर्वो लभ्यते। (काशिका ५.२.८१, इसी प्रकार पदमञ्जरी तथा तत्त्वबोधिनी में भी)

उपायों का इतना अधिक अवलम्बन करते हैं कि व्याकरण को हास्यास्पद बना लेते हैं,[1] क्योंकि इन उपायों से कोई सी भी बात सूत्रों से सिद्ध की जा सकती है। किसी सूत्र के निकट 'च' 'वा' 'अन्यतरस्याम्' 'विभाषा' या 'बहुलम्' आदि का प्रयोग हो तो न्यासकार का तुरन्त कार्य सिद्ध हो जाता है। वे 'च' को अनुक्तसमुच्चयार्थक, 'वा' को व्यवस्थितविभाषा और 'बहुलम्' को 'वहून् अर्थान् लातीति वहुलम्' इस व्युत्पत्ति से स्वार्थानुरूप साध कर अपना कार्य निकाल लेते हैं। यदि ये पद निकट न भी हों तो भी न्यासकार के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि वे आगे पीछे कहीं से भी किसी पद का अनुवर्त्तन व अपकर्षण करने में नहीं चूकते और न ही वे किसी सूत्र के योगविभाग करने से। अन्ततोगत्वा इन उपायों की कोई सीमा या मर्यादा भी होनी चाहिये। ये हैं आक्षेप जो न्यासकार पर प्रायः किये जाते हैं।

परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाये तो ये आक्षेप सुदृढ़ भित्ति पर आश्रित प्रतीत नहीं होते। क्योंकि न्यासकार इस प्रकार के उपायों का आश्रयण करते हुए भी अपने को मर्यादा में रखते हैं। कई स्थानों पर उन्हों ने कहा भी है—

"लक्ष्यदर्शनवशाद् अविच्छिन्नाचार्यपारम्पर्योपदेशाच्च विशेषाऽवगतिः।" (न्यास १.४.३२)

"उपदेशाद्धि शब्दरूपं निश्चीयते लौकिकाद्वा प्रयोगात्।" (न्यास ६.४.१४)

"विशिष्टप्रयोगमनुसृत्य यत्र शिष्टाः प्रयुञ्जते तत्र भूते प्रत्ययः कर्त्तव्यः, न तु सर्वत्रेति।" (न्यास ३.३.२)

"अथ यथाभिविधौ भाव इनुण् इत्यत्र 'भावे' इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्भावग्रहणं वाऽसरूपनिरासार्थं विज्ञायते तथेहापि कस्मान्न विज्ञायते? लक्ष्यदर्शनवशात्।" (न्यास ३.३.७५)

इन से स्पष्ट हो जाता है कि वे आचार्यपरम्परोपदेश से चले आ रहे या शिष्टोक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए ही इन उपायों का मर्यादित अवलम्बन करते हैं, उच्छृंखलतावश हर एक बात की सिद्धि के लिए नहीं।

(झ) इतिकरणमेवम्प्रकाराणामुपसंग्रहार्थम्। (काशिका ७.४.६५, बृ०शब्देन्दु० पृष्ठ २१६४)

(ञ) इह वेति योगं विभज्य छन्दसीत्यनुवर्त्तते, तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः। वहुलं छन्दसीत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः। (सिद्धान्तकौमुदी वैदिकप्रकरण १.४.६)

(ट) बहुवचनमनुक्ततद्धितपरिग्रहार्थम्। (काशिका ४.१.७६; पदमञ्जरी, शब्दकौस्तुभ, तत्त्वबोधिनी आदि में भी)

(ठ) समः सर्वपर्यायस्तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते, यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इति ज्ञापकात्। (सि०कौमुदी पूर्वार्धं पृष्ठ १११)

१. "सूत्रों से सभी वार्त्तिकोक्त बातों को निकालने के लिए जो चेष्टा न्यासकार ने की है वह कहीं-कहीं हास्यजनक ही है"—देखें 'पाणिनीयव्याकरण का अनुशीलन' (पृष्ठ २१)

चाहे कुछ भी हो इस प्रकार की विशेषता वाला पाणिनीयव्याकरण में इस समय न्यास ही अकेला ग्रन्थ है। इस प्रकार के उपायों के परिज्ञान और अभ्यास से सूत्रपद्धति में विद्यार्थी अत्यन्त दक्ष, व्युत्पन्न और सर्वतोमुख चौकन्ना हो जाता है, पुनः उसे महाभाष्य के समझने में किंचित् भी कठिनाई नहीं होती—ऐसा सूत्रक्रम के मर्मज्ञ सतताभ्यासी वृद्धजनों का प्रतिपद अनुभव है।

(ङ) प्राचीन सामग्री का बाहुल्य—

अनुसन्धान की दृष्टि से न्यास का सब से बड़ा वैशिष्ट्य प्राचीनसामग्री का बाहुल्य है। न्यासकार ने व्याकरणविषयक जितनी प्राचीनसामग्री अपने ग्रन्थ में उद्धृत व समाविष्ट की है शायद महाभाष्य और काशिका के बाद इतनी विशद प्राचीन-सामग्री पाणिनीयव्याकरण के अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। प्राचीन आचार्यों की अनेक संज्ञाओं तथा विविध मतों व वचनों से यह ग्रन्थ ओतप्रोत है। पाणिनीयसूत्रों के भी अनेक प्राचीन पाठों व पाठभेदों की ओर जिनेन्द्रबुद्धि ने संकेत किया है। काशिकावृत्ति दो विद्वानों की मिलीजुली कृति है और उन दोनों में भी कई स्थानों पर मौलिक मतभेद था—इसका सबसे प्राचीन निर्देश हमें न्यास में ही मिलता है। प्रत्याहारसूत्रों तथा 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र के विषय में विशिष्टसूचनाएँ भी न्यास में उपलब्ध होती हैं। आचार्य पाणिनि के लिए **'शालातुरीय'** शब्द का प्रयोग सम्भवतः व्याकरणग्रन्थों में सबसे प्रथम न्यास में ही पाया जाता है। इस प्रकार न्यास प्राचीन-सामग्री से भरपूर ग्रन्थ है। अब यहां निम्नस्थ अवान्तरशीर्षकों के अन्तर्गत उन में से कुछ बातों के संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयत्न किया जाता है—**१. शालातुरीय। २. सूत्रात्मिका शिक्षा। ३. 'अथ शब्दानुशासनम्' का कर्तृत्व। ४. प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता। ५. पाणिनीयसूत्रों के पाठान्तर। ६. प्राचीन आचार्यों के मत, वचन व संज्ञाएं। ७. काशिकावृत्ति के रचयिता और उन का पारस्परिक मतभेद।**

१) शालातुरीय—

'अतः शालातुरीयेण 'प्राक् ठञश्छः' इति नोक्तम्।' (न्यास ५.१.१)

यहां पर न्यासकार ने आचार्य पाणिनि को **'शालातुरीय'** के नाम से पुकारा है। अभी तक न्यास से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ जिसमें पाणिनि को 'शालातुरीय' कहा गया हो।[1] वैसे शालातुरीय शब्द तो पाणिनि के **तूदी-शलातुर-वर्मती-कूचवाराड् ढक्-छण्-ढञ्-यकः** (४.३.९४) सूत्र से ही सिद्ध हो रहा है—शलातुरोऽभिजनोऽस्येति शालातुरीयः। परन्तु यह पाणिनि का वाचक है इस में उपलभ्यमान

१. पुरुषोत्तमदेवकृत त्रिकाण्डशेष में **'पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालङ्किपाणिनौ। शालातुरीयः——'** तथा यादवप्रकाशकृत वैजयन्तीकोष (पृष्ठ ९५) में **'सालातुरीयको दाक्षीपुत्रः पाणिनिराहिकः'** इत्यादि पाणिनिपर्याय शालातुरीयशब्द का परिगणन न्यास से बहुत अर्वाचीन है।

सबसे प्राचीन लिखित प्रमाण सम्भवतः न्यासकार का ही है। इससे विदित होता है कि पाणिनि का अभिजन[1] अर्थात् उसके पूर्वजों का निवासस्थान शलातुर ग्राम था।[2] न्यासकार के बाद गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान भी इसी अर्थ को लेकर अपने एक श्लोक[3] के प्रसंग में 'शालातुरीय' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'शलातुरो नाम ग्रामः। सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः।'

(गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २)

भामह ने अपने काव्यालंकार के एक पद्य में शालातुरीयपद का निम्नप्रकारेण प्रयोग किया है—

शालातुरीयमतमेतदनुक्रमेण को वक्ष्यतीति विरतोऽहमतो विचारात्।
शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारं भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ॥

(भामह—काव्यालंकार ६.६२)

व्याख्याकारों ने यहां 'शालातुरीय' से पाणिनि का ही ग्रहण किया है—

वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय (संवत् ३१०) के ताम्रशासन में भी इस पद का निर्देश पाया जाता है—

'राज्यसालातुरीयतन्त्रयोरुभयोरपि निष्णातः।'

(शीलादित्यसप्तम का लेख, फ्लीट गुप्तशिलालेख, पृष्ठ १७५)

उपर्युक्त व्याख्यान के पारिप्रेक्ष्य में यहां पर 'सालातुरीयतन्त्र' से पाणिनीयव्याकरण ही अभिप्रेत है।

---

१. ध्यान रहे कि अभिजन और निवास में भेद होता है। पूर्वजों के निवासस्थान को अभिजन और स्वकीय साम्प्रतिक रहने के स्थान को निवास कहते हैं। जैसाकि महाभाष्य में कहा गया है—

'अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्, निवासो नाम यत्र सम्प्रत्युष्यते।'

(महाभाष्य ४.३.९०)

२. यह ग्राम काबुल और सिन्धुनदी के संगम पर ओहिन्द (उद्भाण्डपुर) नामक स्थान से ठीक ४ मील उत्तरपश्चिम की ओर अब लहुर नाम से प्रसिद्ध है। ईस्वीय सप्तमशताब्दी में चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् (प्रसिद्ध नाम ह्वेन्त्सांग) यहां पर पहुँचा था। उसने अपने यात्राविवरण में लिखा है कि शलातुर के लोगों ने पाणिनि की स्मृति में एक मूर्त्ति बनाई थी जो अभी तक विद्यमान है। (देखें—'हुएनसांग का भारत भ्रमण', इण्डियन प्रेस प्रयाग, पृष्ठ १०८)।

३. "शालातुरीय-शकटाङ्गज-चन्द्रगोमि-
दिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्याः।
मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः
प्राज्ञैर्निषेवितपदद्वितया जयन्ति॥" (गणरत्न० पृष्ठ २)

२) सूत्रात्मिका शिक्षा—

न्यासकार ने अद्यत्वे प्रचलित श्लोकात्मिका पाणिनीयशिक्षा का एक भी श्लोक कहीं उद्धृत नहीं किया—यह बड़े आश्चर्य का विषय है।[1] न्यास में 'तथा चाहुः शिक्षाकाराः' इस शीर्षक के अन्तर्गत या विना इस के किसी प्राचीन शिक्षाग्रन्थ के अनेक सूत्र उद्धृत किए गये हैं। तद्यथा—

(क) तथा चाहुः शिक्षाकाराः—
'विवृतकरणाः स्वराः ॥
तेभ्य ए ओ विवृततरौ ॥
ताभ्यामपि ऐ औ ॥
एताभ्यामप्याकारः ॥
संवृतोऽकार' इति ॥ (न्यास, प्रत्याहारसूत्र)

(ख) रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥ (न्यास, प्रत्याहारसूत्र)

---

१. आश्चर्य इसलिए भी है कि महाभाष्यकार और काशिकाकार सरीखे प्राचीन वैयाकरणों में से कोई भी इसे उद्धृत नहीं करता। किंच यदि यह पाणिनि की रचना होती तो इस के आदि में 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा' तथा अन्त में 'अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः' जैसा पाठ न होता। इससे स्पष्ट है कि यह किसी अन्य की रचना है।

षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका में लिखते हैं—

"तथा च सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः' इति।" (कात्यायनसर्वानुक्रमणी, आक्सफोर्ड सं० पृष्ठ ७०)

अर्थात् पाणिनि के अनुज=कनिष्ठ भ्राता भगवान् पिङ्गल ने 'क्वचिन्नवकाश्चत्वारः' सूत्र बनाया है। यह सूत्र पिङ्गल के छन्दःसूत्र में (३.३३) पर पढ़ा गया है।

'बनारस संस्कृत सीरीज़' के शिक्षासंग्रह में छपी ऋग्वेदीय पाणिनीयशिक्षा पर एक व्याख्या 'शिक्षाप्रकाश' नामक है। इसके कर्त्ता सम्भवतः यादवप्रकाश व हलायुध हैं। उसके आरम्भ में यह दूसरा श्लोक पढ़ा गया है—व्याख्याय पिङ्गलाचार्यसूत्राण्यादौ यथायथम्। शिक्षां तदीयां व्याख्यास्ये पाणिनीयानुसारिणीम् ॥ इसी प्रकार आगे 'ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहिते व्याकरणेऽनुजस्तत्रभवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते' (पृष्ठ १)। इन प्रमाणों के अनुसार यदि यह पिङ्गलाचार्यप्रणीत भी मान ली जाये तो भी समस्या शान्त नहीं होती। क्योंकि तब भी भाष्यकार आदियों ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया?—यह प्रश्न वैसा ही बना रहता है। अतः यह किसकी कृति है? यह विषय अभी और अधिक अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

(ग) अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ॥
इचुयशास्तालव्याः ॥
ऋटुरषा मूर्धन्याः ॥
लृतुलसा दन्त्याः ॥
उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥
स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम् ॥
कादयो मावसानाः स्पर्शाः ॥ (न्यास, प्रत्याहारसूत्र)

(घ) 'ईषत्स्पृष्टं करणमन्तःस्थानाम्' इति वचनात् ॥
'ओ औ कण्ठोष्ठौ'[1] इति वचनात् ॥ (न्यास, प्रत्याहारसूत्र)

(ङ) 'अनुस्वारयमा नासिक्याः' इति वचनात् ॥
'वर्गाणां तृतीयचतुर्थौ अन्तःस्था हकारानुस्वारौ च यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च' इति ॥
'ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च' इति वचनात् ॥
'यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः' इति वचनात् ॥ (न्यास, प्रत्याहारसूत्र)

(च) 'अन्तःस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च' इति वचनात् ॥ (न्यास, प्रत्याहारसूत्र)

(छ) तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुः प्राणो नाम ऊर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते, स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति । ततः स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यते । आकाशे सावर्ण्यश्रुतिः सवर्णस्यात्मलाभः[2] ॥
तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थान-करण-प्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता ॥
ईषद् यथा स्पृशन्ति तदा सेषत्स्पृष्टता ॥
सामीप्येन यदा स्पृशन्ति सा संवृतता ॥
दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता ॥
तत्र स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ॥
ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः ॥
विवृतं करणमूष्मणां स्वराणां च ॥
स एव प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृत्तो यदा कोष्ठमभिहन्ति तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने गलविलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्म उपजायते, विवृतत्वाद् विवारः ॥

१, कण्ठोष्ठ्याविति पाठस्तूचितः । न्यासेऽग्रे (१.१.४८) सूत्रव्याख्यावसरेऽत्रत्यः शुद्धः पाठ एव मुद्रितः ।

२. आकाशे सा वर्णश्रुतिः स वर्णस्यात्मलाभ इत्येवं पाठशुद्धिः प्रतिभाति ।

संवृते गलविलेऽव्यक्तः शब्दो नादः ॥
विवृते श्वासः ॥
उपरिवर्त्तिनौ तौ श्वासनादावनुप्रदानमिति केचिदाचक्षते। वर्णनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रदीयत इत्यनुप्रदानम् ॥
अन्ये तु ब्रुवते—अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्लादवत् ॥
तत्र यदा स्थानाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिप्रसङ्गाद् घोषो जायते ॥
यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसङ्गादघोषः ॥
महति वायौ महाप्राणः ॥
अल्पवायावल्पप्राणः ॥
यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठ-विवरस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति। तमुदात्तमाचक्षते ॥
यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनं कण्ठविलस्य महत्त्वं स्वरस्य वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति। तमनुदात्तमाचक्षते ॥
उदात्तानुदात्तस्वरसन्निकर्षात् स्वरित इति ॥
इत्येवंलक्षणा बाह्याः प्रयत्नाः ॥ (न्यास १.१.६)

(ज) तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः ॥
वर्ग्ययमानां प्रथमेऽल्पप्राणाः। इतरे सर्वे महाप्राणाः ॥
वर्गाणाञ्च तृतीयचतुर्था अन्तःस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः। वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तःस्थाश्च अल्पप्राणाः। इतरे सर्वे महाप्राणाः ॥
यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ॥
आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥ (न्यास १.१.६)

(झ) अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ॥
इचुयशास्तालव्याः ॥
लृतुलसा दन्त्याः ॥
उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥
ए ऐ कण्ठतालव्यौ ॥
ओ औ कण्ठ्योष्ठ्यौ[1] ॥
ऋटुरषा मूर्धन्याः ॥
जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ॥
अनुस्वारयमा नासिक्याः ॥

१. कण्ठोष्ठ्याविति पाठस्तूचितः। हेतुरुक्त एव।

विवृतं करणमूष्मणां स्वराणां च ॥
स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ॥
ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः ॥ (न्यास १.१.९)

(ञ) 'ए ऐ कण्ठतालव्यौ' इति शिक्षाकाराः पठन्ति ॥
'ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ' इति शिक्षाकाराः पठन्ति ॥ (न्यास १.१.४८)

(ट) 'शादय ऊष्माणः' ॥
'सस्थानेन द्वितीयाः' ॥
'हकारेण चतुर्थाः' इति शिक्षा ॥ (न्यास १.१.५०)

(ठ) 'वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः संवृतकण्ठाः[1] श्वासानुप्रदाना अघोषा एकेऽल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः' इति ॥ (न्यास ४.१.९३)

ये तथा इस प्रकार के अन्य शिक्षासूत्र भाष्य, महाभाष्यदीपिका, काशिका, पदमञ्जरी, वाक्यपदीय की स्वोपज्ञवृत्ति, हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति तथा शब्दकौस्तुभ आदि अन्य भी अनेक ग्रन्थों में उद्धृत पाये जाते हैं।[2] ये सूत्र किस शिक्षाग्रन्थ के हैं? अथवा न्यासकार ने ये सूत्र कहां से उद्धृत किये हैं? यह यहां विवेचनीय है। तथाहि—

निम्नलिखित तीन प्रमाणों के आधार पर ये सूत्र आपिशलिशिक्षा के प्रतीत होते हैं—

---

१. यहां संवृतकण्ठाः यह पाठ भ्रष्ट है। इसके स्थान पर विवृतकण्ठाः पाठ उचित है। तुलना करें (१.१.९) पर भाष्यस्थ पाठ के साथ—'तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः, एकेऽल्पप्राणा अपरे महाप्राणाः'। (कीलहार्न सं० प्रथम भाग पृष्ठ ६१)

२. तद्यथा महाभाष्य में—सर्वमुखस्थानमवर्णमेक इच्छन्ति; प्रयतनं प्रयत्नः, आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः (१.१.९), रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (प्रत्याहारसूत्र ५) इत्यादि। महाभाष्यदीपिका में—वर्गो वर्ग्येण सवर्णः (पृष्ठ १४४), रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति (पृष्ठ १४६) इत्यादि। काशिका में—लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति, तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते, सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यपि द्वादशप्रभेदानि, रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति, वर्गो वर्ग्येण सवर्णः (१.१.९) इत्यादि। पदमञ्जरी और शब्दकौस्तुभ में—अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः, इचुयशास्तालव्याः, उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः, ऋटुरषा मूर्धन्याः, लृतुलसा दन्त्याः, ए ऐ कण्ठतालव्यौ, ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ, वकारो दन्तोष्ठ्यः, तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः, वर्गयमानां प्रथमेऽल्पप्राणा इतरे (सर्वे) महाप्राणाः, वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ (च) तृतीयचतुर्थौ संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः (१.१,९ पर दोनों) इत्यादि। वाक्यपदीय और हेमचन्द्र के उद्धरण आगे देखें।

(१) आचार्य हेमचन्द्र अपने शब्दानुशासन (१.१.१७) की बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

"तथा चापिशलिः शिक्षामधीते—नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते, स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति, तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यते आकाशे, सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्यात्मलाभः। तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थान-करण-प्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता, यदेषत् स्पृशन्ति सेषत्स्पृष्टता, यदा सामीप्येन स्पृशन्ति सा संवृतता, दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता, एषोऽन्तःप्रयत्नः। स इदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृत्तः कोष्ठमभिहन्ति, तत्र कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठबिलस्य विवृतत्वाद् विवारः संवृतत्वात् संवारः। तत्र यदा कण्ठबिलं विवृतं भवति तदा श्वासो जायते, संवृते तु नादः, तावनुप्रदानमाचक्षते, अन्ये तु ब्रुवते—अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टादिनिर्ह्लादवद् इति। तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते, यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते यदा श्वासध्वनिसंसर्गादघोषो जायते। अल्पे वायावल्पप्राणता, महति महाप्राणता जायते, महाप्राणत्वादूष्मत्वम्। यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठबिलस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते। यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते। उदात्तानुदात्तस्वरसन्निपातात् स्वरित इत्येष कृत्स्नो बाह्यः प्रयत्न इति।—तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः। वर्गाणां तृतीयचतुर्थपञ्चमा अन्तस्था हकारानुस्वारौ च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा अन्तस्थाश्चाल्पप्राणाः। इतरे सर्वे महाप्राणाः।" (हैमबृहद्वृत्ति १.१.१७)

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने बीस से भी अधिक सूत्र उद्धृत किये हैं और इन्हें आपिशलि की रचना माना है। ठीक यही सूत्र न्यास में भी उद्धृत हैं।

(२) भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की (१.११६) कारिका के अन्तर्गत स्वोपज्ञवृत्ति में यह लिखा है—

"तद्यथा— नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुरूर्ध्वमाक्रामन् उरस्यादीनां स्थानानामन्यतमं स्थानमभिहन्ति, ततः शब्दनिष्पत्तिरित्यादिशिक्षाकारमतभेदप्रबन्धोऽनुगन्तव्यः।" (वाक्यपदीय, चारुदेवसं० पृष्ठ १०४)

इस स्थल की व्याख्या करते हुए वृषभदेव लिखते हैं—

'तथेत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्।'

भर्तृहरि का उपर्युक्त भाव आपिशलिशिक्षा के (८.१) सूत्र में यथावत् उपलब्ध होता है।

(३) डा० रघुवीर ने अडयार-पुस्तकालय से आपिशलिशिक्षा का एक हस्तलेख प्राप्त कर उस का सुन्दर सम्पादन कर उसे The Journal of Vedic Studies,

May 1934 में छपवाया था। इस में न्यासोक्त और अन्यत्रोक्त उपर्युक्त सब शिक्षा-सूत्र यथावत् प्राप्त हो जाते हैं (कहीं-कहीं स्वल्प पाठान्तर और पाठभेद तो हैं ही)।

इन सब प्रमाणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्यासकार ने ये शिक्षा-सूत्र आपिशलिशिक्षा से उद्धृत किये हैं।[1]

परन्तु यहां यह बात विशेष ध्यातव्य है कि आपिशलिशिक्षा के सूत्र उद्धृत करते हुए भी न्यासकार ने स्वरों और ऊष्मों के आभ्यन्तरप्रयत्न निर्देश करने के प्रसङ्ग में आपिशलिशिक्षा के 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः, विवृतकरणाः स्वराः (३-६, ७) इन सूत्रों को उद्धृत नहीं किया। इसका कारण पाणिनि के 'नाज्झलौ' (१.१.१०) सूत्र से विरोध है। क्योंकि आपिशलि ने अचों का विवृत तथा ऊष्मों का ईषद्विवृत प्रयत्न माना है इस से प्रयत्नभेद के कारण उनका सावर्ण्य प्रसक्त ही नहीं होता अतः इस मत में 'नाज्झलौ' सूत्र की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस सूत्र की आवश्यकता तो तभी

---

१. आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामिदयानन्दसरस्वती को संवत् १९३६ (सन् १८७९) में एक हस्तलेख प्राप्त हुआ था जिसे उन्होंने **वर्णोच्चारणशिक्षा पाणिनिमुनि-प्रणीता** शीर्षक के अन्तर्गत अपनी भाषाव्याख्यासहित मुद्रित कराया था। इस के बाद युधिष्ठिर मीमांसक ने भी इस का एक सटिप्पण पाठ **शिक्षासूत्राणि** के अन्तर्गत संवत् २००५ (सन् १९४८) में तथा पुनः 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' (तृतीय भाग) के अन्तर्गत संवत् २०३० (सन् १९७३) में मुद्रित कराया। इन दोनों का पाठ भी लगभग वही है जो सन् १९३४ में डा० रघुवीर-सम्पादित **आपिशलिशिक्षा** का है। बहुत ही स्वल्प अन्तर है जिसे पाठभेद या पाठान्तर भी कहा जा सकता है। स्वामिदयानन्दसरस्वती के परोपकारिणीसभा-द्वारा अधिकृत ग्रन्थसंग्रह में इस समय वह मूल हस्तलेख उपलब्ध नहीं है जिससे निश्चय किया जा सके कि स्वामीजी ने इसे किस आधार पर **पाणिनिमुनिप्रोक्ता** कहा है। एवं यु०मीमांसक ने जिस पुस्तक के आधार पर उसका सम्पादन किया है वह सन् १९३९ में 'The Indian Research Institute Calcutta' में अध्यापक अमूल्यचरण विद्याभूषण के सम्पादकत्व में **'आपिशलिशिक्षा'** के नाम से प्रकाशित हुई है। इसे मीमांसक ने अपने तर्क और युक्तियों के बल पर 'पाणिनिशिक्षा' सिद्ध करने का यत्न किया है (मूलपुस्तक उन्होंने भी देखी नहीं है)। अतः जब तक इसका 'पाणिनिशिक्षा' नामांकित कोई अन्य हस्तलेख उपलब्ध न हो जाये इसे 'पाणिनिप्रोक्ता शिक्षा' मानना सन्देह से परे नहीं है। किंच मीमांसक ने आपिशलिशिक्षा के अन्तर्गत **ञमङणनाः स्वस्थाननासिकास्थानाः** (१.१९) इस सूत्र का पाणिनिशिक्षा में **ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः** (१.२१) इस प्रकार का पाठ स्वीकार किया है। उनके इस लक्षणानुसार न्यास में उद्धृत शिक्षासूत्र आपिशलिशिक्षा के ही सूत्र सिद्ध होते हैं क्योंकि न्यासकार ने पृष्ठ २५ पर **'ञमङणनाः स्वस्थान०'** वाला पाठ ही उद्धृत किया है।

पड़ेगी जब अचों और ऊष्मों का प्रयत्न एक होगा। अतः न्यासकार ने यहाँ पाणिनीय-सूत्र के अनुरोध के कारण आपिशलिशिक्षा का वह मत उद्धृत न कर 'विवृतं करणमूष्मणां स्वराणां च' इस प्रकार का वचन लिखा है। न्यासकार ने इस अनुरोध को दबी वाणी द्वारा स्वयं स्वीकार भी किया है। वे (१.१.९) सूत्र पर लिखते हैं—'द्विविधाः प्रयत्नाः। आभ्यन्तरा बाह्याश्च। तत्राभ्यन्तराश्चत्वारो वृत्तौ दर्शिताः।' इस से स्पष्ट है कि क्योंकि वृत्ति में चार आभ्यन्तरप्रयत्न पाणिनीयतन्त्र के लिए आवश्यक समझे गये हैं अतः न्यासकार ने भी यहाँ चार ही प्रयत्न दिखाये हैं आपिशलिशिक्षोक्त पाँच नहीं।

३) 'अथ शब्दानुशासनम्' का कर्तृत्व—

अथ शब्दानुशासनम् सूत्र को कैयट आदि व्याख्याकारों ने भाष्यकार का वचन माना है। तथाहि—

(१) "भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात् प्रयोजनमाह—अथ शब्दानुशासनमिति।—स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे—अथेत्ययमिति।" (महाभाष्यप्रदीप, आरम्भ में)

(२) माधव अपने सर्वदर्शनसंग्रह के पाणिनीयदर्शन में—

'तथाहि पतञ्जलेर्भगवतो महाभाष्यकारस्येदमादिमं वाक्यम् अथ शब्दानुशासन-मिति।' (सर्वदर्शनसंग्रह पूना सं० पृष्ठ २८८)

(३) माधव के उपर्युक्त वचनों की व्याख्या करते हुए महामहोपाध्याय अभ्यंकरवासुदेव शास्त्री भी—

"एतच्च वाक्यं यद्यपि भगवता पतञ्जलिना व्याख्यातं तथापि तदन्यस्येति न भ्रमितव्यम्। किन्तु स्वस्यैव वाक्यं स्वेनैव व्याख्यातम्। तथा च भाष्यलक्षणम्—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

(सर्वदर्शनसंग्रह पूना सं० पृष्ठ २८८)

(४) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

'भाष्यकारेण पठितं साक्षात्प्रयोजनमाह—अथ शब्दानुशासनमिति।'

(पदमञ्जरी पृष्ठ ७)

(५) भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में—

'प्रेक्षावत्प्रवृत्तये व्याकरणस्य विषयं भगवान् भाष्यकारः प्रादर्शयद् अथ शब्दा-नुशासनम् इति।' (शब्दकौस्तुभ पृष्ठ १)

परन्तु न्यासकार का मत इस से विपरीत है। वे इसे पाणिनि की उक्ति मानते हैं। वे न्यास में लिखते हैं—

'शब्दानुशासनप्रस्तावादेव च शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देश-स्तत्र स्वरूपं गृह्यते नार्थपरो[1] निर्देश इति ज्ञापनार्थम्।' (न्यास १.१.६८)

१. मन्ये 'नार्थपरे निर्देश' इतिसप्तम्यन्तपाठो हि साधुः स्यात्।

"शब्दानुशासनप्रस्तावादेव हि शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं यत्र शब्दपरो निर्देशस्तत्र स्वं रूपं गृह्यते नार्थपरनिर्देश इति ज्ञापनार्थं कृतम्। इह चार्थपरो निर्देशः। तस्मादर्थग्रहणमेव युक्तम्। अर्थपरत्वं तु निर्देशस्याविच्छिन्नाचार्यपारम्पर्योपदेशाद्विज्ञायते।" (न्यास ३.४.२६)

'सर्वस्येति शब्दानुशासनप्रस्तावात् सर्वस्य शब्दस्येति गम्यते।' (न्यास ८.१.१)

न्यासकार के इन वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अष्टाध्यायी का प्रारम्भ **अथ शब्दानुशासनम्** से ही मानते हैं। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार **अथ शब्दानुशासनम्** सूत्र से अष्टाध्यायी प्रारम्भ होती है और यह सूत्र पाणिनि की ही कृति है न कि भाष्यकार की जैसाकि कैयट आदि आधुनिक वैयाकरण मानते हैं।

इस प्रकार न्यासकार का मत आधुनिक वैयाकरणों से नितान्त विपरीत प्रतीत होने से विवेच्य और अनुसन्धेय है। इसकी विवेचना के प्रसङ्ग में निम्नस्थ प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में यह मत युक्त प्रतीत होता है—

(१) काशिकाकार ने इस सूत्र को ग्रन्थ के आदि में रख कर इसकी व्याख्या की है। वृत्तिकार प्रायः सूत्रों के ही व्याख्याता होते हैं अतः उनके मत में भी यह सूत्र पाणिनिकृत प्रतीत होता है। भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने भी इसी का अनुसरण किया है अतः वे भी इसी मत के पोषक प्रतीत होते हैं।

(२) मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में लिखते हैं—

'पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव प्रयोजनाभिधानमाद्रियते, तथाहि **भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव** प्रयोजनम् **अथ शब्दानुशासनम्** इति सूत्रसन्दर्भमारभते।'

(मनु० मेधातिथिभाष्य १.१)

(३) आचार्य सृष्टिधर भाषावृत्ति की व्याख्या करते हुए आरम्भ में ही लिखते हैं—

'व्याकरणशास्त्रमारभमाणो **भगवान् पाणिनिमुनिः** प्रयोजननामनी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते—**अथ शब्दानुशासनम्** इति।'

(४) भाष्यकार **अथ शब्दानुशासनम्** सूत्र की जिस प्रकार व्याख्या करते हैं उस से तो यही प्रतीत होता है कि यह सूत्र उन की रचना नहीं अपितु किसी अन्य की रचना है। तथाहि—

'**अथ शब्दानुशासनम्**। अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।' (महाभाष्य पृष्ठ १)

यहां 'प्रयुज्यते' का कर्त्ता यदि 'पतञ्जलि' और 'अधिकृतम्' का कर्त्ता 'पाणिनि' माना जाये तो भाष्यकार का आशय इस प्रकार हो जायेगा—

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः (पतञ्जलिना) प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् (पाणिनिना) अधिकृतं वेदितव्यम्।

इस तरह यह वाक्य अटपटा तथा अनन्वित सा हो जायेगा और इस की एकवाक्यता भी नहीं रहेगी। परन्तु दोनों स्थानों पर 'पाणिनिना' कर्त्ता रखने से यह दोष उत्पन्न नहीं होता—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः (पाणिनिना) प्रयुज्यते। (अतः) शब्दानुशासनं नाम शास्त्रं (पाणिनिना) अधिकृतं वेदितव्यम्। अब यह वाक्य सुसङ्गत तथा सुसमन्वित हो जाता है और ठीक जचता भी है।

किञ्च शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् (शब्दानुशासन नामक शास्त्र आरम्भ हुआ समझना चाहिए) पतञ्जलि के इन शब्दों से भी स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि वे पाणिनिकृत इस ग्रन्थ के नाम की व्याख्या कर रहे हैं न कि इस ग्रन्थ का स्वयं शब्दानुशासन नाम रखने चले हैं।

(५) आर्षग्रन्थों में शास्त्रारम्भ करने से पूर्व इस प्रकार के वचन देखे भी जाते हैं। तद्यथा—

मीमांसाशास्त्र के प्रारम्भ में	—अथातो धर्मजिज्ञासा।
वेदान्तदर्शन के प्रारम्भ में	—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।
वैशेषिकशास्त्र के प्रारम्भ में	—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।
योगदर्शन के प्रारम्भ में	—अथ योगानुशासनम्।
चरक के आरम्भ में	—अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
सुश्रुत के आरम्भ में	—अथातो वेदोत्पत्तिं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः।
पारस्करगृह्यसूत्र के आरम्भ में	—अथातो गृहस्थालीपाकानां कर्म।
गोभिलीयगृह्यसूत्र के आरम्भ में	—अथातो गृह्यकर्माणि उपदेक्ष्यामः।
खादिरगृह्यसूत्र के आरम्भ में	—अथातो गृह्यकर्माणि।

(६) स्वामिदयानन्दसरस्वती अपने अष्टाध्यायीभाष्य के प्रारम्भ में अथ शब्दानुशासनम् सूत्र की व्याख्या करते हुए—

'इदं सूत्रं पाणिनीयमेव। प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवास्ति। दृश्यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेषु आदौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि।'

(७) यु० मीमांसक भी अपने 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' (प्रथम भाग) के (पृष्ठ २०६) पर इसी मत को युक्त बतलाते हुए लिखते हैं—

"कैयट आदि वैयाकरणों का कथन है कि अथ शब्दानुशासनम् वचन भाष्यकार का है, पाणिनीयतन्त्र का आरम्भ वृद्धिरादैच् (१.१.१) सूत्र से होता है—यह कथन सर्वथा अयुक्त है प्राचीनसूत्रग्रन्थों की रचनाशैली के अनुसार यह वचन पाणिनीय ही प्रतीत होता है।"

(८) अष्टाध्यायी के कई प्राचीन हस्तलेखों में भी यह सूत्र अष्टाध्यायी के आदि में लिखा मिलता है। प्रो० बोथलिंगद्वारा सन् १८८७ में मुद्रित अष्टाध्यायी के आरम्भ में भी यह सूत्र मुद्रित मिलता है।

इन प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए इसे पाणिनि का सूत्र मानना ही उचित प्रतीत होता है। न्यासकार ने इस प्रकार एक प्राचीनसूत्र के कर्तृत्व के विषय में उपयोगी जानकारी प्रदान की है।

४) प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता—

अद्यत्वे प्रत्याहारसूत्रों के विषय में वैयाकरणों में यह प्रसिद्धि है कि ये सूत्र माहेश्वर हैं[1]—**महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि,** अर्थात् महादेव की कृपा से पाणिनि को प्राप्त हुए हैं, पाणिनि की अपनी रचना नहीं। इस विषय में प्रायः नन्दिकेश्वर-काशिका का यह प्रथम श्लोक प्रमाणत्वेन उपस्थित किया जाता है—

"नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥"

इस प्रकार की विचारधारा का आरम्भ कब से हुआ—यह कह सकना तो बहुत कठिन है क्योंकि नन्दिकेश्वरकाशिका की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और इसका उल्लेख सम्भवतः नागेशभट्ट से पहले अन्यत्र क्वचिद् उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि कैयट उपाध्याय तक इस प्रकार का कोई विचार वैयाकरणों में नहीं आया था। कात्यायन, पतञ्जलि, भर्तृहरि, काशिकाकार और कैयट आदि सब प्राचीन वैयाकरण पाणिनि को ही इन प्रत्याहारसूत्रों का वक्ता व कर्त्ता मानते थे। निदर्शनार्थ यथा—

भाष्यकार हयवरट् सूत्र पर लिखते हैं—

'एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति अचोऽक्षु हलो हल्षु।' (महाभाष्य नवाह्निक निर्णय० पृ० १२२)

पतञ्जलिद्वारा शतशः निर्दिष्ट आचार्यपद से यहां पाणिनि ही अभिप्रेत है इस में सन्देह के लेशमात्र की भी आशङ्का नहीं हो सकती। इस स्थल की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार उपाध्याय कैयट भी यही कहते हैं—

'यथा लोके ब्राह्मणैः सह ब्राह्मणा भोज्यन्ते क्षत्त्रियैः सह क्षत्त्रिया इति, एवमिहाप्याचार्येण वर्णा निर्दिष्टा इत्यर्थः।'

(महाभाष्य नवाह्निक निर्णय० पृ० १२२)

कैयट ने 'ऋलृक्' (प्रत्या० २) सूत्र के प्रदीप में भी स्पष्ट कहा है—

---

१. 'येनाक्षरसमाम्नायम्—इति कात्यायनवाक्येन (?) सूत्राणां श्रीमहेश्वरमुखनिः-सृतत्वेन वैदिकतया या सकलं साधुतममेवाभिधत्ते।'

(भाषावृत्ति-सृष्टिधरव्याख्या एशियाटिक् सं० पृ० १३)

'अ इ उ ण् एतानि चतुर्दशाक्षरसमाम्नायसूत्राणि महेश्वरेण शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तये पाणिनये उपदिष्टानि। तथा चोक्तम्—येनाक्षरसमाम्नायम्०।'

(प्रक्रियाकौमुदी-प्रसादव्याख्या पूर्वार्धं पृष्ठ ११)

'इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि।' (सिद्धान्तकौमुदी पूर्वार्धं पृष्ठ ३)

'ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिरित्यस्य वार्त्तिककारवाक्यत्वात् सूत्रकारेणानाश्रितत्वादत्र लृकारोपदेशः कृतः ।'

भर्तृहरि महाभाष्यदीपिका में पाणिनि का नामनिर्देश करते हुए और भी स्पष्ट लिखते हैं—

'किम्पुनरिदमपूर्वं पाणिनिना विवृतत्वम् अकृतमुपसंख्यायते उत कृतस्यान्वाख्यानमिति ।' (महाभाष्यदीपिका पूना सं० पृष्ठ ४९)

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अन्त में कहते हैं—

"तस्मात् पाणिनिरेव विवृतत्वं प्रतिजानीत इत्यस्यैव लिङ्गं प्रत्यापत्तिः ।"[1]

(महाभाष्यदीपिका पूना सं० पृष्ठ ५०)

अग्निपुराण में भी 'अ इ उ ण्' आदि चतुर्दश सूत्रों को केवल प्रत्याहारसूत्र ही कहा गया है माहेश्वर आदि कहीं नहीं (देखें अग्निपुराण पूना सं० अध्याय ३४९) ।

इन सूत्रों को उपर्युक्तप्रकारेण माहेश्वराणि समझे जाने की परम्परा सम्भवतः पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र के काल से ही प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। वे पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"यस्य वा ईश्वरानुग्रहः स सर्वं प्रत्यक्षयति । अत्रैव हि लौकिकाः स्मरन्ति—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥'

अक्षरसमाम्नायं च व्याचक्षते देवसूत्राणीति ।" (पदमञ्जरी, प्रथम भाग पृ० ९)

परन्तु न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने इस विषय में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना देते हुए लिखा है—

'पाणिनेर्यश्चकारेण प्रत्याहारः सोऽन्येषामाचार्याणां मतेन षकारेण ।'

(न्यास ४.१.३७)

अर्थात् पाणिनि ने चकार अनुबन्ध लगाकर जो 'अच्' प्रत्याहार बनाया है उसे

---

१. यु० मीमांसक ने अपने 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग, द्वितीय सं० पृष्ठ २११ पर "भर्तृहरि से लेकर भट्टोजिदीक्षित पर्यन्त पाणिनीय वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहारसूत्र महेश्वररचित हैं अर्थात् अपाणिनीय हैं" ऐसा जो भर्तृहरि का निर्देश किया है वह महाभाष्यदीपिका के हस्तलेख के अन्यथा पढ़ने और समझने के कारण लिखा गया प्रतीत होता है। महाभाष्यदीपिकास्थ तत् कथमिव समुदाये कार्यभाजि अवयवा न लभन्ते (पूना सं० पृष्ठ १३५ पङ्क्ति १७-१८) इस पाठ को वे तत् कथं शिवसमुदाये कार्यभाजिनि अवयवा न लक्ष्यन्ते इस प्रकार पढ़ व समझ रहे हैं अतः उन्होंने अपना उपर्युक्त मत स्थापित किया है। अब महाभाष्यदीपिका के दो स्थानों (पूना, बनारस) से प्रकाशित हो जाने और एक समान शुद्ध पाठ के सामने आ जाने से वे अपने मत को अवश्य बदल चुके होंगे—ऐसी सम्भावना है।

अन्य आचार्य षकार अनुबन्ध लगा कर 'अष्' प्रत्याहार बनाते थे। इस का स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि पाणिनि से पूर्व भी इन प्रत्याहारों का प्रयोग होता था। जब प्रत्याहारों का प्रयोग होता था तो प्रत्याहारसूत्र भी किसी न किसी रूप में उन आचार्यों के सामने अवश्य थे। अतः न्यासकार के इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि से पूर्व भी प्रत्याहारसूत्रों की सत्ता थी। पाणिनि ने उन में थोड़ा हेर-फेर कर अपने व्याकरण के अनुरूप उनको ठीक-ठीक बिठाया है। न्यासकार ने यह वचन शान्तनव (शन्तनुप्रणीत)[1] **लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः, तृणधान्यानां च द्व्यषाम्** इत्यादि फिट्सूत्रों में प्रयुक्त अष्प्रत्याहार को लक्ष्य में रखते हुए लिखा है।

---

१. फिट्सूत्रप्रवक्ता आचार्य का नाम **शन्तनु** प्रसिद्ध है अत एव उस के शास्त्र व सूत्रों को **शान्तनव** कहते हैं। तद्यथा—

'स पुनः शन्तनुप्रणीतः फिष् इत्यादिकः'। (पदमञ्जरी ७.३.४)

'शन्तनुराचार्यः प्रणेतेति द्वारादीनां चेतिसूत्रे हरदत्तः'। (ल० शब्देन्दु० पृष्ठ ६४८)

'अथ यत्फिट्सूत्राभिधमुदितं शन्तनुमहर्षिणा शास्त्रम्'। (स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका पृष्ठ २५६)

'शान्तनवशास्त्रम्'। (वही पृष्ठ २५६)

पर कहीं-कहीं आचार्य का नाम **शान्तनव** और शास्त्र का नाम **शान्तनवीय** भी देखा जाता है। यद्यपि यु०मीमांसक ने कीथद्वारा आचार्य अर्थ में प्रयुक्त 'शान्तनव' शब्द को अयुक्त बताया है (देखें 'व्या० शास्त्र का इतिहास' द्वितीय भाग पृष्ठ ३१८) तथापि निम्नप्रमाणों के आधार पर उन की आलोचना चिन्त्य ही प्रतीत होती है—

(१) "फिषित्यादिमेन योगेन **शान्तनवीयं** चतुष्कं सूत्रमुपलक्षयति"। (पदमञ्जरी ६.२.१४)

जब फिट्सूत्रों को हरदत्त शान्तनवीयसूत्र कहते हैं तो आचार्य का नाम इसके अनुसार शान्तनव होगा—यह सुतरां सिद्ध हो जाता है।

(२) Leipzig—मुद्रितफिट्सूत्रवृत्ति के प्रथमसूत्र पर—

'**शान्तनवाचार्यः** फिडिति प्रातिपदिकसंज्ञां कृतवान्'। (पृष्ठ १)

(३) भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में फिट्सूत्रों के अन्त में—

'इति **शान्तनवाचार्यप्रणीतेषु** फिट्सूत्रेषु तुरीयः पादः।'

(४) सि० कौ० के उपर्युक्तवचन की व्याख्या करते हुए नागेशभट्ट लघुशब्देन्दु-शेखर में—

'**शान्तनवाचार्येति**। इदं मात्रोपज्ञेतिसूत्रे हरदत्तग्रन्थे'। (पृष्ठ ६४८)

हरदत्त के ग्रन्थ का यह प्रमाण नं० (१) पर यहां दिया जा चुका है।

(५) फिट्सूत्र के Leipzig सं० के आदि में 'Cantanava's Phitsutra' अर्थात् 'शान्तनव के फिट्सूत्र' ऐसा मुद्रित हुआ है।

न्यासकार का यह वचन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। पाणिनि से पूर्व भी प्रत्याहारसूत्र और प्रत्याहारशैली का प्रचलन था—यह इस से सुतरां सिद्ध होता है। इस विषय में चान्द्रव्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति से भी इस मत की पुष्टि होती है। चन्द्राचार्य अपनी वृत्ति में लिखते हैं—

"एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेषः 'ऐ औ ष्' यदासीत् तद् 'ऐ औ च्' इति कृतम्। तथाहि—'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' (फिट्सूत्र २.१९), 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम् (फिट्सूत्र २.४) इति पठ्यते।"

(चान्द्रवृत्ति पूना सं० प्रथमभाग पृ० ९-१०)

चन्द्राचार्य के इन वचनों से स्पष्ट है कि पाणिनीय अच् प्रत्याहार के स्थान पर अष् प्रत्याहार का प्रयोग करने वाला फिट्सूत्रप्रवक्ता शन्तनु आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्त्ती था।

अष् प्रत्याहार के अतिरिक्त फिट्सूत्रों में इक्, खय् और हय् प्रत्याहारों का भी निर्देश पाया जाता हैं।[1] हय् इति हलां सञ्ज्ञा—ऐसा लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी कहा है (फिट्० ४६ पर)।

इसी प्रकार उणादिसूत्रों को भी वैयाकरणनिकाय में पाणिनि से पूर्ववर्त्ती माना जाता है। कुछ वैयाकरण इसे शाकटायन की कृति और अन्य आपिशलि की कृति मानते हैं।[2] शाकटायन और आपिशलि दोनों पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं। पाणिनि ने स्वमुखतः उन का अष्टाध्यायी में निर्देश किया है।[3] इन उणादिसूत्रों में भी

---

(६) कीथ और कीलहार्न ने आचार्य का नाम 'शान्तनव' दिया है (देखें—कीथ—A History of Sasnskrit Literature, हिन्दी सं० पृष्ठ ५१०)। अतः फिट्सूत्रों के प्रवक्ता का नाम शन्तनु और शान्तनव दोनों समझने चाहियें।

१. इक्—इगन्तानां च द्व्यषाम् (फिट्सूत्र ४९)।
खय्—खय्युवर्णं कृत्रिमाख्या चेत् (फिट्सूत्र ३१)।
हय्—हयादीनामसंयुक्तलान्तानामन्तः (फिट्सूत्र ४६)।
ईषान्तस्य हयादेरादिर्वा (फिट्सूत्र ६६)।

२. 'येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी रचिता' (उणादि० श्वेतवनवासिवृत्ति पृष्ठ २)
'एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्।' (प्रदीपोद्योत ३.३.१)
'तानि चेमानि सूत्राणि शाकटायनमुनिप्रणीतानि न तु पाणिनिना प्रणीतानि।' (बालमनोरमा उत्तरार्ध पृष्ठ ४५७)
यु० मीमांसक ने पञ्चपादी उणादिसूत्रों को आपिशलि की कृति माना है। (देखें 'सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास' द्वितीय भाग पृष्ठ २०१)।

३. लङः शाकटायनस्यैव (३.४.१११), वा सुप्यापिशलेः(६.१.८९)।

ञमन्ताड् डः (उणा० १.१११) सूत्र में ञम् प्रत्याहार का उल्लेख पाया जाता है, इस से स्पष्ट है कि उणादिसूत्रकार के आगे कम से कम **ञमङणनम्** यह प्रत्याहारसूत्र तो विद्यमान था ही।

पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं। पाणिनि ने अपने गणपाठ के तौल्वल्यादिगण (२.४.६१) में इस का साक्षात् उल्लेख किया है। पौष्कर-सादि आचार्य का एक मत वार्तिककार ने (८.४.४८) सूत्र पर उद्धृत किया है—

'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः।' (महाभाष्य ८.४.४८)

अर्थात् पौष्कारसादि आचार्य के मत में चय् वर्णों को वर्गों के द्वितीय वर्ण हो जाते हैं शर् परे हो तो। इस वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौष्करसादि आचार्य के व्याकरण में कम से कम चय् और शर् दो प्रत्याहारों का उल्लेख तो था ही। वर्ग-द्वितीय (ख्, फ्, छ्, ठ् थ्) के लिए उस व्याकरण में कोई प्रत्याहार न था अतः उसमें **'द्वितीयाः'** कह कर उनका विधान किया गया है। पाणिनि के व्याकरण में भी वर्ग-द्वितीयवर्णों के लिए कोई प्रत्याहार नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि पौष्करसादि के व्याकरण में भी **खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्** ये तीन सूत्र इसी प्रकार के या थोड़े बहुत अन्तर से विद्यमान रहे होंगे।

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर ने अपनी व्याख्या में आपिशलिव्याकरण का एक वचन उद्धृत किया है—

"तथा चापिशलिः—दन्त्यौष्ठ्यत्वाद् वकारस्य वह-व्यध-वृधां न भष् इति।"

(भाषावृत्ति-सृष्टिधरव्याख्या एशियाटिक् सं० पृष्ठ १६)

इसमें भष् प्रत्याहार का स्पष्ट उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि प्रत्याहार सूत्र पाणिनि से पूर्व भी किसी न किसी रूप में विद्यमान थे जिनका पाणिनि ने अपने तन्त्र के अनुरूप परिष्कार किया।

इत्थं न्यासकार का उपर्युक्त वचन अपने में एक ऐतिहासिक तथ्य छुपाए हुए है जिस पर अभी और अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

५) पाणिनीयसूत्रों के पाठान्तर—

न्यासकार ने कई स्थानों पर पाणिनीयसूत्रों के कुछ महत्त्वपूर्ण प्राचीन पाठों व पाठभेदों का भी निर्देश किया है। इन से भी व्याकरणविषयक कई प्राचीन बातों पर प्रकाश पड़ता है। निदर्शनार्थं यथा—

(१) अद्यत्वे प्रचलित **चटकाया ऐरक्** (४.१.१२८) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यासकार लिखते हैं—

'एवं **चटकादैरक्** इत्येतत् सूत्रमासीद् इदानीं प्रमादाच्च चटकाया इति पाठः।' (न्यास ४.१.१२८)

इस से **चटकाया ऐरक्** सूत्र का **चटकादैरक्** यह प्राचीन पाठ विदित होता है। जैनेन्द्र और चान्द्र व्याकरणों में भी 'चटकायाः' के स्थान पर 'चटकात्' पाठ पाया

जाता है ।[1] न्यासनिर्दिष्ट यह प्रमाद (यदि है भी तो) वार्त्तिककार और भाष्यकार से अर्वाचीन नहीं हो सकता । क्योंकि भाष्य में इस मान्यता के विरुद्ध **चटकायाः पुंलिङ्ग-निर्देशः** यह वार्त्तिक और इस का व्याख्यान उपलब्ध होता है । सम्भवतः न्यासकार के आगे भाष्यकार से भी पूर्ववर्त्ती कुछ प्राचीन वृत्तिग्रन्थ अवश्य रहे होंगे जिनके आधार पर उन्होंने इस आधुनिक पाठ को प्रमादज बतलाया है । **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** के परमभक्त भट्टोजिदीक्षित ने भाष्य के आधार पर शब्दकौस्तुभ में न्यासनिर्दिष्ट इस पाठ का विरोध किया है ।[2]

(२) **युवा खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः** (२.१.६७) सूत्र पर न्यासकार ने **युवा खलति-पलित-वलिन-जरद्भिः** ऐसा पाठान्तर माना है । तथाहि—

"नन्वेवमपि जरत्या समास उच्यमाने जरता न प्राप्नोति—युवजरन्निति । नैष दोषः, वृत्त्यन्तरे हि जरद्भिरिति पठ्यते । उभयथाऽप्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिता इत्युभयं सिध्यति ।" (न्यास २.१.६७)

इससे प्रतीत होता है कि न्यासकार के समक्ष भाष्यकार से भी पूर्ववर्त्ती कुछ वृत्तिग्रन्थ अवश्य रहे होंगे जिनके आधार पर उन्होंने यह वचन लिखा है । कैयट ने महाभाष्यप्रदीप में भी यहाँ पर न्यास का अनुसरण करते हुए लिखा है—

'जरद्भिरित्यपि पाठं शिष्या आचार्येण बोधिता इति युवजरन् इत्यपि भवति ।' (महाभाष्यप्रदीप २.१.६७)

परन्तु नागेशभट्ट ने उद्योत में कैयट के इस कथन पर **अत्र मानं चिन्त्यम्** कहा है । प्रतीत होता है कि नागेश के काल तक वह प्राचीन आधार लुप्त हो चुका था जिसका आश्रय लेकर न्यासकार और कैयट ने उपर्युक्त वचन लिखे थे ।

(३) **ऋदृशोऽङि गुणः** (७.४.१६) सूत्र के स्थान पर न्यासकार सर्वत्र **'ऋदृशोरङि गुणः'** पाठ मानते हैं (देखें न्यास राजशाहीसं० पूर्वार्ध पृष्ठ १२, ५३८, ५५४, ७४७, उत्तरार्ध पृष्ठ ७९१, ८४७ आदि) ।

बड़े शोक का स्थान है कि वाराणसी से प्रकाशित न्यास में सम्पादकों ने इन सब स्थानों पर परिवर्त्तन कर आधुनिक सूत्रपाठ भर दिया है । इससे न्यास की ऐतिहासिक गरिमा को बहुत आघात पहुंचा है । इसे सम्पादकों की अनधिकारचेष्टा ही कहा जा सकता है ।

(४) **सः स्विदि-स्वदि-सहीनां च** (८.३.६२) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'स इत्यविभक्तिकोऽयं निर्देशः । नेति प्रतिषेध एव क्रियतामित्यदेशनीयम्, लाघवकृते विशेषाभावात् ।' (न्यास ८.३.६२)

---

१. जैनेन्द्रव्याकरण—**चटकाण्णैरः** (३.१.११७) ।
चान्द्रव्याकरण—**चटकादैरक्** (२.४.५८) ।

२. यत् त्विह न्यासकृतोक्तं **चटकादैरक्** इत्येव साम्प्रदायिकः सूत्रपाठ इति तद्वार्त्तिक-विरुद्धम् । (शब्द-कौस्तुभ ४.१.१३०)

इससे सिद्ध होता है कि न्यासकार इस सूत्र का पाठ **स स्विदिस्वदिसहीनां च** इस प्रकार मानते हैं। हरदत्तमिश्र ने भी पदमञ्जरी में इस स्थल पर न्यास का अनुसरण किया है। तथाहि—

'स इत्यविभक्तिको निर्देशः।' (पदमञ्जरी ८.३.६२)

इससे यह भी ज्ञापित होता है कि काशिकाकार को भी यही पाठ अभिमत था अन्यथा दोनों व्याख्याकार ऐसा न लिखते[1]।

(५) **जश्शसोः शिः** (७.१.२०) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—'जसिशसोः शिः। जसीत्यत्रेकार उच्चारणार्थः।' (न्यास ७.१.२०)

इससे विदित होता है कि न्यासकार इस सूत्र का **जसिशसोः शिः** पाठ मानते हैं। **आज्जसेरसुक्** (७.१.५०) सूत्र पर भी उन्होंने लिखा है—'जसेरिति पूर्वाचार्यनिर्देशः। पूर्वाचार्या हि जसिरित्येवं विहितवन्तः।'[2]

पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति के हस्तलेखों में भी क्वचित् न्यासकाराभिमत सूत्रपाठ पाया जाता है। यहां पर भाषावृत्ति के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती की एक टिप्पणी भी अनुसन्धेय है—

"न्यासादौ क्वचिज् **जसिशसोः शिः** इति पाठः। अत्रापि स एव केषुचित् पुस्तकेषु दृश्यते। कैयटादौ तु **जश्शसोः शिः** इत्येव पाठः। मुद्रितकाशिकायामप्येवम्। न तु जसिशसोरिति। जसिरिति पूर्वाचार्याणां जसः संज्ञा।"

(भाषावृत्ति, राजशाही सं० पृष्ठ ४५८)

(६) **नपरे नः** (८.३.२७) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

"इह केचिच्चोदयन्ति नेति प्रतिषेधः कस्मान्न विज्ञायते? एतच्चायुक्तम्।

---

१. जैनेन्द्रव्याकरण में आचार्य देवनन्दी ने भी इसी तरह विसर्गरहित पाठ किया है। इस सूत्र पर अभयनन्दिवृत्ति नष्ट हो चुकी है अतः एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य से हम वञ्चित हो गये हैं।

२. हरदत्तमिश्र ने भी यहां न्यासकार का अनुसरण किया है—
'जसेरिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः'। (पदमञ्जरी ७.१.५०)
भट्टोजिदीक्षित भी प्रौढमनोरमा में यही कहते हैं—
'जसेरिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः।' (प्रौढमनोरमा, अन्तिम भाग पृ० ८५६)
नागेशभट्ट ने भी यही कहा है—
'जसेरितीकारोच्चारणं पूर्वाचार्यानुरोधात्'। (बृ० शब्देन्दु० पृ० २१९०)
सिद्धान्तकौमुदी के वैदिकप्रकरण के व्याख्याता सुबोधिनीकार भी—
'जसेरिति पूर्वाचार्यानुरोधेन निर्देशः।' (सुबोधिनी पृष्ठ ६१०)
इस प्राक्पाणिनीय संज्ञा का सुन्दर विवेचन श्रीरामशङ्करभट्टाचार्यकृत 'पाणिनीयव्याकरण का अनुशीलन' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ ६८-६९ पर सविस्तर किया गया है वह स्थल भी द्रष्टव्य है।

सविसर्गस्य पाठात् । प्रतिषेधवाचिनश्च नकारस्य विसर्गानुपपत्तेः । अथाप्यविसर्गः पठ्यत एवमप्ययुक्ता प्रतिषेधशङ्का, प्राप्त्यभावात् ।" (न्यास ८.३.२७)

इससे विदित होता है कि इस सूत्र का **नपरे न** ऐसा पाठान्तर भी है। यह पाठान्तर अभी तक और कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

(७) **अनाप्यकः** (७.२.११२) सूत्र का न्यास के राजशाहीसंस्करण में **अन्नाप्यकः** पाठ मिलता है। यह **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८.३.३२) इस ङमुट्-सन्धि के कारण किया गया है। परन्तु अन्यत्र पाठ में ङमुट् का अभाव **सुप्तिङन्तम्पदम्** (१.४.१४) आदि की तरह समझना चाहिए।

(८) **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (८.२.८०) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'उद् इति तपरकरणं मुखसुखार्थम् ।' (न्यास ८.२.८०)

इससे सिद्ध होता है कि न्यासकार इस सूत्र का पाठ **अदसोऽसेर्दादुद् दो मः** इस प्रकार मानते हैं।

इस पाठ पर टिप्पणी करते हुए हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'केचिदत्राप्युकारं दपरं पठन्ति **उद् दो म** इति। तेषामयमौत्पत्तिको दकारो मुखसुखार्थः। न पुनस्तकारस्य जश्त्वम्। तथाहि सति सवर्णग्रहणं न स्यात्। अदपर-पाठस्तु भद्रः।' (पदमञ्जरी ८.२.८०)

(९) **मस्जिनशोर्झलि** (७.१.६०) सूत्र का न्यासकार **मज्जिनशोर्झलि** पाठ मानते हैं। तद्यथा **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.४०) सूत्र पर 'मज्जति' रूप की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'टुमस्जो शुद्धौ, **झलां जश्झशि** इति सकारस्य दकारः, तस्यानेन जकारः। श्चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वस्यासिद्धत्वं नाऽऽशङ्कनीयम्, '**मज्जिनशोर्झलि**' इत्यत्र मज्जेः कृतचुत्वनिर्देशात्। असिद्धत्वे ह्ययं निर्देशो नोपपद्यते। (न्यास ८.४.४०)

यहां पर न्यासकार ने पाणिनिसूत्र का पाठ स्पष्टतः **मज्जिनशोर्झलि** माना है। यह पाठ अद्यत्वे पाणिनीयव्याकरण के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। परन्तु इतना निश्चित है कि यह पाठ किसी प्राचीनवृत्ति में अवश्य रहा होगा। जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी ने भी न्यासकार की तरह अपने व्याकरण में इसी प्रकार के सूत्र का निर्देश किया है—

'**मज्जिनशोर्झलीति** निर्देशाद् मज्जति भृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वं नाऽसिद्धम् ।'[1] (जैनेन्द्रमहावृत्ति ५.४.११९)

शरणदेव दुर्घटवृत्ति में न्यास के इस पाठ को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

१. यह पाठ जैनेन्द्रव्याकरण की महावृत्ति में अशुद्ध मुद्रित हुआ है। इस का विस्तृत विवेचन 'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन' नामक चतुर्थ अध्याय में ४.७२ पर देखें।

"कथं मज्जति, लज्जते ? झलां जश्झशि इति सस्य दकारे तस्यानेन जकारो न युक्तः, पूर्वत्रासिद्धत्वात्। उच्यते—मज्जिनशोर्झलीति निर्देशादिति न्यासः।"[१]
(दुर्घटवृत्ति ८.४.४०)

इसी तरह न्यास में अन्य भी अनेक स्थानों पर पाणिनीयसूत्रपाठ एवं काशिकावृत्ति के विविध पाठभेदों व पाठान्तरों का उल्लेख पाया जाता है—यह सब एक पृथक् शोधप्रवन्ध का विषय है। यहां दिङ्मात्रनिर्देश ही अभिप्रेत हैं।

६) प्राचीन आचार्यों के मत वचन व संज्ञाएं—

न्यास में कई प्राचीन आचार्यों के मत, वचन व संज्ञाएं क्वचित् नामनिर्देशपूर्वक और क्वचित् नामनिर्देश के बिना उट्टंकित किये गये हैं। इस से व्याकरणशास्त्र के ऐतिहासिकपक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण यथा—

(१) "आचार्या हि पूर्वे 'आङ्' इति तृतीयैकवचननिर्देशं कुर्वन्ति स्म तस्मात् तदीयेन 'आङ्' इति निर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते।" (न्यास ७.३.१०५)

न्यासोक्त इस बात का महाभाष्य में कहीं उल्लेख नहीं परन्तु वैयाकरणनिकाय में यह वहुत प्राचीन काल से प्रचलित प्रतीत होती है। काशिकाकार ने स्वयं अपने मुख से इसका निर्देश किया है—आङ् इति पूर्वाचार्यनिर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते (काशिका ७.३.१०५)। आधुनिक वैयाकरण भी यही कहते चले आ रहे हैं—

'आङ् इति तृतीयैकवचनस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा।' (प्रसाद पूर्वार्ध पृष्ठ १५२)

'आङ् इति टासंज्ञा प्राचाम्।' (सि०कौ० पूर्वार्ध पृष्ठ १२५)

'ङकारविशिष्टस्य संज्ञा न त्वस्य ङस्येत्त्वम्। अत एव हरिणेत्यादौ न गुणः। एवम् औङ आपः इत्यत्रापि बोध्यम्।' (वृ० शब्देन्दु० पृष्ठ ४७०)

(२) 'पूर्वाचार्याणां तु सूत्रे द्वे अप्येते द्विवचने ङिती पठ्येते। तथाहि—**औ-टावौङ्** इति तत्र सूत्रपाठः।' (न्यास ७.१.१८)

अर्थात् पूर्वाचार्य 'औ' और 'औट्' प्रत्ययों को 'औङ्' नाम से पुकारते थे।

---

१. दुर्घटवृत्ति के सम्पादक इस न्यासीय उद्धरण में आधुनिक प्रचलित सूत्रपाठ (मस्जिनशोर्झलि) छाप कर स्वयं भ्रान्त हो गये, उन की समझ में यह नहीं आया कि इस निर्देश से जश्त्व की सिद्धता कैसे उपपन्न हो सकेगी ?

अत एव वे यहाँ अपनी एक टिप्पणी में इस स्थल के पाठ को ऊहित करते हुए लिखते हैं—

'भृज्जतीनां ङिति चेति निर्देशादिति पाठः स्यात्।'

ध्यान रहे कि दुर्घटवृत्ति के सम्पादनकाल सन् १९२४ तक न्यास के इस भाग का मुद्रण नहीं हुआ था अतः दुर्घटवृत्ति के सम्पादक (T. Ganpati Shastri) का भ्रान्त होना अत्यन्त स्वाभाविक था। अब न्यास के मुद्रित हो जाने से न्यासीयपाठ के पारिप्रेक्ष्य में दुर्घटवृत्ति का वह पाठ बुद्धिगम्य हो गया है।

यहां पर न्यासकार ने किसी पूर्वाचार्य का सूत्र भी उद्धृत किया है परन्तु उस आचार्य का नामनिर्देश नहीं किया।

कैयट और हरदत्तमिश्र ने भी इसी का अनुसरण करते हुए लिखा है—

'पूर्वाचार्यैर्द्वे अपि द्विवचने ङितौ पठिते। न चेह क्वचिदप्यौङ्प्रत्ययोऽस्ति। सामान्यग्रहणार्थं च पूर्वसूत्रनिर्देशः। तेन यः पूर्वसूत्र औङ् तस्य ग्रहणम्भवतीति प्रथमा-द्वितीया-द्विवचन-ग्रहणसिद्धिः।' (प्रदीप ७.१.१८)

'पूर्वाचार्याणां हि सूत्रे द्वे अध्येते द्विवचने 'औङ्' इति पठ्यते। तदाश्रयेणायं निर्देशः। तेन द्वयोरपि ग्रहणं भवति। न च ङित्कार्यप्रसङ्गः। न हि पूर्वाचार्यानुबन्धैरिह कार्याणि क्रियन्ते।' (पदमञ्जरी ७.१.१८)

(३) 'श्वभूतिव्याडिप्रभृतयः श्रचुकः कितीत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारः प्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते।' (न्यास ७.२.११)

इस से स्पष्ट द्योतित होता है कि क्ङिति च (१.१.५) और श्रचुकः किति (७.२.११) पर जयादित्य के नाम से जो द्विककारपक्ष वैयाकरणों में सुप्रसिद्ध है[1] वह वस्तुतः श्वभूति और व्याडि आचार्यों का चलाया हुआ है। अतः इन आचार्यों ने भी अष्टाध्यायी पर अपने-अपने वृत्तिग्रन्थ रचे होंगे—ऐसा अनुमान होता है।

(४) काशिकाकार 'वहीनरस्येद्वचनं कर्त्तव्यम्' (वा० ७.३.१) इस वार्त्तिक पर 'केचित्तु विहीनरस्यैव वैहीनरिमिच्छन्ति' इस प्रकार लिखते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए न्यासकार कहते हैं—

'केचित् त्वित्यादि। कुणडवाडवादयः। विहीनो नरो कामक्रोधाभ्याम् इति पृषोदरादित्वान्नलोपः। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः, अत इञ्।' (न्यास ७.३.१)

इससे ज्ञात होता है कि पाणिनीयसूत्रों पर कुणडवाडव ने भी कोई वृत्ति-ग्रन्थ रचा था। यह आचार्य भाष्यकार से पूर्ववर्त्ती है क्योंकि भाष्य में भी इस के मत का कई स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है (देखें महाभाष्य ३.२.१४; ७.३.१)।

(५) न्यासकार (६.१.६४) सूत्र पर ष्ठिवु धातु के विषय में निम्नस्थ व्याख्या करते हैं—

'केचिदाचार्येण शिष्याः ठकारोऽयमित्युपदिष्टाः। अपरे पुनः थकारोऽयं ष्टुत्वेन ठकारः श्रूयत इतीममर्थं ग्राहिताः। उभयञ्चैतत् प्रयोजनम्।' (न्यास ६.१.६४)

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन का केवल निर्माण ही नहीं किया बल्कि शिष्यों के सम्मुख उसका बार-बार प्रवचन व व्याख्यान भी किया था।[2] इस व्याख्यान-भेद के कारण ही वैयाकरणों में द्विविध व्याख्याएं चल पड़ने की सम्भावना है।

---

१. इस मत का विवेचन इसी अध्याय में आगे (पृष्ठ ७३ पर) किया गया है।

२. महाभाष्य से भी यही बात प्रमाणित होती है। तद्यथा—
"कथं त्वेतत् सूत्रं पठितव्यम्। किम् 'आकडारादेका संज्ञा' आहोस्वित् 'प्राक्क-

(५)

(६) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८.३.५८) सूत्र पर 'अपि' शब्द का प्रयोजन बतलाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"अथापिशब्दः किमर्थः ? अव्यवायेऽपि यथा स्यादिति चेद् ? नैतदस्ति, सिद्धं ह्यव्यवाये पूर्वेणैव, सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थो विज्ञायेत, नुमादिव्यवाय एव। तथा च सति नुमादिभिरव्यवहिताद् इण्कोर्न स्यात् ? नैतदस्ति, यदि हि नुमादिभिर्व्यवाये मूर्धन्योऽभिमतः स्याद् 'इण्कोर्नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये' इत्येकमेव योगं कुर्यात्, न कृतवांश्च, तस्माद् योगविभागकरणसामर्थ्यात् पूर्वो व्यवायार्थो विज्ञास्यते, नार्थोऽपिशब्देन। यस्य तर्हि एवमर्थमवगच्छतः प्रतिपत्तिगौरवं भवति तं प्रति तत्परीहारार्थोऽपिशब्दः।"

(न्यास ८.३.५८)

न्यासकार को यहां 'अपि' शब्द का प्रयोजन बतलाने के लिए इतना आयास इसलिये करना पड़ा क्योंकि चान्द्रव्याकरण में यह सूत्र 'अपि' शब्द के बिना पढ़ा गया था।[1] उस काल में चान्द्र का प्रभाव पर्याप्त था, सम्भवतः न्यासोक्त पूर्वपक्ष में निर्दिष्ट युक्तियां चान्द्र के व्याख्याकारों ने ही दी होंगी। अतः उनका प्रभाव हटाने के लिए न्यासकार ने ऐसा किया होगा। इस समाधान के बाद प्रायः सब उत्तरवर्त्ती पाणिनीयेतर वैयाकरण सावधान हो गये और उन्होंने अपने अपने तन्त्र में 'अपि' शब्द को यथोचित स्थान दिया।[2]

डारात् परं कार्यम्' इति। कुतः पुनरयं सन्देहः ? उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिद् आकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति।"

(महाभाष्य १.४.१)

काशिकाकार स्वयं भी अन्यत्र यही कहते हैं—

'सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। तदुभयमपि ग्राह्यम्'।

(काशिका ५.१.५०)

हरदत्तमिश्र ने भी पदमञ्जरी में यही कहा है—

'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः पाठिता इति भावः।'

(पदमञ्जरी ६.१.६४)

१. नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये (चान्द्र० ६.४.४७)।

२. यथा—

भोज —नुंविसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (सरस्वती० ७.४.४६)

हेमचन्द्र —नाम्यन्तस्थाकवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्नान्तरेऽपि (श्रीसिद्धहेम० २.३.१५)

क्रमदीश्वर—न्वनुस्वारविसर्गषसां व्यवायेऽपि (संक्षिप्त० संधिपाद सूत्र २२४)

मुग्धबोध —क्विलात् कृतोऽसात् सः षोऽदान्ते नुव्यन्तरेऽपि शासवसघससाढां च (मुग्ध० सूत्र १११)

सारस्वत —विसर्गनुम्स्थानिकानुस्वारव्यवधानेऽपि (सारस्वत० हसान्त पुं० सूत्र ५६)

(७) वृत्तौ, भाष्ये तथा धातु-नाम-पारायणादिषु ।
विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्य क्रियते सारसंग्रहः ॥

काशिकावृत्ति के इस प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"तत्र च वृत्तिः पाणिनीयसूत्राणां विवरणं चूल्लिभट्टिनल्लूरादिविरचितम् ।"[1]
(न्यास राजशाही सं० पृष्ठ २)

इसमें काशिका से पूर्ववर्त्ती, पाणिनीयसूत्रों के कुछ वृत्तिकारों का उल्लेख मिलता है। इनके वृत्तिग्रन्थ इस समय सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। न्यासोक्त इन नामों में चूल्लि-भट्टि शब्द एक आचार्य का नाम है या दो भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न नाम ? यह अब निश्चय से तो नहीं कहा जा सकता परन्तु तन्त्रप्रदीप के निम्नस्थ वचन से सम्भवतः यह एक ही आचार्य का नाम है—ऐसा ज्ञात होता है—

'सव्येष्ठा इति सारथिवचनोऽयम् । अत्र चूल्लिभट्टिवृत्तावपि 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् दृश्यते ।'

(८.३.९७ सूत्रस्थ तन्त्रप्रदीपपाठ, न्यासभूमिका पृष्ठ ८ पर उद्धृत)

इस से यह भी विदित होता है कि तन्त्रप्रदीपकार के काल (बारहवीं शती) तक यह वृत्तिग्रन्थ उपलब्ध था।

हरदत्तमिश्र ने यहां पर एक अन्य वृत्तिकार का उल्लेख किया है—

'तत्र सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः, सा चेह पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्यैर्विरचितं विवरणम् ।'
(पदमञ्जरी पृष्ठ ४)

इस में वृत्तिकार कुणि आचार्य का नाम लिया गया है। कैयट ने महाभाष्य-प्रदीप में एङ् प्राचां देशे (१.१.७५) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में इस आचार्य का एक मत उद्धृत करते हुए लिखा है—

'कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं च व्याख्यातम् । भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत् ।'
(प्रदीप १.१.७५)

हरदत्तमिश्र ने भी इसी सूत्र पर यही कहा है—

'कुणिना तु प्राचांग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्याख्यातम्, भाष्यकारोऽपि तथैवाशिश्रियत् ।'
(पदमञ्जरी १.१.७५)

---

१. यहां न्यास में नल्लूर के स्थान पर वंगीयपाठ निर्लूर है। सम्भवतः यही शुद्ध पाठ है। निर्लूरवृत्ति का उल्लेख श्रीपतिदत्त के कातन्त्रपरिशिष्ट तथा पुरुषोत्तमदेव के ज्ञापकसमुच्चय में भी हुआ है। तथाहि—

'निर्लूरवृत्तौ चोक्तम्—भाषायामपि यङो लुगस्तीति' ।
(कातन्त्रपरिशिष्ट सन्धि० सूत्र ३३)

'तेन बोभवीतीति सिध्यतीति नैर्लूरी वृत्तिः ।'
(ज्ञापकसमुच्चय, राजशाही सं० पृष्ठ ८७)

इस प्रकार कुणिवृत्ति महाभाष्य से भी प्राचीन सिद्ध होती है। यह वृत्ति भी इस समय कालकवलित हो चुकी है।

(८) आपिशलि आचार्य के शिक्षासूत्रों का निर्देश पहले किया जा चुका है। अब न्यासान्तर्गत कुछ तदीय अन्य वचनों व सूत्रों आदि का निर्देश करते हैं—

(अ) काशिकाकार के "आपिशलाः—'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु च्छन्दसि' इति पठन्ति। तत्र सर्वेषामेव छन्दसि विषये विधिरयं भवति" (काशिका ७.३.९५) इन वचनों की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'स्त्रीलिङ्गस्य सार्वधातुकाशब्दस्य आपिशलिना संज्ञात्वेन प्रणीतत्वात्।'

(न्यास ७.३.९५)

इस से प्रतीत होता है कि आपिशलि आचार्य के व्याकरण में जिसे 'सार्वधातुका' संज्ञा कहा गया था उसे पाणिनि ने अपने व्याकरण में 'सार्वधातुक' संज्ञा बना लिया। इस प्रकार आचार्य पाणिनि आपिशलि आचार्य के अधमर्ण सिद्ध होते हैं। तभी तो हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में कहते हैं —

'कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन।' (पदमञ्जरी, प्रथम भाग, पृष्ठ ८)

(आ) 'खण्डिकादिभ्यश्च' (४.२.४५) सूत्र पर व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"एवं कृत्वाऽऽपिशलेर्विधिरुपपन्नो भवति। विधीयतेऽनेनेति विधिः। स पुनः 'धेनोरनञः' इति। एतद्धि तत्सूत्रम्। अस्यायमर्थः—धेनुशब्दः समूहेऽर्थे ठकमुत्पादयति न चेद् धेनुशब्दो नञ उत्तरो भवतीति। नञ्पूर्वपदो न भवतीति यावत्।"

(न्यास ४.२.४५)

भाष्यकार ने 'ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे तथा चापिशलेर्विधिः' इस श्लोकवार्त्तिक पर केवल इतना लिखा है—"एवं च कृत्वाऽऽपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति—धेनुरनञिकमुत्पादयति, धेनूनां समूहो धैनुकम्। अनञीति किमर्थम्? अधेनूनां समूहः—आधेनवम्।"[1] परन्तु न्यासकार यहां आपिशलि का एक सूत्र भी उद्धृत करते हैं। इस सूत्र का उल्लेख न्यासकार के अतिरिक्त अन्य किसी व्याख्याकार ने नहीं किया। हरदत्तमिश्र ने यहां एक अपना नवीन आपिशलीयसूत्र ऊहित कर पुनः उस में स्वयं ही असन्तोष व्यक्त किया है—

"धेनुरञ् इकमुत्पादयतीति आपिशलेः सूत्रम्। अत्र वृद्ध्यर्थोऽनुबन्धो मृग्यः। इकस्यैव चेसुसुक्तान्तात् परस्य कादेशो द्रष्टव्यः। अर्थमात्रं वा भाष्यकारेण निर्दिष्टम्। इकमिति ठकमित्यर्थः।"

(पदमञ्जरी ४.२.४५)

(इ) 'आङः स्थः प्रतिज्ञाने' (वा० १.३.२२) पर काशिकाकार ने दो उदाहरण दिए हैं—

'अस्तिं सकारमात्रमातिष्ठते। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते।'

---

१. महाभाष्य (४.२.४५)।

ये दोनों उदाहरण महाभाष्य में भी पठित हैं। किन्तु इन की व्याख्या अद्यत्वे न्यास से पूर्ववर्त्ती किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती। न्यासकार इन की व्याख्या के प्रसङ्ग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना देते हुए लिखते हैं—

"अस्तिं सकारमात्रमातिष्ठत इति। सकारमात्रमस्तिं धातुम् आपिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव अस भुवि इति गणपाठः, किं तर्हि ? स भुवि इति स पठति। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठत इति। स त्वागमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते।"
(न्यास १.३.२२)

न्यासकार के इन वचनों से अद्ययुगीन वैयाकरणों को पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आपिशलि आचार्य के प्रक्रियासम्बन्धी एक विशिष्ट मत का पता चलता है। पाणिनीय 'अस भुवि' (अदा० परस्मै०) धातु के स्थान पर आपिशलि आचार्य 'स भुवि' धातु पढ़ते थे और फिर उसे गुण (अ) और वृद्धि (आ) का आगम विधान कर 'अस्ति' 'आसीत्' आदि रूपों को सिद्ध करते थे। आपिशलि आचार्य का यह मत न्यास से पूर्व किसी ग्रन्थ में आज तक उपलब्ध नहीं हुआ अतः व्याकरणशास्त्र के इतिहास में यह न्यासकार की प्रदत्त एक छोटी सी उपयोगी जानकारी समझी जा सकती है।

यहां यह ध्यातव्य है कि न्यासकार ने उपर्युक्त काशिकोक्त दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण की तो अच्छी तरह व्याख्या की है परन्तु दूसरे उदाहरण की व्याख्या नाममात्रेण की है, सम्भवतः वे उसे सुगम समझ छोड़ से गये हैं। इस से हरदत्तमिश्र की समझ में प्रथम उदाहरण का भाव तो ठीक-ठीक आ गया पर दूसरे उदाहरण का आशय वे ठीक तरह से समझ नहीं सके। पदमञ्जरी में इन उदाहरणों की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

"अस्तिं सकारमिति। स्तः सन्तीत्यादौ सकारमात्रस्य दर्शनात् 'स भुवि' इत्येव धातुः पाठ्यः, अस्तीत्यादौ पिति सार्वधातुके अडागमो विधेयः, आस्ताम् आसन् इत्यादौ आडागमः स्यादिति आपिशला मन्यन्ते। आगमौ गुणवृद्धी इति। वैयाकरणः, सौवश्व इत्यादौ वृद्धेरागमत्वमित्याहुः। गुणस्य त्वागमत्वे उदाहरणम्मृग्यम्।"
(पदमञ्जरी १.३.२२)

इस से स्पष्ट है कि हरदत्तमिश्र दूसरे उदाहरण को प्रथम उदाहरण के प्रसङ्ग से पृथक् व्याख्यात करते हुए बुरी तरह से असफल हुए हैं, वे इसे ठीक ठीक समझ नहीं सके। अत एव भट्टोजिदीक्षित को अपने प्रसङ्ग से हट कर भी शब्दकौस्तुभ में वृत्ति के इन उदाहरणों का आशय खोल कर लिखना पड़ा है—

"वृत्तौ तु अस्तिं सकारमातिष्ठते, गुणवृद्धी आगमावातिष्ठते इत्युदाहृतम्। अस्यार्थः—आपिशलिर्हि 'अस भुवि' इति न पठति किन्तु सकारमात्रम्। स्तः सन्तीत्युदाहरणम्। 'अस्ति, आसीद्' इत्यादिसिद्धये तु अडाटौ आगमौ प्रतिजानीते। तावेव गुणवृद्धी इति।"
(शब्दकौस्तुभ १.३.२२)

यही भाव नागेश ने उद्योत में प्रकट किया है—

'अस्तिमिति। केचित्सकारमात्रं धातुं पठित्वा पिति सार्वधातुकेऽडाटावागमौ गुणवृद्धिरूपावागमावित्याहुः।' (प्रदीपोद्योत १.३.२२)

(६) न्यासकार ने **नैयायिकों** का मत दो स्थानों पर उद्धृत किया है। तद्यथा—

(अ) "नैयायिक इत्याह—क्वचिदर्थोऽवधित्वेन गृह्यते, यथा—'आर्हाद्', 'भवनाद्' इति क्वचित् प्रत्ययः—'प्राग्वहतेः', 'आ च त्वात्' इति। क्वचित् प्रकृतिः—'आकडारात्', 'प्राक्कडारात्' इति। क्वचिदेकदेशः—'प्राग्दीव्यतोऽण्' इति। क्वचिन्निरवधिः प्रत्ययः—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति। तेनायमात्मनो वैचित्र्यमाचार्यो दर्शयतीत्यवसीयत इति।" (न्यास ५.१.१)

(आ) 'पञ्चवर्षाभ्यन्तरम् आसन्नकाल इति **नैयायिका** वर्णयन्ति। पञ्चवर्षातीतस्तु विप्रकृष्ट इति।' (न्यास ३.२.११७)

नैयायिक से यहां न्यायशास्त्रवेत्ता का अभिप्राय तो सम्भव नहीं पुनः न्यासकार का यहां किस की ओर संकेत है? यह अभी तक अज्ञात है। व्याकरणग्रन्थों में इस मत का कहीं पता नहीं चला। इस पर अभी और अनुसन्धान की आवश्यकता है।

(१०) न्यासकार ने सम्भवतः अपने ग्रन्थ में दो स्थानों पर **लिङ्गकारिका** को उद्धृत किया है। तद्यथा—

(अ) 'क्रोडा-घाटा-जिह्वा-शिरोधरा-संकुला-स्पृहा-मायेति **लिङ्गकारिकायाम्**।' (न्यास ४.१.५६)

(आ) "तथा चाह **लिङ्गकारिकाकारः**—

ईदूदन्तं यच्चैकाच् शरद्-दरद्-दृषत्-प्रावृषश्चेति।" (न्यास ७.१.१८)

लिङ्गकारिका यद्यपि अन्य भी कई ग्रन्थों में उद्धृत है[1] पर न्यासोद्धृत यह लिङ्गकारिका कोई अन्य ग्रन्थ न होकर वररुचिप्रणीत **लिङ्गविशेषविधि** ही है। इस ग्रन्थ का सन् १९३१ में मद्रास् विश्वविद्यालय से प्रकाशित सटीक 'हर्षवर्धनलिङ्गानुशासन' के अन्त में अनुबन्धरूपेण मुद्रण हुआ है। न्यासोक्त प्रथम उद्धरण इस ग्रन्थ की ४५वीं कारिका का पूर्वार्ध[2] तथा द्वितीय उद्धरण द्वितीयकारिका का उत्तरार्द्ध है। इस ग्रन्थ में कुल ८० कारिका हैं जो आर्याछन्द में निबद्ध हैं। इस के अन्त में पुष्पिकारूपेण निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

---

१. यथा उणादिवृत्ति में उज्ज्वलदत्त—
'विषपुरीषच्छद्मनुसरणमरकतपलाशकृच्छ्राणि। मन्दिरं सक्थि च नपुंसकम् इति वररुचिलिङ्गकारिका।' (उणादि० उज्ज्वलदत्तवृत्ति २.१०९)

२. 'क्रोडा-घाटा-जिह्वा-शिरोधरा-शष्कुली-स्पृहा-माया' इस मुद्रित वाररुच पाठ में न्यासोक्त 'संकुला' शब्द के स्थान पर 'शष्कुली' शब्द पढ़ा गया है, शेष में कुछ परिवर्त्तन नहीं। यहां न्यासोक्त पाठ ही युक्त प्रतीत होता है क्योंकि आकारान्त शब्दों में 'शष्कुली' इस ईकारान्त शब्द के पाठ का कुछ औचित्य प्रतीत नहीं होता।

"इति श्रीमदखिलवाग्विलासमण्डितसरस्वतीकण्ठाभरणानेकविशरणश्रीनरपति-सेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचिविरचितो लिङ्ग-विशेषविधिः समाप्तः।"

इस से विदित होता है कि यह विक्रमादित्य के समकालिक या सभापण्डित वररुचि की रचना है। हर्षवर्धनीयलिङ्गानुशासन के व्याख्याता तथा हर्षवर्धन के समान-कालिक आचार्य पृथिवीश्वर ने भी[1] अपनी व्याख्या में इसे उद्धृत किया है।[2] इस से इस ग्रन्थ की न्यास से पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है।[3]

(११) उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् (२.४.२१) सूत्र पर काशिका की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'व्याडचुपज्ञं दश हुष्करणमिति। व्याडिरप्यत्र युगपत् कालभाविनां विधीनां मध्ये दश हुष्करणानि कृत्वा परिभाषितवान् पूर्वं पूर्वं कालमिति।' (न्यास २.४.२१)

व्याडि के किसी ग्रन्थविषयक न्यासकार के इन अस्पष्ट वचनों की व्याख्या करते हुए मैत्रेयरक्षित तन्त्रप्रदीप में लिखते हैं—

"पूर्वं पूर्वं कालमिति। पूर्वं प्रथमं पूर्वं भूताख्यं कालं परिभाषितवान्। पश्चाद् वर्त्तमानादिकमित्यर्थः। अथवा—पूर्वं पूर्वमिति प्रथमतरमित्यर्थः। पूर्वप्रथमयोरतिशय-विवक्षायां द्विर्वचनमिति (वा० ८.१.१२) द्विर्वचनम्। अस्य दश हुष्करणानीति सम्बन्धः। तदयमर्थः—प्रथमतरं दश हुष्करणानि कृत्वा कालमद्यतनादिकं परिभाषित-वान्।" (न्यास राजशाही सं० पूर्वार्ध, पृष्ठ ४५३ के टिप्पण में उद्धृत)

तन्त्रप्रदीप के इस व्याख्यान से भी कुछ बुद्धिस्थ नहीं होता। पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र उपर्युक्त 'दश हुष्करणम्' के स्थान पर 'दुष्करणम्' पाठ मान कर व्याख्या प्रस्तुत करते हुए पुनः स्वयं ही उसमें असन्तोष व्यक्त करते हैं—

'दुष् इत्ययं संकेतशब्दो यत्र क्रियते यथा पाणिनीये वृदिति, तद् दुष्करणं व्याकरणम्, कामशास्त्रमित्यन्ये।' (पदमञ्जरी ४.३.११५)

---

१. पृथ्वीश्वर ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में लिङ्गानुशासनकार हर्षवर्धन के विषय में यह श्लोक लिखा है—

"प्रार्थितः शास्त्रकारेण पादग्रहणपूर्वकम्।
लिङ्गानुशासनव्याख्यां करोति पृथिवीश्वरः॥" (पृष्ठ २)

इस से व्याख्याकार का हर्षवर्धन का समकालिक होना स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

२. 'यदुक्तम्—दीधितिमेकां मुक्त्वा रश्म्यभिधानं पुंस्येव।' (पृथ्वीश्वरव्याख्या पृष्ठ ६)

यह कारिकांश वररुचिकृतलिङ्गविशेषविधि की ८वीं कारिका का उत्तरार्ध है।

३. इस ग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका का एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द वैदिकसंस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान है (देखें—संस्था द्वारा प्रकाशित हस्तलेखसूची भाग २, पृष्ठ ४२१—४२२, ग्रन्थ संख्या ५६०८)।

इन सब व्याख्याओं से यही प्रतीत होता है कि न्यासकार आदियों के सामने व्याडि का वह ग्रन्थ तो विद्यमान था नहीं, सब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार इस अस्पष्ट स्थल की व्याख्या का प्रयत्न करते रहे। पर वस्तुतः यह स्थल अभी तक अस्पष्ट है। इससे यह निश्चय होता है कि व्याडि के संग्रह आदि ग्रन्थ न्यास के आविर्भाव से पूर्व ही लुप्त हो चुके थे। अत एव भर्तृहरि का यह कथन अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है—

"प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान्।
संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।"

(वाक्यपदीय पूना सं० द्वितीयकाण्ड, ४७८-४७९)

(१२) इसके अतिरिक्त विना आचार्यनिर्देश और ग्रन्थनिर्देश के पाणिनि-प्राक्कालीन अनेक संज्ञाएं न्यास में संगृहीत की गई हैं। निदर्शनार्थ कुछ यथा—

(अ) 'विनत इति पूर्वाचार्यसंज्ञा षत्वणत्वयोः'। (न्यास ६.३.३४)

(आ) 'पूर्वाचार्या हि षष्ठ्यन्तम् उपग्रह इत्येवमुपचरन्ति स्म।' (न्यास ६.२.१३४)

(इ) 'लोरिति लुकश्चायं पूर्वाचार्यविहिता संज्ञा।' (न्यास ५.२.३७)

(ई) 'विसर्जनीयस्थानिकस्य सकारस्योपचार इत्येषा संज्ञा पूर्वाऽऽचार्य-प्रणीता।' (न्यास १.४.६७)

(उ) 'चर्करीतमिति यङ्लुकः पूर्वाचार्यसंज्ञा।' (न्यास १.४.१३)

(ऊ) 'नकारस्योपधाया अनुषङ्ग इति पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता।' (न्यास १.१.४७)

(ऋ) 'अद्यतनीति लुङः पूर्वाचार्यप्रणीतैषा संज्ञा।' (न्यास २.४.३)

(ॠ) 'पूर्वाचार्यैः समासस्य स इत्येषा संज्ञा कृता।' (न्यास ४.१.८६)

(ऌ) 'नव् इति नपुंसकस्य संज्ञा।' (न्यास ४.३.१५४)

(ए) 'शिटाम्=सर्वनाम्नाम् इत्यर्थः।' (न्यास ६.२.१८४)

(ऐ) 'श्वस्तनीति लुट इयमन्याचार्यसंज्ञा।' (न्यास ३.३.१५)

(ओ) 'नामेति प्रातिपदिकम्। तस्य हीयमन्याचार्यसंज्ञा।' (न्यास ३.३.१)

(औ) 'फिष् इति प्रातिपदिकस्यैव पुनरन्याचार्यकृता संज्ञा।' (न्यास ४.१.३७)

(अं) 'अस्ति च पूर्वाचार्यसंज्ञा—अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति।' (न्यास १.२.६५)

(अः) 'सर्वनामस्थानमिति पूर्वाचार्यैरेवेयं प्रयोजनमन्तरेणापि महती संज्ञा प्रणीता। तस्या इह समाश्रयणं यत् तत् तत्कृतस्य शब्दानुशासनस्य दोषवत्त्वसूचनार्थम्। तत्पुनः स्वशास्त्रस्य पुनरुक्ततादोषपरिहारार्थम्। यदि हि तद् दोषवद् भवति एवमस्य प्रणयनं युज्यते, नान्यथा।'[1] (न्यास १.१.४२)

---

१. हरदत्तोऽप्यत्राह—'तस्मात् पूर्वाचार्यान् उपालब्धुमेषा महती संज्ञा प्रणीता।' (पदमञ्जरी १.१.४२)

७) काशिकावृत्ति के रचयिता और उनका पारस्परिक मतभेद—

काशिकावृत्ति एक व्यक्ति की रचना नहीं अपितु जयादित्य और वामन दो व्यक्तियों की सम्मिलित रचना है। उन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर अपनी पृथक्-पृथक् वृत्तियां लिखी थीं जो बाद में किसी अज्ञातकारणवश संयुक्त होकर एक वृत्ति-ग्रन्थ बन गया।[1] न्यास आदि व्याख्याएं इस संयुक्त ग्रन्थ पर ही लिखी गई हैं—यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना हमें सब से प्रथम न्यासकार से ही सप्रमाण प्राप्त होती हैं। तथाहि—

(अ) **ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः** (३.२.१३९) सूत्रद्वारा प्रतिपाद्य प्रत्यय को कुछ वैयाकरण गित् अर्थात् 'ग्स्नु' प्रत्यय और कुछ कित् अर्थात् 'क्स्नु' प्रत्यय मानते हैं। दोनों पक्षों की अपनी-अपनी युक्तियां और समाधान आकर-ग्रन्थों में दिये गये हैं। परन्तु काशिका में **क्ङिति च** (१.१.५) और **ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः** (३.२.१३९) सूत्रों पर जहां प्रथमपक्ष का समर्थन किया गया है वहां **श्र्युकः किति** (७.२.५) सूत्र पर न केवल दूसरे पक्ष का समर्थन अपितु प्रथमपक्ष का ज़ोरदार खण्डन भी उपलब्ध होता है। एक ही ग्रन्थ में इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध मतों का कहीं खण्डन और कहीं मण्डन पाया जाना एक अभूतपूर्व असंगति है। इस असंगति को समाहित करते हुए न्यासकार १.१.५ सूत्र पर लिखते हैं—

यदि हि क्स्नोर्गित्त्वमिष्यते भूष्णुरित्यत्र श्र्युकः किति (७.२.५) इति किति प्रतिषेध उच्यमानो न स्यात्। नैष दोषः। तत्रापि चर्त्वभूतो गकारो निर्दिश्यते। तथाहि **ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः** इत्यत्र **जयादित्यवृत्तौ** ग्रन्थः—'क्ङिति चेत्यत्र गकारश्चर्त्व-भूतो निर्दिश्यते, तेन गुणो न भवति। श्र्युकः कितीत्यत्रापि गकारो निर्दिश्यते, तेन भुव इड् न भवतीति।' श्र्युकः कितीत्यत्रापि **जयादित्यवृत्तौ** ग्रन्थः—'गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते, भूष्णुरित्यत्र यथा स्यादिति।' **वामनस्य** त्वेतत् सर्वमनभिमतम्। तथाहि तस्यैव सूत्रस्य तद्विरचितायां वृत्तौ ग्रन्थः—'केचिदत्र द्विककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति भूष्णुरित्येवं यथा स्यात्। सौत्रत्वाच्च निर्देशस्य श्र्युकः कितीत्यत्र चर्त्वस्या-सिद्धत्वमनाश्रित्य रोरुत्वं न कृतम्। विसर्जनीयश्च कृत इति। ग्लाजिस्थश्च क्स्नु-रित्यत्र स्था+आ इत्याकारप्रश्लेषेण स्थास्नोः सिद्धत्वान्न किञ्चिदेतदिति।'

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काशिकावृत्ति एक विद्वान् की रचना नहीं अपितु जयादित्य और वामन दो विद्वानों की सम्मिलित कृति है। अतः लेखकभेद के कारण उपर्युक्त मतभेद पाया जाता है। न्यासकार ने यहां **श्र्युकः किति** (७.२.५) सूत्रस्थ दोनों वृत्तियों का पृथक् पृथक् पाठ भी उद्धृत किया है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि न्यासकार के सामने दोनों वृत्तिग्रन्थ पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान थे।

---

१. इस सम्मिलित वृत्ति के पहले पांच अध्याय जयादित्यविरचित और शेष तीन अध्याय वामनविरचित हैं—ऐसा अनेक प्रमाणों के आधार पर यु० मीमांसक ने सिद्ध किया है (देखें 'सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ ४५९)।

(आ) **स्यतासी लृलुटोः** (३.१.३१) सूत्र पर काशिकाकार 'तासि' प्रत्यय के इकार की इत्संज्ञा करते हैं और उसका प्रयोजन 'मन्ता' आदियों में प्रसक्त नकार के लोप का वारण करना बताते हैं—'इदित्करणमनुनासिकलोपप्रतिषेधार्थम्। मन्ता। संगन्ता।' परन्तु **इदितो नुम् धातोः** (७.१.५८) सूत्र पर इस बात का खण्डन कर इस के विरुद्ध 'तासि' के इकार को उच्चारणार्थक मानते हुए लिखते है—'तासिसिचो-रिदित्करणं नास्तीत्युच्चारणार्थो निरनुनासिक इकारः पठ्यते।' इस प्रकार एक ही ग्रन्थ में परस्पर-विरुद्ध इन दोनों मतों का अस्तित्व पाया जाता है। इस पर न्यासकार निम्नप्रकारेण अपना समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'नास्ति विरोधः, भिन्नकर्तृकत्वात्। इदं **जयादित्य-वचनं** तत्पुनर्वामनस्य। **वामनवृत्तौ** तु तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः पठ्यते। तेन विरोधो नाऽऽशङ्कनीयः।' (न्यास ३.१.३१)

इस से भी उपर्युक्त वात स्पष्ट होती है। परन्तु इन दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण कब और क्यों हुआ? इस का उत्तर न्यास में कहीं उपलब्ध नहीं होता। आश्चर्य तो यह है कि दोनों विद्वानों के पृथक्-पृथक् वृत्तिग्रन्थ अवस्थित होते हुए भी न्यासकार ने किसी अन्यतर पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत न करते हुए सम्मिलित वृत्ति पर ही अपनी व्याख्या क्यों लिखी? यह प्रश्न आज तक असमाहित है—इसका अभी तक कहीं कोई उत्तर नहीं मिला है।

[१.११] न्यासकार का वेदविषयक शैथिल्य—

इस बात का पीछे संकेत दिया जा चुका है कि व्याकरणशास्त्र के असाधारण और लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् होते हुए भी न्यासकार वेदविषयक पाण्डित्य से प्रायः विभूषित न थे। यही कारण है कि उन्होंने वैदिकप्रतीकों की व्याख्या करते समय ऐसी-ऐसी भयंकर अशुद्धियां की हैं जिनकी आशा किसी वैदिक विद्वान् से कभी नहीं की जा सकती। इनकी मुद्गलानी पर स्वरसम्बन्धी अशुद्धि तथा **उत वा घा स्यालात्** को **उत वा घा लस्यात्** समझ कर की गई भ्रमपूर्ण व्याख्या का आगे सविस्तर वर्णन किया गया है।[१] परन्तु यहां उनकी कुछ अन्य वेदविषयक असाधारण भ्रान्तियों का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जाता है—

(क) **भुवश्च महाव्याहृतेः** (८.२.७१) सूत्र पर **भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः** (ऋग्वेद १०.५०.४) मन्त्रगत भुवः पद की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'भुवो विश्वस्येति।[२] भूशब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य पञ्चम्यन्तस्य वा प्रयोगः।'

---

१. देखें—इसी शोधप्रबन्ध का पञ्चम अध्याय (नं० २६)।

२. न्यासकार ने यह प्रतीक अशुद्ध लिखा है। यह ऋग्वेद के मन्त्र (१०.५०.४) का द्वितीय चरण है। न्यासकार ने सम्भवतः 'भुवः' के साथ सामानाधिकरण्य समझते हुए 'विश्वेषु' का 'विश्वस्य' कर दिया। हरदत्तमिश्र ने यहां प्रतीक शुद्ध दिया है—**भुवो विश्वेषु सवनेष्विति।** (पदमञ्जरी ८.२.७१)

यहां 'भुवः' को न्यासकार भूशब्द का षष्ठचन्त या पञ्चम्यन्त रूप समझ रहे हैं जो नितान्त अशुद्ध है क्योंकि 'भुवः' यहां प्रातिपदिक का रूप न होकर तिङन्त रूप है। जैसाकि हरदत्तमिश्र कहते हैं—

'तिङन्तमेतत्। भवतेः छन्दसि लुङ्-लङ्-लिटः इति वर्त्तमाने लङ्, सिप्, शपि गुणाभावश्छान्दसः, बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि इत्यडभावः।'

(पदमञ्जरी ८.२.७१)

वेङ्कटमाधव और सायण आदि सकल वैदिक भाष्यकारों ने भी इसे तिङन्तरूप ही माना है।[1]

(ख) विभाषा छन्दसि (१.२.३६) सूत्रस्थ उदाहरण शन्नो देवीरभिष्टये (ऋग्वेद १०. ९. ४; यजु० ३६.१२) पर अभिष्टये की स्वरप्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"ष्टुञ् स्तुतौ, अभिपूर्वाद् ऋदोरप् इत्यप्, गुणावादेशौ। वर्णव्यत्ययेन वकारस्य यकारः। गतिकारकेत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते अन्तः इति वर्त्तमाने थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। सप्तम्येकवचनम्। आद् गुणः, एकादेश उदात्तेनोदात्तः। तस्माद् अभिष्टयेशब्दोऽन्तोदात्तः।" (न्यास १.२.३६)

वेद में तो अभिष्टये शब्द का भि उदात्त देखा जाता है परन्तु यहां न्यासकार उसे अन्तोदात्त सिद्ध कर रहे हैं। सकल वैदिक भाष्यकार अभिष्टये को चतुर्थ्येकवचनान्त मानते हैं[2] परन्तु न्यासकार यहां उसे सप्तम्येकवचनान्त सिद्ध करते हैं। अभिष्टये को ष्टुञ् से सिद्ध करने पर अर्थासङ्गति के अतिरिक्त व्यत्यय द्वारा वकार को यकार भी करना पड़ता है। इससे तो अच्छा इसे 'इष्' धातु से क्तिन्प्रत्ययद्वारा सिद्ध करना है। अत एव पदमञ्जरीकार को यहां लिखना पड़ा है—

"अभिपूर्वाद् इषेः क्तिनि शकन्ध्वादित्वात् पररूपेऽभिष्टीति 'तादौ च निति कृत्यतौ' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाभिशब्दस्यान्तोदात्तत्वं चतुर्थ्येकवचनम्।"

(ग) घोर्लोपो लेटि वा (७.३.७०) सूत्र पर काशिकोक्त उदाहरण दधद् रत्नानि दाशुषे (ऋग्वेद ४.१५.३) की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"ददन्निति। डुदाञ् दाने, लिङर्थे लेट्, झेरन्तादेशः, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' इतीकारलोपः, 'लेटोऽडाटौ' इत्यद्, शप्, तस्य जुहोत्यादित्वाच्छ्लुः, 'श्लौ' इति

---

१. भुवः =अभवः। (वेङ्कटमाधव—ऋग्वेद १०.५०.४)।
भुवः =अभवः। भवतेर्लेटि भूसुवोस्तिङि इति गुणप्रतिषेधे उवङादेशः।
(सायण—ऋग्वेद १०.५०.४)

२. अभिष्टये =अस्मद्यज्ञाय (ऋग्वेद सायणभाष्य १०.९.४)।
अभिष्टये =यागार्थम् (ऋग्वेद वेङ्कटभाष्य १०.९.४)।
अभिष्टये =यागाय (ऋग्वेद उद्गीथभाष्य १०.९.४)।
अभिष्टये =अभिषेकाय अभीष्टाय वा।
(यजु० उवटभाष्य तथा महीधरभाष्य ३६.१२)

द्विर्वचनम्, संयोगान्तस्य लोप: । ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् इति ङमुडागम: ।"
(न्यास ७.३.७०)

दधत् रूप को न्यासकार ने भ्रान्तिवश ददन् समझ लिया। न जाने फिर वे ङमुट् का आगम कैसे करने लगे ? इसे समझने में बुद्धि कातर है।[1]

इस तरह वेदविषयक नैपुण्य के अभाव के कारण न्यास में यत्र तत्र अनेक प्रमाद उपलब्ध होते हैं। अत एव वैदिक-प्रक्रिया और स्वरप्रक्रिया में न्यास का अनुसरण करने वाले वैयाकरणों की संख्या बहुत ही कम है।

[१.१२] न्यास की व्याख्याएं—

न्यास जैसे लब्धप्रतिष्ठ और प्राचीन ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याओं का लिखा जाना आश्चर्यजनक नहीं है। अत एव इस की कई व्याख्याओं का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है।[2] परन्तु दुर्भाग्य से अभी तक इस की कोई भी व्याख्या प्रकाश में नहीं आई है। केवल तन्त्रप्रदीप के कुछ अंशों को छोड़कर अन्य सब व्याख्याएं प्राय: कालकवलित हो चुकी है और अब उनका नाममात्र ही शेष रह गया है। मैत्रेयरक्षितप्रणीत तन्त्रप्रदीप का उल्लेख करते हुए पं० राजेन्द्रलाल मित्र स्वसम्पादित सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १४०, पुस्तक सं० २०७६ पर इस प्रकार लिखते हैं—

No. 2076 तन्त्रप्रदीप: । Snbstance, country-made paper 14×2, inches. Folia, 201. Lines, 5-6 on a page. Extent, 7,562 slokas.

---

१. दधद्रत्नानि के स्थान पर सम्भवत: न्यासकार ने ददन्नन्नानि पाठ समझ कर उस का ददन्+अन्नानि इस प्रकार छेद करते हुए अथवा प्रतीकपरक अपने ददन्निति रूप को ही सामने रखते हुए उस में ङमुट् का आगमन विधान किया होगा। परन्तु यह सब वैदिकज्ञानशून्यता का ही उपोद्बलक है।

२. निदर्शनार्थ यथा—

(क) 'न तु संशयवति पुरुष इति न्यास: । अत: सप्तम्यर्थे बहुव्रीहि: ।'
'संशयकर्त्तरि पुरुष एवेति तद्रत्नमति: ।' (अमरटीकासर्वस्व भाग ४, पृ० ३)

(ख) 'अत्र न्यासोद्योते—अन्तरशब्दो धातो: परिग्रहे वृत्तिं करोतीति ।'
(मा० धातु० वृत्ति पृष्ठ ३१४)

(ग) 'उक्तं च न्यासोद्योते—प्रतीघाते हन्तिरवधिकरणाङ्गे निवृत्तौ वर्त्तत इति ।'
(मा० धातु० वृत्ति पृष्ठ ३१४)

(घ) 'उक्तं च न्यासोद्योते—न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य अपितु गम्यमानापि ।' (किरातार्जुनीयमल्लिनाथटीका २.१७)

(ङ) रघुनाथमन्दिरसंग्रहसूची पृष्ठ ४१, नरपतिमहामिश्रकृत 'न्यासप्रकाश' के आदि में—प्रकाश: क्रियते न्यासे महामिश्रेण धीमता ।

(च) 'तच्चिन्त्यमिति न्यासटीकायां प्रपञ्चितमस्माभि:' ।
(कातन्त्रप्रदीप, भूमिका, पृष्ठ१६)

Character, Bengali. Date, Sk. 1600. Place of deposit, Variya, Post Sinda, Zila Rajasahi, Pandit, Madhusudana Siromani. Appearance, old. Prose. Correct.

Tantra-pradipa. A gloss on the work noticed under the last preceding No. By Maitreya Rakshita, Mahamahopadhyaya.

Beginning. गाङ । कुटादीत्यत्रोच्चारनार्था वर्णान्तिर्भावेण विभक्तिरिति ङकारस्यापदान्तत्वान्नजम +। आदेश एव ङकारस्य प्राप्नोति । इत्यादि ।

End. इति विवृतेन दीर्घप्लुतयोरग्रहणं । शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिवचनं तस्यासिद्धत्वाद् दीर्घादिकार्यं यथा स्यादिति ।।

Colophon. इति महामहोपाध्यायश्रीमैत्रेयरक्षितकृतौ तन्त्रप्रदीपेऽष्टमोऽध्यायः । शुभमस्तु ।

शाकेऽन्तरीक्षे नभसि शिवापत्यानने विधौ ।
सीतारामेण लिखितः स्वस्य पाठाय यत्नतः ।।

विषयः । जिनेन्द्रबुद्धिकृतकाशिका विवरणपञ्जिकायाः प्रथमाऽध्यायद्वितीयपादादारभ्य अष्टमाध्यायपर्यन्तं व्याख्यानं ।"

धातुप्रदीप के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य सन् १९१९ में प्रकाशित धातुप्रदीप की भूमिका (पृष्ठ १) पर अपनी एक टिप्पणी में लिखते हैं—

"We have not yet obtained a complete MS. of the Tantra-Pradeepa. Out of its 32 padas or sections, only 16 are now with us."

इस शोधप्रबन्ध के लेखक ने भी इसे प्राप्त करने का कुछ प्रयास किया, परन्तु बांगलादेश की राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल न होने के कारण सफलता नहीं मिली । बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जो ग्रन्थ आज से ५०-६० वर्ष पूर्व तक विद्यमान था वह अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका है ।

तन्त्रप्रदीपनामक न्यासव्याख्या के कर्त्ता मैत्रेयरक्षित व्याकरणशास्त्र के असाधारण पण्डित थे ।[१] वे न केवल पाणिनीयव्याकरण अपितु जैनेन्द्र, कालाप, चान्द्र आदि व्याकरणों में भी निष्णात थे । वे अपने दूसरे प्रकाशित ग्रन्थ धातुप्रदीप के अन्त में स्वयं अपना परिचय देते हुए लिखते हैं—

वृत्ति न्यासं समुद्दिश्य कृतवान् ग्रन्थविस्तरम् ।
नाम्ना तन्त्रप्रदीपं यो विवृतास्तेन धातवः ।।

---

१. अत एव सीरदेव अपनी परिभाषावृत्ति में लिखते हैं—

'तस्माद् बोद्धव्योऽयं रक्षितः, बोद्धव्याश्च विस्तरा एव रक्षितग्रन्था विद्यन्ते' ।
(सीरदेवीया परिभाषावृत्ति चौखम्बा सं० पृ० ९५)

[अत्र पुण्यपत्तनप्रकाशितपरिभाषासंग्रहे बोद्धव्याश्च तिस्र एव रक्षितग्रन्था विद्यन्ते इति टिप्पणीस्थः पाठ-भेदः सम्प्राप्यते, स तु किञ्चित्परिभ्रष्ट इति मन्ये ।]

आकृष्य भाष्यजलधेरथ धातु-नाम-
पारायण-क्षपण-पाणिनिशास्त्रवेदी ।
कालाप-चान्द्रमत-तत्त्व-विभागदक्षो
धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय ॥

मैत्रेयरक्षित का तन्त्रप्रदीप यदि किसी तरह प्रकाश में आ जाये तो सम्भवतः संस्कृतव्याकरणशास्त्र के इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझ जायें।

तन्त्रप्रदीप के उद्धरण शरणदेव (दुर्घटवृत्ति में), सीरदेव (परिभाषावृत्ति में), सर्वानन्द (अमरटीकासर्वस्व में), सायण (माधवीय-धातुवृत्ति में), मल्लिनाथ, श्रीपतिदत्त (कातन्त्रपरिशिष्ट में), भट्टोजिदीक्षित आदि वैयाकरणों की कृतियों में यत्र-तत्र बहुत पाये जाते हैं।

धातुप्रदीप में मैत्रेयरक्षित ने इन ग्रन्थों व ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है— भाष्य, धातुपारायण, अमरसिंह, महाभारत, चाणक्यश्लोक, काशिकावृत्ति, वामन, जयादित्य, न्यास, न्यासकार, कातन्त्र, पञ्चतन्त्र, (उपाध्याय) सर्वस्व, रूपावतार, कालिदास, भारवि, भट्टि, माघ, वराहनक्षत्रपुरुषकार।

श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती के अनुसार तन्त्रप्रदीप (जितना उनके पास था उतने मात्र) में निम्नस्थ ग्रन्थों व ग्रन्थकारों के उद्धरण पाये जाते हैं—भाष्य, चूल्लिभट्टिवृत्ति (८.३.६७), चन्द्रगोमी, भागवृत्तिकार, भर्तृहरि, वामन, जयादित्य, केशव, क्षपणक, अनुपदकार, रत्नमति, उदयकर (७.४.१), जिनेन्द्रबुद्धि, (धर्म) कीर्त्ति, उपाध्याय, कुलानिलस्वामी (७.४.१३), धातुपारायण, भाष्यटीका (महाभाष्यप्रदीप, ७.२.४६), क्षपणकव्याकरणमहान्यास (४.१.१५५), कातन्त्र, रूपावतार (३.१.२२), कालिदास भारवि, भट्टि, व्योषकाव्य (सम्भवतः घोषकाव्य अर्थात् अश्वघोष का बुद्धिचरित), कंसवध (४.१.७३), वेणीसंहार (४.१.१५१), मालतीमाधव (७.२.४४), कीचकवध, माघ[1]।

तन्त्रप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित का आनुमानिक काल उद्ध्रियमाण और उद्धर्त्ता ग्रन्थकारों की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है। तन्त्रप्रदीप (१.२.१) में मैत्रेयरक्षित ने कैयट (लगभग १०५० ई०) को नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है[2] और इधर सर्वानन्द (११५८ ई०) ने अमरटीकासर्वस्व में तथा शरणदेव (११७२ ई०) ने दुर्घटवृत्ति में मैत्रेयरक्षित को उद्धृत किया है।[3] इस से मैत्रेयरक्षित का काल सन्

---

१. देखें—धातुप्रदीप का Introduction (पृष्ठ १)।

२. 'कय्यटस्तु कार्त्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यकारवचनादेवंविधविषये पञ्चमी भवतीति मन्यते।' (भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९३ की टिप्पणी में उद्धृत)

३. शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में लगभग ६६ बार मैत्रेयरक्षित को उद्धृत किया है। (देखें—दुर्घटवृत्ति पृ० १, २, ७, १२, १५, १९, २०, २३, २४, २५, २८, २९, ३० आदि)।

११०० ई० के आसपास ही प्रतीत होता है। यही काल श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती आदियों ने भी मैत्रेयरक्षित का माना है।

मैत्रेयरक्षित ने अपने वंश आदि का परिचय कहीं नहीं दिया अतः इन का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है। अनेक विद्वान् इन्हें वंगनिवासी[1] बौद्ध मानते हैं। परन्तु इनके बौद्ध होने का कोई सुदृढ़तर प्रमाण अभी तक सामने नहीं आया है।

तन्त्रप्रदीप की भी अनेक व्याख्याओं का उल्लेख कई जगह मिलता है परन्तु अभी तक इस की कोई व्याख्या प्रकाश में नहीं आई है।[2]

[१.१३] काशिका की व्याख्या 'पदमञ्जरी'—

काशिका की दूसरी सुप्रसिद्ध प्रकाशित व्याख्या पदमञ्जरी है। इस के लेखक हैं हरदत्तमिश्र। यह व्याख्या न्यास की अपेक्षा अत्यधिक जटिल, प्रौढ और पाण्डित्यपूर्ण है। इस में व्याकरण के भाष्यानुगत शास्त्रीयपक्ष का पदे पदे सुन्दर अनुमोदन किया

सर्वानन्द ने भी मैत्रेयरक्षित को कई बार उद्धृत किया है। (देखें—अमरटीकासर्वस्व भाग (१) पृष्ठ ५५, ८४, १५३, १५७, १८१, २०६; भाग (२) पृष्ठ ३८, ४८, ५८, ६७, ११३, २१५, २१७; भाग (३) पृष्ठ १२५, १६५, १६८, २२७, २३०; भाग (४) पृष्ठ २४ आदि।

यहां यह ध्यातव्य है कि सर्वानन्द और शरणदेव का काल निश्चित है, सौभाग्य से दोनों ने अपने अपने ग्रन्थ में उपर्युक्त काल स्वमुख से कहा है—(देखें—अमरटीकासर्वस्व प्रथम भाग पृष्ठ ६१, दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १)।

१. मैत्रेयरक्षित धातुप्रदीप में वकारादि धातुओं के लिट् में **न शस-दद-वादिगुणानाम्** (६.४.१२६) इस पाणिनीयसूत्र के अनुसार एत्त्वाभ्यासलोप के निषिद्ध होने पर भी प्रायः चान्द्रप्रमाण से उस के निषेध का प्रतिपादन करते हैं। तद्यथा—

(क) 'वज व्रज गतौ। २४९।२५०। वजति। ववाज। **एत्त्वाभ्यासलोपप्रतिषेधश्चास्य चान्द्रैरुदाहृतः**। ववजतुः। ववजुः॥' (धातुप्रदीप पृष्ठ २५)

(ख) 'ष्टन वन शब्दे।—ववान। ववनतुः। ववनुः। **अस्यैत्त्वाभ्यासलोपनिषेधश्चान्द्रैरुदाहृतः**।' (धातुप्रदीप पृष्ठ ३७)

(ग) 'वनु याचने।—ववान, ववनतुः ववनुरिति **चान्द्रा** उदाहरन्ति। दन्त्योष्ठ्यादिरयम्।' (धातुप्रदीप पृष्ठ १२३)

वंगप्रदेश में वकार और बकार की उच्चारणजन्य समता के कारण प्रायः भ्रमनिवारणार्थ ही उन्हें ऐसा लिखना पड़ा होगा। अतः इस से उन के वंगप्रान्तीय होने की ही अधिक सम्भावना प्रतीत होती है।

२. देखें—पं० राजेन्द्रलालमिश्र द्वारा सम्पादित सूची खण्ड ६, पृष्ठ १५०, ग्रन्थाङ्क २०८३ पर नन्दनमिश्रकृत **तन्त्रप्रदीपोद्योतन** तथा 'भारतकौमुदी' भाग २ में प्रो० कालीचरणशास्त्री हुबली के मैत्रेयरक्षितसम्बन्धी लेख में सनातनतर्काचार्यकृत **तन्त्रप्रदीपप्रभा** और अज्ञातलेखक **तन्त्रप्रदीपालोक** का उल्लेख।



गया है। हरदत्तमिश्र केवल व्याकरणशास्त्र के ही पण्डित न थे अपितु वैदिक कर्मकाण्ड के भी महान् ज्ञाता थे। इन्होंने श्रौत्र गृह्य एवं धर्म आदि अनेक सूत्रों की भी व्याख्याएं लिखी हैं। अत एव न्यास की अपेक्षा वैदिकप्रकरण पदमञ्जरी में अधिक स्पष्टतया व्यक्त और व्याख्यात हुआ है। हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

> तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
> ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यमाचार्यमपराजितम् ॥१॥
> यश्चिराय हरदत्तसंज्ञया विश्रुतो दशसु दिक्षु दक्षिणः।
> उज्जहार पदमञ्जरीमसौ शब्द-शास्त्र-सहकार-पादपात् ॥२॥

इस से हरदत्त के पिता का नाम पद्मकुमार (पाठान्तर—रुद्रकुमार), माता का नाम श्री, ज्येष्ठ भ्राता का नाम अग्निकुमार तथा गुरु का नाम आचार्य अपराजित विदित होता है। हरदत्त ने पदमञ्जरी के प्रथमश्लोक में शिव को नमस्कार किया है—**तस्मै शिवाय परमाय दशाव्ययाय, साम्बाय सादरमयं विहितः प्रणामः।** इस से उन का शैव होना सुनिश्चित होता है।

हरदत्तमिश्र दक्षिणप्रदेश के निवासी थे—ऐसा यु० मीमांसक ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है (द्रष्टव्य—संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथमभाग पृष्ठ ५१५-५१६)।

पदमञ्जरी के अतिरिक्त हरदत्तमिश्र ने व्याकरणशास्त्र पर **महापदमञ्जरी** और **परिभाषा-प्रकरण** नामक दो अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे जिनका उल्लेख उन्होंने स्वयं पदमञ्जरी में किया है—

'भाष्यवार्तिकविरोधस्तु महापदमञ्जर्यामस्माभिः प्रपञ्चितः।'

(पदमञ्जरी १.१.२०)

'एतच्चास्माभिः परिभाषाप्रकरणाख्ये ग्रन्थ उपपादितम्।'

(पदमञ्जरी ६.१.३६)

परन्तु इस समय वे दोनों ग्रन्थ अप्राप्य हैं। इन के उद्धरण भी कहीं देखने में नहीं आये।

हरदत्तमिश्र अत्यधिक विकत्थनशील हैं। ग्रन्थारम्भ में उन की गर्वोक्ति निम्नस्थ दो श्लोकों से सुव्यक्त होती है—

> अविचारितरमणीयं कामं व्याख्याशतं भवतु वृत्तेः।
> हृदयंगमा भविष्यति गुणगृह्याणामियं व्याख्या ॥
> एवं प्रकटितोऽस्माभिर्भाष्ये परिचयः परः।
> तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः ॥

(पदमञ्जरी पृष्ठ १)

इतने मात्र से भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। इससे भी आगे बढ़ते हुए वे आत्मश्लाघा की पराकाष्ठा तक पहुंचते हैं—

प्रक्रिया-तर्क-गहन-प्रविष्टो हृष्ट-मानसः ।
हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते ॥ (पदमञ्जरी पृष्ठ ८१)

परन्तु इन के भाष्ये परिचयः परः की जो छीछालेदर शब्दकौस्तुभ-प्रौढमनोरमा-शब्दरत्न और शेखर आदियों में की गई है वह तत्तद्ग्रन्थाभ्यासी विद्वज्जनों को अविदित नहीं है।

[१.१४] हरदत्तमिश्र का काल—

हरदत्तमिश्र की स्थिति न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि और महाभाष्यप्रदीपकार कैयट उपाध्याय के अनन्तर ही सम्भव हो सकती है। मिश्र ने स्थान स्थान पर इन दोनों का अर्थतः और शब्दतः उभयविध अनुसरण (बल्कि अनुकरण) किया है। निदर्शनार्थ न्यास और पदमञ्जरी के तत्तत्स्थानीय तुलनात्मक पाठ देखिये—

न्यास	पदमञ्जरी
(क) 'समस्तते विकल्पेनेत्यादि । अस्यायमभिप्रायः—सातत्यशब्दं पूर्वाचार्यलक्षणप्रसिद्धमुच्चारयता पूर्वाचार्यलक्षणमप्याश्रितम् । अतस्तेन समो मकारस्यात्र लोपो विधीयते । एवं च कृत्वाऽवश्यम्प्रभृतीनामपि कृत्यादिषु लोपः सिद्धो भवति । अतस्तदेव पूर्वाचार्यलक्षणं दर्शयति—लुम्पेदित्यादि । अन्त्यम् इति शेषः । अवश्यंशब्दस्य कृत्प्रत्ययान्ते परतो लुम्पेत्, अन्त्यलोपमस्य कुर्यादित्यर्थः ।' (न्यास ६. १. १४४)	(क) 'समस्तते विकल्पेनेति । अयमभिप्रायः—सातत्यशब्दं पूर्वाचार्यलक्षणप्रसिद्धमुच्चारयता पूर्वाचार्यलक्षणमाश्रितम् । अतस्तेन समो मकारस्य लोपो विधीयत इति । एवं च कृत्वाऽवश्यम्प्रभृतीनामपि कृत्यादिषु मकारलोपः सिद्धो भवति । तदेव पूर्वाचार्यलक्षणं पठन्ति—लुम्पेदित्यादि । अन्त्यम् इति शेषः । कृत्प्रत्ययान्ते परतोऽवश्यंशब्दस्यान्त्यं लुम्पेत्, लोपमस्य कुर्यादित्यर्थः ।' (पदमञ्जरी ६.१.१४४)
(ख) 'येषां सम्प्रसारणमुक्तं तेषां यावन्तो यणः सम्भवन्ति तेषां सर्वेषां सम्प्रसारणं प्राप्तमिति प्रतिषेधोऽयमारभ्यते। ननु चाऽलोऽन्त्यपरिभाषयाऽन्त्यस्यैव भविष्यति, नाऽनन्त्यस्य ? नैतदस्ति ? न ह्यनया परिभाषया शक्यमिहोपस्थातुम् । वचिस्वपियजादीनामन्त्यस्य यणोऽसम्भवात् । एवं तर्हि अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य इत्यन्तसदेशस्य कार्यं भविष्यति—अन्त्यसदेशो यो यण् तस्यैव कार्यं भविष्यति, नेतरस्य ? नैषास्ति परिभाषा, प्रयोजनाऽभावात् ।' (न्यास ६.१.३७)	(ख) 'येषां सम्प्रसारणं विहितं तेषां यावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां सम्प्रसारणे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयमुच्यते । ननु चालोऽन्त्यपरिभाषयाऽन्त्यस्यैव भविष्यति ? नानया परिभाषया शक्यमिहोपस्थातुम् । वच्यादीनामन्त्यस्य यणोऽसम्भवात् । अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य इत्यनया परिभाषया तर्हि अन्त्यसदेशस्यैव भविष्यति, नेतरस्य ? नैषास्ति परिभाषा, प्रयोजनाऽभावात् ।' (पदमञ्जरी ६.१.३७)

न्यास

(ग) 'उपदेश इति वर्तत इति। अनुदात्तस्य विशेषणार्थम्। तेन त्रप्तेत्यत्र यद्यपि तृनि विहिते नित्स्वरेण धातोरुदात्तत्वं तथाऽप्युपदेशावस्थायामनुदात्त इत्यमागमः सिद्धो भवति, इह च वर्ढेति यद्यपि तृचि कृते धातुरनुदात्तो भवति, तथाप्युपदेशावस्थायामनुदात्त इत्यमागमो न प्रवर्त्तते। किमर्थं पुनरनुदात्तस्येत्युच्यते, अनिट इत्येव नोच्येत, एवं हि लघु सूत्रं भवति ? इत्याह—तृप प्रीणन इत्यादि।'

(न्यास ६.१.५९)

पदमञ्जरी

(ग) 'उपदेश इति वर्त्तत इति। अनुदात्तस्य विशेषणार्थम्। तेन द्रप्तेत्यत्र तृनि विहिते यद्यपि नित्स्वरेण धातोरुदात्तत्वं भवति तथापि उपदेशेऽनुदात्त इत्यम्भवति। वर्ढेत्यत्र तृचि कृते यद्यपि शेषनिघातेन धातुरनुदात्तो भवति, तथाप्युपदेशे नायमनुदात्त इत्यम् न भवति। किमर्थम्पुनरनुदात्तस्येत्युच्यते, नाऽनिट इत्येवोच्येत, एवं हि सति लघु सूत्रं भवति ? तत्राह—तृप प्रीणन इति।'

(पदमञ्जरी ६.१.५९)

इस प्रकार के निदर्शन दो चार नहीं अपितु सैंकड़ों की संख्या में पदमञ्जरी में विद्यमान हैं। अब देखिये हरदत्तमिश्र का कैयट की शब्दावली को अनुसृत करना—

प्रदीप

(क) 'लोपेन तावदसिद्धत्वमवश्यं बाध्यम्, तत्र लीढमित्यादावेकमेव पूर्वत्रासिद्धत्वम् अतस्तदेव बाध्यते, श्वलिड् ढौकत इत्यत्र तु ढलोपस्य जश्त्वापेक्षया बहिरङ्गत्वात् परत्वाच्च द्विविधमसिद्धत्वम् इति न तद् बाध्यते। ततो जश्त्वे कृते न श्रुतिकृतमानन्तर्यं नापि शास्त्रकृतम्, जश्त्वस्यासिद्धत्वाभावादिति लोपस्यायमविषयः।'

(महाभाष्यप्रदीप ८.३.१३)

(ख) 'चतुष्पाज्जातिरिति। केचिज्जातिग्रहणमनुवर्त्यमित्याहुः। अन्ये त्वाहुः—शब्दान्तरसन्निधिनिरपेक्षा ये चतुष्पाज्जातिवचनास्त एवान्तरङ्गत्वाद् गृह्यन्ते न तु कालाक्ष्यादयो यौगिकाः शब्दान्तरसन्निधानाच्चतुष्पाज्जातिविषयाः।'

(महाभाष्यप्रदीप २.१.७०)

(ग) 'ननु प्रतियोगमुपस्थानेऽपि वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्रकृत्यादीनां प्रत्ययसंज्ञा न भविष्यति। तथाहि—हरतेर्दृतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोः पशौ कर्तरीन् प्रत्ययो

पदमञ्जरी

(क) 'लोपेन तावदसिद्धत्वमवश्यं बाध्यम्, तत्र लीढमित्यादावेकमेव पूर्वत्रासिद्धत्वम् अतस्तदेव बाध्यते, श्वलिड् ढौकत इत्यत्र तु ढलोपस्य जश्त्वापेक्षया बहिरङ्गत्वात् परत्वाच्च द्विविधमसिद्धत्वमिति न तद् बाध्यते। ततो जश्त्वे कृते न श्रुतिकृतमानन्तर्यं नापि शास्त्रकृतम्, जश्त्वस्यासिद्धत्वाभावादिति ढलोपस्यायमविषयः।'

(पदमञ्जरी ८.३.१३)

(ख) 'चतुष्पाज्जातिरिति। केचिदाहुः—पोटादिसूत्राज्जातिग्रहणमनुवर्त्यमिति। अन्ये त्वाहुः—ये शब्दान्तरनिरपेक्षाश्चतुष्पाज्जातिवचनास्त एवान्तरङ्गत्वाद् गृह्यन्ते न तु कालाक्ष्यादयो यौगिकाः शब्दान्तरसन्निधानाच्चतुष्पाद्विषयाः।'

(पदमञ्जरी २.१.७०)

(ग) 'ननु च प्रतियोगमुपस्थानेऽपि वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्रकृत्यादीनां संज्ञा न भविष्यति। तथाहि—हरतेर्दृतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोः पशौ कर्त्तरीन् प्रत्ययो

प्रदीप

भवतीत्येकं वाक्यम्। ते च हरतिनाथ-पशवः प्रत्ययसंज्ञा इति द्वितीयं वाक्यम्। न चैकवाक्यतायां सम्भवन्त्यां वाक्यभेदो युक्तः। नैतदस्ति। सनादीनामपि वाक्य-भेदेनैव संज्ञा विधेया। न ह्यसतः संज्ञिनः संज्ञाविधानमुपपद्यते। तत्रैकेन वाक्येन सनादीनां विधिरपरेण तेषामेव संज्ञा-विधिः।'

(महाभाष्यप्रदीप ३.१.१)

(घ) 'तत्र यदि सर्वे संज्ञिनः स्व-रूपेण निर्दिश्येरन् ततो गौरवं स्यात्। अथ सप्प्रत्यय इति सनः सकारादारभ्य कपः पकारेण प्रत्याहाराश्रयणेन संज्ञा विधीयते तदाऽनेकस्य पकारस्य सम्भवात् संदेहः स्यात्।'

(महाभाष्यप्रदीप ३.१.१)

(ङ) 'तत्र शैषिकाच्छैषिकः सरूपो न भवति, शालायां भवः शालीयो घटः, तत्र भवमुदकमिति पुनश्छो न भवति। विरूपस्तु भवति—अहिच्छत्रे भव आहि-च्छत्रः, तत्र भव आहिच्छत्रीयः। तथा दण्डोऽस्यास्तीति दण्डिकः, सोऽस्यास्तीति पुनष्ठन्न भवति। विरूपस्तु भवति—दण्डिमती सेनेति। सन्नन्तान्न सनिष्यत इति। सरूप इत्यपेक्षते। सारूप्येण चात्र सादृश्यं लक्ष्यते, तच्चार्थद्वारकमितीच्छा-सन्नन्तादित्यर्थो लभ्यते।'

(महाभाष्यप्रदीप ३.१.७)

पदमञ्जरी

भवतीत्येकं वाक्यम्। ते च हरत्यादयः प्रत्ययसंज्ञका इति द्वितीयम्। सम्भवत्येक-वाक्यत्वे वाक्यभेदस्तु नेष्यते? नैतदस्ति सनादीनामप्यसतां संज्ञाऽनुपपत्तेर्वाक्यभेदे-नैव संज्ञा विधेया। ततश्च सनादीनामेकेन वाक्येन विधिरपरेण संज्ञाविधिः।'

(पदमञ्जरी ३.१.१)

(घ) 'इह यदि सर्वानेव संज्ञिनः स्व-रूपेण निर्दिश्य संज्ञा विधीयते—सन्प्रत्ययः, क्यच्प्रत्ययः, क्यङ्प्रत्यय इति ततो गौरवं स्यात्। अथ सप्प्रत्यय इति सनः सकारा-दारभ्य कपः पकारेण प्रत्याहाराश्रयेणात्र वा प्रदेशान्तरे वा संज्ञा विधीयेत तदाऽने-कस्य पकारस्य सम्भवात् सन्देहः स्यात्।'

(पदमञ्जरी ३.१.१)

(ङ) 'शैषिकप्रत्ययान्ताच्छैषिकः सरूप-प्रत्ययो नेष्टः। तद्यथा—शालायां भवो घटः शालीयः, तत्र भवमुदकम्, पुनश्छो न भवति। विरूपस्तु भवत्येव—अहिच्छत्रे भवम् आहिच्छत्रम्, तत्र भवमाहिच्छत्रीयम्, अणन्ताच्छो भवति। तथा दण्डोऽस्या-स्तीति दण्डिकः, अत इनिठनौ। सोऽस्या-स्तीति पुनष्ठन् न भवति। विरूपस्तु भवत्येव—दण्डिमती सेनेति।

सन्नन्तान्न सनिष्यत इति। सरूप-इत्येव। सारूप्येण चात्र सादृश्यं लक्ष्यते, तच्चार्थद्वारकमितीच्छासन्नन्तादिति पूर्वोक्त एवार्थो भवति।' (पदमञ्जरी ३.१.७)

इस प्रकार के अन्य भी शतशः स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यदि यह कहा जाये कि सम्भव है न्यासकार और प्रदीपकार ही हरदत्तमिश्र का अनुसरण कर रहे हों—तो यह विचार सर्वथा निर्मूल और अग्राह्य होगा, क्योंकि इस के विरुद्ध निम्न-प्रकारेण नानाविध आपत्तियां खड़ी की जा सकती हैं—

(१) हरदत्तमिश्र न केवल न्यासकार की शब्दावली का प्रयोग ही करते हैं अपितु अनेक स्थानों पर उसमें आवश्यक परिवर्त्तन, परिवर्धन, संक्षिप्तीकरण, संशोधन और नूतन भावों का समावेशन आदि भी साथ साथ करते जाते हैं।[1] यह सब तभी सम्भव हो सकता है जबकि हरदत्तमिश्र ही न्यासकार का अनुकरण करते हों अन्यथा यह उपपन्न हो नहीं सकता।

(२) हरदत्तमिश्र न्यास के नामनिर्देशपूर्वक और क्वचित् विना नामनिर्देश के ही **'अपर आह'**, **'अन्य आहुः'** आदि शब्दों के द्वारा न्यासकार के मत का निर्देश करते हैं, परन्तु न्यासकार ने कहीं इस तरह हरदत्त के मत का निर्देश नहीं किया। इस से हरदत्त की अपेक्षा न्यासकार का पौर्वकालिक होना सुतरां सिद्ध हो जाता है। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण यथा—

(क) **'न्यासकारस्तु** द्वौ विस्तौ परिमाणमस्येति विगृह्णन् विस्तं परिमाणं मन्यते।' (पदमञ्जरी ४.१.२२)

हरदत्तोक्त न्यासकार का यह मत न्यास ५.१.३१ में स्पष्ट पाया जाता है—

'द्वौ विस्तौ परिमाणमस्येति ठञ्, तस्य लुक्।' (न्यास ५.१.३१)

(ख) **'अपर आह**—मदोऽनुपसर्गे इति सूत्रप्रणयनमस्य विधेरनित्यत्वज्ञापनार्थम्, तेन माद इति सिद्धम्भवतीति।' (पदमञ्जरी ३.३.६७)

पदमञ्जर्युक्त यह मत न्यासकार का है और यह न्यास के इसी स्थल पर प्राप्त होता है—

'अत्रापि मदोऽनुपसर्गे इति सूत्रप्रणयनमस्य विधेरनित्यत्वज्ञापनार्थम्। तेन माद इति सिद्धम्भवति।' (न्यास ३.३.६७)

(ग) **'अन्ये तु**—संज्ञायामित्येव क्यपो विधानात् रूढ्यनुगमार्थत्वाच्च संज्ञाग्रहणस्य वीभावाभावमाहुः। नहि वीभावे सति संज्ञा गम्यते।' (पदमञ्जरी ३.३.९९)

मिश्रप्रतिपादित यह मत न्यास में इसी स्थल पर वर्णित है। तद्यथा—

'समज्येति। 'अजेर्व्यघञपोः' इति वीभावो न भवति, संज्ञायामिति वचनात्। नहि वीभावे कृते संज्ञा गम्यते। नियतवर्णानुपूर्वीका हि संज्ञा भवति।' (न्यास ३.३.९९)

(घ) **'अन्ये तु**—संज्ञायामिति वचनाद् यथा समज्येत्यत्र वीभावो न भवति एवं मनेरनुनासिकलोपस्तत्र कृते तुगपीत्याहुः। नाऽत्राप्तवचनमस्ति।' (पदमञ्जरी ३.३.९९)

इस में उद्धृत मत न्यास में इसी स्थल पर पाया जाता है—

'मत्येति। मन्यन्ते तयेति मत्या। पूर्ववदनुनासिकलोपः, ह्रस्वस्य तुक्।' (न्यास ३.३.९९)

---

१. इनके उदाहरण इसी अध्याय में आगे हरदत्त का वैशिष्ट्य नामक शीर्षक (१.१५) के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं।

(ङ) "तस्मै हितम् । 'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या' इति चतुर्थी । **अपर आह**—अयमेव निर्देशो ज्ञापको हितयोगे चतुर्थी भवतीत्यस्येति, तच्चिन्त्यम्; 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः' इति आशिषि विषयविशेषे हितयोगे चतुर्थ्याः सम्भवात् ।" (पदमञ्जरी ५.१.५)

यहां **अपर आह** द्वारा जिस मत का हरदत्त ने उल्लेख कर खण्डन किया है वह मत न्यासकार का ही है । जैसाकि इसी सूत्र पर न्यासकार ने लिखा है—

'तस्मै हितम् । एतदेव ज्ञापकम्—हितयोगे चतुर्थ्यस्तीति । तेन यदुक्तम्—'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या' इत्येतदुपपन्नं भवति ।' (न्यास ५.१.५)

(३) हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में दर्जनों स्थानों पर माघ को उद्धृत किया है ।[1] परन्तु न्यास में कहीं माघ का निर्देशमात्र भी नहीं पाया जाता । यह सब हरदत्त की अपेक्षा न्यासकार की पौर्वकालिकता का ही द्योतक है ।

(४) पदमञ्जरी में हरदत्तमिश्र ने एक स्थान पर कैयट का मत उद्धृत करते हुए उन्हें **भाष्यं व्याचक्षाणाः** कहकर भी पुकारा है । तथाहि—

"अन्ये तु 'हे त्रपु' इति प्राप्ते 'हे त्रपो' इति भवतीति **भाष्यं व्याचक्षाणा** नित्यमेव गुणमिच्छन्ति ।" (पदमञ्जरी ७.१.७२)

भाष्यं व्याचक्षाणाः वाला उपर्युक्त मत आचार्य कैयट का ही है । तुलना करें—'हे त्रपु हे त्रपो इति । हे त्रपु इति प्राप्ते हे त्रपो इति भवतीत्यर्थः ।'

(महाभाष्यप्रदीप ७.१.७२)

एक अन्य स्थान पर **अपर आह** का प्रयोग करते हुए कैयटोक्त मत का निर्देश किया गया है—

'**अपर आह**—यश्छन्दोऽधीते तदर्थं चानुतिष्ठति तत्र श्रोत्रियशब्दः, अध्येतृमात्रे तु छान्दसशब्द इत्यर्थभेदान्नास्ति बाध्यबाधकत्वमिति ।' (पदमञ्जरी ५.२.८४)

यह मत कैयटोक्तप्रदीप में इसी स्थान पर निर्दिष्ट है । तुलना करें—'अथवा विशेषतश्छन्दोऽध्यायिनि तदर्थानुष्ठायिनि श्रोत्रियशब्दस्य निपातनाद् अध्येतृमात्रे छान्दसशब्दस्य नास्ति बाधः ।' (महाभाष्यप्रदीप ५.२.८४)

इसी प्रकार निम्नस्थान पर भी हरदत्तमिश्र ने कैयट के मत को **अपर आह** के द्वारा निर्दिष्ट किया है—

'**अपर आह**—ठञ्सन्नियोगेन दमशब्द उत्तरपदे ऊर्ध्वशब्दस्यैव मान्तत्वं निपात्यत इति ।' (पदमञ्जरी ४.३.६०)

---

१. यथा (३.२.१६२) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में—

'माघस्तु शुद्धे कर्तरि प्रायुङ्क्त—**गुरुमत्सरच्छिदुरया दुरयाचितमङ्गना ।**

(माघ ६.८) इति ।'

इसी प्रकार (३.४.१) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में **साटोपमुर्वीमनिशं०** (माघ० ३.७४) पद्य उद्धृत किया गया है ।

यह मत कैयट के महाभाष्यप्रदीप में इसी स्थान पर यथावत् निर्दिष्ट है—

'ऊर्ध्वं दमाच्चेति । दमशब्द उत्तरपदे ठञ्सन्नियोगेनोर्ध्वशब्दस्य मकारान्तत्वं निपात्यते ।' (महाभाष्यप्रदीप ४.३.६०)

इत्थम् इन प्रमाणों के पारिप्रेक्ष्य में यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि हरदत्तमिश्र ही न्यासकार और कैयट दोनों के अधमर्ण हैं, न कि वे हरदत्तमिश्र के।

अब हरदत्त के काल की जिज्ञासा में भी यही उपर्युक्त गवेषणा काम देती है, क्योंकि इस से इतना तो सुनिश्चित हो जाता है कि हरदत्तमिश्र कैयट से परवर्त्ती हैं पूर्ववर्त्ती नहीं। इसे हम हरदत्तमिश्र की अनिर्णीत पूर्वसीमा भी कह सकते हैं।

इधर निर्णीतकालिक सर्वानन्द (सन् ११५८) ने अमरटीकासर्वस्व में मैत्रेयरक्षित के धातुप्रदीप और उसकी किसी टीका को उद्धृत किया है।[1] मैत्रेयरक्षित ने धातुप्रदीप में धर्मकीर्ति के रूपावतार का उल्लेख किया है।[2] रूपावतार में धर्मकीर्ति ने हरदत्त का स्मरण किया है।[3] हरदत्तमिश्र तो कैयट का स्पष्टतया निर्देश करते ही हैं यह स्पष्ट हो चुका है। यदि इन शृङ्खलाबद्ध लेखकों में प्रतिव्यक्ति न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का भी अन्तराल मान कर चलें तो इस तालिका के अनुसार ऊपर से नीचे आने में हरदत्तमिश्र की स्थिति सन् १०५८ अर्थात् ईस्वीय एकादशशती के मध्य में सिद्ध होती है।[4] परन्तु डा० याकोबी भविष्योत्तरपुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान सन् ८७८ में मानते हैं।[5] यदि यह काल अन्य प्रमाणों से भी पुष्ट हो जाये (जिसकी सम्भावना बहुत कम है) तो हरदत्त और कैयट दोनों का काल पर्याप्त पीछे लाना पड़ेगा। बस इस से अधिक अभी हरदत्तमिश्र के काल के विषय में और कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

१. देखें—अमरटीकासर्वस्व द्वितीय भाग (पृष्ठ ३८, ४८, ५८ आदि), तृतीयभाग (पृष्ठ ३०)।
२. देखें—धातुप्रदीप का श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती का लिखा Introduction (पृष्ठ १)।
३. देखें—रूपावतार द्वितीय भाग (पृष्ठ १५७)।
४. इन लेखकों की शृङ्खलाबद्ध तालिका इस प्रकार समझी जायेगी—

ग्रन्थ	लेखक	काल
अमरटीकासर्वस्व	सर्वानन्द	११५८ ई० (निश्चित)
धातुप्रदीपटीका	अज्ञात	११३३ ई०
धातुप्रदीप	मैत्रेयरक्षित	११०८ ई०
रूपावतार	धर्मकीर्ति	१०८३ ई०
पदमञ्जरी	हरदत्तमिश्र	१०५८ ई०
महाभाष्यप्रदीप	कैयट	१०३३ ई०

५. देखें—Systems of Sanskrit Grammar, by S.K. Belvalkar. Page. 33.

[१.१५] हरदत्त का वैशिष्ट्य—

हरदत्तमिश्र ने चाहे न्यासकार और कैयट के कितने ही वचनों से अपनी व्याख्या को विभूषित क्यों न किया हो पर उन का व्याकरणशास्त्र को अपना योगदान भी कुछ कम नहीं है। अत एव उत्तरवर्ती माधव, दीक्षित, ज्ञानेन्द्रसरस्वती आदि सुप्रसिद्ध वैयाकरण जितने हरदत्त से प्रभावित हुए हैं उतने न्यासकार से नहीं। कैयट की व्याख्या, भाष्य में व्याख्यात सूत्रों तक ही सीमित है। न्यासकार ने यद्यपि प्रायः सकल पाणिनीयसूत्रों पर व्याख्या प्रस्तुत की है पर वेदविषय में उन का शैथिल्य सुप्रसिद्ध ही है। अतः काशिका के वैदिकप्रकरण का हरदत्तमिश्रकृत व्याख्यान अपने आप में व्याकरणशास्त्र की एक वैशिष्ट्यपूर्ण निधि है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि स्वर-प्रकरण पर प्राचीन वृत्तियों में प्रयुक्त उदाहरणों को निर्दिष्ट करने वाला इस समय काशिका के अतिरिक्त अन्य कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सिद्धान्तकौमुदी में दीक्षित ने स्वरप्रकरण पर प्रायः ऋग्वेद के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका में श्रीनिवासयज्वा ने तैत्तिरीयसंहिता के उदाहरण दिये हैं। अतः काशिकोक्त स्वर-विषयक प्राचीन उदाहरणों की व्याख्या करने वाला इस समय केवल एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ जो पाणिनीयव्याकरण में विद्यमान है वह हरदत्तमिश्र-कृत पदमञ्जरी ही है।

इसके अतिरिक्त हरदत्तमिश्र जहां जहां न्यास और प्रदीप के वचनों का आश्रय लेते हैं वहां वहां कुछ न कुछ अपनी छाप भी अवश्य छोड़ते जाते हैं। कहीं उन की शब्दावली में उपयुक्त संशोधन व परिवर्तन, कहीं परिवर्धन, कहीं खण्डन और कहीं नानाविध अन्यान्य सूचनाओं को भी साथ-साथ जोड़ते चले जाते हैं। ऐसा उन्होंने कैयट के वचनों की अपेक्षा न्यासकार के वचनों के साथ बहुत अधिक किया है। सम्भवतः इस का कारण न्यासकार और पदमञ्जरीकार के काल में कैयट की अपेक्षा अन्तराल का अधिक होना ही है। कैयट और हरदत्त के काल में सम्भवतः कोई अधिक अन्तर नहीं है अतः पदमञ्जरीकार ने कैयट के वचनों को उद्धृत करते समय कुछ विशेष परिवर्तन व परिवर्धन नहीं किया। परन्तु न्यासकार को हुए बहुत काल के व्यतीत हो जाने के कारण उस की व्याख्या के फलस्वरूप पाणिनीय वैयाकरणों पर जो नानाविध प्रतिक्रियाएं हुईं उन का संग्रह पदमञ्जरी में करना आवश्यक था। अतः न्यासीय वचनों को उद्धृत करते समय पदमञ्जरीकार को अनेकविध नई नई बातें जोड़नी पड़ीं। इस से न्यासकार की व्याख्या के बाद पाणिनीय वैयाकरणों पर हुई उस की तत्तत्प्रतिक्रिया के इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अपने इस मन्तव्य के स्पष्टीकरणार्थ यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनमें हरदत्तमिश्र ने न्यासीय शब्दावली और भावों का आश्रय लेते हुए भी उन में कुछ न कुछ अपनी ओर से भी अवश्य योगदान किया है। तथाहि—

(१) गेहे कः (३.१.१४४) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'गेहे कर्तरीति । एतेन 'गेहे' इति प्रत्ययार्थस्य कर्तुरुपाधिरयम्, न तूपपदमिति दर्शयति । एतच्चाश्वपत्यादौ गृहपतिशब्दपाठाद् विज्ञायते ।' (न्यास ३.१.१४४)

अब देखिये इस स्थल की हरदत्तव्याख्या—

'गेह इति । प्रत्ययार्थस्य कर्तुर्विशेषणम्, नोपपदम् । गृहपतिना संयुक्ते० (४.४.९०) इति निर्देशादित्याह—गेहे कर्तरीति ।' (पदमञ्जरी ३.१.१४४)

यहां पर न्यासकार ने अश्वपत्यादिगणपठित 'गृहपति' शब्द को निदर्शनार्थ प्रस्तुत किया था परन्तु हरदत्तमिश्र ने गणपाठ के गृहपतिशब्द की अपेक्षा अष्टाध्यायी के सूत्र का निर्देश कर न्यासकार के हेतु में और भी सौष्ठव ला दिया है ।

(२) **विनञ्भ्यां ना-नाञौ नसह** (५.२.२७) सूत्र द्वारा पृथग्भाव में 'वि' और 'नञ्' अव्ययों से क्रमशः 'ना' और 'नाञ्' प्रत्ययों का विधान किया गया है । इस से 'विना' और 'नाना' शब्द सिद्ध होते हैं । 'नञ्' से 'नाञ्' प्रत्यय करने पर ञित्वाद् आदिवृद्धि हो कर 'नाना' प्रयोग सिद्ध किया जाता है । परन्तु नाञ् में ञित्करण का यह प्रयोजन न्यासकार की दृष्टि से किसी तरह ओझल हो गया अत एव ञित्करण का प्रयोजन बतलाते हुए वे लिखते हैं—

'ञकारस्त्वाद्युदात्तार्थः ।' (न्यास ५.२.२७)

परन्तु हरदत्त न्यासकार की इस त्रुटि को ताड़ कर पदमञ्जरी में इसी स्थल पर लिखते हैं—

'नाञो ञकारो वृद्ध्यर्थः स्वरार्थश्च ।' (पदमञ्जरी ५.२.२७)

हरदत्त का यह कथन यथार्थ है, न्यासकार का ञित्करण को वृद्ध्यर्थ न कहना एक त्रुटि थी जिसका परिमार्जन पदमञ्जरी में कर दिया गया है ।

(३) **वाचो ग्मिनिः** (५.२.१२४) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'अथ मिनिरेव कस्मान्नोच्यते ? जश्त्वे कृते वाग्मीति सिध्यति । ननु च यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा इत्यनुनासिकः प्राप्नोति ? नैष दोषः, व्यवस्थितविभाषा विज्ञास्यते । एवं तर्हि गकारमधिकं कुर्वन्नेतत् सूचयति ग्मिनिरयमिति ।' (न्यास ५.२.१२४)

अब देखिये इसी का आश्रय लेकर लिखी गई हरदत्तव्याख्या—

'अथ मिनिरेव कस्मान्नोच्यते, तत्रापि कुत्वजश्त्वयोर्वाग्मीति सिध्यत्येव । ननु चैवम् एको गकारः स्यात्, न च अनचि च इति द्विर्वचनम्, दीर्घादाचार्याणाम् इति प्रतिषेधात् । अथापि द्वयोरेकस्य वा श्रवणे विशेषो नास्तीत्युच्येत ? एवमपि यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यवचनम् इति नित्यमनुनासिकः प्राप्नोति यथा—वाङ्मयम्, त्वङ्मयम् इति ।' (पदमञ्जरी ५.२.१२४)

न्यासकार की अपेक्षा यहां हरदत्तमिश्र का व्याख्यान अत्यधिक स्पष्ट और युक्तिपुरःसर है ।

(४) **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (४.३.८१) सूत्र पर काशिकोक्त 'समादागतम्—समरूप्यम्' उदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'समादागतमिति । समाद् हेतोरागतमस्यार्थः । केन पुनरिह पञ्चमी ? अस्मादेव ज्ञापकात् । यदयं पञ्चम्यन्तात् प्रत्ययमाह ततो ज्ञायते—हेतौ पञ्चमी भवति ।' (न्यास ४.३.८१)

अब देखिये इस का आश्रय लेकर लिखी गई हरदत्तमिश्र की व्याख्या—

'समादागतमिति । समाद् हेतोरागतमित्यर्थः । तत्र हेतौ इति तृतीया प्राप्नोति । ज्ञापकात् सिद्धम्, यदयं पञ्चम्यन्ताद् हेतोः प्रत्ययमाह तज्ज्ञापयति—भवति हेतौ पञ्चमीति । नैतदस्ति ज्ञापकम्, यत्र विभाषा गुणे० (२.३.२५) इति पञ्चमी तदर्थमेतत् स्यात्—जाड्यादागत इति ? तस्माद् विभाषा गुणे० इत्यत्र विभाषेति योगविभागादगुणवचनादपि पञ्चमी भवति ।' (पदमञ्जरी ४.३.८१)

यहां पर हरदत्तमिश्र की व्याख्या निःसन्देह न्यासकार से कहीं अधिक प्रौढ और विचारपूर्ण है । मिश्र द्वारा उत्थापित शङ्का अतीव समुचित है। यह शङ्का और इस का इस तरह समुचित समाधान न्यासकार को नहीं सूझा । यद्यपि मिश्रोक्त यह समाधान उन की उपज्ञा नहीं अपितु यह भी न्यासकार की ही सूझ है (देखें—न्यास के ऋणी उत्तरवर्त्ती वैयाकरण नं० १०) तथापि यहां न्यासकार चूक गये प्रतीत होते हैं ।

(५) प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः (५.४.१२९) सूत्र में स्थानी का निर्देश करते समय 'जानुनोः' इस प्रकार द्विवचन का प्रयोग किया गया है । चान्द्र (४.४.११९), जैनेन्द्र (४.२.१३०) आदि व्याकरणों में इस स्थान पर 'जानुनः' इस प्रकार एकवचन का प्रयोग उपलब्ध होता है । पाणिनिसूत्र में एकवचन को छोड़कर द्विवचन का प्रयोग क्यों किया गया है ? इस शङ्का का समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'कथम्पुनर्ज्ञायते— आदेशोऽयं न प्रत्यय इति ? यदि प्रत्ययः स्यात्, 'जानुनः' इत्येकवचनेनैव निर्देशं कुर्यात् । षष्ठीद्विवचनेनैव निर्देशः कृतः । तस्मादादेशोऽयं न प्रत्यय इति विज्ञायते । षष्ठीद्विवचनेन निर्देशोऽसन्देहार्थः कृतः—स्थानषष्ठीत्वमसन्दिग्धं यथा विज्ञायेतेति । जानुन इत्युच्यमाने संदेहः स्यात् किमियं षष्ठी उत पञ्चमीति ।' (न्यास ५.४.१२९)

न्यासकार की सूझ प्रशंसनीय है । परन्तु द्विवचननिर्देश यहां प्रकृत में कैसे संगत व उपपन्न हो सकेगा ? इस विषय पर न्यासकार ने कुछ प्रकाश नहीं डाला । अब देखिये इस का आश्रय लेकर लिखी गई हरदत्त की व्याख्या—

"प्रत्ययस्त्वयं न भवति, षष्ठीद्विवचननिर्देशात् । इह हि जानुशब्दस्यैकत्वेऽपि अर्थगतं द्वित्वम् उपपदनिबन्धनं वा द्वित्वमाश्रित्य जानुनोरिति निर्देश एतदर्थः क्रियते स्थानषष्ठीत्वमसन्दिग्धं यथा विज्ञायेतेति । छन्दसि तु स्वतन्त्रोऽपि ज्ञुशब्दो दृश्यते—उपज्ञुबाधो नभसा, नभसा वत्सज्ञुपशुकामस्य इति ।" (पदमञ्जरी ५.४.१२९)

हरदत्त ने अर्थगत या उपपदविषयक द्वित्व के कारण यहां द्विवचननिर्देश मान कर प्रकृत में संगति व उपपन्नता सुष्ठुतया प्रदर्शित की है। यही कारण है कि उत्तरवर्त्ती भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा नागेशभट्ट आदियों ने हरदत्त की युक्ति

का ही उल्लेख किया है (देखें—प्रौढमनोरमा द्वितीय भाग, पृष्ठ ८६; तत्त्वबोधिनी पृष्ठ ५०८ ; बृ० शब्देन्दु० पृष्ठ ११२७ आदि) ।

(६) कर्मणि घटोऽठच् (५.२.३५) सूत्र पर काशिकाकार इस प्रकार लिखते हैं—

'निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । कर्मशब्दात् सप्तमीसमर्थात् 'घटः' इत्येतस्मिन् अर्थेऽठच्प्रत्ययो भवति । घटत इति घटः । कर्मणि घटते कर्मठः पुरुषः ।'

काशिका के इस स्थल की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"कर्मणीत्यनेन कर्मणीति स्वरूपं दर्शयति । अथ पारिभाषिकस्य कर्मणो ग्रहणं कस्मान्न भवति ? असम्भवात् । असम्भवस्तु घटतेरकर्मकत्वात् । अठच्प्रत्ययेऽकारोच्चारणं ठस्येकादेशनिवृत्त्यर्थम् ।'

(न्यास ५.२.३५)

न्यासकार के इस व्याख्यान का आश्रय लेकर हरदत्तमिश्र इस प्रकार लिखते हैं—

'कर्मशब्दादिति । पारिभाषिकस्य कर्मणो ग्रहणं न भवति घटतेरकर्मकत्वात् । मासं घटत इत्यादौ कालादिकर्मणां सम्भव एवेति चेद् ? एवमपीह समर्थविभक्तेः सप्तम्या असंभवः । घटत इति घट इति । पचाद्यच् । कर्मठ इति । अकारोच्चारणात् ठकारमात्रस्याप्रत्ययत्वाद् अङ्गसंज्ञाम्प्रति निमित्तत्वाभावात् ठस्येकादेशो न भवति ।'

(पदमञ्जरी ५.२.३५)

हरदत्तमिश्र की इस व्याख्या को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न्यासकार से कदापि पूर्वभावी नहीं हो सकते । पदमञ्जरी लिखते समय अवश्य ही उनके सामने न्यास विद्यमान था । अत एव उन्होंने न्यासकार की त्रुटियों और अस्पष्टताओं को परिमार्जित करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है । निदर्शनार्थं न्यासकार ने यहां घट् धातु का कर्म होना असम्भव बतलाया जो एक त्रुटि थी । इस त्रुटि का परिमार्जन करते हुए मिश्र ने 'मासं घटते' उदाहरण दर्शाया है । इसी प्रकार न्यासकार के 'अठच्प्रत्ययेऽकारोच्चारणं ठस्येकादेशनिवृत्त्यर्थम्' इस अस्पष्ट वचन को भी मिश्र ने समझा कर प्रतिपादित किया है ।

(७) सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (२.१.६१) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यासकार एक शङ्का और उसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'अथ कथं महाद्रुमः, महोदधिरिति समासः । न ह्यत्र पूजा गम्यते, किं तर्हि ? प्रमाणातिरेक उत्तरपदार्थस्य ? यद्येवं तथापि बहुलग्रहणानुवृत्तेर्भविष्यति ।'

(न्यास २.१.६१)

अब इसी शङ्का को लेकर हरदत्त का समाधान देखिये—

'महाजनः, महोदधिरित्यादौ पूजाऽभावेऽपि विशेषणं विशेष्येणेति समासः । वचनं तु गुणक्रियाशब्दैरपि समासे सदादीनामेव पूर्वनिपातनियमार्थम् ।'

(पदमञ्जरी २.१.६१)

न्यासकार की अपेक्षा पदमञ्जरीकार का समाधान अधिक सुलझा हुआ और युक्तिपुरःसर है ।

(८) पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः (३.२.१८) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'अग्रे इति। अग्रशब्दस्यैकारान्तत्वं निपात्यते—अग्रेसर इत्येतद् रूपं यथा स्यात्। ननु च सप्तम्या अलुकाऽप्येतत् सिध्यति ? सत्यम्, यदा सिध्यति तदा सप्तम्यन्त उपपदे प्रत्ययः। यदाग्रः सरतीति अग्रेण वा सरतीति असप्तम्यन्तस्तदा न सिध्यति, तदर्थमेकारान्तत्वं निपात्यते।' (न्यास ३.२.१८)

अब देखिये इसी के अनुसरण पर पदमञ्जरी का व्याख्यान—

'अग्रे इत्येतेष्विति। एतेनाग्रशब्दस्यैकारान्तत्वं निपात्यत इति दर्शयति। एतच्चाग्रेशब्दस्य परनिपातनादेव विज्ञायते, अन्यथा अजाद्यदन्तम् इति पूर्वनिपातः स्यात्। किमर्थं पुनरेकारान्तत्वं निपात्यते, यावता सप्तम्या अलुकाऽप्यग्रेसर इति सिद्धम् ? यदा तर्हि अग्रं सरति, अग्रेण सरतीति वा विगृह्यते तदाप्यग्रेसर इत्येव यथा स्यात्। कथं यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् (रघु० ९.५५) इति ? कृत्यल्युटो बहुलमिति समर्थनीयम्।' (पदमञ्जरी ३.२.१८)

यहां हरदत्त ने न्यास का अनुसरण करते हुए भी कई विशिष्ट बातों की अधिक जानकारी प्रस्तुत की है जो न्यास में नहीं है।

(९) सुपः (१.४.१०३) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'सुबिति प्रत्याहारग्रहणम्। प्रथमैकवचनात् सुशब्दादारभ्य सप्तमीबहुवचनस्य सुपः पकारेण। अथ कपः पकारेणायं प्रत्याहारः कस्मान्न विज्ञायते ? सप्तमीबहुवचनस्य पकारस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। स ह्यनुदात्तार्थः स्यात्, प्रत्याहारार्थो वा, तत्रानुदात्तार्थो न भवति अनुदात्तस्य सुप्त्वादेव सिद्धत्वात्। तत्र यदि प्रत्याहारार्थोऽपि न स्यात् तदाऽस्यापार्थकत्वमेव स्यात्। तस्मात् तेनैवायं प्रत्याहारो विज्ञायते, न तु कपः पकारेण, स्वरविधौ तस्य चरितार्थत्वात्।' (न्यास १.४.१०३)

इसी शङ्का को लेकर अब हरदत्तमिश्र का समाधान देखिये—

'सुबिति प्रत्याहारग्रहणं प्रथमैकवचनादारभ्य सुपः पकारात्। कपस्तु पकारेण न भवति, प्राग्दिशीयानां विभक्तिसंज्ञाविधानात्। अन्यथा विभक्तिसंज्ञायामपि इदमेव सुब्ग्रहणमनुवर्तत इति सुप्त्वादेव सिद्धेऽनर्थकं तत् स्यात्।' (पदमञ्जरी १.४.१०३)

यहां न्यासकार की अपेक्षा हरदत्त का उत्तर अधिक परिमार्जित और पाण्डित्यपूर्ण है।

(१०) तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (५.२.३६) सूत्र पर तारकादिगण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'तारकादिषु बुभुक्षापिपासाशब्दयोः किमर्थः पाठः ? यावता सन्नन्ताभ्यां निष्ठायामिटि च कृते बुभुक्षितः पिपासितो देवदत्त इति भवति ? सत्यम्, भूते विधानाद् वर्तमाने न सिध्यति। अनेन तु वर्तमानेऽपि सिध्यति। तस्माद् युक्तस्तयोः पाठः।' (न्यास ५.२.३६)

इसी के आधार पर लिखा हरदत्तमिश्र का पदमञ्जरी में इस स्थल का व्याख्यान देखें—

'तारकादिषु बुभुक्षापिपासाशब्दयोः किमर्थः पाठः, यावता सन्नन्तावेतौ, तथा च निष्ठायामिटि च कृते सिद्धम्—बुभुक्षितः पिपासित इति ? सत्यं कर्मणि सिद्धम्—बुभुक्षित ओदनः, पिपासितमुदकमिति, कर्तरि तु न प्राप्नोति—बुभुक्षितो देवदत्तः, पिपासितो देवदत्त इति। अनेन तु यस्य बुभुक्षापिपासे संजाते तत्र प्रत्यय उत्पद्यते। पुष्पादीनां तर्हि किमर्थः पाठः, **पुष्प विकसने, मूत्र प्रस्रवणे, द्रै स्वप्ने** निपूर्वः, **कठि शोके** उत्पूर्वः, **सुख दुःख तत्क्रियायाम्, व्रण गात्रविचूर्णने**—एभ्योऽकर्मकत्वात् कर्तरि क्ते पुष्पितः, मूत्रित इत्यादि सिद्धम् ? सत्यं भूते सिद्धं वर्त्तमाने तु न सिध्यति अतो वर्तमानार्थस्तयोः पाठः। कथम्पुनरनेन वर्त्तमाने भवति यावताऽत्रापि 'संजात' इति भूते निष्ठा ? एवं तर्हि गणे पुष्पादीनां पाठसामर्थ्यात् संजातमित्यत्र भूतकालो न विवक्ष्यते।'

(पदमञ्जरी ५.२.३६)

निःसंदेह हरदत्तमिश्र का समाधान न्यासकार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, विस्तृत और नानाविध शङ्काओं को निरस्त करने वाला त्रुटिहीन है। न्यासकार का प्रयत्न आरम्भिक था परन्तु मिश्र ने उसे दृष्टि में रखते हुए और अधिक चिन्तन किया, अत एव इस के फलस्वरूप उन का व्याख्यान न्यासापेक्षया अनेक दृष्टियों से श्रेष्ठ बन पड़ा है। इस व्याख्यान के पारिप्रेक्ष्य में न्यासकार की हरदत्त से पौर्वकालिकता भी संशय से परे सिद्ध हो जाती है।

(११) रो रि (८.३.१४) सूत्र पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'किं पुनरिदं सानुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणम् उत निरनुबन्धकस्य ? किं चात्र यदि सानुबन्धकस्य ग्रहणम् ? सिद्धम्—अग्नी रथः, इन्दू रथ इति नीरक्तं दूरक्तमिति तु न सिध्यति। अथ निरनुबन्धकस्य ग्रहणम् ? तदा सिध्यति—नीरक्तं दूरक्तमिति, अग्नी रथः, इन्दू रथः, इति न सिध्यति। नैष दोषः, इह तन्त्रेणाचार्यः **रो रि** इति द्वे सूत्रे उच्चारितवान्, तत्रैकस्य सानुबन्धकस्य ग्रहणम् अपरत्र निरनुबन्धकस्येति।'

(न्यास ८.३.१४)

अब देखिये इस के अनुसरण पर लिखा गया हरदत्तमिश्र का पदमञ्जरीस्थ व्याख्यान—

"किमिदं सानुबन्धकस्य रोर्ग्रहणम् ? आहोस्विद् रेफस्य ? कुतः संशयः ? तुल्यात्र संहिता—रो रि, रः रि इति। किं चातः ? यदि सानुबन्धकस्य ग्रहणम्, सिद्धम्—इन्दू रथः, अग्नी रथः, इदं तु न सिध्यति—नीरक्तं दूरक्तमिति। अथ रेफस्य ग्रहणम्, सिद्धम्—नीरक्तं दूरक्तमिति, इदं तु न सिध्यति—अग्नी रथः, इन्दू रथ इति। निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्येति ? नैष दोषः, वर्णग्रहणेषु नैषा परिभाषा प्रवर्त्तते।"

(पदमञ्जरी ८.३.१४)

न्यासकार की अपेक्षा हरदत्त का समाधान स्पष्ट, सीधा और भाष्यानुमत भी

देखें परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा ८१)।

(१२) **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि** (८.३.५८) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकस्यानुस्वारोपलक्षणं द्रष्टव्यम्। नहि नुमा क्वचिद् व्यवायोऽस्ति, सर्वत्र **नश्चापदान्तस्य झलि** इत्यनुस्वारविधानात्।' (न्यास ८.३.५८)

अब देखिये इस का अनुसरण करने वाले हरदत्तमिश्र की व्याख्या—

'नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणम्, नुमा व्यवायाऽसम्भवात्, **नश्चापदान्तस्य झलि** इत्यनुस्वारस्य विधानात्। अनुस्वारग्रहणमेव तु न कृतम्, नुम्स्थानिकेनैवानुस्वारेण व्यवधाने यथा स्यात्, इह मा भूत्—पुंस्विति, पुम्स्शब्दात् सुपि **संयोगान्तस्य लोपः**, मकारस्यानुस्वारः।' (पदमञ्जरी ८.३.५८)

न्यासकार की अपेक्षा हरदत्तमिश्र की व्याख्या अधिक स्पष्ट है। उदाहरण प्रदर्शित कर उन्हों ने स्थिति को सरल और सुबोध बना दिया है। पदमञ्जरी का यह व्याख्यान **हयवरट्** सूत्रस्थ भाष्य के आधार पर लिखा गया है।

(१३) **छे च** (६.१.७३) सूत्र पर 'छे' में छ को प्रयुक्त देख कर अकारान्त छकार का ग्रहण नहीं करना चाहिये अपितु छ् मात्र का ग्रहण अभीष्ट है—इस विषय की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'छ इति यद्यपि अकारवतश्छकारादेषा सप्तमी तथापि छकार एव केवलस्तुको निमित्तम्, अकारस्तूच्चारणार्थः। एतच्च **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (३.१.३६) इत्याम्प्रतिषेधादवसीयते। यदि ह्यकारसहितस्तुको निमित्तं स्यात् तदा ऋच्छेस्तुगभावादसति गुरुमत्त्वे आमः प्रसङ्गो नास्तीति प्रतिषेधं न कुर्यात्।' (न्यास ६.१.७३)

अब इसी का आश्रय लेकर हरदत्तमिश्र की व्याख्या देखिये—

'छकारेऽकार उच्चारणार्थः, **विदिभिदिच्छिदेः०** (३.२.१६२) **शाच्छोरन्यतरस्याम्** (७.४.४१) इत्यादिनिर्देशात्।' (पदमञ्जरी ६.१.७३)

यहां न्यासकार के ज्ञापक की अपेक्षा हरदत्तद्वारा निर्दिष्ट उपाय निस्सन्देह अत्यन्त सरल, संक्षिप्त व शीघ्र समझ में आने वाला है।

(१४) **मयूरव्यंसकादयश्च** (२.१.७२) सूत्र पर 'मयूरव्यंसकः' का विग्रह करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'मयूरश्चासौ व्यंसकश्चेति मयूरव्यंसकः। व्यंसकशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थः पाठः। एवं चात्र मयूरव्यंसकादीनां यवनमुण्डपर्यन्तानाम्।' (न्यास २.१.७२)

अब इस पर हरदत्तमिश्र की व्याख्या देखिये—

"मयूरव्यंसक इति। व्यंसकः=धूर्तः, मयूरश्चासौ व्यंसकश्चेति व्यंसकशब्दस्य गुणवचनत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते वचनम्। एवं छात्रव्यंसकादीनां कम्बोजमुण्डपर्यन्तानाम्। **अन्ये त्वाहुः**—मयूर इव व्यंसकः, छात्र इव व्यंसकः, कम्बोज इव मुण्डः, यवन इव मुण्डः, उपमानसमासोऽयम्। **उपमानानि सामान्यवचनैः** (२.१.५५) इत्येव सिद्धे पुनर्विधान

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (६.२.२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो मा भूदिति। स हि उपमान-संशब्दनेन विहिते समासे विधीयत इति।" (पदमञ्जरी २. १.७२)

यहां पर हरदत्त ने न्यासकार की अपेक्षा निश्चय ही बहुत अधिक जानकारी दी है। 'अन्ये त्वाहुः' के अन्तर्गत प्रतिपादित स्वरसम्बन्धी प्रयोजन का अनेक उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने अनुसरण किया है ।

ये हैं कुछ प्रसङ्ग जिनसे पदमञ्जरी का वैशिष्ट्य द्योतित होता है। इस प्रकार के अन्य भी अनेक प्रसङ्ग व उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं पर विस्तरभय से अधिक नहीं लिखा जाता।

इतना होने पर भी न्यासकार ने पाणिनीयसम्प्रदाय में अपना जो उच्च और विशिष्ट स्थान बना लिया है उस से उसे हटाने में भरसक प्रयत्न करते हुए भी हरदत्तमिश्र समर्थ नहीं हो सके हैं। इस में हरदत्त का कोई दोष कारण नहीं है अपितु न्यासकार का स्वतः उद्भूत, पाठकों के अन्तस्तल तक साक्षात् पहुंचने में समर्थ, कृत्रिमताहीन, भावबहुल अजस्र भाषाप्रवाह ही कारण है जिसे न्यासोत्तरकालीन शायद ही कोई वैयाकरण प्राप्त करने में अभी तक सफल हो सका हो।

यहां तक न्यासकार और उसकी कृति का सामान्य परिचय दिया गया है। अब इस से आगे न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण नामक द्वितीय अध्याय में इस शोधप्रबन्ध के मुख्य प्रतिपाद्य पर विचार किया जायेगा।

तदित्थं न्यासकारस्य कृतेस्तस्य च धीमतः।
मया परिचयो दत्तो नाऽमूलं भणता क्वचित्॥

द्वितीय अध्याय

[न्यास के ऋणी उत्तरवर्त्ती वैयाकरण]

न्यासस्य ऋणतां सर्वे वहन्त्युत्तरवर्त्तिनः।
प्रमाणानि पुरस्कृत्य द्वितीयेऽयं विवेचितः॥

[२.०] न्यास के ऋणी उत्तरवर्त्ती वैयाकरण

व्याकरण-जगत् पर न्यासकार का अमिट प्रभाव है। न्यासोत्तरवर्त्ती शायद ही कोई वैयाकरण होगा जो न्यासकार के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव से अछूता रहा हो। न्यास-प्रतिपादित अगणित मान्यताओं व धारणाओं को उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों (पाणिनीय व पाणिनीयेतर दोनों) ने मुक्तकण्ठ से अपनाया है। अनेक सुप्रसिद्ध वैयाकरणों ने न्यास के नामोल्लेखपूर्वक इस कृतज्ञता को स्वीकार भी किया है। माधवाचार्य अपनी धातुवृत्ति में दो सौ वार से भी अधिक न्यास के मत का उल्लेख करते हैं।[1] इस के अतिरिक्त मैत्रेयरक्षितकृत धातुप्रदीप, सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति, शरणदेवनिर्मित दुर्घटवृत्ति, उज्ज्वलदत्तकृत उणादिवृत्ति, रामचन्द्राचार्यकृत प्रक्रियाकौमुदी, तत्पौत्रप्रणीत प्रसादव्याख्या, पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति, नारायणभट्टरचित प्रक्रियासर्वस्व आदि दर्जनों ग्रन्थों में न्यास का मत सादर उद्धृत किया गया है। हरदत्तमिश्रप्रणीत पदमञ्जरी का ⅙ भाग तो न्यास की किंचित् परिवर्तित वाक्यावली ही है। किमधिकम्, भट्टोजिदीक्षित भी कई स्थानों पर न्यास का उल्लेख प्रामाणिक आचार्य के रूप में करते हैं।[2] अत एव जिनेन्द्रबुद्धि के विषय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

त्रिमुनिव्याकृतेः शास्त्रं सम्यक् केनाऽवगाहितम्।
हरिकैयटयोः पश्चाद् जिनेन्द्रेणैव केवलम् ॥१॥
जिनेन्द्रस्य कृपालेशैरनुप्राणन्ति शाब्दिकाः।
अद्यापि जलजश्रेणिः प्रभाकरप्रभालवैः ॥२॥

इस अध्याय में न्यासकार के उन अगणित अंशदानों में से—जो उन्हों ने व्याकरणजगत् को प्रदान किये हैं—केवल कुछ प्रसङ्गों का ही समालोचनापूर्वक दिग्दर्शन

---

१. 'एवं च न्यासकारादीनां बहूनामभिमतत्वादयं धातुरस्माभिः पठितः।' (मा० धा० वृ० पृष्ठ २६२)
'गापोष्टक् इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्योरयं धातुरादादिक इति स्थितम्। शपि पाठे चास्य प्रयोजनं नास्ति।' (वही, पृ० २६७)

२. (क) 'अत एव न्यासपदमञ्जर्यामपि सिधेरुदित्त्वमनार्षमित्युक्तम्।' (प्रौढम० उत्तरार्ध, पृ० ५५४)
(ख) 'आकृतिगणोऽयम्। तेन स्वशब्दात् स्वार्थकन्नन्ताच्छे स्वकीयम्। तथा च 'लुब्योगाऽप्रख्यानात्' इत्यत्र 'न हि स्वकीयस्यैव प्रत्याख्यानं युक्तम्' इति न्यासः।' (शब्दकौस्तुभ ४.२.१३८)
(ग) 'अभ्यासाच्चेति कुत्वं यद्यपि हो हन्तेरित्यतो हन्तेरित्यनुवर्त्य विहितं, तथापि यङ्लुकि भवत्येवेति न्यासकारः। श्तिपा शपेति निषेधस्त्वनित्यः, गुणो यङ्लुकोरिति समान्यापेक्षज्ञापकादिति भावः।' (सि० कौ० उत्तरार्ध, पृ० २७९)

(७)

प्रस्तुत किया जा रहा है। इन में से कतिपय स्थल न्यासकार को पूर्ववर्त्तियों से प्राप्त हुए भी हो सकते हैं, परन्तु हमारे पास इस समय इन को जांचने का कोई साधन नहीं कि वे स्थल न्यासकार की अपनी देन हैं या किसी अन्य की ? इस समय वे हमें न्यास से पूर्ववर्त्ती किसी ग्रन्थ में मिल नहीं रहे हैं, अतः हम उन्हें न्यासकार की स्वोपज्ञ देन मान रहे हैं। कालान्तर में अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने पर उन की उपज्ञता में फेर-बदल भी सम्भव हो सकता है।

[२.१] दीधीवेवीटाम् (१.१.६) सूत्र में दीधीङ्, वेवीङ् धातुओं का तथा इट् आगम का ग्रहण वैयाकरणनिकाय में सर्वसम्मत है। यहां पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"ननु च दीङ् क्षये, धीङ् अनादरे,[1] वेञ् तन्तुसन्ताने, वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु इत्येतेषां ग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते ? यद्येषां ग्रहणमभिमतं स्यादसन्देहार्थं वीवेधीदीटाम् इत्येव न्यासं कुर्यात्, अन्यथा तु कृतम्, तस्मात् पूर्वोक्तयोरेव धात्वोरिह ग्रहणम्। इटश्चेति। आर्धधातुकस्येत्यादिना विहितस्य। अथ इट किट कटी गतौ इत्यस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति ? युक्तं चैतद् धातुसाहचर्यात् ? नैतदस्ति, इह अल्पाच्तरम् इति इटः पूर्वनिपाते कर्त्तव्ये तद्विपर्यासं कुर्वता एतत्सूचितम्—अन्योऽप्यत्र कश्चिद् विपर्यासो विज्ञेय इति। तेन धातुसाहचर्याद् धातुग्रहणे प्राप्ते तद्विपरीतस्यैवागमस्य ग्रहणं विज्ञायते।" (न्यास १.१.६)

न्यासकारोक्त इस शङ्का और इस के युक्तियुक्त समाधान से उत्तरवर्त्ती वैयाकरण अत्यन्त प्रभावित हुए हैं।

हरदत्तमिश्र इसी का आश्रय लेते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"अथ दीङ् क्षये, धीङ् अनादरे, वेञ् तन्तुसन्ताने, वी गत्यादिषु एतेषां ग्रहणं कस्मान्न भवति ? दीङस्तावन्न भवति, मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च इति चकारेणैज्विषये आत्वविधानात्। वेञोऽपि न भवति, गुणप्राप्त्यभावात्। नैतदस्ति, चकारस्तावन्मीनातिमिनोत्यर्थः स्यात्, दीङोऽपि ग्रहणं ल्यवर्थं स्यात्। वेञोऽपि प्रवेयमित्यत्र ईद्यति इतीत्त्वे कृते गुणः प्राप्नोति। एवं तर्हि चतुर्णां ग्रहणेऽभिप्रेते असन्देहार्थं वीवेधीदीटाम् इति ब्रूयात्। किं च अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी। इटश्चेति। आर्धधातुकस्येड् इत्यागमस्य। ननु धातुसाहचर्यात् इट किट गतौ इत्यस्य धातोर्ग्रहणं युक्तम्, सत्यम्, प्रसिद्धयतिशयाद् आगमस्य ग्रहणम्, आगमो हि प्रसिद्धतरः शास्त्रेऽल्पाच्त-

---

(घ) 'यद्यपि 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इत्यमरः, तथापि शफशब्दस्य पुंस्त्वमपि बहुसम्मतम्। 'शफाविव जर्भुराणा' इति श्रुतौ, 'ग्राम्यपशुसङ्घेषु०' (१.२.७३) इति सूत्रस्य व्याख्यावसरे न्यासहरदत्तादिग्रन्थेषु वाचस्पत्यादिनिबन्धेषु च प्रचुरप्रयोगदर्शनात्।' (प्रौढम० उत्तरार्धं, पृष्ठ ४३६)

१. धीङ् आधारे इति प्रचलितः पाठः। परं काशकृत्स्न-जैनेन्द्र-शाकटायन-मैत्रेयरक्षित-प्रमृतिग्रन्थेषु न्यासीयः पाठ एवोपलभ्यते। हरदत्तोऽप्यत्रानुकूलः।

रत्वेन पूर्वनिपाताभावाच्च धातुरिट्,[1] दीधीवेव्योस्तु धातुत्वात् प्रकृतित्वाद् अभ्यर्हितं च इति पूर्वनिपातः ।' (पदमञ्जरी १.१.६)

हरदत्तमिश्र ने न्यासकार की शङ्का और उसके समाधान को और भी विकसित, स्पष्ट और युक्तियुक्तरूपेण प्रस्तुत किया है।

भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

"अथ दीङ् क्षये, धीङ् अनादरे, वेञ् तन्तुसन्ताने, वी गत्यादिषु तेषामिह ग्रहणं कुतो नेति चेत् ? न, अवयवप्रसिद्ध्यपेक्षया समुदायप्रसिद्धेर्बलवत्वात् । किं च चतुर्णां ग्रहणेऽभिप्रेतेऽसन्देहार्थं दीवेधीवीटाम् इत्येव ब्रूयात् । इट् चात्रागम एव गृह्यते न इट गतौ इति धातुः । ननु धातुसाहचर्याद् धातुरेव गृह्यताम् । मैवम् साहचर्यस्य सर्वत्राऽनियामकत्वात् । अन्यथा द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे इति सूत्रे कृत्वोर्थग्रहणं न कुर्यात्, द्विस्त्रिरिति सुजन्ताभ्यां साहचर्येण चतुरित्यस्यापि सुजन्तस्य ग्रहणसम्भवात् । अत एवागमापेक्षया प्रकृतेरभ्यर्हितत्वाद् दीधीङः पूर्वनिपातः सूत्रे कृतः । इटोऽपि धातुत्वे तु प्रकृतित्वाऽविशेषेऽल्पाच्तरत्वात्तस्यैव पूर्वनिपातः स्यात् ।" (शब्दकौस्तुभ १.१.६)

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल भी न्यासोक्त शब्दावली का प्रयोग करते हुए यही कहते हैं—

"अथ दीङ् क्षये, धीङ् अनादरे, वेञ् तन्तुसन्ताने, वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, एषां ग्रहणं कस्मान्न । उच्यते । यद्येतेऽभिमताः स्युस्तर्ह्यसन्देहार्थं वीवेधीदीटाम् इति न्यासं कुर्यात् । अतः पूर्वोक्तावेव । इटश्चेति । आर्धधातुकस्येत्यादिना विहितस्य । अथ इण् इट गताविति किं न गृह्येते । युक्तञ्चैतत् । धातुसाहचर्यात् । मैवम् । इह अल्पाच्तरमिति इटः पूर्वनिपाते कर्त्तव्ये तद्विपर्ययं कुर्वतैतत् सूचितम् । धातुसाहचर्येऽप्यत्रागमस्यैवेटो ग्रहणमिति ।" (प्रसाद, उत्तरार्ध, पृष्ठ ४८)

विश्वेश्वरसूरि भी व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में यही भाव व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"न च दीङ् क्षये, धीङ् अनादरे, वेञ् तन्तुसन्ताने, वी गत्यादिषु एषामेव ग्रहणं स्यादिति वाच्यम्, अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी इति न्यायात् । तन्मात्रतात्पर्यग्राहकानुपूर्व्यन्तरपरित्यागसामर्थ्याच्च ।[2] इट् चाऽऽगम एव, न तु इट गताविति धातुः । कृत्वोऽर्थग्रहणेन साहचर्यस्य नियामकत्वनियमभङ्गस्य ज्ञापितत्वात् ।"

(व्या० सि० सु० १.१.६)

वैद्यनाथप्रणीत भाष्यप्रदीपोद्योतच्छाया में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं—

"अत्रेड् आगमः, न तु धातुः प्रसिद्धतरत्वात् । न च प्रसिद्धेः साहचर्यं बाधकम्, यथा गुरुभार्गवशब्दौ व्यस्तावुपदेष्टृपरशुरामबोधकौ, समस्तौ पुनर्देवगुरुदैत्यगुरुबोधकौ,

---

१. अत्र मुद्रितपदमञ्जर्यां 'न' इति पतितं प्रतिभाति । 'दीधीवेव्योस्तु धातुत्वात्' इत्यत्र 'तु' ग्रहणात् पूर्वत्र 'न धातुरिट्' इत्येव पाठ उचितः ।

२. वीवेधीदीटाम्, दीवेधीवीटाम् इत्याद्यानुपूर्व्यन्तरपरित्यागसामर्थ्याच्चेति भावः ।

एवं च धातोरेव ग्रहणं युक्तमिति वाच्यम्। द्वन्द्वेऽल्पाच्तरत्वेनेटः पूर्वनिपाते कार्ये परनिपातकरणस्य साहचर्यनियमस्यानित्यताज्ञापनार्थत्वादिति बोध्यम्।" (छाया १.१.६)

महाभाष्य के इसी स्थल पर शिवदत्त दाधिमथ ने भी अपनी एक टिप्पणी में शब्दकौस्तुभ के उपर्युक्त उद्धरण को उद्धृत किया है।

इस प्रकार न्यासोत्तरवर्त्ती पाणिनीयजगत् न्यासकार के अत्रत्य व्याख्यान का स्पष्टतः अधमर्ण है। परन्तु महाभाष्य में इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है,[1] इस प्रत्याख्यान का आश्रय लेकर पाणिनीयेतर व्याकरणजगत् ने इसे अपने अपने अनुशासनों में संगृहीत नहीं किया। अतः उन में न्यासकार का प्रभाव परिलक्षित नहीं हो सकता।

[२.२] डति च (१.१.२५) सूत्रस्थ काशिका की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"डत्यन्ता या संख्या सा षट्सञ्ज्ञा भवतीति। सङ्ख्याग्रहणेनेहापि सङ्ख्यानुवर्त्तत इति दर्शयति। किमर्थं पुनः सेहानुवर्त्तते? पातेर्डतिः—पतय इत्यत्र मा भूत्। अथ सङ्ख्यानुवृत्तावपि कस्मादेवात्र न भवति? यावताऽयमपि सङ्ख्यासञ्ज्ञ एव। सामान्येन हि पूर्वं डतेः संख्यासञ्ज्ञा विहिता। नैतदस्ति। वतुना साहचर्यात् तद्धितस्यैव डतेस्तत्र ग्रहणम्, न कृतः। कृच्चायम्।" (न्यास १.१.२५)

प्रायः उत्तरवर्त्ती सब पाणिनीय वैयाकरणों ने न्यासकार के इस आशय का अनुसरण किया है। सर्वप्रथम कैयट महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'तत्र वतुसाहचर्यात् तद्धित एव डतिर्गृह्यते, न तु पातेर्डतिः कृत्।' (प्रदीप १.१.२४)

'तत्र संख्यासञ्ज्ञाया अनुवर्त्तनादन्वर्थत्वाच्च तस्याः संख्याप्रश्नविषय एव डतिर्गृह्यते न त्वौणादिकः।' (प्रदीप १.१.२४)

हरदत्तमिश्र भी न्यासकार का अर्थतः और शब्दशः दोनों प्रकार से अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

"डत्यन्ता च या सङ्ख्येति। अनेन संख्याग्रहणानुवृत्तिं दर्शयति। असत्यां ह्यनुवृत्तौ पातेर्डतिः—'पतयः' अत्रापि स्यात्। अथेह सङ्ख्याग्रहणानुवृत्तावपि कस्मादेवात्र न भवति; सामान्येन हि डतेः संख्यासंज्ञा विहिता? उच्यते, संख्यासंज्ञायां हि वतुना साहचर्यात् तद्धितस्य डतेर्ग्रहणम्, न त्वौणादिकस्य।" (पदमञ्जरी १.१.२५)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में विट्ठल इसी का अनुकरण करते हुए लिखते हैं—

"सङ्ख्येत्यनुवर्त्तत इत्यभिप्रेत्याह—डत्यन्ता संख्येति। किमर्थं सेहानुवर्त्तते। पातेर्डतिः। पतय इत्यत्र मा भूत्। ननु च पतिशब्दस्यापि डत्यन्तत्वात् पूर्वसूत्रेण सङ्ख्यासंज्ञाऽस्त्येवेति संख्याऽनुवर्त्तनादपि षट्संज्ञा प्राप्नोत्येव। नैष दोषः। पूर्वसूत्रे वतुना साहचर्यात् तद्धित एव डतिर्गृह्यते न कृत्। कृच्चायम्।" (प्रसाद, पूर्वार्ध, पृष्ठ १५८)

---

१. अयं योगः शक्योऽकर्तुम्। (महाभाष्य १.१.६)

भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

'सङ्ख्येति किम् ? पातेर्डतिः—पतयः । न चास्य संख्यासञ्ज्ञापि स्यादिति वाच्यम्, वतुसाहचर्येण तत्र तद्धितस्यैव ग्रहणात् । (शब्दकौस्तुभ १.१.२५)

प्रौढमनोरमा में भी—

'अत एव डतिरपि तद्धित एव गृह्यते । वतुना साहचर्याच्च । न तु पातेर्डतिः ।' (प्रौढम० पृष्ठ २८२)

तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

'अत एव डतिरपि **किमः संख्यापरिमाणे** डति च इति विहितस्तद्धित एव गृह्यते, वतुसाहचर्यात्, न तु 'पातेर्डतिः' ।' (सि०कौ० तत्त्व० पूर्वार्ध पृष्ठ १३१)

बालमनोरमाकार भी यही भाव व्यक्त करते हैं—

"डतिरपि किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च इति विहितस्तद्धित एव गृह्यते, वतुना साहचर्यात् न तु 'पातेर्डतिः'[1] इति विहितः कृदपि ।" (सि० कौ० बालमनो० पूर्वार्ध, पृष्ठ १३१)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं—

"न चैवं 'पातेर्डतिः' इत्यौणादिकस्यापि संख्याप्रसङ्गे 'पतयः' इत्यादौ विभक्तेर्लुक् स्यादिति वाच्यम् । संख्यासाहचर्येण तद्धितस्यैव डतेर्ग्रहणात् ।" (व्या० सि० सु० १.१.२५)

ओरम्भट्ट व्याकरणदीपिका में इसी न्यासोक्त मार्ग का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'संख्येति किम् ? पातेर्डतिः पतयः । न चास्य संख्यासञ्ज्ञाऽपि स्यादिति वाच्यम् । वतुसाहचर्येण तद्धितस्यैव ग्रहणात् ।' (व्या० दी० १.१.२५)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

'अत्र डतिस्तद्धित एव, न तु पातेर्डतिः, उणादीनामव्युत्पन्नत्वात् । अतिक्प्रत्ययेनापि पत्युः सिद्धेश्च । साहचर्याच्चेत्याहुः ।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ४८६)

सभापतिशर्मोपाध्याय भी सि० कौ० की व्याख्या में यही लिखते हैं—

'डतिरपि **किमः संख्यापरिमाणे** डति च इति तद्धित एव गृह्यते न तु पातेर्डतिः इति कृत्, तद्धितवतुसाहचर्यात् ।' (सि० कौ० लक्ष्मी, पृष्ठ ३७१)

'संख्येति किम् पतय इत्यत्र षट्संज्ञायां षड्भ्यः० इति लुङ् मा भूत् ।' (सि० कौ० लक्ष्मी, पृष्ठ ३७२)

इस प्रकार न्यासकार का प्रभाव समस्त उत्तरवर्त्ती पाणिनीय वैयाकरणों पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है । परन्तु यह बात विशेष ध्यातव्य है कि न्यासोक्त उपर्युक्त प्रकार से केवल 'कति' शब्द ही यहां डत्यन्त गृहीत हो सकता है अन्य कोई शब्द नहीं; इससे यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि यह विचार न्यासकार का स्वोपज्ञ नहीं, उन्होंने

---

१. अत्र बालमनोरमायाम् 'भातेर्डवतुः' इति मुद्रितः पाठोऽनवधानमूलकोऽशुद्धश्च ।

इसे पूर्व व्याख्याकारों व वैयाकरणों से ही लिया है। इसमें प्रमाण जैनेन्द्र, चान्द्र, कातन्त्र आदि प्राचीनव्याकरणों में 'डति' प्रत्यय का उल्लेख छोड़ सीधा 'कति' शब्द का ग्रहण है[1]। यह तभी संभव हो सकता है जबकि वे न्यासकारवत् औणादिक डति-प्रत्ययान्त 'पति' शब्द की षट्संज्ञा न मानकर उस से परे जस् व शस् का लुक् न करते हों।

[२.३] उदोऽनूर्ध्वकर्मणि (१.३.२४) सूत्र पर भाष्य में उद ईहायाम् ऐसा एक वार्त्तिक पढ़ा गया है जिसे काशिका में भी उद ईहायामिति वक्तव्यम् इस प्रकार अनूदित किया गया है। तात्पर्य यह है कि अनूर्ध्वकर्म में उद्पूर्वक स्था धातु से यदि आत्मनेपद हो तो वह शारीरिक चेष्टा करने पर ही हो निठल्ली अवस्था में नहीं। इससे 'इह ग्रामात् शतमुत्तिष्ठति' (इस गांव से एक सौ रु० उत्पन्न होता है) इत्यादि स्थानों पर सूत्र की प्रवृत्ति न होकर आत्मनेपद नहीं होता। इस प्रकार सूत्र में कर्मशब्द अनावश्यक रहता है उसके स्थान पर 'ईहा' या 'चेष्टा' शब्द रखा जाना चाहिये। यही सोचकर चन्द्राचार्य ने अपने सूत्रपाठ में पाणिनि के इस सूत्र को संशोधित कर उदोऽनूर्ध्वेहायाम् (चान्द्र० १.४.६६) सूत्र बना लिया। इस स्थिति में सूत्रकार के अनन्य भक्त न्यासकार सूत्रगत कर्म शब्द से ही वार्त्तिक की गतार्थता का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—

"उद ईहायामिति। वक्तव्यमिति उत्पूर्वात् तिष्ठतेरीहायां परिस्पन्दने वर्त्तमानादात्मनेपदं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—अन्तरेणापि कर्मग्रहणं क्रियामात्रवृत्तित्वे तिष्ठतेः सिद्धे यत् कर्मग्रहणं तल्लोके या क्रिया कर्मत्वेन प्रसिद्धा तस्याः प्रतिपत्त्यर्थं कृतम्। सा तु परिस्पन्दनात्मिकैव घटनभ्रमणादिका, तथा हि—तां कुर्वाणः 'सक्रिय' इत्युच्यते। स्थानासनादिकां त्वपरिस्पन्दनात्मिकां कुर्वाणोऽपि 'निष्क्रिय' इति। तस्मादात्मनेपदमिदं कर्मग्रहणादीहायामेव वर्त्तमानाद् भविष्यति।"

(न्यास १.३.२४)

न्यासकार के इस युक्तियुक्त समाधान को उत्तरवर्त्ती अनेक मूर्धन्य वैयाकरणों ने स्वीकार किया है। तद्यथा—

(क) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

"उद ईहायामित्येतत् कर्मग्रहणात् सिद्धमित्याहुः। कथम्? 'उदोऽनूर्ध्वे[2]' इत्ये-

---

१. जैनेन्द्र—कति संख्या (१.१.३३), ष्णान्तेल् (१.१.३४);
चान्द्र—ष्णः संख्याया लुक् (२.१.२१), कतेः (२.१.२२);
कातन्त्र—संख्यायाः ष्णान्तायाः; कतेश्च जश्शसोर्लुक् (नामप्रकरण, सूत्र ७५-७६)।

२. वर्त्तमान मुद्रित पदमञ्जरी में यहां पर ईहोऽनूर्ध्वे ऐसा पाठ दिया गया है जो अपपाठ है। भट्टोजिदीक्षित आदि के लेख से इस पाठ की पुष्टि नहीं होती और न ही यह सुसंगत बैठता है।

तावताऽनूर्ध्वताविशिष्टं क्रियावाचित्वं सिद्धम्, धातोः क्रियावाचित्वात्। एवं सिद्धे कर्मग्रहणाल्लोकप्रसिद्धं परिस्पन्दात्मकं कर्म गृह्यत इति।" (पदमञ्जरी १.३.२४)

(ख) भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में—

"यद्यपि 'उदोऽनूर्ध्वे' इत्युक्तेरनूर्ध्वताविशिष्टक्रियावाचकत्वं लभ्यत एव धातोः क्रियावाचित्वाऽव्यभिचारात्, तथापि लोकप्रसिद्धपरिस्पन्दात्मककर्मपरिग्रहार्थं कर्मपदम्। तेनेह न—अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति, उत्पद्यत इत्यर्थः। तथा च 'उद ईहायाम्' इति वार्त्तिकं सौत्रकर्मपदसिद्धार्थकथनपरम्।" (शब्दकौस्तुभ १.३.२४)

प्रौढमनोरमा में भी—

"उत्पूर्वात्तिष्ठतेरनूर्ध्वे परिस्पन्दे वर्त्तमानादित्यर्थः। इह परिस्पन्दस्यानूर्ध्वत्वं नाम उपरिदेशसंयोगफलकत्वाभावः। यद्यप्युदोऽनूर्ध्वे इत्युक्तेऽपि क्रियावाचकत्वं लभ्यत एव तथापि परिस्पन्दतालाभार्थं कर्मपदम्। तदेतदाह—ईहायामेवेति।"

(प्रौढम० पृष्ठ ६७५)

(ग) ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्ववोधिनी में—

"उदोऽनूर्ध्वे इत्युक्तेऽप्यनूर्ध्वक्रियायां वर्त्तमानाद् उत्पूर्वात्तिष्ठतेर्लस्यात्मनेपदम् इत्यर्थो लभ्यत एव, तथापि परिस्पन्दार्थलाभाय कर्मपदम् इत्यभिप्रेत्याह—ईहायामेवेति।"

(सि० कौ० तत्त्व०, उत्तरार्ध, पृ० ३१९)

(घ) विश्वेश्वरसूरि व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में—

"ऊर्ध्वसंयोगफलकत्वाभाववत्क्रियावृत्तेरुत्पूर्वात्तिष्ठतेस्तत्प्राग्वत्। 'उद ईहायाम्' इति वार्त्तिकं कर्मपदप्रयोजनकथनार्थम्। कायपरिस्पन्दात्मिकायां चेष्टायामिति यावत्। अन्यथा अनूर्ध्वं इत्येवाऽवक्ष्यत्। धातोः क्रियावाचित्वनियमात् तल्लाभात्।"

(व्या० सि० सु० १.३.२४)

(ङ) नागेशभट्ट बृहच्छब्देन्दुशेखर में—

"उपरिदेशसंयोगाऽफलकेऽर्थे वर्त्तमानाद् उत्पूर्वात् तिष्ठतेरित्यर्थः। 'अनूर्ध्वे' इत्येव क्रियावाचकत्वे लब्धेऽपि कर्मपदं परिस्पन्दरूपधात्वर्थलाभार्थमिति मनोरमा।"

(बृ० श० शे० पृष्ठ १९२१)

इस प्रकार न्यासकार के व्याख्यान से पाणिनीय वैयाकरण अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। पाणिनीयेतर तन्त्रकार भी इस से प्रभावित तो हुए पर उन को अपने-अपने तन्त्रों में नये सूत्र का निर्माण करना था। अतः अपने सूत्रपाठ में पहले 'कर्म' शब्द को रख कर बाद में उस का ईहापरक व्याख्यान करने की अपेक्षा उन्होंने स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए सीधा 'ईह' 'ईहा' या 'चेष्टा' आदि शब्द का ही प्रयोग करना श्रेयस्कर समझा—जो उनके लिए अत्यन्त समुचित था।[1] तद्यथा—

---

१. केवल सारस्वतव्याकरण में पाणिनि-तन्त्र की तरह 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, पर उस में इस के साथ 'ईहायाम्' भी जोड़ दिया गया है। सम्भवतः ऐसा स्पष्टतर प्रतिपत्ति के लिए किया गया होगा। इस प्रकार वहां का सूत्र है—'उदोऽनूर्ध्वकर्मणीहायाम्'।

शाकटायन —उदोऽनूर्ध्वेहे (शाकटायन० १.४.३५)
भोजराज —उदोऽनूर्ध्वचेष्टायाम् (सरस्वती० ३.१.६५)
हेमचन्द्र —उदोऽनूर्ध्वेहे (श्रीसिद्धहेम० ३.३.६२)
बोपदेव —उदोऽनूर्ध्वेहे (मुग्ध० सूत्र ८७०)
क्रमदीश्वर—उदोऽनूर्ध्वघटने[1] (संक्षिप्तसार, तिङन्तपाद सूत्र–६६)

[२.४] ध्रुवमपायेऽपादानम् (१.४.२४) सूत्र पर न्यासकार काशिका के वचनों की व्याख्या करने के बाद अपनी ओर से एक शंका उठा कर उस का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

"अथेह कथमपादानसंज्ञा—ग्रामान्नागच्छतीति ? कथं च न स्यात् ? ग्रामस्यापायेनायुक्तत्वात् । यस्यां सत्यामपायो भवति स प्रतिषिध्यते चाऽपादानसाधनाऽऽगमनक्रिया, तदसत्यां तस्यां कुतोऽपायः ? नैष दोषः, अत्र ह्यपादानसंज्ञायां समुपजातायां पश्चात् प्रतिषेधेन सम्बन्धः क्रियते, अन्यथा हि प्रतिषेधस्य विषयो न दर्शितः स्यात् । तथा ह्यपादानसाधनागमनक्रिया प्रतिषेद्धुमिष्टा । तत्र यदि चादावेव निषेधः स्याद्, अपायाभावात् तदसम्बद्धस्य ग्रामस्यापादानसञ्ज्ञा सिद्धा न स्यात् । ततश्च या प्रतिषेध्यापादानसाधनागमनक्रिया प्रतिषेधस्य विषयभूता, सा न शक्यते प्रदर्शयितुम्, न चात्राऽप्रदर्शितविषये प्रतिषेधः शक्यते वक्तुम् । तस्मात् पूर्वमपादानसंज्ञा भवति, पश्चात् प्रतिषेधेन योग इत्येष क्रमः ।" (न्यास १.४.२४)

बहुत सुन्दर समाधान है । इसी का आश्रय लेकर जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी अपनी महावृत्ति में लिखते हैं—

'इह ग्रामान्नागच्छतीति पूर्वमपादानसंज्ञा पश्चात् प्रतिषेधः ।'

(जैनेन्द्रमहा० १.२.११०)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन के स्वोपज्ञ शब्दार्णवन्यास में इसी शङ्का का न्यासकारोक्त शब्दावली द्वारा समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"एवं तर्हि ग्रामान्नागच्छतीत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ? उक्तस्य गमनस्याऽभावात्, यस्यां हि सत्यामपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यते साऽऽगमनक्रिया, नैष दोषः—अत्र ह्यपादानसंज्ञायामुपजातायां पश्चात् प्रतिषेधेन सम्बन्धः, अन्यथा प्रतिषेधस्य विषयो न प्रतिपादितः स्यात्, तथाहि—अपादानसाधनाऽऽगमनक्रिया प्रतिषेद्धुमिष्टा, यदि चादावेव प्रतिषेधसम्बन्धः स्याद् आगमनाऽभावात् तदसम्बद्धस्य ग्रामस्यापादानसंज्ञा न स्यात्, ततश्च या प्रतिषेध्यापादानसाधनागमनक्रिया प्रतिषेधस्य विषयः सा न शक्यते प्रदर्शयितुम्, न चाऽप्रदर्शितविषयः प्रतिषेधो युज्यते, तस्मात्पूर्वमपादानसंज्ञा भवति ।"

(श्रीसिद्धहेम० श० न्यास, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०५)

---

१. यहां पर 'घटन' शब्द चेष्टा का वाचक है—घट चेष्टायाम् (भ्वा० आत्मने०) । अनूर्ध्वंघटन इति पर्युदासाश्रयणाद् ऊर्ध्वघटनसदृशी इतस्ततो गमनात्मिका चेष्टैवास्य विषयः— गोयीचन्द्र (पृष्ठ १३० वंगाक्षर) ।

हेमव्याकरण के आनन्दवर्धिनीटीकाकार श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्र ने भी अपनी व्याख्या के पृष्ठ १७२ पर श्रीहेमचन्द्र की उपर्युक्त वाक्यावली को दुहराया है।

[२.५] अकथितं च (१.४.५१) सूत्र पर—

दुहि-याचि-रुधि-प्रछि[1]-भिक्षि-चिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुवि-शासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना॥

इस परिगणन में अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा ऐसा बहुत से वैयाकरण मानते हैं। परन्तु महाभाष्य में ऐसा कहीं नहीं लिखा। चान्द्रवृत्ति, कातन्त्रवृत्ति तथा काशिकावृत्ति में भी इस का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। वर्त्तमान उपलब्ध व्याकरणजगत् में यह बात सबसे पहले हमें न्यास में ही उपलब्ध होती है। यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

"पौरवं गां भिक्षत इति। भिक्ष याच्ञायाम्, अनुदात्तेत्। अथ किमर्थं याचि-भिक्ष्योर्द्वयोरुपादानम्, यावता अनयोरर्थभेदो नास्ति? न चेदं संज्ञा शब्दाऽऽश्रया, किं तर्हि? अर्थाऽऽश्रया। तथाहि—याचिना समानार्थस्य अन्यस्यापि ग्रहणं भवति—देवदत्तं शतं प्रार्थयते, देवदत्तं शतं मृगयत इति। तस्मात् सत्यपि शब्दभेदे न युक्तं तयोः पृथग्-ग्रहणम्। एवं तर्हि याचिरत्र अनुनये वर्त्तते, तेन क्रुद्धं याचते, अविनीतं याचत इति। तदर्थं पृथग् ग्रहणं स्यात्।" (न्यास १.४.५१)

यहां पर 'तदर्थं पृथग्ग्रहणं स्यात्' इस अन्तिम पङ्क्ति में लिङ् के प्रयोग से प्रतीत होता है कि यह न्यासकार की स्वोपज्ञ कल्पना है। उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने न्यास के इन वचनों से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है। निदर्शनार्थ यथा—

---

१. इदानीं महाभाष्य तथा काशिका आदि में प्रछि पाठ के स्थान पर प्रच्छि पाठ पाया जाता है जो अशुद्ध है। कारण कि यह कारिका इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम् के अनुसार तोटकच्छन्द में बद्ध की गई है। तोटकच्छन्द में सातवां अक्षर लघु होता है न कि गुरु। अत एव यहां हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'प्रछिभिक्षीत्यत्र छे च इति तुक् प्राप्तोऽनित्यत्वादागमशासनस्य स न कृतः, सनाद्यन्ता धातवः, इको यणचि इतिवत्।' (पदमञ्जरी १.४.५१)

भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

'इह प्रछीत्यत्र छे च इति तुङ् न कृतः, आगमशासनस्याऽनित्यत्वात् सनाद्यन्ता धातवः, इको यणचि इतिवत्।' (शब्दकौस्तुभ १.४.५१)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में विश्वेश्वर-सूरि भी यही कहते हैं—

'प्रछीत्यत्रानित्यमागमशासनमिति तुगभावः। इको यणचि, सनाद्यन्ता धातवः इत्यादौ नुडाद्यभाववत्।' (व्या० सि० सु० १.४.५१)

गोयीचन्द्र ने भी यही कहा है—

'प्रछीति 'छोऽचः' (सन्धिपाद १९९ सूत्र) इति न द्वित्वम्। अस्मादेव निपातनादिति तत्रैव वृत्तिकृतोक्तम्।' (संक्षिप्तसार, गोयी०, वंगाक्षर, कारकपाद सूत्र ९)

(क) न्यासकार के इस समाधान का आश्रय लेते हुए कैयट उपाध्याय महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'दुह्यादीनां चार्थोपलक्षणायोपादानात् पर्यायप्रयोगेऽपि कर्मसञ्ज्ञा भवति ।'
(प्रदीप; १.४.५१)

'अथ याचिभिक्ष्योरेकार्थत्वात् किमर्थमुभयोरुपादानम् ? उच्यते—अनुनयार्थस्यापि याचेर्ग्रहणार्थम् । तेन अविनीतं विनयं याचत इत्यत्रापि कर्मसंज्ञा भवति ।'
(प्रदीप; १.४ ५१)

(ख) हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में इसी का समर्थन करते हैं—

'किमर्थं पुनर्याचिभिक्ष्योरुभयोरुपादानम्, न ह्यनयोरर्थे भेदोऽस्ति, अर्थाश्रया चेयं संज्ञा, न दुह्यादिस्वरूपाश्रया, समानेऽर्थेऽपि गृह्यते—देवदत्तं शतं प्रार्थयत इति। उच्यते—अनुनयार्थस्य याचतेर्ग्रहणार्थम्। तेन अविनीतं विनयं याचते, क्रुद्धं प्रसादं याचत इत्यत्रापि भवति। सकृदुपात्तस्य चोभयरूपानुपपत्तेः भिक्षिरपि गृहीतः।'[1]
(पदमञ्जरी १.४.५१)

(ग) हेमचन्द्रसूरि इसी प्रभाव से प्रभावित हुए इसी प्रकार के विचार अपनी बृहद्वृत्ति और बृहन्न्यास में व्यक्त करते हैं—

'पुनस्तत् कर्म द्विविधं प्रधानेतरभेदात्, तच्च द्विकर्मकेषु धातुषु दुहि-भिक्षि-रुधि-प्रच्छि-चिग्-ब्रूग्-शास्वर्थेषु याचिजयतिप्रभृतिषु च भवति। दुह्यर्थं—गां दोग्धि पयः, गां स्रावयति पयः, गां क्षारयति पयः—। क्रुद्धं याचते शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयम्। याचिरिह अनुनयार्थः, तेन भिक्ष्यर्थाद् भेदः।' (हैमबृहद्वृत्ति २.२.३)

'ननु भिक्षियाच्योरेकार्थत्वात् कथं द्वयोरुपादानमित्याह—याचिरिह अनुनयार्थ इति। याचिर्हि याच्ञायामनुनये च वर्त्तते। भिक्षिस्तु याच्ञायामेवेत्यनयोर्भेदः। नन्वेवमपि याचिरेव उपादातव्यस्तेनैव याच्ञाऽनुनययोरभिधानात्। अस्त्येतत्, किन्त्वेवं यथा याच्ञार्था धातवो गृह्यन्ते एवमनुनयार्था अपि गृह्येरन्, अत्र पुनर्भिक्षिग्रहणाद् याच्ञार्थानां सर्वेषां ग्रहणम्, याचिग्रहणं तु तस्यैव अनुनयार्थस्येति, क्रुद्धं याचते शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयम् इत्येतस्य प्रयोजनम्।'. (हैमबृहन्न्यास २.२.३)

(घ) माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य सायण भी इसी का अनुसरण करते हैं—

"नाधृ नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—इमौ याच्ञायाम् अकथितेप्सिततमाभ्यां द्विकर्मकौ। दुहियाचि० इत्यत्र भिक्षेरर्थपरत्वात्। उक्तं च कैयटे—दुह्यादीनां चार्थोपलक्षणायोपादानात् पर्यायप्रयोगेऽपि कर्मसंज्ञा भवतीति। अर्थाश्रया चेयं संज्ञा न दुह्यादिवत् स्वरूपाश्रयेति भिक्षिं प्रस्तुत्य वदतो हरदत्तस्यापि मतेऽत्र न विवादः।—याचिरिह अनुनयार्थः। याचनार्थस्य तु भिक्षिणैव सिद्धम्।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ५३)

(ङ) भट्टिकाव्य (२.३२) की सुप्रसिद्ध व्याख्या जयमङ्गला में टीकाकार इसी ओर निर्देश करते हुए लिखते हैं—

---

१. पदमञ्जरी के मुद्रित प्राच्यसंस्करण में यहां का पाठ भ्रष्ट है। यह पाठ लाजरस प्रेस द्वारा मुद्रित पदमञ्जरी से उद्धृत किया गया है।

'ब्रुविशासीत्यत्र ब्रुवीत्यर्थग्रहणाद् द्विकर्मकता।'

(च) मल्लिनाथ भी रघुवंश (२.५१) की व्याख्या में यही कहते हैं—

'भाषिरयं ब्रुविसमानार्थत्वाद् द्विकर्मकः। ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम्—दुह्याचि—कविना।'

(छ) संक्षिप्तसार की व्याख्या करते हुए गोयीचन्द्र लिखते हैं—

"एकार्थयोरपि याचिभिक्ष्योरुभयोरुपादानं स्वरूपग्रहणमिति शङ्कानिरासार्थमाह—भिक्षीत्यर्थग्रहणमिति। न त्वन्येषामर्थग्रहणनिरासाय, अन्येषामप्यर्थग्रहणात्। तथा च ब्रुवेरर्थग्रहणात् शिष्यं धर्मं वदत्याचष्ट उपदिशतीत्यादि भवति। याचेः पुनरर्थान्तरवृत्तेर्ग्रहणमिति सूचनाय अवस्थामनुनयतीत्युक्तम्।"

(संक्षिप्त० गोयी० वंगाक्षर, कारकपाद सूत्र ९)

(ज) भट्टोजिदीक्षित भी इसी पक्ष के पोषक हैं। वे सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि।' (सि० कौ० कारकप्रकरण)

इस स्ववचन की व्याख्या करते हुए वे प्रौढमनोरमा में और अधिक विस्तार से लिखते हैं—

'अर्थनिबन्धनेति। न तु स्वरूपाश्रया। 'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति तद्राजसूत्रभाष्ये पृच्छिपर्यायस्य चुदेरपि द्विकर्मकत्वदर्शनादिति भावः। तथा च भट्टिः (२.३२)—स्थास्नुं रणे स्मेरमुखो जगाद मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम्। कालिदासोऽपि (रघु० २.५१)—शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव। भारविश्च (किरात० ३.१०)—उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाऽभिदधे नरेन्द्रः। इति। एवं नाथत्यादयो बहवो द्विकर्मका बोध्याः।' (प्रौढम० पृष्ठ ४९५-९६)

शब्दकौस्तुभ में भी उन्हों ने इसी तरह के विचार व्यक्त किये हैं—

"स्यादेतत्, दुहादीनामर्थनिबन्धनेयं संज्ञा न तु स्वरूपाश्रया, 'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति तद्राजसूत्रभाष्ये पृच्छिपर्यायस्य चुदेरपि द्विकर्मकत्वदर्शनात्।—तथा च भिक्षेरर्थपरत्वाद् याचेरपि सिद्धम्, तुल्यार्थत्वात्। पौरवं गाम् अर्थयत इति यथा। तत्किं याचेः पृथग्ग्रहणेनेति चेद्? अत्राहुः—अनुनयार्थोऽत्र याचतिः। विनयं याचते, विनयायानुनयतीत्यर्थात्। अस्तु तर्हि याचेरेव ग्रहणम्। तस्याऽनेकार्थत्वाद् भिक्षेरपि सिद्धमिति चेत्? न, अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शनमाश्रित्य अनुनयार्थस्यैव याचेरिह ग्रहणात्। अत एव हि नयतिग्रहणेनाऽनुनयार्थस्यापि न गतार्थता। स्पष्टार्थं भिक्षेः पृथग्ग्रहणमित्यन्ये।" (शब्दकौस्तुभ १.४.५१)

(झ) ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी तत्त्वबोधिनी में इसी प्रकार के बल्कि कुछ अधिक सुधरे हुए विचार व्यक्त करते हैं—

"अर्थनिबन्धनेति। न तु स्वरूपाश्रया। 'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति तद्राजसूत्रभाष्ये पृच्छिपर्यायस्य चुदेरपि द्विकर्मकत्वदर्शनादिति भावः। अत एव 'स्थास्नुं रणे

स्मेरमुखो जगाद मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम्' इति भट्टिः (२.३२) प्रायुङ्क्त। एवं च नाथत्यादयो बहवो द्विकर्मका ज्ञेयाः। स्यादेतद्—यद्यर्थनिबन्धनेयं संज्ञा तर्हि नीवह्योरन्यतरो न पठनीयः, उभयोरप्येकार्थत्वादिति चेत् सत्यम्। भारं वहति, भारं नयतीत्यत्र यदि विलक्षणोऽर्थोऽनुभूयते तदा द्वयमपि पठनीयमेव, यदि तु नाऽनुभूयते तर्ह्यन्यतरो वा पठनीयः, उभयथापि लक्ष्यस्य निर्बाधत्वात्। अत्र वदन्ति 'जग्राह द्युतरुं शक्रम्' इत्युदाहरणमप्ययुक्तमिति मनोरमोक्तं चिन्त्यमेव, संज्ञायामर्थनिबन्धनत्वाद् दण्डेर्ग्रहणार्थत्वाच्चेति।"[1] (सि० कौ० तत्त्व० पूर्वार्ध पृष्ठ ३१०)

(ञ) व्याकरण-सिद्धान्तसुधानिधि में विश्वेश्वरसूरि भी इसी का अनुमोदन करते हैं—

"अथ भिक्षेः पृथगुपादानं व्यर्थम्। दुहादिनिर्देशस्यार्थपरत्वात्। याचिग्रहणेनैव संग्रहात्। न चार्थपरत्वे मानाऽभावः। 'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति तद्राजसूत्रे भाष्यनिर्देशात्। पृच्छिपर्यायतयैव चुदेर्द्विकर्मकत्वसम्भवात्। अत एव—'शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव' इति कालिदासादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते। अत एव त्याजेरपि दुह्यर्थत्वादेव सङ्ग्रह इति चेदत्राहुः—अनुनयार्थोऽत्र याचिः। अविनीतं विनयाय अनुनयतीति प्रत्ययात्। न च याचेरेव तर्हि ग्रहणमस्त्विति वाच्यम्। अर्थभेदाच्छब्दभेद इति प्रार्थनार्थस्य याचेरिहानुपादानात्। पक्षान्तरे तु स्पष्टार्थं भिक्षिग्रहणमिति।" (व्या० सि० सु० १.४.५१)

(ट) अन्नम्भट्ट भी व्याकरणमिताक्षरा में इसी पक्ष का समर्थन करते हैं—

'अत्र दुह्यादौ अर्थग्रहणात् पर्यायाणामपीष्यते। तेन भिक्षियाच्योः समानार्थत्वाद् भिक्षिग्रहणेनैव सिद्धे याचिग्रहणमनुनयार्थस्य संग्रहार्थम्। अविनीतं विनयं याचते।' (व्या० मि० १.४.५१)

(ठ) व्याकरणदीपिका में ओरम्भट्ट भी इसी का समर्थन करते हैं—

'अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि।' (व्या० दी० १.४.५१)

---

१. प्रक्रियाकौमुदी में रामचन्द्राचार्य ने अकथितं च सूत्र के परिगणन में ग्रह् धातु को भी परिगणित कर 'जग्राह द्युतरुं शक्रम्' ऐसा उदाहरण प्रदर्शित किया है। इस पर भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा में ग्रहेः पाठो निर्मूलः, जग्राह द्युतरुं शक्रम् इत्युदाहरणमप्ययुक्तम् ऐसा कह कर उस का खण्डन किया है। परन्तु साथ ही दीक्षित ने वहां यह भी लिखा है—दण्डिश्चेह ग्रहणार्थो न तु निग्रहार्थः। यदि दीक्षित की दूसरी बात मान ली जाये तो रामचन्द्राचार्य का पूर्वोक्त उदाहरण कैसे अयुक्त कहा जा सकता है?—इस आशय को ले कर तत्त्वबोधिनीकार इस प्रघट्टक से दीक्षित के वचनों में पूर्वापरविरोध प्रदर्शित कर रहे हैं। [वस्तुतो ग्रहिदण्डचोरर्थे विशेषः कश्चिदस्ति। माणवकाच्छतं गृह्णाति, माणवाच्छतं दण्डयतीत्येतयोर्नैकार्थ्यम्। पूर्वत्रादानमात्रं प्रतीयते परत्र दमस्यादानम्। नियतविषयाः शब्दाः—इति चारुदेवशास्त्रिणः प्राहुः।]

इस प्रकार न्यासकार द्वारा प्रवर्त्तित विचार कैयटोपाध्याय से लेकर भट्टोजिदीक्षित तक उत्तरोत्तर पल्लवित और पुष्पित होता चला गया। यद्यपि जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी, भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव, संक्षिप्तसार के कर्त्ता क्रमदीश्वर, मुग्धबोधकार बोपदेव, प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्राचार्य आदि इस विचार के पोषक प्रतीत नहीं होते तथापि उन के ग्रन्थों में इस का कोई विशेष खण्डन भी नहीं मिलता। परन्तु दीक्षित के अनन्तर नागेशभट्ट ने न्यासप्रवर्त्तित इस विचार का प्रबल विरोध किया। उन्होंने न केवल दीक्षित द्वारा निर्दिष्ट परिगणन[1] का किन्तु अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा का भी सप्रमाण सयुक्तिक घोर प्रत्याख्यान किया। निदर्शनार्थ उन के विचार यथा—

"एवं च भाष्याऽनुक्तानामत्र ग्रहणं प्राचामनुरोधेनेति तत्त्वम्। भाष्योक्ता हि दुहि-याचि-रुधि-प्रच्छि-भिक्षि-चिञ्-ब्रुवि-शासयः। अर्थनिबन्धनेयमिति। इदमपि कैयटानुरोधेन। वस्तुतस्तु येषामेतदर्थानां द्विकर्मकत्वमिष्टं तेषां व्यापारद्वयार्थत्वेन कर्त्तुरित्येव सिद्धम्। अन्यथा आख्यातोपयोगे (१.४.२९) इति सूत्रभाष्योक्तपरिगणनभङ्गापत्तिः। किं च भाष्ये भिक्षिग्रहणवैयर्थ्यापत्तिः। उभयार्थकयाचिग्रहणेनैव सिद्धेरित्यन्ये।"

(ल० श० शे० कारकप्रकरण)

"अष्टावेव दुहादयः। अर्थपरत्वे चैषां न मानम्। पृच्छिपर्यायचुदेर्व्यापारद्वयार्थत्वे कर्त्तुरितिसूत्रेणैव द्विकर्मकत्वसिद्धेः। दुहादीनामपि द्व्यर्थत्वे कर्त्तुरित्येव द्विकर्मकत्वम् इत्याकडारसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अत एवाऽत्र भिक्षिग्रहणं चरितार्थम्।"

(बृ० श० शे० पृष्ठ ८४१)

'भिक्षेरप्युभयार्थत्वेन विनिगमनाविरहाच्चिन्त्यमिदम्। किं चोभयार्थकयाचिग्रहणेनैव सिद्धे भिक्षिग्रहणम् अर्थग्रहणाभावे लिङ्गमेवोचितम्।' (प्रदीपोद्योत १.४.५१)

'अर्थोपलक्षणायेति। अत एव 'शकारमसि चोदितः' इति परस्मैपदानामिति सूत्रे भाष्ये पृच्छिपर्यायस्य चुदेर्द्विकर्मकप्रयोगः सङ्गच्छते। केचित्तु—चुदेर्व्यापारद्वयार्थत्वे कर्त्तुरित्यनेन द्विकर्मकत्वे प्रधानव्यापारजन्यफलाश्रयत्वेन प्रधानकर्मणि क्तेनोक्तप्रयोगोपपत्तेरर्थपरत्वे मानं चिन्त्यमित्याहुः।' (प्रदीपोद्योत १.४.५१)

नागेशभट्ट के इन विचारों का आश्रय लेकर वासुदेवदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमाटीका में लिखते हैं—

"अर्थनिबन्धनेयं संज्ञेति। कैयटादिभिस्तथा व्याख्यातत्वादिति भावः। तथा च एतदर्थकधात्वन्तरसंयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते। वस्तुतस्तु भाष्ये याचिरुधीत्याद्युदाहृतश्लोकद्वयपरिगणिता दुहि-याचि-रुधि-प्रच्छि-भिक्षि-चिञ्-ब्रूञ्-शासय इत्यष्टावेव धातवो द्विकर्मकाः। न तु पचि-दण्डि-जि-प्रभृतयस्तद्बहिर्भूता अपि। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञेत्यपि न युक्तम्, भाष्येऽदर्शनात्, भाष्ये याचिग्रहणेनैव सिद्धे भिक्षिग्रहणवैयर्थ्याच्च। नन्वेवं सति 'अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति 'तद्राजस्य बहुषु०' इतिसूत्रस्थभाष्यविरोधः। तत्र

---

१. दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥
(सि० कौ० कारकप्रकरण)

हि चुद्धातुश्चौरादिकः प्रच्छिपर्यायः, कर्मणि लट्, उत्तमपुरुषैकवचनम्। अप्रष्टव्य-महम्पृच्छ्य इत्यर्थः। अत्र चुदेर्द्विकर्मकत्वदर्शनादर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञेति विज्ञायत इति चेन्न। तावता चुद्धातोरपि द्विकर्मकत्वलाभेऽपि तदन्येषां द्विकर्मकत्वे मानाऽभावात्। अत एव कर्त्तुरीप्सिततममिति सूत्रभाष्ये 'द्व्यर्थः पचिः', तण्डुलानोदनं पचतीति तण्डुलान् विक्लेदयन् ओदनं निर्वर्तयतीति गम्यते। तण्डुलानोदनं पचतीति तण्डुलविकारम् ओदनं निर्वर्तयतीति गम्यते। ओदनं पचतीति ओदनार्थान् तण्डुलान् विक्लेदयतीति गम्यत इत्युदाहृतम्। कर्त्तुरीप्सिततममित्येव तण्डुलानामपि कर्मत्वमिति पचेरेतदुदाहरणत्वमनुपपन्नमेव। तस्माद् भाष्यपरिगणितवहिर्भूतधातूनाम् अन्तर्भावितण्यर्थकत्व एव द्विकर्मकत्वमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम्।" (सि० कौ० बालमनो० कारकप्रकरण)

महामहोपाध्याय शिवदत्तशास्त्री दाधिमथ नागेशभट्ट का समर्थन करते हुए यहां पर सिद्धान्तकौमुदी में एक टिप्पण देते हैं—

"अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति 'शकारमसि चोदितः' इति भाष्यप्रयोगे चुदेः प्रच्छिपर्यायत्वेन युष्मदस्मदोः कर्मत्वदर्शनेन तदन्यथाऽनुपपत्त्या अर्था एवैते निर्दिष्टा इति मनसि निधायाह—अर्थनिबन्धनेयमिति। परं तु भाष्ये—'परिगणनं तत्र क्रियते, दुहियाचिरुधिप्रछिभिक्षिचिञामिति' इति परिगणनपदवैयर्थ्यापत्तिः। किं च 'प्रच्छि-भिक्षि'[1] 'ब्रुवि-शासि' इति पर्यायोपादानाद् नार्थनिबन्धनम्। तथा च यत्र द्विकर्मकत्वं शिष्टैर्दर्शितं तत्र व्यापारद्वयार्थत्वमेवोररीकरणीयमिति बोध्यम्।"

(सि० कौ० दाधिमथटिप्पण पृष्ठ ९२)

नागेशभट्ट तथा उन के समर्थकों का अभिप्राय यह है कि महाभाष्य में आख्यातोपयोगे (१.४.२९) सूत्र पर जब अकथितं च (१.४.५१) द्वारा अनिष्ट में भी कर्मत्व की प्रसक्ति दिखाई गई तो भाष्यकार ने झट कहा कि ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि वहां दुहियाचिरुधि० इस प्रकार परिगणन किया गया है।[2] इस से स्पष्ट विदित होता है कि इन परिगणित आठ धातुओं के योग में ही अकथितं च सूत्र की प्रवृत्ति होती है अन्य धातुओं के योग में नहीं। किंच परिगणन में याच् और भिक्ष् धातुओं के पृथक्-पृथक् ग्रहण से यह भी प्रमाणित होता है कि अकथितं च द्वारा की जाने वाली संज्ञा अर्थाश्रया नहीं अपितु स्वरूपाश्रया है। अर्थाश्रया मानने वाले जो वैयाकरण याच् को अनुनयार्थक मान कर उस के पृथग्ग्रहण का समर्थन करते हैं वे

१. 'याचि-भिक्षि' इत्येव पाठ उचितः।

२. "किम्पुनराख्याताऽनुपयोगे कारकम् आहोस्विद् अकारकम्? कश्चात्र विशेषः? 'आख्याताऽनुपयोगे कारकमिति चेद् अकथितत्वात् कर्मसञ्ज्ञाप्रसङ्गः'। आख्याताऽनुपयोगे कारकमिति चेदकथितत्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्नोति। अस्तु तर्हि अकारकम्। 'अकारकमिति चेदुपयोगवचनानर्थक्यम्।' यद्यकारकमुपयोगवचनानर्थक्यम्। अस्तु तर्हि कारकम्। ननु चोक्तम्—आख्यातानुपयोगे कारकमिति चेद् अकथितत्वात् कर्मसंज्ञाप्रसङ्ग इति। नैष दोषः। परिगणनं तत्र क्रियते—दुहियाचिरुधिप्रछि-भिक्षिचिञामिति।' (महाभाष्य १.४.२९)

इस बात का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते कि उभय (अनुनय+याचना) अर्थ वाली याच् का ही केवल ग्रहण क्यों नहीं किया जिस से भिक्ष् का भी ग्रहण सुतरां हो जाता ?[1] अतः यदि कहीं शिष्टप्रयोगों में इन भाष्योक्त आठ धातुओं के अतिरिक्त किसी अन्य धातु में द्विकर्मकता देखी जाये तो वहां उस धातु के दो-दो व्यापारों की कल्पना कर **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (१.४.४९) से ही कर्मसंज्ञा माननी चाहिये।

भाष्य को परमप्रमाण मानने वाले दीक्षितजी आदियों के पास नागेशभट्ट की युक्तियों का कोई उत्तर नहीं है। परन्तु भाष्य को परमप्रमाण न मानने वाले न्यासकार आदियों पर इन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्य में भाष्यपरिगणित आठ धातुओं के समानार्थक अनेक धातुओं के योग में अप्रधानकर्म में द्वितीया का व्यवहार इतना अधिक होता आ रहा है[2] कि उन धातुओं के नागेशोक्तप्रकारेण दो दो व्यापार मानने की अपेक्षा **अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा** मानना ही लघु रहेगा।

[२.६] **अकथितं च** (१.४.५१) सूत्र पर काशिका में दिये गये 'गां दोग्धि पयः' उदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"ननु चात्र विहिताऽपादानसंज्ञा, अस्ति ह्यत्रापायः—गोः, दुहेः क्षरणार्थत्वात्। क्षरति गौः क्षीरम्, तद् गोर्दोग्धा क्षारयति, एवं च तत् क्षार्यमाणं ततोऽपक्रामतीति

१. हरदत्तमिश्र, हेमचन्द्र और भट्टोजिदीक्षित आदि ने यद्यपि इस के समाधान का प्रयत्न किया है तथापि वे इस का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके। दीक्षित ने तो अन्त में इसे स्पष्टार्थक मान लिया है जो स्पष्टतः हास्यास्पद प्रतीत होता है (देखें शब्दकौस्तुभ १.४.५१)।

२. कुछ उदाहरण यथा—

(क) **स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि।** (रघुवंश ५.१७)

अर्दति याचते। यहां शरद्घन गौणकर्म है, प्रधानकर्म 'अम्बु' है जो विशेषण द्वारा आक्षिप्त होने से अनिर्दिष्ट है।

(ख) **'सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम्।'** (नैषध ३.२५)

यहां 'लोकनाथम्' अप्रधानकर्म तथा 'इष्टानि' प्रधानकर्म है।

(ग) **'अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाऽप्रिये।'** (रामायण २.१२.१६)

यहां पर 'माम्' अप्रधानकर्म तथा 'प्रियाऽप्रिये' प्रधानकर्म है।

(घ) **'तोयदादितरं नैव चातको वनुते जलम्'।** (सुभाषित)

वनुते=याचते। यहां 'जलम्' प्रधानकर्म तथा 'इतरम्' अप्रधानकर्म है।

(ङ) **'संकल्पितार्थे विवृतमात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे।'** (कुमार० ३.२)

(च) **'शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम्।'** (रामायण १.३५.१६)

स्पष्ट एवाऽपायः, ततो नेदमुदाहरणमुपपद्यते ? नैतदेवम्, सत्यपि ह्यपाये नाऽत्र गोरवधित्वं विवक्षितम्, किं तर्हि ? क्षीरं प्रति निमित्तभावमात्रम्। यद्येवं गोः कारकत्वं न स्यात्, यथा 'वृक्षस्य पर्णं पतति' इत्यत्र वृक्षस्य न, क्षरणक्रियां प्रति निमित्तभावेन अविवक्षितत्वात्, नैतत्, अवधित्वं ह्यत्र गोर्न विवक्षितम्, क्षरणं प्रति निमित्तभावस्तु विवक्षित एव। 'वृक्षस्य पर्णं पतति' इत्यत्र तु पतनं प्रति वृक्षस्य निमित्तभावमात्रमपि न विवक्षितम्, न केवलमवधिभाव इत्यसमानम्।" (न्यास १.४.५१)

न्यासकार द्वारा निर्दिष्ट इन विचारों को हरदत्तमिश्र अपने शब्दों में लिपिबद्ध करते हुए इन का और भी परिष्कृत रूप प्रस्तुत करते हैं—

"यदा तु दुहेः क्षरणमर्थः—क्षरति गोः क्षीरम्, क्षीरं क्षारयति देवदत्त इति, तदा यद्यपि गोरपायेऽवधिभावो विद्यते, तथाप्यविवक्षिते तस्मिन् निमित्तत्वमात्रापेक्षायामुदाहरणोपपत्तिः। एवं चाऽवधित्वविवक्षायामपादानसंज्ञायां भवत्येव—गोर्दुह्यते पय इति। यदा तु पयस्येव विशेषणं गौः, तदा षष्ठी—गोः पयो दोग्धीति।"

(पदमञ्जरी १.४.५१)

प्रक्रियाकौमुदी में रामचन्द्राचार्य ने 'गां दोग्धि पयः' के स्थान पर 'यो दुदोह धरामन्नम्' उदाहरण दिया है। इसकी व्याख्या करते हुए विट्ठलाचार्य प्रसादटीका में न्यासकारोद्भावित विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"अत्रान्नं मुख्यं कर्म, तत्र कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म इति कर्मसञ्ज्ञा। कर्त्तुः क्रियया ईप्सिततमत्वात्। धरा त्वप्रधानम्। तत्र अकथितं च इति कर्मसंज्ञा। अपादानादिविशेषैरकथितत्वात्। ननु चाऽत्रोक्ता अपादानसञ्ज्ञा। तथाहि— धराऽन्नं क्षरति, तद् दोग्धा हरिः क्षारयति। एवं तत् क्षार्यमाणं ततोऽपक्रामतीति स्पष्ट एवाऽपायस्ततो नेदमुदाहरणमिति चेन्नैवम्। यद्यप्यत्रापायोऽस्ति तथापि नात्र धराया अवधित्वं विवक्षितं किंतु अन्नम्प्रति निमित्तत्वमात्रम् अतः स्यादेवोदाहरणम्। (प्रसाद, पूर्वार्ध, पृ० ३८९)

तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वती भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं—

'गां दोग्धीति—पयःकर्मकं गोसम्बन्धि दोहनमर्थः। पयोऽत्र मुख्यं कर्म, कर्त्तुरीप्सिततमत्वात्। गौस्तु पयसो निमित्ततामात्रेणोपात्ता, न तु वस्तुसताऽवधिभावेनेत्यपादानसञ्ज्ञाया अप्रवृत्तेरनेन कर्मसञ्ज्ञिका भवति। तदुक्तं हरदत्तेन—यद्यपि गोरवधिभावो विद्यते तथाप्यविवक्षिते तस्मिन् निमित्तमात्रविवक्षायाम् उदाहरणोपपत्तिरिति। एतेनावधित्वविवक्षायां गोरिति पञ्चम्येवेति स्पष्टम्। एतेनावधित्वविवक्षायां गोरिति पञ्चम्येवेति स्पष्टम्। यदा तु गौरित्येतत् पयसा सम्बध्यते तदा गोशब्दात् षष्ठ्येव भवतीत्यपि बोध्यम्।' (सि० कौ० तत्त्व० पृष्ठ ३०८)

[२.७] काशिकाकार अकथितं च (१.४.५१) सूत्र पर भाष्यपठित निम्नस्थ श्लोकवार्तिक को उद्धृत करते हैं—

नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः॥

इस की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अत्रापि श्लोके चकारो जयतिप्रभृतीनां प्रयोगेऽकथितस्य समुच्चयार्थः। शतं जयति देवदत्तं यज्ञदत्तः। शतं गर्गान् दण्डयतीति।' (न्यास १.४.५१)

उत्तरवर्ती प्रायः समस्त वैयाकरणों ने इसी का अनुसरण किया है। तद्यथा—

(क) उपाध्याय कैयट—

'तथैव चेति। चकारेण जयत्यादयः समुच्चीयन्त इत्याहुः। शतं जयति देवदत्तम्। शतं मुष्णाति देवदत्तम्। शतं दण्डयति देवदत्तम्।' (प्रदीप १.४.५१)

(ख) हरदत्तमिश्र—

'चकारेण जयत्यादयः समुच्चीयन्ते। शतं जयति देवदत्तम्, शतं मुष्णाति देवदत्तम्, शतं दण्डयति देवदत्तम्, कर्षति ग्रामं शाखाम्।' (पदमञ्जरी १.४.५१)

(ग) माधव—

"अथान्येऽपि द्विकर्मकाः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते—

नीवह्योर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं कर्त्तव्यमिति निश्चयः॥

गत्यर्थग्रहणं गत्यादिसूत्रोपात्तानामुपलक्षणम्।

जयतेः कर्षतेर्मन्थेर्मुषेर्दण्डयतेः पचेः।
तारेर्ग्रहेस्तथा मोचेस्त्याजेर्दीपेश्च संग्रहः॥
कारिकायां चशब्देन सुधाकरमुखैः कृतः।
ग्राहेरिह ग्रहो नैव हरदत्तस्य सम्मतः॥"

(मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ५३)

(घ) विट्ठल—

'अत्रापि चकारेण जयत्यादीनां समुच्चयः। तथा चोक्तं न्यासकारेण—अत्रापि श्लोके चकारो जयतिप्रभृतीनामनुक्तसमुच्चयार्थ इति।' (प्रसाद पूर्वार्ध, पृष्ठ ३८८)

(ङ) भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में—

'चकारेण जयत्यादयो गृह्यन्त इति कैयटः।' (शब्दकौस्तुभ, १.४.५१)

(च) बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट—

'ननु भाष्ये दुहि-याचि-रुधि-प्रच्छि-भिक्षि-चि-ब्रू-शास्-नी-वहि-हृतीनामेव ग्रहणस्योक्तत्वेनान्येषां ग्रहणं निर्मूलमिति चेन्न। चेनान्येषां ग्रहणमित्यर्थस्य कैयटेनोक्तत्वात्। अन्ये च 'जयतेः कर्षतेर्मन्थेर्मुषेर्दण्डयतेः पचेः' इति माधवोक्ताः। अत एव गर्गाः शतं दण्डयन्ताम् इति वृद्धिसूत्रस्थः, आक्रष्टव्या ग्रामं शाखा इति कृत्यानामिति सूत्रस्थश्च भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छते। एतेन पचेर्योगे तण्डुलादीनां सम्बन्धत्वेन विवक्षायां कर्मत्वे मानाभावेनात्र तस्याऽप्रामाणिकः पाठ इति परास्तम्।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ८३४)

(छ) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार विश्वेश्वरसूरि—

'चकारेण जयत्यादिसङ्ग्रह इति कैयटः। ते च माधवेनोक्ताः—

'जयतेः कर्षतेर्मन्थेर्मुषेर्दण्डयतेः पचेः ।
तारेर्ग्रहेस्तथा मोचेस्त्याजेर्दीपेश्च संग्रहः ॥
कारिकायां चशब्देन सुधाकरमुखैः कृतः ।' (व्या० सि० सु० १.४.५१)

(ज) बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित—

"यद्यपि 'दुह्यिाचि०—'इति प्रकृतसूत्रस्थश्लोकवार्त्तिके पचि-मथि-मुष्यादयो न पठिताः, तथापि चकारेण तेऽपि सङ्ग्राह्या इति कैयटः ।"
(सि० कौ० बालमनो० कारकप्रकरण)

[२.८] द्वितीयाश्रितातीत० (२.१.२४) सूत्र पर महाभाष्य तथा काशिका में श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम् यह वार्त्तिक पढ़ा गया है। इस वार्त्तिक में 'गम्यादीनामुपसंख्यानम्' इस प्रकार केवल 'गमि' के उल्लेख से भी काम चल सकता था, पुनः 'गमि' के साथ 'गामि' के उल्लेख की क्या आवश्यकता ? इसका समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'गमिगामिशब्दयोरेकतरोपादानेनैव सिद्धे द्वयोरुपादानमुणादीनामन्येषां च यथा स्यात्, अन्यथा यदि गमिग्रहणमेव क्रियेत तदादिशब्दस्य प्रकारवाचित्वाद् गमिप्रकाराणामुणादीनामेव ग्रहणं स्यात् । अथ गामिग्रहणमेव क्रियेत, तदा गामिप्रकाराणामनुणादीनां स्यात् । तस्माद् द्वयोरपि ग्रहणं कर्त्तव्यम् ।' (न्यास २.१.२४)

न्यास के इस युक्तियुक्त समाधान का प्रभाव अनेक उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों पर पड़ा । तथाहि कैयटोपाध्याय इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'गमिगाम्यादीनामिति । औणादिकानामन्येषां च संग्रहार्थमुभयोरुपादानम् ।'
(प्रदीप २.१.२४)

हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में यही कहते हैं—

'उणादीनामन्येषां च संग्रहार्थमुभयोरुपादानम् ।' (पदमञ्जरी २.१.२४)

इतना होने पर भी यह समाधान अनेक उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों को सुदृढ़युक्तिभित्ति पर आश्रित एवं रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ । यही कारण है कि अनेक उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने केवल 'गम्यादि' का ही उल्लेख किया है 'गमिगाम्यादि' का नहीं ।[1] उन के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हुए नागेशभट्ट प्रदीपोद्योत में लिखते हैं—

'उभयोरप्युणादिप्रत्ययान्तत्वेन कथमुभयोपादानेन अन्येषां चेत्यर्थलाभ इति चिन्त्यम् । तस्मादादिग्रहणस्य प्रकारार्थत्वेन व्याख्यानादेतदर्थलाभो बोध्यः । उभयोपादानं तु स्पष्टार्थमेवेति परे ।'[2] (२.१.२४)

---

१. यथा—गम्यादेरिष्टिः । (प्रक्रियाकौ० पूर्वार्ध पृष्ठ ४९१)
गम्यादीनामुपसंख्यानम् । (सि० कौ० पृष्ठ ४१९)
गम्यादेरिष्टिः । (व्या० मिता० २.१.२४)

२. वस्तुतः यहां नागेशभट्ट द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण ही कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं होता । नागेशभट्ट ने 'गामी' शब्द को औणादिक (देखें मा० धा० वृत्ति पृष्ठ

[२.६] सहयुक्तेऽप्रधाने (२.३.१६) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

'सहार्थेन योगे तृतीयाविधानात् पर्यायप्रयोगेऽपि भवति—पुत्रेण सार्धमिति।'
(काशिका २.३.१६)

ऐसा क्यों होता है, सूत्र में तो केवल 'सह' का ही उल्लेख है? इस शङ्का को उठा कर इस का समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'कुतः पुनरेतदवगतं सहार्थेन योगे तृतीयाविधानमिति? युक्तग्रहणात्। तस्य चैतदेव प्रयोजनम्। सहार्थेन योगे तृतीया यथा स्याद् नान्यत्।' (न्यास २.३.१६)

न्यासकार के इसी समाधान का आश्रय उत्तरवर्त्ती सब वैयाकरण करते चले आ रहे हैं—

हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'युक्तग्रहणादर्थग्रहणं लभ्यते, अन्यथा 'सहेऽप्रधाने' इत्येव वाच्यं स्यात्।'
(पदमञ्जरी २.३.१६)

यही बात विट्ठल प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादव्याख्या में कहते हैं—

'अत्र च युक्तग्रहणात् सहार्थोऽभिप्रेतः।' (प्रसाद, पूर्वार्ध पृष्ठ ४०८)

भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

'सहेऽप्रधाने—इत्येव वाच्ये युक्तग्रहणादर्थग्रहणम्। पुत्रेण सार्धम्।'
(शब्दकौस्तुभ २.३.१६)

ज्ञानेन्द्रस्वामी भी तत्त्वबोधिनी में यही कहते हैं—

'सहेनाप्रधाने—इत्येव वाच्ये युक्तग्रहणादर्थग्रहणमित्याह—सहार्थेनेति। सहार्थकशब्देन सह-साकं-सार्धमित्यादिनेत्यर्थः।' (सि० कौ० तत्त्व०, पूर्वार्ध, पृष्ठ ३२४)

नागेशभट्ट भी शेखरद्वय में यही लिखते हैं—

"पृथग्विनानानाभिरितिवत् सहेनेत्येव सिद्धे युक्तग्रहणं शब्दविशेषाऽनादरेणार्थयोगे भवत्वित्येतदर्थम्। तदुक्तं—सहार्थेनेति।'
(बृ० श० शे० पृष्ठ ८७७; ल० श० शे० पृष्ठ ६६३)

सभापतिशर्मोपाध्याय ने भी यही लिखा है—

'अत्र 'सहेनाप्रधाने' इति वक्तव्ये युक्तग्रहणसामर्थ्यात् सहार्थपरत्वं तेन सहशब्दसमानार्था ये शब्दाः सह-साकं-सार्धप्रभृतयस्तेषां योगेऽपि अप्रधानवाचकशब्दात् तृतीया भवति। अत एव मूले सहार्थेन युक्तमित्युक्तम्।'
(सि० कौ० लक्ष्मी पृष्ठ ८०६)

---

२७६) मानते हुए ऐसा अभिप्राय प्रकट किया है। पर न्यासकार आदि स्पष्टतः इसे अनौणादिक अर्थात् अष्टाध्यायीस्थप्रत्यय से ही निष्पन्न स्वीकार करते हैं। आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः (३.३.१७०) सूत्र से आवश्यक अर्थ में णिनि प्रत्यय करने पर 'गामी' शब्द सिद्ध होता है (देखें न्यास और पदमञ्जरी २.१.२४)। अत एव नागेशभट्ट ने स्वयं भी 'परे' कहकर इस में अरुचि ही दर्शाई है।

काशिकाकार को यहां 'सहार्थेन योगे' व्याख्या करने की प्रेरणा सम्भवतः अपने से पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों से प्राप्त हुई प्रतीत होती है।[1] परन्तु न्यासकार का इस अर्थ का पाणिनीयकरण (पाणिनिशास्त्र के अनुसार व्याख्यान) स्वोपज्ञ योगदान है, क्योंकि न्यासकार से पूर्व इस प्रकार का व्याख्यान अभी तक किसी पाणिनीय ग्रन्थ में नहीं मिला।

[२.१०] विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (२.३.२५) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

"ननु चाऽस्त्रियामित्युच्यते, तेन 'नास्तीह घटोऽनुपलब्धेः' इत्यादि न सिध्यति ? नैतदस्ति, विभाषा गुणे इति योगविभागः कर्त्तव्यः। तेन यत्रेष्यते तत्र योगविभागादिष्ट-सिद्धिरिति स्त्रियामपि भवति।"

न्यासकार से पूर्व इस प्रकार के योगविभाग का वर्णन अभी तक किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। महाभाष्य में इस का कहीं उल्लेख नहीं। वृत्तिकार ने भी इसकी कहीं चर्चा नहीं की। अतः न्यासकार की यह स्वोपज्ञा ही प्रतीत होती है। उत्तरवर्त्ती पाणिनीय व पाणिनीयेतर अनेक वैयाकरण इससे प्रभावित हुए हैं। निदर्शनार्थं यथा—

हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"विभाषा गुणे इति योगविभागाद् 'नास्तीह घटोऽनुपलब्धेः' इति स्त्रियामपि क्वचिद् भवति। केचित्त्वपादानपञ्चमीमेतामिच्छन्ति, तथा च 'नास्तीह घटोऽनुप-लब्धितः' इति 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति तसिलपि भवति। योगविभागवादिनां त्वाद्यादित्वात्तसिः।" (पदमञ्जरी २.३.२५)

पुनरपि—

"यदयं पञ्चम्यन्ताद्धेतोः प्रत्ययमाह तज्ज्ञापयति—भवति हेतोः पञ्चमीति। नैतदस्ति ज्ञापकम्, यत्र विभाषा गुणे० इति पञ्चमी तदर्थमेतत् स्यात्—जाड्यादागत इति। तस्माद् विभाषा गुणे० इत्यत्र विभाषेति योगविभागाद् अगुणवचनादपि पञ्चमी भवति।" (पदमञ्जरी ४.३.८१)

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल भी यही कहते हैं—

"धूमाद् वह्निः, उपलब्धेः पट इत्यादौ तु विभाषेति योगविभागात् पञ्चमी। योगविभागादिष्टसिद्धिरिति धनेन कुलमित्यादौ न।" (प्रसाद, पूर्वार्ध, पृष्ठ ४३४)

भट्टोजिदीक्षित भी इसी का समर्थन करते हैं—

"विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्, नास्ति घटोऽनुपलब्धेः।" (सि० कौ० कारकप्रकरण)

---

१. चान्द्रव्याकरण में इस पाणिनीयसूत्र के लिये सहार्थेन (चान्द्र० २.१.६५) ऐसा सूत्र निर्माण किया गया है। जैनेन्द्रव्याकरण (१.४.३०) में भी यही सूत्र लिखा मिलता है। कातन्त्रव्याकरण में तृतीया सहयोगे (कातन्त्र चतुष्टयवृत्ति कारक-प्रकरण सूत्र २३५) इस प्रकार सूत्र होने पर भी दुर्गसिंह अपनी वृत्ति में लिखते हैं—सहार्थेन योगे लिङ्गात् तृतीया भवति। इस प्रकार 'सह' से सहार्थकों का ग्रहण काशिका से पूर्व ही वैयाकरणनिकाय में प्रचलित हो चुका था।

शब्दकौस्तुभ में भी—

"इह विभाषेति योगो विभज्यते। तेनागुणेऽपि क्वचिद् भवति एवं स्त्रियामपि। एतच्च हेतुमनुष्येभ्यः० इति सूत्रे हरदत्तग्रन्थे स्पष्टम्। केचित्तु गुणशब्दोऽत्र परतन्त्रमात्रपरः। यस्य गुणस्य भावादित्यत्र यथा। तेन वह्निमान् धूमादित्यादावपि पञ्चमी सिद्धेत्याहुः। कथं तर्हि नास्तीह घटोऽनुपलब्धेरिति। अत्राहुः—स्त्रियामपि क्वचिद् भवति 'विभाषा गुणे' इति योगविभागात्। बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेरिति वार्त्तिकप्रयोगश्चेह ज्ञापक इति।"[1] (शब्दकौस्तुभ २.३.२५)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार विश्वेश्वरसूरि भी यही कहते हैं—

"गुणपदं परतन्त्रमात्रपरम्। यस्य गुणस्य भावाच्छब्दे निवेश इतिवत्। तेन वह्निमान् धूमादित्यादौ पञ्चमीति केचित्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेरित्यादौ तु बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेरिति वार्त्तिकप्रयोगात्। अन्ये तु विभाषेति योगविभागादुभयत्रापि सिद्धमित्याहुः।" (व्या० सि० सु० २.३.२५)

न्यासोत्तरवर्त्ती पाणिनीयेतर वैयाकरण भी न्यासकार के इस व्याख्यान से प्रभावित हुए विना न रहे। उन्होंने भी अपने अपने तन्त्रों में इसके समाधान के सोचने का पूरा पूरा प्रयत्न किया। तद्यथा—

जैनेन्द्रव्याकरण के व्याख्याता अभयनन्दी लिखते हैं—

'केति योगविभागः। तेन हेतौ काऽपि भवति। कृतकत्वादनित्यः, अनुपलब्धेर्नास्तीति।' (जैनेन्द्रमहावृत्ति १.४.३३)

पाल्यकीर्त्ति शाकटायनव्याकरण की अमोघा में इस तरह समाधान का यत्न करते हैं—

'अस्त्यत्र अग्निर्धूमात्, नास्त्यत्र घटोऽनुपलब्धेः, इत्यादौ नाग्नेर्धूमादिर्हेतुः। कस्य तर्हि ? तस्य ज्ञानस्य। अत्र प्रासादात्प्रेक्षत इत्यादिवद् भवति।' (शाकटायन० अमोघा १.३.१५४)

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज ने यहां पर इस प्रकार से सूत्रनिर्माण किया है—

हेतौ। (सरस्वती० ३.१.२२४)
ऋणे पञ्चमी। (सरस्वती० ३.१.२२५)
गुणे वा। (सरस्वती० ३.१.२२६)

---

१. अत्रत्यज्ञापकस्याप्यादितो निर्देशको न्यासकार एव प्रतीयते। तथा ह्यत्र न्यासकारेण व्याख्यायि—

"तनुदृष्टेरिति। कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी। तनुदृष्टिं वीक्ष्य बाहुलकमुक्तमिति। विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् इत्यनेन त्विह पञ्चमी न भवति। अस्त्रियामिति प्रतिषेधात्। अथवा 'विभाषा गुणे' इति योगविभागादिह पञ्चमी वेदितव्या।" (न्यास ३.३.१)

न स्त्रियामनुपलब्ध्यादिभ्यः ।[1] (सरस्वती० ३:१.२२७)

यहां पर पिछले दो सूत्र पाणिनि के **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) इस एक सूत्र के विषय के समावेशार्थ रचे गये हैं। अन्तिमसूत्रगत 'अनुपलब्ध्यादिभ्यः' स्पष्टतया न्यासोक्त समस्या की ओर संकेत करता है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपनी बृहद्वृत्ति में इस प्रकार समाधान प्रस्तुत करते हैं—

"अस्त्यत्राग्निर्धूमात्, नास्तीह घटोऽनुपलब्धेः, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यादौ नाग्न्यादेर्धूमादिर्हेतुः, कस्य तर्हि ? तज्ज्ञानस्य। कथं तर्हि पञ्चमी ? 'गम्ययपः कर्माऽऽधारे' (२.२.७४) इति भविष्यति, धूमादिकमुपलभ्याऽग्न्यादिः प्रतिपत्तव्य इति ह्यत्रार्थः, ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां तु हेतुत्वलक्षणा तृतीया भवति—धूमेनाग्निः, पनुपलब्ध्या घटाभावः, सत्वान्यथाऽनुपपत्त्या सर्वमनेकान्तात्मकं प्रतिपत्तव्यमिति।"

(हैमबृहद्वृत्ति २.२.७७)

संक्षिप्तसारव्याकरण में क्रमदीश्वर इस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'क्वचित्स्त्रियामपीष्यते ॥११०॥

घटो नास्तीहानुपलब्धेः।' (संक्षिप्तसार वंगाक्षर कारकपाद सूत्र ११०)

न्यासकार को एतद्विषयक प्रेरणा सम्भवतः चान्द्रव्याकरण से प्राप्त हुई होगी। क्योंकि चन्द्राचार्य ने सर्वप्रथम पाणिनि के सूत्र में 'अस्त्रियाम्' को छोड़ते हुए निम्नप्रकारेण संशोधन प्रस्तुत किया—

गुणे वा (चान्द्र०)।

वृत्तिः—उपलब्धेः सन्, उपलब्ध्या सन्। व्यवस्थितविभाषया क्वचित् तृतीयैव। बुद्धचा मुक्तः, प्रज्ञया मुक्तः। (चान्द्रवृत्ति २.१.७०)

[२.११] **स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च** (२.३.३९) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'स्वामीश्वराधिपतीनामेकार्थत्वेऽपि भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। इह मा भूद्—ग्रामस्य राजेति।'[2] (न्यास २.३.३९)

---

१. 'न स्त्र्यामनुपलब्ध्यादिभ्यः' इति मुद्रितः पाठोऽपपाठः।

२. चन्द्राचार्य ने पाणिनि के इस सूत्र को व्यर्थ समझ कर अपने व्याकरण में संगृहीत नहीं किया। इस विषय में वे अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में लिखते हैं—

"गवां स्वामीति सम्बन्धे षष्ठी, गोषु स्वामीति विषयसप्तमी। एवं गवामीश्वरः, गोष्वीश्वरः। गवामधिपतिः, गोष्वधिपतिः। गवां दायादः, गोषु दायादः। गवां साक्षी, गोषु साक्षी। गवां प्रतिभूः, गोषु प्रतिभूः। गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः।"

(चान्द्रवृत्ति २.१.९१)

न्यासकार का यह यत्न सम्भवतः चन्द्राचार्य के खण्डन के लिये है। चन्द्राचार्य

न्यासकार के इन विचारों को आचार्य पाल्यकीर्त्ति स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'स्वामीश्वराधिपतीति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे न भवति। ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिः।'[1] (शाकटायन० अमोघा० १.३.१७९)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने व्याकरण की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में भी यही भाव व्यक्त करते हैं—

'स्वामीश्वराधिपति० इति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे न भवति। ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिः। षष्ठ्येव भवति।' (हैमबृहद्वृत्ति २.२.९८)

स्वोपज्ञ शब्दार्णवन्यास में भी—

'स्वामीश्वराधिपतीनामेकार्थत्वेऽपि भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थमित्याह—स्वामीत्यादि। पर्यायान्तरयोगे न भवति। तदुदाहरति ग्रामस्य राजेति। स्वाम्यर्थग्रहणात् त्वत्रापि स्यात् तदर्थवृत्तित्वादिति।' (श्रीसिद्धहेम० श० न्यास २.२.९८)

सम्बन्धसामान्य की विवक्षा में 'गोष्वीश्वरः' आदि सिद्ध नहीं कर सकते, पर पाणिनि सम्बन्धसामान्य में भी 'गोष्वीश्वरः' आदि चाहते हैं। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र यहां पर स्वोपज्ञ शब्दार्णवन्यास में लिखते हैं—

"षष्ठीसप्तम्यौ द्वे अपि प्राप्ते अनेन विधीयेते उतान्यतरा प्राप्ता? इत्याशङ्क्याह—सप्तम्यर्थं वचनमिति। स्वाम्यादीनां गवादिसम्बन्धित्वम्, तन्निवृत्तौ हि तेषां स्वाम्यादिभावाऽभावः, तत्रास्त्येव षष्ठी, सप्तमी तु नास्ति क्रियाप्रतीत्यभावादिति पक्षे सप्तमीप्रापणार्थं वचनमिति।" (श्रीसिद्धहेम० श० न्यास २.२.९८)

भट्टोजिदीक्षित भी सिद्धान्तकौमुदी में यही कहते हैं—

'षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्' (सि० कौ० कारकप्रकरण)

यही कारण है कि न्यासकार के बाद किसी पाणिनीयेतर वैयाकरण की हिम्मत ही नहीं पड़ी कि चन्द्राचार्य की तरह इस सूत्र को अपने व्याकरण से निष्कासित कर सके। शाकटायन, श्रीभोज, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर आदि सबने इसे अपने अपने व्याकरणों में यथोचित स्थान दिया है।

१. Dr. Robert Birwe अमोघावृत्ति के अपने Introduction (Page 89) में लिखते हैं—

This vindication of स्वामीश्वराधिपति in पा० 2.3.39 by जिनेन्द्रबुद्धि, who is the first grammarian to advance it, has been adopted by शाकटायन in the अमोघावृत्ति on 1.3.179 : 'स्वामीश्वराधिपतीति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे न भवति। ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिः' because his Sutra 1.3.179 is Literally identical with पा० 2.3.39.

The additional example and the easier wording of the argument make it plain that शाकटायन is the borrower, but not जिनेन्द्रबुद्धि.

आचार्य क्रमदीश्वर संक्षिप्तसार में इसी भाव को स्वाम्यादिगण बना कर प्रकट करते हैं—

'स्वाम्याद्यैः' (१९२)। 'स्वाम्याद्यैः शब्दैर्युक्तादुत्तरे ङि-ओस्-सुपो भवन्ति षष्ठी च। गोषु स्वामी, गवां स्वामी। ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत।'

(संक्षिप्त० कारकपाद, सूत्र १९२)

भट्टोजिदीक्षित ने इसी भाव को शब्दकौस्तुभ में 'सप्तभिर्योगे' इस प्रकार परिगणन करके प्रकट किया है—

'एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ भवतः।' (शब्दकौस्तुभ २.३.३९)

कहीं पर्यायों का ग्रहण न हो जाये इस लिए दीक्षित 'सप्तभिः' इस प्रकार संख्या से निर्देश करते हैं।

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार तथा व्याकरणदीपिकाकार ने भी यही मार्ग अपनाया है—

'एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः।' (व्या० सि० सु० २.३.३९)

'एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः।' (व्या०दी० २.३.३९)

नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

'स्वाम्यर्थेति वक्तव्ये ईश्वराधिपत्योर्ग्रहणं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। स्वरूपपरत्वाद् विरूपाणामिति नैकशेषः।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ९४१)

'शब्दपरत्वाद् विरूपाणामपीति नैकशेषः। पर्यायान्तरसङ्ग्रहापत्त्या स्वाम्यर्थं इति नोक्तम्।' (ल० श० शे० कारकप्रकरण)

यही भाव सभापतिशर्मोपाध्याय अपनी 'लक्ष्मी' टीका में व्यक्त करते हैं—

'पर्यायान्तरसंग्रहापत्त्या स्वाम्यर्थं इति नोक्तम्।'

(सि० कौ० लक्ष्मी, पृष्ठ ८५४)

[२.१२] लिट्यन्यतरस्याम् (२.४.४०) सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"ननु च घस्लृ अदने इत्येतस्य जघास, जक्षतुः, जक्षुरिति भविष्यति, अद भक्षणे इत्यस्य आद, आदतुः, आदुरिति। अस्ति घसिः प्रकृत्यन्तरम्, सृघस्यदः क्मरच् इति क्मरज्विधानात् तत्कथमिह लिटि विकल्पविधानम्? घसेः प्रकृत्यन्तरस्याऽसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्। तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधातुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनं च, तत्प्रयोगो न भवति।"

(न्यास २.४.४०)

न्यासकार के इस व्याख्यान का प्रायः समस्त उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने अनुसरण किया है। तद्यथा—

(क) हरदत्तमिश्र इसी सूत्र पर पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"प्रकृत्यन्तरस्याऽसर्वविषयत्वज्ञापनार्थमिदम्। तेन यत्र लिङ्गं वचनं वा नास्ति, तत्र तस्य प्रयोगो न भवति। तत्र लृदित्करणं लुङि प्रयोगस्य लिङ्गम्, घसिश्च सान्तेष्वित्य-

नुदात्तपाठो वलादावार्धधातुके, सृघस्यदः क्मरच् इति वचनं क्मरचि, भूवादौ परस्मैपदिषु पाठात् परस्मैपदे प्रयोगः।" (पदमञ्जरी २.४.४०)

(ख) आचार्य सायण माधवीय-धातुवृत्ति में यही भाव व्यक्त करते हैं—

"अयं न सार्वत्रिकः, लिट्यन्यतरस्याम् इत्यदेर्घस्लादेशविकल्पविधानवैयर्थ्य-प्रसङ्गात्। द्वैरूप्यं हि साध्यम्। ततश्च यत्र लिङ्गं वचनं वाऽस्ति तत्रैवास्य प्रयोगः। अत्रैव पाठः शपि परस्मैपदे लिङ्गम्। लृदित्करणमङि। 'घसिश्च सान्तेषु' इतीण्निषेधो वलाद्यार्धधातुके। यत्र प्रत्यये प्रतिपदोपादानम् सृघस्यदः क्मरच् इत्यादौ तद्वचनम्।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १७८)

(ग) भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

"अयं न सार्वत्रिकः। लिट्यन्यतरस्यामित्यदेर्घस्लादेशविधानात्। ततश्च यत्र लिङ्गं वचनं वाऽस्ति तत्रैवास्य प्रयोगः। अत्रैव पाठः शपि परस्मैपदे लिङ्गम्। लृदित्करणमङि। अनिट्कारिकासु पाठो वलाद्यार्धधातुके। क्मरचि च विशिष्योपादानम्।" (सि० कौ०, उत्तरार्ध, पृष्ठ १००)

"प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषयत्वज्ञापनार्थमिदं सूत्रम्। तेन यत्र लिङ्गं वचनं च नास्ति तत्र तस्य प्रयोगो न। तत्र लृदित्करणं लुङि प्रयोगस्य लिङ्गम्। घसिश्च सान्तेष्विति अनुदात्तपाठो वलादावार्धधातुके। सृघस्यदः क्मरच् (३.२.१६०) इति वचनं क्मरचि भूवादौ परस्मैपदिषु पाठाच्छपि परस्मैपदेषु प्रयोगः। अत एवाशीर्लिङि कर्त्तरि नाऽस्य प्रयोग इति माधवादयः।" (शब्दकौस्तुभ २.४.४०)

(घ) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में आचार्य विश्वेश्वर भी यही कहते हैं—

न च भ्वादिषु 'घस्लृ अदने' इति स्वतन्त्रोऽपि धातुः। तस्य 'जघास' इति, अत्तेश्च 'आद' इति सिद्धे किमनेनेति वाच्यम्। तस्याऽसार्वत्रिकत्वज्ञापनार्थत्वात्। तथा च यत्र लिङ्गं वचनं वाऽस्ति तत्रैव तस्य प्रयोगो नाऽन्यत्र। तथाहि—पाठः शपि परस्मैपदे लिङ्गम्। घसति, घसतु, अघसत्, घसेत्। लृदित्करणमङि। अघसदित्यादि। अनिट्कारिकासु पाठो वलाद्यार्धधातुके। घस्ता, घत्स्यतीत्यादि। 'सृघस्यदः क्मरच्' इति विशिष्योपादानाद् घस्मरः। अन्यत्रानभिधानम्।" (व्या० सि० सु० २.४.४०)

(ङ) आचार्य हेमचन्द्र-सूरि श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन के परोक्षायां न वा (४.४.१८) सूत्र की व्याख्या करते हुए बृहद्वृत्ति में न्यासोक्त मत का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'घस्यदिभ्यामेव सिद्धे विकल्पवचनं घसेरसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्। तेन घस्ता घस्मर इत्यादावेव घसेः प्रयोगो भवति।' (हैमबृहद्वृत्ति ४.४.१८)

(च) सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता नारायणदण्डनाथ हृदयहारिणी व्याख्या में इसी मत का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'धात्वन्तरेण सिद्धे लिटि वचनं घसेरसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्। तेन घस्ता, घस्मर इत्यादावेव घसेः प्रयोगो भवति।' (सरस्वती० हृदय० ६.२.९३)

(छ) संक्षिप्तसारव्याकरण के घण्-लुङ्-ङेषु चादो घस्लृलिटि वा (तिङन्तपाद ४८३) सूत्र की व्याख्या करते हुए गोयीचन्द्र न्यास का नाम निर्देशपूर्वक निम्नस्थ वचन लिखते हैं—

"घस्लृ अदने—इत्यस्य जघास, अदेस्तु आद इति सिद्धे लिटि वेति कृतं वैचित्र्यार्थम्। न्यासकारस्त्वाह—घसेः प्रकृत्यन्तरस्याऽसर्वविषयत्वज्ञापनार्थं लिटि वेति विकल्पविधानम्। तेन यत्र लिङ्गं नास्ति तत्रास्याऽप्रयोगः।"

इस प्रकार इस विषय में सम्पूर्ण व्याकरणजगत् न्यासकार का अधमर्ण है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात न्यासकार की स्वोपज्ञ नहीं है। यह व्याख्या उन्होंने अवश्य ही किन्हीं प्राचीन व्याख्याओं के अनुरोध व अनुकरण पर लिखी होगी। इस में सबसे बड़ा हेतु शासि-वसि-घसीनां च (८.३.६०) सूत्र पर उनका व्याख्यान है। वे वहां बड़े ऊंहापोह से घस् इस प्रकृत्यन्तर का लिट् में 'जक्षतुः' प्रयोग सिद्ध करते हैं जो उनके अत्रत्य व्याख्यान के विरुद्ध पड़ता है।[1]

[२.१३] आचार्य पाणिनि ने प्रत्ययः (३.१.१), कृदतिङ् (३.१.९३), धातोः (३.१.९१), अङ्गस्य (६.४.१), भस्य (६.४.१२९) आदि को अधिकृत करते समय एकवचन का प्रयोग किया है परन्तु कृत्याः (३.१.९५) को अधिकृत करते समय बहुवचन का, इस का क्या कारण है? क्या यहां पर 'कृत्यः' इस प्रकार एकवचनान्त-निर्देश से काम नहीं चल सकता था? इस शङ्का का समाधान महाभाष्य, काशिका आदि में उपलब्ध नहीं है। न्यासकार सर्वप्रथम इस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"कृत्याः इति बहुवचनेन निर्देशो बहुत्वात् सञ्ज्ञिनाम्। अथवा—अनुक्तप्रत्यय-सङ्ग्रहार्थं बहुवचनम्। तेन 'केलिमर उपसङ्ख्यानम्' इत्येतत् कर्त्तव्यं न भवति।"
(न्यास ३.१.९५)

इसी का अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"कृत्या इति बहुवचनमनुक्तसमुच्चयार्थम्, तेन 'केलिमर उपसङ्ख्यानम्' इत्यादि नोपसंख्येयं भवति।" (पदमञ्जरी ३.१.९५)

शब्दकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

"बहुवचनमनुक्तसमुच्चयार्थम्। तेन 'केलिमर उपसङ्ख्यानम्' इत्यादिसूत्रेणैव सूचितं भवति।" (शब्दकौस्तुभ ३.१.९५)

'केलिमर उपसङ्ख्यानाम्' की व्याख्या करते समय पुनरपि—

'कृत्या इति बहुवचनेनैतत् सूचितम्।' (शब्दकौस्तुभ ३.१.९६)

तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

"अत्र 'प्रत्ययः' इत्यादिवत् 'कृत्यः' इत्यधिकारेणापीष्टसिद्धेर्बहुवचनमनुक्तप्रत्यय-समुच्चयार्थम्, तेन केलिमरादयो ज्ञापकसिद्धा इति नोपसङ्ख्येया इत्याहुः।"
(सि० कौ० तत्त्व० उत्तरार्ध, पृष्ठ ३८२)

---

१. इस स्थल का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के पृ.८२ पर देखें।

[२.१४] ददाति-दधात्योर्विभाषा (३.१.१३९) सूत्र पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"ननु च 'दद दाने', 'दध धारणे' इत्येताभ्यामचि कृते 'ददः' 'दधः' इति, दा-धा—इत्येताभ्यामपि णे कृते 'दायो धाय' इति भविष्यति, तत्किमित्यनेन सूत्रेण ? नैतदस्ति; अचि हि सति अच्कावशक्तौ (६.२.१५७) इत्यन्तोदात्तं स्यात्। शे तु नञ्स्वर एव भवति—अददः, अदध इति।" (न्यास ३.१.१३९)

न्यासकार के इस समाधान से उत्तरवर्ती प्रायः सब वैयाकरण प्रभावित और चमत्कृत हुए हैं, सब ने अपने अपने ग्रन्थों में इसी का अनुसरण किया है। तथाहि—

(क) हरदत्तमिश्र इसी का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"दद दाने, दध धारणे—इत्येताभ्यामचि कृते ददः, दध इति सिद्धम्, दा-धाभ्यामपि णे कृते दायो धाय इति, इदं तु वचनं स्वरार्थम्—अददः, अदध इति अच्कावशक्तौ (६.२.१५७) इत्यन्तोदात्तं मा भूत्, नञ्स्वर एव यथा स्यादिति।"

(पदमञ्जरी ३.१.१३९)

(ख) प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

"ननु—'दद दाने', 'दध धारणे' आभ्यामपि दद दध इति स्यात्। दाधाभ्यां णे दायो धाय इति। तत्किमनेन सूत्रेण ? न, अचि अच्कावशक्तौ इत्यन्तोदात्तः स्यात्, शे तु नञ्स्वर एव—अददः, अदधः।" (प्रसाद उ० पृ० ५०२)

(ग) भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

"दद दाने, दध धारणे—आभ्यामचि 'ददः' 'दधः' इति सिद्धम्। दाधाभ्यां णे 'दायः' 'धायः' इति। सत्यम्, स्वरार्थमिदं सूत्रम्। अददः, अदधः। अत्र नञ्स्वरेण आद्युदात्तत्वं यथा स्यात्। अजन्तत्वे तु अच्कावशक्तौ (६.२.१५७) इत्यन्तोदात्तत्वमिति महान् भेदः।" (शब्दकौस्तुभ ३.१.१३९)

"ननु दद दाने, दध धारणे—आभ्यामचि ददो दध इति। दाधाभ्यां णे दायो धाय इति च सिद्धम्। सत्यम् स्वरार्थमिदं सूत्रम्। अददः, अदधः। इह हि अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्यते। अजन्तत्वे तु अच्कावित्यन्तोदात्तत्वं स्यात्।"

(प्रौढम० पृष्ठ ७१८)

(घ) तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

"दद दाने, दध धारणे—आभ्यामचि ददो दध इति सिद्धम्, दाधाभ्यामादन्तलक्षणे णप्रत्यये दायो धाय इत्यपि। ततश्चेदं सूत्रं व्यर्थमिति चेत्, सत्यम्। स्वरार्थमिदं सूत्रम्। अददः, अदधः—इह हि अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्यते, अजन्तत्वे तु अच्कावशक्तौ इत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्।" (सि० कौ० तत्त्व० उ० पृष्ठ ४०२)

(ङ) बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी इसी मत को पुष्ट करते हैं—

"यद्यपि दद-दधाभ्याम् अचि 'दद' इत्यादि सिद्धम्, दाधोश्च णे दाय इत्यादि, तथापि 'अददः' इत्यादौ अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्यते। अचि तु अच्कावशक्तौ इत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्, इतीदमारब्धम्।" (बृ० श० शे० पृष्ठ २०२५)

(च) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में भी यही कहा गया है—

"ननु—दद दाने, दध धारणे—आभ्यां पचाद्यचि ददः दधः इति। दाञ्-धाञ्भ्यां णे दायो धाय इति च सिद्धम्। उच्यते—अददः, अदध इत्यत्राव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर-सिध्यर्थं सूत्रम्। अचि अच्कावशक्तौ इत्यन्तोदात्तप्रसङ्गात्।"

(व्या० सि० सु० पृष्ठ १३२०)

न्यासकार के इस समाधान का न केवल पाणिनीय वैयाकरणों पर प्रभाव पड़ा अपितु पाणिनीयेतर वैयाकरण भी इस के प्रभाव से अछूते न रहे। जिन जिन के व्याकरणों में स्वर-प्रकरण न था उन्हों ने इस सूत्र को अपने अपने व्याकरणों से बहिष्कृत कर दिया तथा जिन जिन के व्याकरणों में स्वर-प्रकरण था उन्हों ने इस सूत्र को न्यासोक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने-अपने सूत्रपाठों में स्थान दिया। निदर्शनार्थ यथा—

शाकटायनव्याकरण लौकिक व्याकरण है, इस में स्वरप्रकरण नहीं है अतः इस में से यह सूत्र बहिष्कृत है। इस की स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में स्पष्ट लिखा भी है—

"ददः, दध इति ददिदध्योरच्। दायः, धाय इति दाञ्धाञोर्णः। तेन 'ददातिदधात्योर्विभाषा' नाऽऽरभ्यते।" (शाकटायन० अमोघा ४.३.९७)

हैमशब्दानुशासन भी लौकिक व्याकरण है। उस में भी स्वरप्रकरण नहीं है। अतः उस में भी इस सूत्र का उल्लेख नहीं है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी पाल्यकीर्त्ति की तरह कार्य का निर्वाह करते हुए अपनी स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

"कथं ददः, दधः? ददिदध्योरचा सिद्धम्।' (हैमबृहद्वृत्ति ५.१.६४)

हेमन्द्रसूरि के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान-कार लिखते हैं—

"आदन्तेभ्यो णस्य विधानेन ददातेर्दधातेश्च 'दायः, धायः' इत्येव प्रयोगो न्याय्यो न तु 'ददः, दधः' इत्याशङ्कते—कथं ददः, दधः? इति। समाधत्ते—ददिदध्योरचा सिद्धमिति। 'ददि दाने' इत्यस्य ददते इत्यचि—ददः, 'दधि धारणे' इत्यस्य दधते इत्यचि—दध इति च सिध्यति, नायम्प्रयोगो ददातेर्दधातेश्चेति भावः।"

(हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान ५.१.६४)

सरस्वतीकण्ठाभरण लोकवेदोभयपरक व्याकरण है, उस में स्वरप्रकरण दिया गया है। अतः उस में यह सूत्र हटाया नहीं गया अपितु इस का यत्नपूर्वक संशोधित रूप उट्टङ्कित किया गया है—

'दाञ्-धाञोर्वा।' (सरस्वती० १.६.२१६)

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए दण्डनारायण भी न्यासकारवत् स्वरभेद के प्रयोजन का उल्लेख करते हैं—

"दद्धोरचा सिद्धे दाधोः शविधानम् 'अच्कावशक्तम्' इत्यन्तोदात्तत्वबाधनार्थम्। तेन अददः, अदध इति नञ्स्वर एव भवति।" (सरस्वती० हृदय० १.३.२१६)

इस प्रकार सम्पूर्ण व्याकरणजगत् न्यासकार के सुझाए समाधान का मुक्तकण्ठ

से प्रशंसक है। परन्तु इस शङ्का की प्रेरणा न्यासकार को सम्भवतः चान्द्र और कातन्त्र व्याकरणों से प्राप्त हुई होगी। उन दोनों व्याकरणों में पाणिनि के इस सूत्र को हटा दिया गया है। चान्द्रवृत्ति में यद्यपि इस का कुछ उल्लेख नहीं किया गया[1] तथापि कातन्त्रवृत्ति में 'ददः' और 'दधः' को दद् और दध् धातुओं से स्पष्टतः निष्पन्न माना गया है।[2] परन्तु न्यासकार ने जो समाधान दर्शाया है वह उन का स्वोपज्ञ प्रतीत होता है।

[२.१५] गेहे कः (३.१.१४४) सूत्रस्थ 'गेहे' पद से उपपद का ग्रहण न होकर कर्त्ता की उपाधि (विशेषण) का ग्रहण होता है—ऐसा काशिकाकार के अर्थ से प्रतीत होता है।[3] परन्तु ऐसा क्यों होता है ? इस शङ्का के समाधानार्थ ज्ञापक का आश्रय लेते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"एतेन 'गेहे' इति प्रत्ययार्थस्य कर्त्तुरुपाधिरयम्, न तूपपदमिति दर्शयति। एतच्चाश्वपत्यादौ[4] गृहपतिशब्दपाठाद् विज्ञायते।" (न्यास ३.१.१४४)

न्यासकार का हेतुप्रदर्शनार्थ यहां पाणिनि के किसी निर्देश का आश्रय करना अत्यन्त समुचित है। इसीलिए उत्तरवर्त्ती सब वैयाकरणों ने भी इस स्थल पर न्यासकार का ही अनुसरण किया है। तथाहि—हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'गेह इति प्रत्ययार्थस्य कर्त्तुर्विशेषणं नोपपदम्, गृहपतिना संयुक्ते० (४.४.९०) इति निर्देशाद् इत्याह—गेहे कर्त्तरीति।' (पदमञ्जरी ३.१.१४४)

यहां पर पदमञ्जरीकार ने न्यासोक्त ज्ञापक गणपाठस्थ 'गृहपति' शब्द की अपेक्षा अष्टाध्यायीसूत्रस्थ निर्देश का उल्लेख कर न्यासोक्त हेतु में और भी सौष्ठव ला दिया है।

भट्टोजिदीक्षित यहां पर न्यासकार और हरदत्त को उद्धृत तो करते हैं पर वे

---

१. चान्द्रव्याकरण के अन्त में भी स्वरप्रकरण था जो अब लुप्त हो चुका है—यह बात अनेक युक्तियों व प्रमाणों से यु० मीमांसक ने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथमभाग में सिद्ध की है। उन की युक्तियां व प्रमाण अकाट्य प्रतीत होते हैं ऐसी अवस्था में ददातिदधात्योर्विभाषा सूत्र को चान्द्रव्याकरण में से क्यों बहिष्कृत कर दिया गया ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का यही उत्तर हो सकता है कि जिस स्वरप्रयोजन का न्यासकार ने उल्लेख किया है सम्भवतः वह प्रयोजन चान्द्रव्याकरणकार को सूझा नहीं, अतः उन्हों ने इसे निष्प्रयोजन समझ कर बहिष्कृत कर दिया। अथवा इस में कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं। इस का चाहे कुछ कारण रहा हो परन्तु इस से इतना स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस प्रयोजन की सूझ न्यासकार की स्वोपज्ञ है, पूर्वतः प्राप्त नहीं।

२. 'ददः, दध इति दद्धोरचा सिद्धम्'। (कातन्त्र-कृद्वृत्ति दुर्ग० सूत्र १३८)

३. ग्रहेर्धातोः कः प्रत्ययो भवति गेहे कर्त्तरि—(काशिका ३.१.१४४)।

४. अश्वपत्यादिभ्यश्च (४.१.८४)।

उन के हेतु को दुर्बल बताते हुए पाणिनिसूत्र को भी अनावश्यक ठहराते हैं। वे शब्द-कौस्तुभ में लिखते हैं—

"गेह इति च प्रत्ययार्थस्य कर्त्तुर्विशेषणं न तूपपदम् गृहपतिना संयुक्ते० (४.४.९०) इति निर्देशादिति न्यासकारहरदत्तौ। 'गृह ग्रहणे' इति चुरादावदन्ताण्णिचि पचाद्यचा, भ्वादेरिगुपधलक्षणेन कप्रत्ययेन वा गृहशब्दस्य सिद्धौ निर्देशस्यान्यथोपपत्तेर्दुर्बलमिदं ज्ञापकम्। व्याख्यानादेव तु कर्तृविशेषणतेत्यवधेयम्। वस्तुतस्तु उक्तरीत्यैव गृहशब्दसिद्धेः गेहे कः इति सूत्रं शक्यमकर्त्तुमिति दिक्।"

(शब्दकौस्तुभ ३.१.१४४)

प्रौढमनोरमा में भी दीक्षित इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं—

'गेह इति प्रत्ययार्थस्य कर्त्तुर्विशेषणं नोपपदम्। गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः इति निर्देशादित्यभिप्रेत्याह—गेहे कर्त्तरीति। एतत्सूत्रं शक्यमकर्त्तुम्। गृहू ग्रहणे इति भ्वादेरिगुपधलक्षणे कप्रत्यये कृते गृहशब्दस्य सिद्धेः।'[1] (प्रौढम० पृष्ठ ७१९)

तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

'गेह इति प्रत्ययार्थस्य कर्त्तुर्विशेषणम्, नोपपदम्। गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः इति निर्देशादित्यभिप्रेत्याह—गेहे कर्त्तरीति। एतत्सूत्रं शक्यमकर्त्तुम्। 'गृहू ग्रहणे' इति भ्वादेरिगुपधलक्षणे कप्रत्यये कृते गृहशब्दस्य सिद्धेः।" (सि० कौ० तत्त्व० उ० पृष्ठ ४०३)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी यही कहते हैं—

"गेह इति नोपपदम्, किन्तु प्रत्ययार्थकर्तृनिर्देशः। गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः इत्यादिप्रयोगात्। केचित् 'गृह ग्रहणे' इति भ्वादेरिगुपधत्वात् के गृहशब्दसिद्धेरिदं सूत्रं व्यर्थमित्याहुः।"

(व्या० सि० सु० ३.१.१४४)

नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में दीक्षितोक्त सूत्रवैयर्थ्य का कुछ भी उल्लेख न कर केवल न्यास और हरदत्त के ज्ञापक का ही आश्रय लेते हुए लिखते हैं—

'गेह उपपदे इति नार्थः। गृहपतिनेति निर्देशात्।' (बृ० श० शे० पृष्ठ २०२५)

परन्तु लघुशब्देन्दुशेखर में वे दीक्षितोक्त सूत्रवैयर्थ्य का सविस्तर खण्डन करते हुए लिखते हैं—

"यत्तु 'गृह ग्रहणे' इति चुरादेरदन्ताद् णिचि पचाद्यचि भ्वादेर्वा गृहूधातोरिगुपधलक्षणे के गृहं सिद्धम्, रूढिस्वीकाराच्च नातिप्रसङ्गः, तत्स्थेषु दारेष्विव—इतीदं सूत्रं शक्यमकर्त्तुमिति, तन्न। तौ धातू छान्दसाविति सूत्राशयात्। धातुषु पाठार्थादौ आगमभ्रंशस्य क्षीरस्वामिनोक्तत्वेन[2] सूत्रपाठे च तद्भ्रंशाभावेन एवमेवौचित्यात्।

---

१. वस्तुतः इस विचार के इदम्प्रथमतया प्रस्तोता भट्टोजिदीक्षित ही नहीं हैं, यह विचार उन से सैंकड़ों वर्ष पूर्व भी वैयाकरणों में चलता था। देखें—मैत्रेयरक्षित-प्रणीत धातुप्रदीप (पृष्ठ ४८)।

२ यहां पर नागेशभट्ट क्षीरस्वामी के निम्नस्थ सुप्रसिद्ध श्लोक की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं—

उच्छृङ्खलास्तु तयोर्धात्वोरप्रामाणिकः पाठः। वेदे तत्साध्यप्रयोगो यदि भवेत् स वर्णव्यत्ययादिना ग्रहेरेव साध्य इत्याहुः। अत एव भाष्यवार्त्तिककाराभ्यां नेदम्प्रत्याख्यातम्।"
(सि० कौ० ल० श० शे० उ० पृष्ठ ४०३)

नागेशभट्ट के इस युक्तियुक्त खण्डन की व्याख्या और समर्थन करते हुए जैनाचार्य श्रीमद्विजयलावण्यसूरि हैमशब्दानुशासन के शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान में निम्नस्थ वचन लिखते हैं—

"अयमाशयः—यद्यपि धात्वन्तरेभ्योऽपि गृहशब्दस्य निष्पत्तिः सम्भवति, तथापि तस्यार्थविशेषनैयत्याय सूत्रमावश्यकम्। यदि च यथा गृहशब्दस्य पुंलिङ्गस्य लक्षणया दारार्थे निरूढिस्तथैव गेहेऽपि रूढिस्वीकारान्नान्यत्र प्रयोग इत्युच्यते, तदा चुरादेर्भ्वादेर्वोक्तस्य धातोश्छान्दसत्वस्याभिमतत्वेन न तयोर्लोके प्रयोग इति ग्रहधातोर्गृहशब्दस्य साधनाय सूत्रमावश्यकम्। यदि च तयोश्छान्दसत्वं न सर्वाभिमतमित्युच्यते तदा क्षीरस्वाम्युक्तदिशा धात्वर्थपाठस्यापभ्रष्टत्वेनार्थविशेषे प्रयोगनैयत्याय सूत्रस्यावश्यकत्वमिति मन्तव्यम्। किं च लक्षणैकचक्षुष्काणां लक्षणानुसरणमेवोचितमिति नात्र सूत्रवैयर्थ्यशङ्का कार्या। अत एव भाष्येऽप्युक्तम्—'नासूया तत्र कर्त्तव्या यत्रानुगमः क्रियते' इति। यस्मिन् विषये किञ्चिदनुगमकं शास्त्रं क्रियते तत्र कथञ्चिदन्यथासिद्धिं कृत्वा असूया न कर्त्तव्या, योगपरिपूतया दशया शास्त्राणां रचनेन तत्र वैयर्थ्यस्यास्माभिश्चर्मचक्षुष्कैराशङ्कितुमनौचित्यात्। अत एव भाष्यवार्त्तिककाराभ्यां नेदं सूत्रं प्रत्याख्यातमिति।"
(हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान ५.१.५५)

वस्तुतः यदि शेखरकार की युक्तियों पर विचार किया जाये तो उन में श्रद्धा अधिक और औचित्य कम प्रतीत होता है। शेखरकार, क्षीरस्वामी के वचन का आश्रय लेकर दोनों धातुओं के पाठ को भ्रष्ट अथवा छान्दस मान कर दीक्षित के कथन का खण्डन करते हैं। परन्तु चौरादिक 'गृह ग्रहणे' धातु को कोई कैसे छान्दस मान सकता है? स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् (३.२.१५८) सूत्रद्वारा इसी धातु से ही आलुच् प्रत्यय करने पर 'गृहयालु' शब्द निष्पन्न होता है। इसका प्रयोग लोक में अतीव सुप्रसिद्ध है।[1] दूसरा इन धातुओं का छान्दस होना आज तक किसी पाणिनीय व पाणिनीयेतर आचार्य ने नहीं माना। भाष्यकार या वार्त्तिककार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं किया अतः ये दोनों धातु छान्दस हैं—यह कोई तर्क नहीं है। ऐसे अनेक सूत्र पाणिनीय व्याकरण में विद्यमान हैं जिनका भाष्य और वार्त्तिक में प्रत्याख्यान उपलब्ध नहीं परन्तु व्याख्याकार वैयाकरण उन्हें पौनःपुन्येन 'इदं शक्यमकर्त्तुम्' कहा करते हैं। अतः जैसे वहां आचार्य का स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए

'पाठेऽर्थे चाऽऽगमभ्रंशान्महतामपि मोहतः।
न विद्मः किं जहीमोऽत्र किमुपादद्महे वयम्॥' (क्षीर० पृष्ठ २७८)

१. गृहयालुः करलीलया श्रियः—नैषध (२.२९)।
द्रुक्पथं पुरहराद् गृहयालोः—चम्पूभारत (५.७९)।

सूत्रनिर्माण माना जाता है वैसे यहां पर भी मानना चाहिये।[1] शब्दलाघव की अपेक्षा अर्थलाघव का महत्त्व अधिक हुआ करता है।

इत्थं यहां पर न्यासकार के सुझाए मार्ग से उत्तरवर्त्ती वैयाकरण अतीव उद्वेलित और प्रभावित हुए हैं—यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

[२.१६] सम्भवतः सर्वप्रथम न्यास में ही **ओहाक् त्यागे** (जुहो० परस्मै०) धातु में ककारानुबन्धग्रहण का प्रयोजन बतलाया गया है। न्यासकार **हश्च व्रीहिकालयोः** (३.१.१४८) सूत्र पर काशिका की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"जहातेरिति। ओहाक् त्यागे। जिहातेश्चेति। ओहाङ् गतौ। अस्यात्र ग्रहणमिष्यते। तयोः सामान्यग्रहणार्थ एव ककारो जहातेर्निर्दिश्यते। असति हि तस्मिन् यदीदमेकानुबन्धग्रहणम्, तदुपादाने द्व्यनुबन्धकस्य जिहातेर्न स्यात्। अथ द्व्यनुबन्धकस्य, जहातेर्न स्यात्। ककारे तु सति द्वयोरपि सानुबन्धकत्वात् सामान्येन ग्रहणमुपपद्यते।"
(न्यास ३.१.१४८)

पुनः दीर्घोऽकितः (७.४.८३) सूत्र पर भी न्यासकार इसी बात को दोहराते हैं—

"अकित इत्यभ्यासस्य विशेषणं भवितुमर्हति। यद्यभ्यासावस्थायां कित्त्वमुपजायते। न च जहातेः कित्त्वमभ्यासमपेक्षते, पूर्वमेव हि तदभ्यासाद् भवति। कित्करणं तु जहातेः हश्च व्रीहिकालयोः इत्यत्र सामान्यग्रहणाऽविघातार्थम्।" (न्यास ७.४.८३)

न्यासोक्त इस कथन का अनुसरण करते हुए कैयट उपाध्याय महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'ओहाक् त्यागे इत्यस्य तु निषेधाय 'अकितः' इति न भवति। धातुर्ह्ययं किन्न त्वभ्यासः। ककारो हि हश्च व्रीहिकालयोः इत्यत्र हाङ्हाकोः सामान्यग्रहणार्थः।'
(प्रदीप ७.४.८३)

हरदत्तमिश्र भी न्यासकार का अनुगमन करते हुए पूर्वोक्त दोनों स्थानों पर यही लिखते हैं—

'जहातेः ककारोऽत्र सामान्यग्रहणार्थः, अन्यथा एकानुबन्धत्वादस्यैव स्यात्। अथ हाङ इत्युच्येत, एवमपि तस्य ग्रहणं न स्यात्, तस्माद् द्वयोरपि ग्रहणम्।'
(पदमञ्जरी ३.१.१४८)

"ओहाक् त्यागे इत्यस्य धातोर्निषेधो न भवति। धातुर्हि अयं किद् न त्वभ्यासः। ककारस्तु हश्च व्रीहिकालयोः इत्यत्र हाङ्हाकोः सामान्येन ग्रहणार्थः।
(पदमञ्जरी ७.४.८३)

---

१. अथवा—आचार्य का गृह्णाति से कविधान करना इस बात का द्योतक है कि 'गृह' शब्द भौवादिक व चौरादिक पूर्वोक्त धातुओं से निष्पन्न न किया जाये। जैसाकि मैत्रेयरक्षित अपने धातुप्रदीप में लिखते हैं—

'गेहे कः इति गृह्णातेः कविधानं तस्यैव गृहमिति यथा स्यादिति द्योतयितुम्, गृहेर्मा भूदिति।'
(धातुप्रदीप पृष्ठ ४८)

क्षीरतरङ्गिणीकार क्षीरस्वामी भी यही कहते हैं—

"ककारो ह्रश्च व्रीहिकालयोः (३.१.१४८) इति सामान्यग्रहणाऽविघातार्थः। 'अकितः' इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वनिषेधार्थं इत्येके।" (क्षीर० पृष्ठ १९२)

मैत्रेयरक्षित ने भी धातुप्रदीप में यही प्रयोजन बतलाया है—

'ककारो ह्रश्च व्रीहिकालयोः इति सामान्यग्रहणाविघातार्थः।' (धातुप्रदीप पृष्ठ ८६)

माधव भी इसी का अनुसरण करते हैं—

"ककारो ह्रश्च व्रीहि० इत्यत्र पूर्वस्य (ओहाङ् गतौ इत्येतस्य) अस्य च सामान्यग्रहणार्थः। अन्यथा एकानुबन्धकत्वाद् अस्यैव ग्रहस्स्यात्।—अत्र धातोः कित्त्वमाश्रित्य दीर्घोऽकितः इत्यभ्यासस्य दीर्घनिषेधो न भवति, तत्र 'अकितः' इत्यनेनाभ्यासस्य विशेषणात्। स्पष्टं चैतद् वृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिषु।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ३९०-९१)

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल भी इसी की ओर निर्देश करते हैं—

"ओहाक्। ककारः ह्रश्च व्रीहि० इति सामान्यग्रहणाऽविघातार्थः। 'अकितः' इत्यभ्यासस्य दीर्घनिषेधार्थं इत्येके।" (प्रसाद, उत्तरार्ध, पृष्ठ २२९)

यहां यह बात ध्यातव्य है कि न्यासकार से पूर्ववर्त्ती कातन्त्र तथा चान्द्र व्याकरणों में 'ह्रश्च व्रीहि०' सूत्र पर 'हायन' शब्द की सिद्धि केवल 'जहाति' धातु से ही दर्शाई गई है।[1] परन्तु काशिकाकार ने इसे ओहाक् और ओहाङ् दोनों धातुओं से निष्पन्न माना है।[2] काशिकाकार के इस कथन को उचित ठहराने के लिये ही न्यासकार ने उपर्युक्त प्रयास किया है। न्यासकार के बाद उत्तरवर्त्ती प्रायः सब पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर वैयाकरण दोनों धातुओं से ही 'हायन' शब्द को सिद्ध करने लगे हैं,[3] और पाणिनीय वैयाकरणों ने न्यासप्रदर्शित हेतु को ही यहां मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लिया है।

[२.१७] दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्कारान्ताऽनन्तादि० (३.२.२१) सूत्र द्वारा 'अन्त' और 'अनन्त' कर्मों के उपपद रहते कृञ् धातु से टप्रत्यय का विधान किया गया है—अन्तं करोतीति अन्तकरः, अनन्तं करोतीति अनन्तकरः। परन्तु यहां पर एक शङ्का उत्पन्न होती है कि 'अनन्त' उपपद के उल्लेख की क्या आवश्यकता है? केवल 'अन्त' उपपद कहने से ही काम चल सकता है—न अन्तकरः-अनन्तकरः, इस प्रकार नञ्समास से दूसरा भी सिद्ध हो जायेगा। इस शङ्का तथा इसके युक्तियुक्त समाधान को प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

१. देखें—कातन्त्र कृद्वृत्ति सूत्र (१४८); चान्द्रवृत्ति (१.१.१५)।

२. जहातेर्जिहातेश्च धातोर्ण्युट् प्रत्ययो भवति व्रीहौ काले च कर्त्तरि। (काशिका ३.१.१४८)

३. देखें—हैमबृहद्वृत्ति (५.१.६८); सरस्वतीकण्ठाभरण (१.३.२२७)।

"अथाऽनन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्तग्रहणादेव अनन्तशब्देऽपि तदन्तविधिना भविष्यति ? नैतदस्ति, सर्वस्मिन्नुपपदविधौ न हि तदन्तविधिरिष्यते तथाहि पदकारः[1] पठति—'भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति' इति । एवं तर्हि नान्तकरोऽनन्तकर इत्यन्तशब्देनापि नञ्समासो भविष्यति ? नैवं शङ्क्यम्, स्वरे दोषः स्यात् । सति शिष्टे हि तत्पुरुषे तुल्यार्थ० इत्यादिना प्रकृतिस्वरे हि नञ्स्वरः प्रसज्येत । तथा चाऽनन्तकरशब्द आद्युदात्तः, निपाता आद्युदात्ताः इति नञ उदात्तत्वात्, इष्यते च गतिकारकोपपदात् कृद् इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । तस्मादनन्तग्रहणं कर्त्तव्यम् ।"

(न्यास ३.२.२१)

न्यासकार के इस समाधान से आचार्य पाणिनि की महती सूक्ष्मेक्षिका व्यक्त होती है कि वे लौकिकभाषा में भी स्वरविधान का किस प्रकार ध्यान रखते थे । यह समाधान महाभाष्य में उपलब्ध नहीं, न्यासकार से पूर्ववर्त्ती पाणिनीयव्याकरण के किसी अन्य ग्रन्थ में भी अभी तक नहीं मिला । उत्तरवर्त्ती सब वैयाकरणों ने न्यास-प्रतिपादित इसी समाधान की ओर ही संकेत किया है । निदर्शनार्थ यथा—

(क) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"अनन्तकर इति । अन्तकरशब्देन नञ्समासेऽप्येतद्रूपं सम्भवति, स्वरे हि दोषः स्यात् । सतिशिष्टोऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्रसज्येत, इष्यते हि गतिकारकोपपदात् कृदिति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।" (पदमञ्जरी ३.२.२१)

(ख) सायण माधवीयधातुवृत्ति में इसी का अनुसरण करते हैं—

'अत्रानन्तकरस्य नञ्समासेनैव सिद्धेऽनन्तग्रहणं कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरार्थम् । अन्यथा तत्पुरुषे तुल्य० इत्याद्युदात्तत्वं स्यात् ।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ५१३)

(ग) प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल अपनी प्रसादव्याख्या में लिखते हैं—

'अन्तकरः । अनन्तकरः । कस्मिंश्चिदुपपदविधौ तदन्तविधिर्नास्तीति अन्ताऽनन्तयोर्ग्रहणम् । न च नान्तकरोऽनन्तकर इति समासः । अत्रोत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वमिष्टं तद्भङ्गप्रसङ्गात् । नञ्स्वरेणाद्युदात्तत्वापातात् ।'

(प्रसाद, उत्तरार्ध, पृष्ठ ५१७)

(घ) भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

'अन्तकरः । अनन्तकरः । अन्तकरशब्देन नञ्समासेऽप्येतदेव रूपम् । स्वरे तु विशेषः । नञ्समासे हि सतिशिष्टोऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः । अनन्तशब्दस्योपपदत्वे तु कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।' (शब्दकौस्तुभ ३.२.२१)

(ङ) नागेशभट्ट भी बृ० शब्देन्दुशेखर में यही कहते हैं—

"यद्यपि अन्तकरशब्देन नञ्समासे 'अनन्तकरः' सिध्यति, तथापि कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वरार्थमनन्तग्रहणम् । अन्यथा सतिशिष्टत्वादव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः स्यात्, अर्थ-भेदाच्चेत्याहुः ।" (बृ० श० शे० पृष्ठ २०३२)

---

१. वार्त्तिककार इत्यर्थः ।

इस प्रकार न्यास का अनुकरण करने पर भी यदि सूक्ष्मरीत्या देखा जाये तो 'न अन्तकरः—अनन्तकरः' तथा 'अनन्तं करोतीति अनन्तकरः' इन दो के अर्थों में बड़ा अन्तर प्रतीत होता है।[1] जहां एक का अर्थ है—जो अन्त करने वाला नहीं, वहां दूसरे का अर्थ है—अनन्तकारी। यही कारण है कि स्वरानपेक्षी शाकटायन और हेमचन्द्र आदियों के अनुशासनों में भी दोनों का ही ग्रहण किया गया है।[2] अत एव नागेश-भट्ट ने वृ० शब्देन्दुशेखर के उपर्युक्त उद्धरण में जहां स्वर की बात कही है वहां 'अर्थभेदाच्च' यह हेतु भी दिया है।

[२.१८] अलंकृञ्-निराकृञ्-प्रजनोत्पचोत्पतोन्मद-रुच्य-पत्रप-वृतु-वृधु-सह-चर इष्णुच् (३.२.१३६) सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'येऽत्र सोपसर्गाः पठ्यन्ते तेभ्य एतदुपसर्गपूर्वेभ्य एव भवति, अन्येभ्यस्त्वनियमेन।' (न्यास ३.२.१३६)

न्यासकार द्वारा व्यक्त किये गये ये विचार उत्तरवर्त्ती सब वैयाकरणों से स्वीकृत किये गये हैं। तथाहि—

(क) इस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'येऽत्र सोपपदा उपात्तास्तत्रोपात्तादेव रूपाद् भवति। तत एतन्न नोदनीयम्—उदः पचपतमद इति वक्तव्यम्, किं स्वरूपतः? प्रत्येकमुत्पूर्वपाठेनेति। तेन समुत्पतिष्णु-रिति न भवतीत्याहुः। ये तु निरुपपदा उपात्तास्तेभ्यो यथादर्शनं भवति।' (पदमञ्जरी ३.२.१३६)

(ख) यही बात संक्षिप्तसार की व्याख्या करते हुए गोयीचन्द्र कहते हैं—

---

१. 'ननु अन्तकरशब्द एव नञ्समासेनानन्तकर इति भविष्यतीति। कः पुनराह न भविष्यतीति। किन्तु अनन्तं करोतीति अनन्तकरः, न अन्तकरोऽनन्तकर इत्युभयो-रभिधानेऽर्थभेद एव'। (संक्षिप्त० गोयी० कृदन्तपाद सूत्र १२०)

२. 'दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्कारान्ताऽनन्तादि-नान्दी-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जङ्घा-बाह्वहर्-धनुररुःषु'। (जैनेन्द्र० २.२.२६)

'दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्कारारुष्-कर्त्रन्तानन्तादि-नान्दी-लिपि-लिचि- बलि-चित्र-क्षेत्र-जङ्घा-बाह्वहर्धनुर्भक्त-सङ्ख्याट्टः'। (शाकटायन० ४.३.१३२)

'संख्याऽहर्दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भाश्-चित्र-कर्त्राऽऽद्यन्ताऽनन्त-कार-बाह्वरुर्धनुर्नान्दी-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-क्षेत्र-जङ्घा-क्षपा-क्षणदा-रजनि-दोषा-दिन-दिवसाट्टः'। (श्रीसिद्धहेम० ५.१.१०२)

'तदाद्याद्यन्ताऽनन्त-कार-बहु-बाह्वहर्-दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भाश्-चित्र-कर्तृ-नान्दी-किं-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-क्षेत्र-जङ्घा-धनुररुःसंख्यासु च"। (कातन्त्र कृद्वृत्ति सूत्र १७३)

'निशादेः कृञः। निशा, दिवा, प्रभा, विभा, भास्, कार, अन्त, अनन्त—निशादिः।' (संक्षिप्त० कृदन्तपाद सूत्र १२०)

'येऽत्र सोपसर्गाः पठचन्ते, तेभ्यस्तदुपसर्गेभ्य एव भवति, अन्येभ्यस्त्वनियमः।'
(संक्षिप्त०, गोयी० कृदन्तपादसूत्र ५४)

(ग) भट्टोजिदीक्षित भी यही लिखते हैं—

"इह पचत्यादयस्त्रय उत्पूर्वा उपात्ताः। तत्र 'उदः पच-पत-मदः' इत्येव वक्तव्ये प्रत्येकमुत्पूर्वपाठ उपसर्गान्तरनिवृत्त्यर्थः। तेन समुत्पतिष्णुरित्यादि न भवतीत्याहुः।"
(शब्दकौस्तुभ ३.२.१३६)

"इह पच्यादयस्त्रय उत्पूर्वाः पठचन्ते। तत्र 'उदः पच-पत-मदः' इत्येव वक्तव्ये प्रत्येकमुत्पूर्वस्य पाठ उपसर्गान्तरनिवृत्त्यर्थः। तेन समुत्पतिष्णुरिति न भवतीत्याहुः।"
(प्रौढम० उ० पृष्ठ ७४२)

(घ) तत्त्वबोधिनीकार भी यही लिखते हैं—

"एते त्रयोऽपि उत्पूर्वाः पठचन्ते। तत्र 'उदः पच-पत-मदः' इत्येव वक्तव्ये प्रत्येकमुत्पूर्वस्य पाठ उपसर्गान्तरनिवृत्त्यर्थस्तेन समुत्पतिष्णुरित्यादि न भवतीत्याहुः।"
(सि० कौ० तत्त्व० उ० पृष्ठ ४४८)

(ङ) बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

"उदः पचपतमद इति पृथक्सूत्रेणैव सिद्धे पचादीनां त्रयाणां प्रत्येकम् उत्पूर्वपाठ उपसर्गान्तरनिवृत्त्यर्थः। तेन 'समुत्पतिष्णुः, उदापतिष्णुः' इति नेत्याहुः। एवं सम्पृचेत्यत्रापि बोध्यम्।"
(बृ० श० शे० पृष्ठ २०७१)

(च) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी इसी का समर्थन करते हैं—

'उपसर्गविशेषोक्तिरन्यनिवृत्त्यर्था।—पतपचमदामुच्छब्दस्य तन्त्रेण पाठस्य युक्तत्वेऽपि प्रत्येकोच्चारणमुपसर्गान्तरनिवृत्त्यर्थम्। तेन समुत्पतिष्णुरित्यादौ नेति सम्प्रदायः।'
(व्या० सि० सु० ३.२.१३६)

(छ) यही बात जैनमुनि श्रीविजयलावण्यसूरि हैमशब्दानुशासन के शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान में लिखते हैं—

'येऽत्र सोपसर्गाः पठितास्तेभ्य एतदुपसर्गपूर्वेभ्य एव भवति, अन्येभ्यस्त्वनियमेन।'
(हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान, ५.२.२८)

[२.१९] पाणिनि के न यः (३.२.१५२) सूत्र में दो पद हैं 'न' और 'यः'। इस सूत्र का अर्थ है—यकारान्त धातु से तच्छीलादि में युच् प्रत्यय न हो। परन्तु यदि सूत्र के दोनों पदों को एक समझ कर 'नयः' इस प्रकार पढ़ें तो अर्थ हो जायेगा—'नय् धातु से परे तच्छीलादि में युच् प्रत्यय हो'। यह अर्थ वैयाकरणों को अभीष्ट नहीं है। अतः न्यासकार अपनी ओर से इस शङ्का को उठा कर इस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"अथ अय वय रय णय गतौ इत्यस्माद्धातोर्युचो विधानार्थं चैतत् कस्मान्न विज्ञायते? अशक्यमेवं विज्ञातुम्, यस्माद् नयतेः अनुदात्तेतश्च० (३.२.१४९) इत्यादिनैव सिद्धत्वात्। तस्मात् प्रतिषेधार्थमिदम्।"
(न्यास ३.२.१५२)

न्यासकार के इस युक्तियुक्त सुन्दर समाधान से उत्तरवर्त्ती अनेक दिग्गज वैयाकरण प्रभावित हुए हैं और उन्होंने न्यासोक्त इस शङ्का और इस के समाधान का इसी रूप में स्वस्वग्रन्थों में समावेश किया है। निदर्शनार्थ यथा—

(क) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में इसी की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"अय वय नय तय गतौ इति नयतेरनुदात्तेत्त्वादेव युचः सिद्धत्वान्न तस्येदं ग्रहणम्, किं तर्हि ? प्रतिषेध एवेति मत्वाऽऽह—यकारान्तादिति।'

(पदमञ्जरी ३.२.१५२)

(ख) भट्टोजिदीक्षित भी प्रौढमनोरमा में यही कहते हैं—

'अय पय तय नय गतौ इति पठितस्य नयतेर्नायं निर्देशः। अनुदात्तेत्त्वादेव युचः सिद्धत्वात्। किंतु नेति पृथक् पदमिति मत्वाह—यकारान्तादिति।'

(प्रौढम० पृष्ठ ७४३)

(ग) तत्त्वबोधिनी में भी इसी का अनुकरण किया गया है—

'अय वय पय मय चय तय णय गतौ इति पठितस्य नयतेर्नाऽयं निर्देशः, अनुदात्तेत्त्वादेव युचः सिद्धत्वात्, किंतु नेति पृथक्पदमिति मत्वाऽऽह—यकारान्तादिति।'

(सि० कौ० तत्त्व० उ० पृष्ठ ४५१)

(घ) बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी इसी का निर्देश करते हैं—

'अय पयेतिदण्डकपठितनयतेर्नेह ग्रहणम्। अनुदात्तेत्त्वादेव युचः सिद्धेः। किन्तु नेति पृथक्पदम्। तदाह—यकारान्तादिति।' (बृ० श० शे० पृष्ठ २०७३)

(ङ) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी यही कहते हैं—

'न च नय गतौ इत्यस्मात् प्रत्ययविधिरेवायम् अनुदात्तेतश्चेत्येव सिद्धेः।'

(व्या० सि० सु० ३.२.१५२)

न्यासकारोक्त इन विचारों से केवल पाणिनीयवैयाकरण ही प्रभावित नहीं हुए बल्कि पाणिनीयेतर वैयाकरण भी इस के प्रभाव से अछूते न रहे। उन्होंने भी स्वस्वव्याकरणों के सूत्रनिर्माण में ऐसा क्रम और ऐसी सावधानी बरती कि न्यासोक्त शङ्का की सम्भावना तक न रहे। तथाहि—

क) पाल्यकीर्त्ति अपने शाकटायनव्याकरण में सूत्रनिर्माण करते हैं—

न दीक्ष-दीप्-सूद-णिङ्-यः। (शाकटायन० ४.३.२३८)

अमोघा—दीक्ष् दीप् सूद् इत्येतेभ्यो णिङन्तेभ्यो यकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यः साधु-धर्म-शीले सत्यर्थे वर्त्तमानेभ्यो नप्रत्ययो न भवति।

ख) भोजदेव सरस्वतीकण्ठाभरण में सूत्रनिर्माण करते हैं—

न यान्त-सूद-दीप-दीक्षिभ्यः। (सरस्वती० १.४.२२३)

हृदय-हारिणी—यान्तेभ्यः सूदादिभ्यश्च युच् प्रत्ययो न भवति।

ग) आचार्य हेमचन्द्र श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासन में सूत्रनिर्माण करते हैं—

न णिङ्-य-सूद-दीप-दीक्षः। (श्रीसिद्धहेम० ५.२.४५)

बृहद्वृत्ति—णिङन्तेभ्यो यान्तेभ्यः सूदादिभ्यश्च धातुभ्यः शीलादौ सत्यर्थे नः प्रत्ययो न भवति ।

घ) क्रमदीश्वर संक्षिप्तसार में इस प्रकार सूत्र बनाते हैं—
यकारान्तः । (संक्षिप्तसार कृदन्तपाद सूत्र ३८५)
गोयीचन्द्र—यकारान्तो धातुर्दीपादिर्भवति कर्त्तरि वाच्ये ।

[२.२०] सनाशंसभिक्ष उः (३.२.१६८) सूत्र में 'सन्' से सन्प्रत्ययान्तों का ग्रहण करना चाहिये 'सन्' धातु का नहीं, ऐसा काशिकाकार ने लिखा है—'सन्निति सन्-प्रत्ययान्तो गृह्यते न सनिर्धातुः ।' इसके समर्थन में प्रमाण उपस्थित करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"सन्प्रत्ययो गृह्यत इति । गुप्तिज्किद्भ्यः सन् इत्यादिना यो विहितः । न सनिर्धातुरिति । षणु दाने, वन षण सम्भक्तौ इति न गृह्यते । एतच्च गर्गादिषु जिगीषु-शब्दपाठाद्विज्ञायते, स हि प्रत्ययग्रहणे चोपपद्यते, न तु धातुग्रहणे ।"
(न्यास ३.२.१६८)

काशिकाकार के समर्थन में न्यासकार ने जो गर्गादिगणान्तर्गत 'जिगीषु' शब्द का प्रयोग दर्शाया है—यह एक सुन्दर समाधान है । अत एव उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने इसे सर्वात्मना स्वीकृत किया है । निदर्शनार्थ यथा—

हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में यही लिखते हैं—

'षणु दाने, वन षण सम्भक्तौ इति च धातुर्न गृह्यते, कुतः ? गर्गादिषु विजि-गीषुशब्दस्य पाठात् ।' (पदमञ्जरी ३.२.१६८)

भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में यही लिखते हैं—

"सन्प्रत्ययो गृह्यते न तु षणु दाने, षण सम्भक्तौ इति धातू, गर्गादिषु जिगीषु-शब्दस्य पाठात् ।" (शब्दकौस्तुभ ३.२.१६८)

तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

'षणु दाने, षण सम्भक्तौ इति धात्वोस्तु नेह ग्रहणं गर्गादिषु विजिगीषुशब्दस्य पाठात् ।' (सि० कौ० तत्त्व०, उत्तरार्ध पृष्ठ ४५३)

नागेशभट्ट भी इसी के समर्थक हैं—

'गर्गादिषु जिगीषुशब्दपाठात् षणधातोर्न ग्रहणम् ।'
(बृ० श० शे० पृष्ठ २०७५)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी इसी का समर्थन करते हैं—

'सन्धातोर्नेह ग्रहः, गर्गादौ जिगीषुशब्दपाठात् । अव्युत्पन्नतत्कल्पने गौरवात् ।'
(व्या० सि० सु० ३.२.१६८)

बालमनोरमाकार भी यही कहते हैं—

'सन् इति सन्प्रत्ययान्तं गृह्यते । षणु दाने, षण सम्भक्तौ इत्यनयोस्तु न ग्रहणं गर्गादिषु विजिगीषुशब्दपाठाल्लिङ्गात् ।' (सि० कौ० बालमनो० उत्तरार्धं पृष्ठ ४५३)

हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानकार भी यही लिखते हैं—

"सूत्रे सन्शब्द उपात्तः, स च द्विविधः, 'तुमर्हादिच्छायां सन्०' (हैम० ३.४.२१) इत्यादिना विहितः सन् प्रत्ययरूपः, 'षन सम्भक्तौ' इति 'षणूयी दाने' इति च धातुगण-पठितः सन् धातुरूपः, तत्र कस्येह ग्रहणमिति विचारणायां भिक्षिसाहचर्याद् धातोरेव ग्रहणम् इत्याशङ्कामपाकर्त्तुमाह—सन्प्रत्ययान्ताद् धातोरिति । प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति न्यायेन प्रत्ययस्यैव ग्रहणमित्यर्थः । अथवा गर्गादिषु जिगीषुशब्द-पाठात् प्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति विज्ञायते, स हि प्रत्ययग्रहण उपपद्यते, न धातुग्रहणे ।"

(हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान ५.२.३३)

[२.२१] **निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः** (३.३.४१; चेरित्यनुवर्त्तते, एतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् प्रत्ययो भवति, धातोरादेश्च क आदेश इत्यर्थः) । इस सूत्र में पाणिनि का 'आदेश्च कः' (चिञ् के आदि को ककार आदेश हो) यह कथन काशिका-कार से पूर्ववर्त्ती जैनेन्द्र, तथा चान्द्र व्याकरणकारों को कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने इस के स्थान पर 'चः कः' (चिञ् के चकार को ककार आदेश हो) ऐसा वचन अपने अपने सूत्रपाठों में पढ़ा है।[1] यह वचन पाणिनि के 'आदेश्च कः' की अपेक्षा संक्षिप्त लघु और विस्पष्ट है। काशिकाकार के सामने यद्यपि जैनेन्द्र आदि व्याकरणों के ये वचन विद्यमान थे तथापि उन्होंने सूत्र की व्याख्या करते समय इस की कोई चर्चा नहीं की और न ही कोई समाधान ही प्रस्तुत किया। परन्तु सर्वतः जागरूक न्यास-कार ने इस ओर ध्यान दिया और अपनी प्रतिभा से इसका स्वोपज्ञ समाधान वैयाकरण-जगत् के आगे प्रस्तुत किया जिसे उत्तरवर्त्ती प्रायः सब वैयाकरणों ने स्वीकृत कर अपने अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया। न्यासकार का वह समाधान इस प्रकार है—

"यद्येवम्, 'चः कः' इति वक्तव्यम् ? एवं तर्हि यदा यङ्लुगन्तादुत्पद्यते तदा **अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य**[2] इति द्वितीयस्य चकारस्य मा भूद्—इत्येवमर्थमादि-ग्रहणम् ।" (न्यास ३.३.४१)

न्यासकार का समाधान अतीव उपयुक्त और संगत है। यद्यपि उन्होंने यहां कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया परन्तु उन के चिन्तन की दिशा सही है। अत एव इसी का अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र अपनी पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"चः क इति वक्तव्ये आदेरिति वचनं यङ्लुगन्तेऽप्यादेरेव यथा स्याद्, अनन्त्य-स्याभ्यासस्य चोभयोर्मा भूदिति । गोमयानां निकेचायः, गोमयानां पुनः पुना राशीकरण-मित्यर्थः ।" (पदमञ्जरी ३.३.४१)

पदमञ्जरीकार ने यहां सार्थ उदाहरण देकर न्यासकारोक्त समाधान को और अधिक स्पष्ट व परिमार्जित कर दिया है।

---

१. **निवास-चिति-शरीरोपसमाधाने चः कः** (जैनेन्द्र० २.३.३९)।
चिति-राशि-वास-देहेषु चः कः (चान्द्र० १.३.३२)।

२ अन्त्यविकार इति मुद्रितः पाठोऽपपाठः ।

भट्टोजिदीक्षित भी सिद्धान्तकौमुदी में न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'चः क इति वक्तव्ये आदेरित्युक्तिर्यङ्लुकि आदेरेव यथा स्यादिति। गोमयानां निकेचायः, पुनः पुना राशीकरणमित्यर्थः।' (सि० कौ० उ० पृष्ठ ५५४)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी यही कहते हैं—

'चस्य क इत्येव वक्तव्ये आदिग्रहणं यङ्लुकि अभ्यासस्यैव कत्वं यथा स्यात्। अन्यथा द्वयोस्तदापत्तेः। गोमयानां निकेचाय इत्याहुः।' (व्या० सि० सु० ३.३.४१)

व्याकरणदीपिका (३.३.४१) तथा भाषावृत्ति (३.३.४१) की श्रीशचन्द्र-चक्रवर्ती की एक टिप्पण में भी यही कहा गया है—

'चः क इति वक्तव्ये आदेरित्युक्तिर्यङ्लुकि आदेरेव यथा स्यादिति। गोमयानां निकेचायः, पुनः पुना राशीकरणमित्यर्थः।' (व्या० दी० ३.३.४१)

'चः क इति वक्तव्ये आदेरिति वचनं यङ्लुगर्थम्। यङ्लुगन्तेऽप्यादेरेव यथा स्यात्। अनन्त्यस्याभ्यासस्य चोभयोर्मा भूदिति यथा गोमयनिकेचायः। गोमयानां पुनः पुना राशीकरणमित्यर्थः।' (भाषावृत्ति ३.३.४१ पर टिप्पणी)

न्यासकार के समाधान का प्रभाव न केवल पाणिनीय वैयाकरणों पर अपितु पाणिनीयेतर वैयाकरणों पर भी पड़ा। वे भी न्यासोक्त समाधान से सावधान हो गये। न्यासकार के बाद पाणिनीयेतर वैयाकरणों ने 'चः कः' वाला मार्ग छोड़ कर पाणिन्युक्त मार्ग (आदेश्च कः) ही अपनाया। तद्यथा—

शाकटायन — चित्युपसमाधानावासदेहे कश्चादेः (४.४.४६)
सरस्वतीकण्ठाभरण — शरीरनिवासयोः कश्चादेः (२.४.५६)
श्रीसिद्धहेमचन्द्र० — चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादेः (५.३.७६)
हैमबृहद्वृत्ति — चः क इत्येव सिद्धे आदिग्रहणमादेरेव यथा स्यात्, तेन चेर्यङ्लुपि निकेचाय इत्येव भवति। (५.३.७६)

इसी पर जैनमुनि श्रीविजयलावण्यसूरि लिखते हैं—

"अयमाशयः—चः क इत्येतावत्युच्यमाने प्रकृतिग्रहणेन यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणस्य सिद्धान्तितत्वात् ततोऽपि प्रत्ययविधानाऽवश्यम्भावेन तत्र स्थितयोर्द्वयोरपि चकारयोः कत्वं दुर्निवारम्, तथा च 'निकेकायः' इत्येव प्रयोगः स्यात्, स चाऽनिष्ट इति तद्वारणाय आदिग्रहणमावश्यकमिति।" (हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान ५.३.७६)

इस प्रकार व्याकरणजगत् को यह न्यासकार की देन कही जा सकती है।

[२.२२] खनो घ च (३.३.१२५) सूत्र पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का उठा कर उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'अथ किमर्थं खनेर्घप्रत्ययो विधीयते, यावता कुत्वार्थं तस्य विधानम्। न च खनेः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति? एवं तर्हि एतज्ज्ञापयति—अन्येभ्योऽप्ययं भवतीति। तेन —खलः, भगम्, पदम्, इत्येवमादयः सिद्धा भवन्ति।' (न्यास ३.३.१२५)

न्यासोक्त यह शंका और उस का यह समाधान महाभाष्य, जैनेन्द्र, कातन्त्र, चान्द्र आदि व्याकरणग्रन्थों में कहीं उपलब्ध नहीं, अतः इसे न्यासकार की स्वोपज्ञा कहा जा सकता है। उत्तरवर्ती अनेक वैयाकरणों ने न केवल न्यासकारोक्त इस आशय का बल्कि 'न च खनेः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति' इस शब्दावली का भी अनुसरण किया है। तथाहि—

हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'घित्करणं किमर्थम् ? यावता न खनः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति ? ज्ञापनार्थं तु, एतज्ज्ञापयति—अन्येभ्योऽप्ययं भवतीति। तेन भजेर्भगः, पदेः पदम्—करणे घः, खल सञ्चलने, अधिकरणे घः, खल एवमादि सिद्धं भवति।' (पदमञ्जरी ३.३.१२५)

वन्द्यघटीयसर्वानन्द अमरकोष की व्याख्या टीकासर्वस्व में लिखते हैं—

"भजेः 'खनो घ च' इति घित्करणादितोऽपि घः, भगः।"

(अमरटीकासर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ ३३६)

भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'घित्करणमन्यतोऽप्ययमिति ज्ञापनार्थम्। तेन भगः पदमित्यादि।'

(सि० कौ० उ० पृष्ठ ५६९)

इस स्थल की व्याख्या करते हुए तत्त्वबोधिनीकार कहते हैं—

"घित्करणमिति। आखन इत्यादौ चजोरिति कुत्वस्य प्रसक्त्यभावादिति भावः। भगः। पदमिति। ननु पदमित्यत्र घस्य किं प्रयोजनमिति चेदत्राहुः—करणाधिकरणयोः 'पुंसि संज्ञायाम्०' इति यदि घः स्यात्तदा 'पदम्' इति नपुंसकं न स्यात्, अनेन चेद् घो भवति तदा त्विष्टसिद्धिरिति।" (वही, पृष्ठ ५६९)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट लिखते हैं—

'नहि खनः चजोरिति कुत्वयोग्यः कश्चिदवयवोऽस्ति येन घित्करणमिहोपयुज्ये-तेत्यर्थः। भगः पदमिति क्वचित्प्रयोगः।' (बृ० श० शे० पृष्ठ २१३८)

व्याकरणदीपिकाकार भी यही कहते हैं—

'खनोऽच् इति वक्तव्ये घित्करणमन्यतोऽप्ययमिति ज्ञापनार्थम्। तेन भगः पद-मित्यादि।' (व्या० दी ३.३.१२५)

अन्नम्भट्ट व्याकरणमिताक्षरा में यही लिखते हैं—

'खनो घ चेत्यत्र घित्करणसामर्थ्यादन्यत्रापि घः। तेन भगः,पदम्, खल इत्यादि सिद्धम्।' (व्या० मिता० ३.३.१२५)

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में भी यही कहा गया है—

'चजोरिति कुत्वार्हावयवाभावाद् घित्करणानुपयोगे तत्सामर्थ्यादन्यतोऽप्ययम्। तेन भगमिति सिध्यति।' (व्या० सि० सु० ३.३.१२५)

ल० शब्देन्दुशेखर के व्याख्याकार भैरवमिश्र भी यही कहते हैं—

'नन्वस्य घित्त्वं व्यर्थम्। नहि खन्धातोः चजोरित्येतत्सूत्रप्रवृत्तियोग्यः कश्चन वर्णोऽस्तीत्यत आह मूले—घित्करणमिति।' (ल० श० शे० चन्द्रकला पृष्ठ ८३३)

प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट यह सब कार्य सूत्रगत 'च' से सिद्ध करते हैं—

'चकाराद् भजादेश्च घः। भजनीयो भगः। खल्यते सञ्चीयतेऽत्र धान्यमिति खलः।' (प्रक्रियासर्वस्व कृत्खण्ड, पृष्ठ ११६)

कृदन्तरूपमालाकार भी यही कहते हैं—

'खनो घ च इत्यत्र चकाराद् घोऽन्यत्रापीति वृत्तिकारादिभिर्व्याख्यातम्। तेन घप्रत्यये खल इति भवति। खल्यते=सञ्चीयते धान्यादिकमत्रेति अधिकरणे घः। धान्यसञ्चयाधिकरणस्थानम्। (कृदन्तरूपमाला द्वितीय भाग पृष्ठ ३४६)

कुछ वैयाकरणों ने न्यासकारोक्त इस आशय को प्रकट करने के लिए काशिका में 'खलं भगः पदं चेति वक्तव्यम्' इस प्रकार का एक वार्त्तिक स्वीकार किया है। तथाहि—

क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी में लिखते हैं—

'खलं भगः पदञ्चेति वक्तव्याद् घः' (पृष्ठ ८१)

इसी प्रकार अमरकोष की व्याख्या में भी—

'भज्यते भगः, खनो घ चेत्यत्र खलो भगः पदं चेति वक्तव्याद् घः।' (अमरकोषोद्घाटन पृष्ठ, १०४)

'भज्यते=सेव्यते=मर्द्यते च भगम्, खलो भगः पदं चेति वक्तव्याद् घः।' (अमरकोषोद्घाटन पृष्ठ १६२)

माधवीयधातुवृत्ति में माधव भी—

'खल्यते सञ्चीयते धान्यादिकमिति खलम्। 'खनो घ च' इत्यत्र वृत्तिः—'खलं भगः पदं चेति वक्तव्यम्' इति। तत्र हरदत्तः—घित्करणसामर्थ्यादन्येभ्योऽप्ययम्भवति। न च खनः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १५०)

इन निर्देशों के कारण काशिका के कुछ हस्तलेखों में 'खलो भगः पदं चेति वक्तव्यम्' इस प्रकार का वार्त्तिकरूपेण उल्लेख भी पाया जाता है। परन्तु न्यास और पदमञ्जरी के व्याख्यान इस का समर्थन नहीं करते। दीक्षित आदियों ने भी इस का काशिकागतवार्त्तिकरूपेण कहीं निर्देश नहीं किया। अतः यह पीछे का प्रक्षेप ही हो सकता है। काशिका के सम्पादक बालशास्त्री इस पर एक टिप्पण करते हुए लिखते हैं—

'अत्र खलो भगः पदं चेति वक्तव्यम् इति वार्त्तिकरूपेण क्वचित् पठ्यते सोऽपपाठः, पदमञ्जर्यां खनो घ चेति घित्करणमन्यतोऽपि ज्ञापनार्थं तेन खलो भगः पदं चेत्यादि सिध्यतीत्युक्तत्वात्।' (काशिका बालशास्त्रिसंस्करण पृष्ठ २४२)

[२.२३] विदो लटो वा (३.४.८३) सूत्र में 'विदः' से 'विद ज्ञाने' इस आदादिक धातु का ग्रहण होना चाहिये ऐसा काशिकाकार ने कहा है[1] और इसी का ही सब उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने अनुसरण किया है। परन्तु यहां 'विदः' से आदादिक विद् धातु

---

१. 'विद ज्ञाने' अस्माद्धातोः परेषां लडादेशानां परस्मैपदानां णलादयो नव विकल्पेनादेशा भवन्ति। (काशिका ३.४.८३)

का ही ग्रहण क्यों करें, अन्यों (दैवादिक, तौदादिक, रौधादिक, चौरादिक) का ग्रहण क्यों न हो?[१] इस शङ्का का समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'विदो लटो वा। विद ज्ञान इति। एतेन ज्ञानार्थस्य विदेर्ग्रहणम्, नान्येषामिति दर्शयति। एवं मन्यते—विद इति पञ्चमी, तेन तस्मादित्युत्तरस्य इत्यनन्तराणां तिबादीनामादेशेन भवितव्यम्। न चान्यस्माद् विदेः परस्मैपदान्यनन्तराणि सम्भवन्ति, विकरणैर्व्यवधानात्। विचारसत्तार्थयोश्चात्मनेपदित्वात् परस्मैपदानुपपत्तिः। तस्माज्ज्ञानार्थस्य ग्रहणमिति।" (न्यास ३.४.८३)

युक्तियुक्त सुन्दर समाधान है। अत एव उत्तरवर्त्ती समस्त वैयाकरणों ने इसी का अनुसरण किया है। निदर्शनार्थ यथा—

(क) हरदत्तमिश्र यहां पर पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'विद इति। सत्ताविचारार्थयोस्त्वात्मनेपदित्वात् तिबादीनामसम्भवः, लाभार्थस्यापि विकरणेन व्यवधानादनन्तराणामसम्भव इति भावः।'

(ख) जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी भी यही कहते हैं—

'विद इति कानिर्देशाद् ज्ञानार्थस्य ग्रहणम्। लाभार्थस्य शेन व्यवधानात्। (जैनेन्द्रमहा० २.४.६६)

(ग) पाल्यकीर्त्ति स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में यही कहते हैं—

'अतङामिति किम्? विन्ते, विन्दाते, विन्दते। विन्दति, विन्दतः, विन्दन्ति—इत्यत्र शेन व्यवधानान्न भवति।' (अमोघा० १.४.१०२)

(घ) माधवीयधातुवृत्ति में माधव भी—

"विन्दति, विन्दतः। विदो लटो वा इत्यत्र लादेशैः सम्भवदानन्तर्यस्य आदादिकस्यैव ग्रह इति विकरणेन व्यवहिताऽनन्तर्यादस्मात्परेषां तिबादीनां णलादयो न भवन्ति, अत एव हेतोः विदेः शतुर्वसुः इत्यत्रापि आदादिक एव गृह्यत इति विन्दन् इत्यत्र वस्वादेशो न भवति।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ४९१)

(ङ) प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में विट्ठल भी यही कहते हैं—

"अत्र ज्ञानार्थस्यैव विदेर्ग्रहणं नान्येषाम्, यतो विद इति पञ्चमी। तेन तस्मादित्युत्तरस्य इत्यनन्तराणामेव तिबादीनामादेशैर्भाव्यम्। न चाऽन्यस्माद् विदेः परस्मैपदानि अनन्तराणि सन्ति विकरणैर्व्यवधानात्।' (प्रसाद उ० पृष्ठ १९१)

(च) ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में—

'पञ्चमीयं न तु षष्ठी, तेन विद्यतिविन्दत्योरव्यवहितपरस्य लटोऽभावान्नैत आदेशाः। तदाह—वेत्तेरिति।' (सि० कौ० तत्त्व० उ० पृष्ठ १६७)

---

१. विद् धातु पाणिनीयव्याकरण में पांच स्थानों पर पढ़ी गई है। तद्यथा—

'सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दतीत्येवं लाभे, वेदयते णिचि॥'

(दैवम्, श्लोक १११)

(छ) नागेशभट्ट ल० शब्देन्दुशेखर में—

'विद इति पञ्चमी, विकरणव्यवधाने लटस्ततः परत्वाऽसम्भवादाह—वेत्तेरिति।' (ल० श० शे० उ० १६७)

बृ० शब्देन्दुशेखर में भी—

'विद इति पञ्चमी। विन्दतिविद्यत्योस्तु न ग्रहणम्। विकरणव्यवधानेन लटस्ततः परत्वाभावात्। तदाह वेत्तेरिति।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १७५५)

(ज) बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित भी यही कहते हैं—

'विद इति पञ्चमी। तदाह—वेत्तेर्लट इति। विन्दतिविद्यत्योस्तु शेन श्यना च व्यवधानान्नैत आदेशाः।' (सि० कौ० उ० पृष्ठ १६८)

इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरवर्त्ती व्याख्याकार न्यासकार से अनुप्राणित हुए इस स्थल की व्याख्या करते हैं। परन्तु यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि न्यासकार का यह स्वोपज्ञ विचार है या पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के व्याख्यान का अनुगमन ?[1]

[२.२४] ('अवावरी' Versus 'अवावा')

ओणृ अपनयने (भ्वा० प०) धातु से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३.२.७५) सूत्र द्वारा वनिप् प्रत्यय करने से—ओण्+वन्। अब विड्वनोरनुनासिकस्यात् (६.४.४१) से अनुनासिक णकार को आकार आदेश तथा एचोऽयवायावः (६.१.७८) से ओकार को अवादेश करने पर 'अवावन्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में वनो र च (४.१.७) सूत्र से ङीप् प्रत्यय तथा वन् के नकार को रेफ आदेश होकर 'अवावरी' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यहां पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि वनो न

---

१. तत्त्वबोधिनीकार और शेखरकार ने यद्यपि न्यासकारोक्त व्याख्यान की पुष्टि की है तथापि उनके कथन में दो बड़े दोष प्रसक्त होते हैं—

(क) वे यहां लट् का उल्लेख करते हैं—विकरण-व्यवधानेन लटस्ततः परत्वाभावात्। भला विकरणों द्वारा धातु और लट् के मध्य व्यवधान कैसा ? विकरण तो लडाद्यादेश तिबादि सार्वधातुकों के परे होने पर ही हुआ करते हैं लडादि के परे होने पर नहीं। अतः लट् की बजाय लडादेशों का कथन उचित था। अथवा उनके कथन में लट् से लडादेशों का ही ग्रहण समझना चाहिये।

(ख) तत्त्वबोधिनीकार, शेखरकार तथा बालमनोरमाकार तीनों 'विद्यति' का भी निर्देश करते हुए जो यह कहते हैं कि विकरणव्यवधान के कारण 'विद्यति' का ग्रहण नहीं हो सकता, उनका यह कथन चिन्त्य है। क्योंकि विद्यति (विद सत्तायाम्, दिवा० आत्मने०) तो आत्मनेपदी धातु है, विदो लटो वा (३.४.८३) सूत्र में पीछे से 'परस्मैपदानाम्' का अनुवर्त्तन होता है अतः उस में तो स्वतः ही प्राप्ति न होगी, पुनः उसके गृहीत होने की चिन्ता और उस से मुक्ति के उपाय का चिन्तन कैसा ?

हशः (वा० ४.१.७)[1] वार्त्तिक से ङीप्+रत्व का निषेध होकर स्त्रीलिङ्ग में भी 'अवावा ब्राह्मणी' ऐसा प्रयोग क्यों न हो ? इस पर न्यासकार लिखते हैं—

"वनो न हश इति। क्वचिदिति शेषः। हशः परो यो वनिब् हशन्ताद् धातोर्विहितस्तदन्तात् प्रातिपदिकात् क्वचिद् ङीब्रेफश्चान्तादेशो न भवति। —क्वचित्तु प्रतिषेधो न भवत्येव—शर्वरीति, अत्र रेफाद् हशः परो वनिप्। अवावरीति, अत्रापि हशन्ताद् धातोर्वनिब् विहितः, तथापि प्रतिषेधो न भवति। ओणृ अपनयने, अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते इति वनिप्, विड्वनोरनुनासिकस्यात् इत्यात्वम्, अवादेशः। न च वनो न हशः इत्येव वक्तव्यं कर्त्तव्यम्, यस्मात् पादोऽन्यतरस्याम् (४.१.८) इत्यन्यतरस्यांग्रहणमस्यापि योगस्य शेषः। सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन यत्र ङीब्रेफौ नेष्येते तत्र न भविष्यतः।" (न्यास ४.१.७)

यहां पर न्यासकार ने स्पष्टतः 'वनो न हशः' वाले निषेध को क्वाचित्क मान कर 'अवावरी' प्रयोग की सिद्धि की है। महाभाष्य में 'अवावरी' या 'अवावा' किसी रूप का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[2] चान्द्रवृत्ति में भी इसकी ओर कोई निर्देश नहीं पाया जाता।[3] अभी तक न्यासकार से प्राचीन ऐसा कोई पाणिनीय वैयाकरण नहीं मिला

---

१. हशन्ताद्धातोर्विहितो यो वन्, तदन्तात् प्रातिपदिकात् ङीब्रेफश्चान्तादेशो न भवतीत्यर्थः।

२. किन्तु भाष्य में 'वनो न हशः' पर विहितविशेषणपक्ष का समर्थन पाया जाता है— "वनो न हशः। वनो र चेत्यत्र हशन्तान्न भवतीति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—सहयुध्वा ब्राह्मणीति, यदि न हश इत्युच्यते—शर्वरीति न सिध्यति। विहितविशेषणं हश्ग्रहणम्—हशन्ताद् यो विहित इति।" (महाभाष्य ४.१.७)

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि यदि मूल हशन्त धातु से ही वन् प्रत्यय का विधान किया जाये तभी वार्त्तिक द्वारा निषेध की प्रवृत्ति हो, बाद में प्रक्रियावश बनी हशन्त धातु से नहीं। यथा—'शर्वरी' (शॄ+वन्=शर्+वन्=शर्वरी) में 'शर्वन्' बन कर धातु यद्यपि हशन्त बन जाती है तो भी शॄ से वन् विहित होने के कारण निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती, 'वनो र च' से ङीप्-रत्व निर्बाध हो जाते हैं। 'सहयुध्वन्' में 'युध्' इस मौलिक हशन्त धातु से वन् विधान किया है अतः वार्त्तिकद्वारा निषेध हो जाता है—सहयुध्वा ब्राह्मणी।

परन्तु न्यासकार वार्त्तिक का अर्थ दर्शाते समय विहित-विशेषणपक्ष को प्रस्तुत करते हुए भी हृदय से उसे नहीं मानते, तभी तो वे 'शर्वरी' में वार्त्तिक के प्राप्त न होने पर भी उसकी प्राप्ति दर्शा कर 'क्वचित्' के कारण उस का परिहार करते हैं।

३. चान्द्रव्याकरण में विड्वनोरनुनासिकस्यात् (६.४.४१) इस पाणिनीय सूत्र के लिये कोई सूत्र नहीं है, जब वन् प्रत्यय के परे रहते ओण् के णकार को आकार करने वाला सूत्र ही चन्द्राचार्य ने नहीं बनाया तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन के सामने लोक में 'अवावरी' या 'अवावा' कोई लक्ष्य ही न था।

जिसने इस प्रयोग का वर्णन किया हो। सम्भवतः न्यासकार से कुछ पहले या न्यासकार के काल में ही इस शब्द का प्रचलन हुआ होगा।[1] चाहे कुछ भी हो उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों में हरदत्तमिश्र और भट्टोजिदीक्षित आदि कुछ वैयाकरणों को छोड़ कर प्रायः समस्त वैयाकरणों ने न्यासकार का ही अनुसरण किया है। निदर्शनार्थं यथा—

(क) शाकटायनव्याकरण तथा उसकी स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में न्यासोक्त 'अवावरी' रूप का ही समर्थन किया गया है। वहां 'वनो न हशः' इस पाणिनीय वार्तिक को भी सूत्र के अन्तर्गत करते हुए न हषोऽनुर्वनः (शाक० १.३.८) सूत्र बनाया गया है। इस पर अमोघा में लिखा है—"हषः परो यो वन् प्रत्ययः, ततः स्त्रियां ङीप्रत्ययो न भवति, न चेत् स हष् ऋवर्णादेशावयवः स्यात्। यज्वा, राजयुध्वा, अतियज्वा, सहयुध्वा स्त्री। हष इति किम्? धीवरी, पीवरी, अवावरी,[2] राजकृत्वरी, सहकृत्वरी। अनुरिति किम्? शर्वरी।"[3] (अमोघा १.३.८)

यहां पर एक बात और भी ध्यातव्य है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) ने न्यासकार की तरह 'हषः' के साथ 'विहितविशेषण' का प्रयोग नहीं किया। अत एव 'शर्वरी' में ङीविधान के लिए उन्हें 'अनुः' यह पर्युदास करना पड़ा है।

(ख) जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी विहितविशेषणपक्ष को मानते हुए भी अपने ढंग से 'अवावरी' प्रयोग का समर्थन करते हैं—

"वनो हशो रश्च (जैनेन्द्र० ३.१.७)। वन् इति वनः क्वनिपश्च ग्रहणम्। अहशन्ताद्यो विहितो वन्, तदन्तात् स्त्रियां वर्त्तमानान्मृदो[4] रेफश्चान्तादेशो भवति ङीश्च। पूर्वेण सिद्धे रेफार्थमिदम्। धयतिपिबतिभ्यां क्वनिप्। धीवरी। पीवरी। मेरुदृश्वरी। कथं शर्वरी? शृणातेरजन्ताद्वन्। कथम् अवावरी? अत्र ओणतेर् अगविषये[5] आत्वे कृते वन्।" (जैनेन्द्रमहा० ३.१.७)

---

१. कातन्त्रव्याकरण की दुर्गसिंहवृत्ति में इस प्रयोग का उल्लेख पाया जाता है—

'विड्वनोरा। विटि वनि च प्रत्यये परे पञ्चमस्याकारो भवति। विट्—अजाः, गोषाः, सनोतेः षत्वम्। वनिप्—विजावा, अग्रेगावा। ओणृ—अवावरी, वनो र च।' (कातन्त्रकृद्वृत्ति वंगाक्षर सूत्र ७०)

कातन्त्र के स्त्रीत्वपरिशिष्ट के ३७वें सूत्र में भी 'अवावरी' प्रयोग देखा जाता है।

२. अत्र अपावरी इति मुद्रितः पाठोऽपपाठः।

३. यहां यह विशेष स्मर्त्तव्य है कि शाकटायनव्याकरण में यहां ङीप्रत्यय के विधान व निषेध की ओर ही ध्यान दिया गया है, रेफादेश की ओर नहीं। रेफादेश का विधान शाकटायन ने पृथक् सूत्र द्वारा किया है—ङ्यां वनो रः (शाक० १.३.७७)। ङीप्रत्यये परे वनो रेफादेशो भवति (अमोघा)।

४. मृदः=प्रातिपदिकस्य। मृदिति प्रातिपदिकस्य सञ्ज्ञा जैनेन्द्रे (दृश्यताम् १.१.५)।

५. अगविषये=आर्धधातुकविषये। दृश्यतां जैनेन्द्रे (२.४.६४)।

इसका तात्पर्य यह है कि आर्धधातुक के विषय में ओण् के णकार को प्रथम आकार कर लेने के बाद वन् प्रत्यय कर 'अवावरी' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये।

(ग) हेमचन्द्र-सूरि 'अवावरी' प्रयोग की सिद्धि के लिए अपने हैमशब्दानुशासन में णस्वराऽघोषाद् वनो रश्च (हैम० २.४.४) सूत्र में णकार का ग्रहण करते हैं। 'शर्वरी' में घोष वर्ण (र्) से परे निषेध न हो जाये इस के लिए 'विहितविशेषण' का आश्रय लेते हुए स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

'ण—ओणृ, अवावरी। विहितविशेषणं किम्? शृणातीति शर्वरी, स्वराद् विहितत्वाद् गुणे कृते घोषवतो यथा स्यात्।' (हैमबृहद्वृत्ति २.४.४)

हेमचन्द्र-सूरि यहां पर शब्दार्णवन्यास में णकार के ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए अपने हृद्गत भावों को और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"ओणतेः 'मन्वन्क्वनिप्०' इति वनि 'वन्याङ् पञ्चमस्य' इति णकारस्यात्वेऽवादेशे 'णस्वरा—' इति ङ्यां रेफे च 'अवावरी'। अवावरीतिप्रयोगस्य स्थविरेणोक्तत्वात् स्वयूथ्यैश्चाऽनूदितत्वात् तदनुरोधेन णग्रहणमस्माभिः क्रियमाणमत्रैव विधिं प्रयोजयन्ति। अपरे त्वस्य छन्दोविषयत्वं प्रतियन्तो भाषायामोणेरपि ते नेच्छतीति।"[1]

(हैमशब्दार्णवन्यास २.४.४)

इससे प्रतीत होता है कि किसी स्थविर ने सर्वप्रथम 'अवावरी' का लोक में प्रयोग किया, तदनन्तर उसके अनुयायिवर्ग ने इसे अपना लिया। इस प्रकार यह शब्द सूत्रकार, वार्त्तिककार व भाष्यकार के काल में न था, बाद में प्रचलित हुआ। न्यासकार ने सम्भवतः शिष्टों द्वारा इसे प्रयुक्त होता देख सर्वप्रथम इस की वैधता के लिए प्रयत्न किया होगा।

---

१. यहां का पाठ कुछ अशुद्ध मुद्रित प्रतीत होता है, पर इस का भाव स्पष्ट है। हेमचन्द्र का छन्दोविषयत्व निर्देश सम्भवतः भोजदेवप्रणीत सरस्तीकण्ठाभरणव्याकरण को लक्ष्य में रखकर किया गया होगा। सरस्वतीकण्ठाभरण पर दण्डनारायण की वृत्ति अभी समग्र प्रकाशित नहीं हुई। परन्तु यदि 'अवावरी' प्रयोग का इसमें उल्लेख होगा भी तो वह छान्दस होगा। क्योंकि भोजदेव ने विट् या वन् परे होने पर अनुनासिक को आकार विधान करने वाला सूत्र विड्वनोरनुनासिकस्यात् (सरस्वती० ८.२.४७) छन्दोऽधिकार में ही पढ़ा है। पुरुषोत्तमदेव भी इसे छान्दस ही मानते हैं (देखें भाषावृत्ति ६.४.४१)। परन्तु इदानींयावदुपलब्ध वैदिक-साहित्य में अवावरी या अवावा किसी प्रयोग का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

नोट—सरस्वतीकण्ठाभरण में विड्वनोरनुनासिकस्यात् सूत्र के स्थान पर विध्वनोरनुनासिकः स्यात् ऐसा अशुद्ध पाठ मुद्रित हुआ है। तभी तो उस के सम्पादक T.R. Chintamani यहां व्यामोहित हो गये हैं, अत एव उन्होंने ग्रन्थान्त में पाणिनि की तुलनात्मक सूत्रतालिका में इसकी तुलना में कोई पाणिनीयसूत्र नहीं लिखा। (देखें T.R. Chitamani सम्पादित सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ ४९६)।

(घ) मलयगिरि अपने शब्दानुशासन के (नाम्नि ५.१९) पर इस प्रयोग का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

'ण-स्वराऽघोषाद् वनो रश्च । णकारान्तात् स्वरान्ताद् अघोषान्ताच्च परो विहितो यो वन् प्रत्ययः, तदन्तात् स्त्रियां ङी भवति तद्योगे चान्तस्य रेफः । अवावरी । धीवरी । मेरुदृश्वरी । विहितविशेषणविज्ञानात् शर्वरी ।'

(ङ) माधवाचार्य माधवीयधातुवृत्ति (पृष्ठ १३२) में 'अवावरी' प्रयोग की सिद्धि दर्शाते हुए न्यासकार का उल्लेख करते हैं—

"अवावा—अन्येभ्योऽपि दृश्यते[1] इति वनिपि विड्वनोरनुनासिकस्यात् इति णकारस्याकारेऽवादेशे सर्वनामस्थाने० इत्युपधादीर्घे नलोपः । स्त्रियाम्—अवावरी । वनो र च इति वन्नन्तप्रातिपदिकत्वाद् ङीब्रौ । वनो न हशः—हशन्ताद्यो वन् विहितस्तदन्तान् ङीब्रौ नेत्ययं प्रतिषेधः प्रायिकत्वादत्र नेति न्यासादौ ।"

(च) पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषावृत्ति में (६.४.४१) सूत्र पर 'अवावरी' प्रयोग का उल्लेख करते हैं ।[2]

(छ) गोस्वामी बोपदेव मुग्धबोधव्याकरण में इसी रूप की सिद्धि के लिए अपने सूत्र 'णच्खसाद् वनो रङीप्, वा तु हे' (मुग्ध० सूत्र २६२) में णकार का ग्रहण करते हुए अपनी वृत्ति में लिखते हैं—

'णाद् अचः खसाच्च विहिताद् वन ईप् स्याद् वनो रङ् च स्त्रियां हे[3] तु वा । अवावरी, धीवरी, हरिदृश्वरी, बहुधीवरी, बहुधीवा ।'

(ज) संक्षिप्तसारव्याकरण के व्याख्याता गोयीचन्द्र लिखते हैं—

'ओणृ अपनयने । पणेरवावरीत्यादिप्रयोगाः[4] पञ्चमान्तधातोः क्वना वना वा साधनीयाः, बहुलवचनात् पञ्चमस्थाने आकारश्च करणीयः ।'

(संक्षिप्तसार, गोयी० कृदन्तपाद सूत्र १७१)

(झ) प्रक्रियाकौमुदी में रामचन्द्र न्यासोक्त रूप के समर्थन में लिखते हैं—

'णान्ताद्धातोर्वनो ङीब्रावित्येके : अवावरी ।'

(प्रक्रियाकौ० पूर्वार्ध, पृष्ठ ३२४)

'ओण्—अवावा । वनो र च—अवावरी ।'

(प्रक्रियाकौ० उत्तरार्ध, पृष्ठ ५३७)

प्रथमसन्दर्भ की व्याख्या करते हुए विट्ठल प्रसाद-व्याख्या में लिखते हैं—

---

१. अयं मुद्रितपाठोऽपपाठः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (३.२.७५) इत्येवोचितम् ।

२. पर वे इसे छान्दस मानते हैं । तथाहि—
'विड्वनौ छान्दसौ । अवावा । अवावरी ।' (भाषावृत्ति पृष्ठ ४३४)

३. ह इति बहुव्रीहिसमासस्य संज्ञा मुग्धबोधे ।

४. अस्य प्रयोगस्य मूलम्मृग्यम् ।

'एक इति । न्यासकारादयः । तथाच न्यासकारेणोक्तम्—अवावरीति । हृशन्ताद्धातोः परो वनिव् विहितस्तथापि प्रतिषेधो न भवति ।' (प्रसाद, पूर्वार्धं, पृष्ठ ३२४)

(ञ) प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट प्रक्रियाकौमुदी को उद्धृत करते हुए 'अवावरी' रूप का समर्थन करते हैं—

'न हृशन्ताद्वनो ङीब्रौ सहयुध्वा चमूरिति ।
इष्टौ णान्तात्तु कौमुद्यामोणेर्वनि अवावरी ।।'[1]

(प्रक्रियास० स्त्री० पृष्ठ ६४)

(ट) व्याकरणमिताक्षरा के रचयिता अन्नम्भट्ट भी यही कहते हैं—

'णान्ताद् धातोर्वनो ङीब्रौ वेत्येके—अवावा, अवावरी ।'

(व्या० मिता० ६.४.४१)

(ठ) कृदन्तरूपमाला में श. रामसुब्रह्मण्यशास्त्री भी यही कहते हैं—

'वनो न हृशः—इत्यस्य निषेधस्य प्रायिकत्वात् वनो र च (४.१.७) इति ङीब्रत्वयोः 'अवावरी' इत्यपि रूपम् इति न्यासकारादयः ।'

(कृदन्तरूपमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ १३८)

(ड) इनके अतिरिक्त वाचस्पत्यकोष, मोनियरविलियमकोष, धातुरूपकल्पद्रुम आदि में भी 'अवावरी' प्रयोग दिया हुआ है।

(ढ) 'अवावरी' के प्रयोग भी लोक में प्रचलित हैं। यथा—लौ० गृ० सूत्र के आदि में देवपाल टीकाकार अपने मङ्गलाचरण में—

'अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम् ।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम् ।।'

इस प्रकार पाणिनीयव्याकरण को न्यासकार का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है। परन्तु इस का विरोध करने वालों में पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र प्रमुख हैं। वे पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"वनो न हृश इति । विहितविशेषणं हृश्ग्रहणम्, हृशन्ताद्धातोर्यो वन् विहितस्तदन्तात् प्रातिपदिकान्ङीब्रौ न भवत इत्यर्थः । तेन शर्वरीत्यत्र प्रतिषेधाऽभावः । तथा 'ओणृ अपनयने' वनिपि विड्वनोरनुनासिकस्यात् इत्यात्वे अवादेशे अवावन्नित्यत्र सम्प्रति हृशः परत्वाऽभावेऽपि हृशन्ताद्विहितत्वात् प्रतिषेधो भवत्येव—अवावा ब्राह्मणीति । एष एव स्थितः सिद्धान्तः ।" (पदमञ्जरी ४.१.७)

हरदत्तमिश्र का अनुसरण करते हुए भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—

"वनो न हृश इति वक्तव्यम् । विहितविशेषणं चेदम् । हृशन्ताद्धातोर्विहितो यो वन् तदन्तात्तदन्तान्ताच्च प्रातिपदिकान्ङीब्नेत्यर्थः । तेन शर्वरीत्यत्र प्रतिषेधाऽभावः । ओणृ अपनयने, वनिप्, विड्वनोरित्यात्त्वम् । हृशन्ताद् विहितत्वान्न ङीब्रौ । अवावा ब्राह्मणीति हरदत्तः । प्रायिकोऽयं निषेधस्तेनावावरीति न्यासकारः । (शब्दकौस्तुभ ४.१.७)

१. अत्र कौमुद्याम्=प्रक्रियाकौमुद्याम् इत्यवसेयम् ।

'अवावेति । न्यासकारस्तु प्रायिकोऽयं निषेधः । तेन अवावरीत्याह । न त्वेतद् भाष्यादौ दृष्टम् ।' (प्रौढमनोरमा 'वनो र च' पर)

हरदत्तमिश्र आदि वैयाकरण **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** तथा महाभाष्य को अन्तिम प्रमाण या परमप्रमाण मानते हैं अतः भाष्य में इसका उल्लेख न देखकर वे इसे ('अवावरी' को) अप्रमाण मानते हैं। परन्तु भाष्य के बाद सैंकड़ों नये शब्द जब भाषा के प्रवाह में आ गये और शिष्टजनों ने भी उनका प्रयोग करना आरभ कर दिया तो न्यासकारवत् व्यापक दृष्टिकोण ही अपनाना उचित प्रतीत होता है।[1] यही कारण है कि उत्तरवर्त्ती पाणिनीय व पाणिनीयेतर प्रायः सब वैयाकरणों ने न्यासकार का ही समर्थन किया है हरदत्त का नहीं। भाष्यकार स्वयं भी इसी मार्ग का निर्देश करते हैं—

'तद्यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते।'

'प्रयोगाद्धि भवान् शब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः।' (महाभाष्य पस्पशा०)

[२.२५] **केवल-मामक-भागधेय०** (४.१.३०) सूत्र पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"अथ मामकग्रहणं किमर्थम्? यावता अस्मदः तस्येदमित्यणि कृते **तवकममकावेकवचने** इति ममकादेशेन मामक इति भवति, ततश्च टिड्ढाणञ्० इति ङीप्सिद्धेः? सत्यमेतद्, नियमार्थं तु मामकशब्दस्य ग्रहणम्, सञ्ज्ञाछन्दसोर्यथा स्यादन्यत्र मा भूदिति।" (न्यास ४.१.३०)

---

१. यदि भाष्य में उल्लिखित न होने से कोई बात प्रामाणिक नहीं होती तो **परिमुखं च** (४.४.२९) सूत्र पर 'च' के ग्रहण से 'पारिपार्श्विकः' की सिद्धि जो सब वैयाकरणों को अभीष्ट है—न हो सकेगी, क्योंकि इसका भाष्य में कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। किंच—**वच परिभाषणे** (अदा० प०) धातु के विषय में दीक्षित आदि के **अयमन्तिपरो न प्रयुज्यते** इत्यादि वचन भी अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि भाष्य में इन का उल्लेख नहीं पाया जाता। जैसाकि लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट कहते हैं—**अत्रार्थे न भाष्यानुग्रहः**। अत एव नारायणभट्ट ने अतीव समुचित कहा है—

दृष्ट्वा शास्त्रगणान् प्रयोगसहितान् प्रायेण दाक्षीसुतः,
प्रोचे तस्य तु विच्युतानि कतिचित् कात्यायनः प्रोक्तवान्।
तद्भ्रष्टान्यवदत् पतञ्जलिमुनिस्तेनाप्यनुक्तं क्वचि-
ल्लोकात् प्राक्तनशास्त्रतोऽपि जगदुर्विज्ञाय भोजादयः॥

(अपाणिनीयप्रमाणता, श्लोक ६)

उत्तरवर्ती प्रायः सब वैयाकरणों ने न्यासकार के इस समाधान का अनुसरण किया है। तद्यथा हरदत्तमिश्र—

'ममेयमिति युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च इत्यण्, तवकममकावेकवचने इति ममकादेशः, तत्राणन्तत्वात् टिड्ढाणञ्० इत्येव सिद्धे नियमार्थं मामकग्रहणम्—संज्ञा-छन्दसोरेव ङीव् नान्यत्रेति।' (पदमञ्जरी ४.१.३०)

भट्टोजिदीक्षित—

'मामकग्रहणं नियमार्थम् अणन्तत्वादेव सिद्धेः। तेन लोके सञ्ज्ञायां मामिका।' (सि० कौ० पूर्वार्धं पृष्ठ २७७)

'मामकग्रहणं नियमार्थम्, अणन्तत्वादेव सिद्धेः। मामिका।' (शब्दकौस्तुभ ४.१.३०)

बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित—

'नन्वणन्तत्वादेव टिड्ढाणञिति ङीपि सिद्धे मामकग्रहणं व्यर्थम् इत्यत आह—मामकग्रहणमिति। लोके संज्ञायां च ङीन्निवृत्त्यर्थमिति भावः।' (सि० कौ० बाल० पूर्वार्धे पृष्ठ २७७)

प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट—

"अनाम्नि टाप् स्यात् सर्वेभ्यो यौ तु मामकभेषजौ।
तस्येदमाद्यणन्तौ द्वौ तयोश्चाऽनाम्नि टाब् भवेत्॥"
(प्रक्रियास० भाग चतुर्थ, पृष्ठ ९९)

व्याकरणमिताक्षराकार अन्नम्भट्ट—

'अणन्तादित्येव सिद्धे मामकग्रहणं नियमार्थम्। मामकशब्दातसञ्ज्ञाछन्दसोरेवेति। नेह—मामिका बुद्धिः।' (व्या० मिता० ४.१.३०)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी। तद्यथा पाल्यकीर्ति—

'मामकशब्दस्याऽनन्तस्य ग्रहणं नास्ति, नियमार्थम्[1]।' (अमोघा पृष्ठ ७२)

हेमचन्द्रसूरि बृहद्वृत्ति में—

'मामकशब्दाद् अनन्तत्वेनैव ङीसिद्धौ नाम्नि नियम्यते, तेन मामिका बुद्धि-रित्यसञ्ज्ञायामञ्लक्षणोऽपि ङीर्न भवति।' (हैमबृहद्वृत्ति २.४:२९)

संक्षिप्तसार के व्याख्याता गोयीचन्द्र—

"मामकी देवताविशेषस्य नाम। 'तवकममकावेकत्वे' इत्यस्मदष्टण्, ममकादेशश्च, टित्त्वादेव ईप्रत्यये सिद्धे मामकशब्दस्य पाठो नियमार्थः—नाम्न्येव ईप्रत्ययो भवति नाऽन्यत्र, तेन असंज्ञायां 'मामिका'।" (संक्षिप्त० गोयी० तद्धितपाद सूत्र २४)

न्यासकार से पूर्व इस प्रकार की शङ्का और उस का यह समाधान अभी तक किसी व्याकरण में उपलब्ध नहीं हुआ।

---

१. अत्रामोघापाठः किञ्चित्परिभ्रष्टः प्रतिभाति।

[२.२६] पूतक्रतोरै च (४.१.३६) सूत्रद्वारा पूतक्रतु शब्द से पुंयोग में ङीप् प्रत्यय तथा ऐकार अन्तादेश होकर 'पूतक्रतायी' प्रयोग काशिका में सिद्ध किया गया है। यहां पर न्यासकार अपनी ओर से सूत्रार्थ पर एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"ऐकारश्चान्तादेशो भवतीति। कुतः पुनरेतद् अवसितम्—आदेशोऽयमिति न पुनः प्रत्ययः? उत्तरसूत्रेऽप्यादेशत्वात्। उत्तरसूत्रे[1] ह्ययमेवैकारोऽनुवर्त्तते, तत्र चास्यादेशत्वम्। अत इहाप्यादेशत्वमवसीयते। उत्तरसूत्रे कुतोऽस्यादेशत्वं निश्चितमिति चेत्? उदात्तवचनात्। यदि हि प्रत्ययः, तस्याद्युदात्तत्वादुदात्तवचनमनर्थकं स्यात्, प्रत्ययस्वरेणैवोदात्तस्य सिद्धत्वात्।" (न्यास ४.१.३६)

न्यासकार का समाधान अत्यन्त समुचित व युक्तियुक्त है इस में सन्देह नहीं। अत एव उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने भी यहां न्यास का अनुसरण किया है। निदर्शनार्थ यथा हरदत्तमिश्र—

'यद्ययमैकारः प्रत्ययः स्यादुत्तरसूत्रे उदात्तवचनमनर्थकं स्यात्, प्रत्ययत्वादेव सिद्धे। तस्मादादेशोऽयं विज्ञायत इत्याह—ऐकारश्चान्तादेश इति।'

(पदमञ्जरी ४.१.३६)

विट्ठल—

'उत्तरसूत्रे उदात्तवचनादैकार आदेशः। प्रत्ययत्वे हि प्रत्ययस्वरेण उदात्तत्वे उदात्तवचनं व्यर्थं स्यादित्यभिप्रेत्याह—ऐ आदेश इति।' (प्रसाद, पूर्वार्ध पृष्ठ ३४९)

भट्टोजिदीक्षित—

'न चैकारः प्रत्यय इति भ्रमितव्यम्। उत्तरसूत्रे उदात्त इति विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेः!' (शब्दकौस्तुभ ४.१.३६)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती—

'ऐकार आदेशो न तु प्रत्ययः, उत्तरसूत्रे उदात्तग्रहणात्।'

(सि० कौ० तत्त्व० पू० पृष्ठ २७९)

नागेशभट्ट—

'ऐ आदेश इति। अत एवोदात्तग्रहणं चरितार्थम्। प्रत्ययत्वे हि तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। अर्थाधिकारानुरोधाच्च पूर्वसूत्रेऽप्यादेशत्वम्।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ७५२)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी न्यासोक्त शङ्का से प्रभावित हुए विना नहीं रहे। उन्हों ने भी अपने अपने व्याकरणों में इस शङ्का के समाधान की चेष्टा की है। सर्वप्रथम शाकटायनव्याकरणकार आचार्य पाल्यकीर्त्ति ने इस ऐकार के साथ ङकार जोड़ कर इसे आदेश बनाने का यत्न किया है—'पूतक्रत्वग्निवृषाकपिकुसितकुसीदाद् ऐङ् च' (शाकटायन० १.३.५०)। इस सूत्र की स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में वे लिखते भी हैं—

'ऐङ् इति ङकार आदेशत्वद्योतनार्थः।' (अमोघा १.३.५०)

---

१. वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः (४.१.३७) इत्यस्मिन् सूत्र इति भावः।

सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने इस दोष से बचने के लिए पञ्चमी के एकवचन का प्रयोग न कर षष्ठी के बहुवचन का प्रयोग किया है[1]—

'पूतक्रतु-वृषाकप्यग्नि-कुसित-कुसीदानाम् ऐ च ।' (सरस्वती० ३.४.८)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि यद्यपि अपने सिद्धहैमशब्दानुशासन के 'पूतक्रतु-वृषाकप्यग्नि-कुसित-कुसीदाद् ऐ च' (२.४.६०) सूत्र में पञ्चमी के एकवचन का प्रयोग करते हैं तथापि इस सूत्र की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में इस को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"ननु पञ्चमीनिर्देशात् प्रत्ययप्रकरणत्वाच्चैकारः प्रत्यय एव विज्ञायेत, ततश्च समानप्रत्ययेन सह ङीप्रत्ययस्य पाक्षिकी प्रवृत्तिः स्यात्, कथमुक्तम्—ऐकारश्चान्तादेश इति । नैष दोषः, एयेऽग्नायी (हैम० ३.२.५२) इति निर्देशात्, न ह्येकारस्य प्रत्ययत्वेऽग्नायीति ।" (हैमबृहद्वृत्ति २.४.६०)

संक्षिप्तसारव्याकरण में न्यासोक्त शङ्का की निवृत्ति के लिये अपना एक नया ढंग अपनाते हुए इस प्रकार सूत्रनिर्माण किया गया है—

'अग्न्यादेर्डायिश्च ।' (संक्षिप्त० वंगाक्षर तद्धितपाद सूत्र ९७)

इस का अभिप्राय यह है कि अग्नि आदि (अग्नि, वृषाकपि, पूतक्रतु, कुशीद, कुसित) शब्दों से ई प्रत्यय हो तथा उसे 'डाय' का आगम भी हो। इस प्रकार 'अग्नि+डाय+ई'='अग्नि+आयी' होकर डित्वसामर्थ्यात् 'अग्नि' के इकार का लोप करने से 'अग्नायी' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी तरह वृषाकपायी, पूतक्रतायी आदि भी। इत्थं न्यासोक्त शङ्का का अवसर ही उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार पाणिनीयेतर वैयाकरणों पर भी न्यासोक्त शङ्का का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

[२.२७] **पुंयोगादाख्यायाम्** (४.१.४८) सूत्र पर काशिका में एक वार्तिक पाया जाता है—

'सूर्याद् देवतायां चाब् वक्तव्यः । सूर्यस्य स्त्री देवता—सूर्या । देवतायामिति किम्—सूरी ।"

अब यहां पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"सूर्याद्देवतायां चाब्वक्तव्य इति । ननु च ङीष एव प्रतिषेधो वक्तव्यः, ङीषि प्रतिषिद्धे टाब् भविष्यति, टापि च सूर्येति सिध्यत्येव ? नैतदेवम्, यद्यपि हि रूपं सिध्यति, स्वरस्तु न सिध्यति, यस्मात् सूर्यशब्दोऽयमाद्युदात्तः । तथाहि—राजसूयसूर्य०

---

१. यद्यपि पाणिनि ने भी **पूतक्रतोरै च** (४.१.३६) में पञ्चमी का प्रयोग न कर षष्ठी का ही प्रयोग किया है तथापि 'पूतक्रतोः' रूप 'पूतक्रतु' शब्द के पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभिक्तियों के एकवचन में एक समान सम्भव हो सकता है अतः यहां सन्देह का अवसर उत्पन्न होता है। परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण में षष्ठी के बहु-वचन का प्रयोग होने से ऐसा सन्देह उत्पन्न नहीं होता।

इत्यत्र क्यबन्तो निपातितः, ततः क्यपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । धातोस्तु सुवतेः सर्त्तेर्वा धातुस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । तत्र टापि सत्यनुदात्तत्वं स्यात्, चापि तु सति अन्तोदात्तता भवति ।" (न्यास ४.१.४८)

न्यासकार यहां पर यह शङ्का उठाते हैं कि यदि देवता अर्थ में 'सूर्या' और अदेवता अर्थ में 'सूरी' ये दो रूप ही बनाने अभीष्ट हैं तो यहां सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय विधान करने की आवश्यकता नहीं, 'सूर्याद् देवतायां न' इतना मात्र ही कहना चाहिये। इस से देवतापक्ष में पुंयोग ङीष् का निषेध होकर अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) से सुतरां टाप् करने से 'सूर्या' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा और मानुषीपक्ष में ङीष् होकर 'सूरी'। इस शङ्का को उठा कर इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार कहते हैं कि सूर्यशब्द क्यप्प्रत्ययान्त निपातित (३.१.११४) होने से धातुस्वर से आद्युदात्त है। अब यदि इस से चाप् करेंगे तो 'सूर्या' शब्द चितः (६.१.१६३) से अन्तोदात्त हो जायेगा। पुनः यदि केवल ङीष् का निषेध ही करेंगे तो अदन्तत्वात् औत्सर्गिक टाप् होकर टाप् के पित्त्वाद् अनुदात्त होने से वही धातुस्वर ही अवस्थित रह कर 'सूर्या' शब्द आद्युदात्त ही रहेगा। अतः 'सूर्या' शब्द आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त रहे— इस के लिये इस से परे 'चाप्' प्रत्यय का विधान किया गया है, वरन् टाप् से भी काम चल सकता था।

न्यासकार का यह समाधान युक्तियुक्त है। अत एव इस समाधान को उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने अपने-अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया है। तद्यथा—

हरदत्तमिश्र इसी का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'सूर्याद्देवतायां चाव्वक्तव्य इति। ङीष एव प्रतिषेधे वक्तव्ये चाब्विधानमन्तोदात्तार्थम्। सूर्यशब्दोऽयमाद्युदात्तः, तत्र टापि सति आद्युदात्तत्वमेवावतिष्ठेत।' (पदमञ्जरी ४.१.४८)

विट्ठल प्रसादव्याख्या में इसी ओर संकेत करते हैं—

'सूर्येति। राजसूयसूर्य०—इति क्यबन्तोऽयमाद्युदात्तः। तस्माच्चापि चितः इत्यनेनान्तोदात्तो भवति।' (प्रसाद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६०)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

'चाव्वक्तव्य इति। ङीषो निषेधेन टापैव सिद्धे चाब्विधानं चित्त्वादन्तोदात्तार्थम्, सूर्यशब्दश्च सृधातोः क्यप्याद्युदात्तः।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ७६५)

ल० शब्देन्दुशेखर में भी—

'सर्त्तेः क्यप्याद्युदात्तसूर्यशब्दाच्चापि अन्तोदात्तमिदम्। ङीब्निषेधेन टापैव सिद्धिरित्यपास्तम्।' (ल० श० शे० उ० पृष्ठ ५७९)

बालमनोरमाकार भी यही लिखते हैं—

"न च 'सूर्याद् देवतायां न' इत्येवोच्यताम्, ङीषि निषिद्धे टापैव सूर्येति सिद्धेरिति वाच्यम्, टापि हि सति पित्त्वादनुदात्तत्वम् 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्युक्तेः। चापि तु 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वमिति भेदः।" (सि० कौ० बालमनो० पूर्वार्ध पृष्ठ २८७)

गोपालशास्त्रि-ने० ने० भी सिद्धान्तकौमुदी की सरलाव्याख्या में यही कहते हैं—

'चापश्चित्त्वमन्तोदात्तार्थम्। टापि सति ह्याद्युदात्तः स्यात्, सूर्यशब्दो ह्याद्युदात्तः, राजसूयसूर्येति क्यबन्तस्य निपातितत्वात्।' (सि० कौ० सरला, पृष्ठ १४५)

न्यासकार को इस की प्रेरणा सम्भवतः चान्द्रव्याकरण से मिली होगी। चान्द्रव्याकरण में—

"सूर्या देवी' (२.३.४७)। सूर्यस्य भार्या सूर्या, देवी चेत्। सूरी अन्या।"
(चान्द्रवृत्ति, प्रथम भाग, पृष्ठ २३४)

इस प्रकार निपातन से काम चलाया गया है, चाप् प्रत्यय नहीं किया गया। इस से न्यासकार सोचने पर विवश हुए होंगे कि पाणिनीयव्याकरण में इस प्रकार निपातन क्यों नहीं किया गया? तब उन्हें उपर्युक्त समाधान सूझा होगा।[1]

[२.२८] इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक् (४.१.४६) सूत्र पर एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"अथ किमर्थम् आनुक् क्रियते, अनुगेव नोच्येत, तेन सवर्णदीर्घत्वेन सिध्यति? न सिध्यति, अतो गुणे इति पररूपत्वं हि प्राप्नोति। अकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भविष्यति, पररूपे हि नुगेव वक्तव्यः स्यात्। एवं तर्हि अकारोच्चारणसामर्थ्याद् भविष्यति। स्वरसन्धिरेव न भवतीत्येवमपि विज्ञायते, तस्मान्मैवं विज्ञायि—इत्यानुगेव वक्तव्यः। अथवा—इन्द्रमाचष्ट इति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' इति टिलोपः, इन्द्रयतेः क्विप्, णिलोपः। इन्द्रः[2] स्त्री—इन्द्राणीत्यत्र दीर्घस्याकारस्य श्रवणं यथा स्यादित्येवमर्थम् आनुको विधानम्। अनुकि हि सति दीर्घो न श्रूयेत। ननु च नैवात्र ङीषा भवितव्यम्, अत इत्यधिकारात्? दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् भविष्यति।"
(न्यास ४.१.४६)

---

१. स्वर की विशेषता के कारण ही पाणिनीयव्याकरण में टाप् की बजाय चाप् किया गया है—यह यहां स्पष्ट है। परन्तु स्वरप्रकरण तो चान्द्रव्याकरण में भी था—ऐसा तद्गत अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है (देखें इसी शोधप्रबन्ध के इसी अध्याय का पृष्ठ १२५)। तो भला उस में अभीष्टस्वरसिद्धि के लिए क्या यत्न किया गया होगा? इस प्रश्न का उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता। जब तक चान्द्रव्याकरण का वह विलुप्त स्वरप्रकरण प्रकाश में न आ जाये तब तक कोई कैसे बता सकता है कि उस में क्या है? यह भी सम्भव है कि उसमें स्वरप्रक्रिया का दिङ्मात्र प्रदर्शन हो, पाणिनीयतन्त्रवत् सविस्तर प्रतिपादन न हो, अथवा स्वर-प्रकरण में इसके लिये कुछ विशिष्ट उपाय किया गया हो।

२. 'इन्द्रः' इति इन्द्रशब्दस्य षष्ठ्यन्तं रूपम्।

न्यासकार द्वारा उत्थापित शङ्का का सार यह है कि यदि आनुक् की बजाय अनुक् का आगम कर देते तो सवर्णदीर्घ होकर 'इन्द्राणी' आदि प्रयोग सिद्ध हो सकते थे। यदि कहें कि अनुक् आगम विधान करने से अतो गुणे (६.१.९७) द्वारा पररूप प्राप्त होता—तो यह युक्त नहीं। क्योंकि यदि पररूप करना अभीष्ट होता तो अनुक् के स्थान पर नुक् ही कर देते, नुक् न कह कर 'अनुक्' का विधान पररूप का बाधक समझा जायेगा और इस तरह सवर्णदीर्घ सुतरां सिद्ध हो जायेगा। अतः 'आनुक्' में दीर्घीकरण व्यर्थ है।

न्यासकार इस शङ्का का समाधान दो प्रकार से करते हैं—

(क) अनुक् विधान करने से कहीं यह न समझा जाये कि आचार्य यहां स्वर-सन्धि ही करना नहीं चाहते, अतः इस से बचने के लिए स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं उन्होंने दीर्घ-घटित आगम ही विधान कर दिया है।

परन्तु अपने इस उत्तर से अधिक सन्तुष्ट न होकर न्यासकार 'अथवा' कह कर एक अन्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(ख) इन्द्र शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' (गणसूत्रम्) द्वारा 'आचष्टे' अर्थ में णिच् प्रत्यय कर उस से कर्तरि क्विप् विधान करने पर 'इन्द्र्' यह रेफान्त शब्द निष्पन्न होता है, इसका अर्थ है—इन्द्र को कहने वाला। इस का षष्ठयन्त रूप बनेगा—इन्द्रः। इन्द्रः स्त्री—यहां पुंयोगविवक्षा में ङीष् और आनुक् कर 'इन्द्राणी' बनाने के लिए आचार्य ने दीर्घघटित आनुक् का आगम विधान किया है, यदि अनुक् कहते तो यहां 'इन्द्राणी' न बन कर 'इन्द्रणी' बनता। यदि कोई कहे कि यहाँ तो 'अतः' का अधिकार आ रहा है इस से रेफान्त 'इन्द्र्' शब्द से पुंयोग में आनुक्-ङीष् हो ही नहीं सकेंगे तो इस का उत्तर यह है कि सूत्र में दीर्घघटित आनुक् का आगम ही इस बात का ज्ञापक है कि क्वचित् 'अतः' न होने पर भी इस की प्रवृत्ति हो जाती है।

यहां न्यासकार का पूर्वपक्ष जितना प्रबल और स्पष्ट प्रतीत होता है समाधान उतना नहीं। पहला समाधान तो अत्यन्त साधारण है। सकल लोकवेद के प्रयोगों की अवहेलना कर स्वरसन्धि का अभाव समझना—बहुत दूर की क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होती है। दूसरे समाधान में 'अतः' के साथ विरोध तो स्पष्ट है ही। किं च लोक में 'इन्द्र की भार्या' ही इन्द्राणी के नाम से प्रसिद्ध है न कि 'इन्द्र को कहने वाले की भार्या'। यही कारण है कि न्यासकार की इस शङ्का को तो सब उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने अपना लिया, पर समाधान को नहीं। कुछ ने न्यासकार का अनुसरण किया तो कुछ ने इस का खण्डन भी। निदर्शनार्थ यथा—

जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'आनुगिति द्विमात्रोच्चारणम् इष्टसङ्ग्रहार्थम्।'[1] (जैनेन्द्रमहा० ३.१.४२)

---

१. इष्टिसङ्ग्रहार्थमिति मुद्रितः पाठोऽपपाठः प्रतिभाति।

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याकार विट्ठल भी 'प्रसाद' में न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'अनुका सिद्धावानुकरणम्[1]—इन्द्रमाचष्ट इन्द्रयति ततः क्विपि—इन्द्रः स्त्रीत्यत्र इन्द्राणीति दीर्घश्रवणार्थम् ।' (प्रसाद, पूर्वार्धं पृष्ठ ३६१)

हरदत्तमिश्र इस से विपरीत विचार व्यक्त करते हुए न्यासकार का स्पष्ट खण्डन करते हैं—

"अथ किमर्थम् आनुग्विधीयते, न अनुगेवोच्येत, अकारोच्चारणसामर्थ्याद् अतो नुजे पररूपं बाधित्वा सवर्णदीर्घत्वं भविष्यति, अन्यथा नुगेवोच्येत, यथैव तर्हि पररूपं न भवति तथैव सवर्णदीर्घत्वमपि न स्यात् ? नैष दोषः, यं विधिं प्रति उपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते, यस्य तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यते, तस्माद् अनुगेव[2] वक्तव्यः ।"

'अपर आह—इन्द्रमाचष्ट इन्द्रयति, इन्द्रयतेः क्विप्, णिलोपः, इन्द्रः स्त्री—इन्द्राणी, अत्र दीर्घस्य श्रवणम् । दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् अत इत्यधिकारो बाध्यत इति । एवमपि क्विबन्तः पुंस आख्या न भवति ।' (पदमञ्जरी ४.१.४९)

हेमचन्द्र ने अपने अनुशासन में 'वरुणेन्द्र-रुद्र-भव-शर्व-मृडाद् आन् चान्तः[3]' (हैम० २.४.६२) सूत्र द्वारा आन् का आगम विधान किया है। इस दीर्घघटित आगम पर परस्परविरुद्ध इन उपर्युक्त मतों का संग्रह करते हुए वे बृहद्वृत्ति और शब्दार्णवन्यास में लिखते हैं—

'इन्द्रमाचष्टे—इन्द्र्, तद्भार्या—इन्द्राणी ।' (हैमबृहद्वृत्ति २.४.६२)

"ननु अकारकरणसामर्थ्यादिव 'लुगस्यादेत्यपदे' (हैम० २.१.११३)[4] इत्यस्य बाधितत्वात् समानदीर्घत्वे रुद्राणीप्रयोगस्य सिद्धत्वाद् 'आन्' इत्यागमस्य दीर्घोच्चारणमतिरिच्यते, अत्रोत्पलः शिवोक्तमनुवदति—दीर्घ-ग्रहणे प्रयोजनं चिन्त्यम् । अन्ये त्वाहुः—एभ्यो णौ क्विपि सति व्यञ्जनान्तेभ्योऽपि यथा स्यादिति । अन्ये त्वेतत्प्रयोजनं न क्षमन्ते—इन्द्रभार्याया एवेन्द्राणीत्यतो वृद्धव्यवहारे प्रतिपत्तिः, न त्विन्द्रमाचक्षाणस्य भार्यायाः, लौकिकार्थानुरोधेन चान्वाख्यानं क्रियते न तु तद्विरोधेन । अन्ये तु अनुपात्ताया अपि प्रकृतेर्दीर्घकरणेन आन्ङीप्रत्ययौ कल्प्येते इत्याहुः ।"

(श्रीसिद्धहेम० श० न्यास, २.४.६२)

---

१. आनुका सिद्धावनुकरणम्—इति मुद्रितः पाठः परिभ्रष्टः । दृश्यताम् (४.७१) ।

२. यहां पर प्राच्यसंस्करण में तस्माद् आनुगेव वक्तव्यः पाठ छाप कर सम्पादकों ने हरदत्तमिश्र के इस सम्पूर्ण व्याख्यान को असम्बद्ध तथा अनर्गल सिद्ध कर दिया है। पाठक इस पाठ को देख कर सोचता ही रहता है कि हरदत्त कहना ही क्या चाहते हैं, लाज्रेस प्रेस के शुद्ध छपे पाठ को न जाने उन्होंने कैसे अशुद्ध समझ लिया।

३. एभ्यो धवनामभ्यस्तद्योगात् स्त्रियां वर्त्तमानेभ्यो ङीर्भवति, तत्सन्नियोगे च आनन्त आगमो भवति (बृहद्वृत्ति) ।

४. अपदे—अपदादावकारे एकारे च परेऽकारस्य लुग्भवति (बृहद्वृत्ति) ।

इस विषय पर और अधिक गम्भीरता से विचार करते हुए भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में लिखते हैं—

"इह अनुग् ह्रस्वादिरेव लाघवाद् वक्तव्य इति हरदत्तः। तन्न अतो गुणे इति पररूपप्रसङ्गात्। ननु अकारोच्चारणसामर्थ्याद् दीर्घो भविष्यति। अन्यथा हि नुकमेव कुर्यादिति चेन्न। अल्लोपोऽनः इत्यस्य बाधने चरितार्थत्वात्। पत्युर्न इतिवदादेशे कर्त्तव्ये आगमलिङ्गककारोच्चारणसामर्थ्यादेव अल्लोपो न भविष्यतीति चेन्न, शर्वशब्दे ककारस्य चारितार्थ्याद्, न हि तत्र लोपोऽस्ति न संयोगाद्० इति निषेधात्। तस्मात् ककाराकारयोः सामर्थ्यविरहे पररूपबाधनार्थं दीर्घोच्चारणमावश्यकमिति स्थितम्। कथं ब्रह्माणीति ? ब्रह्माणम् आनयति जीवयतीति कर्मण्यण् बोध्यः।"

(शब्दकौस्तुभ ४.१.४९)

भट्टोजिदीक्षित यहां ह्रस्वघटित आगम के पक्षपाती हरदत्तमिश्र आदि के मत को अयुक्त मानते हैं। उनका भाव यह है कि यदि आनुक् की बजाय अनुक् कर देंगे तो अतो गुणे (६.१.९७) द्वारा पररूप प्रसक्त होकर इन्द्राणी आदि अभीष्ट रूप सिद्ध न हो सकेंगे। अनुक् में अकारोच्चारणसामर्थ्य से पररूप का बाध कर सवर्णदीर्घ की निष्पत्ति मानना युक्त नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में अकार का उच्चारण अल्लोपोऽनः (६.४.१३४) द्वारा प्राप्त अल्लोप से बचने के लिए ही माना जायेगा। अभिप्राय यह है कि केवल नुक् कह देने पर 'इन्द्रन्+ई' इस स्थिति में 'अल्लोपोऽनः' से अल्लोप प्रसक्त होता अतः उस से बचने के लिए अनुक् में अकारोच्चारण चरितार्थ हो जायेगा। उसके चरितार्थ हो जाने से उस में सामर्थ्य न रहेगा, तब वह सवर्णदीर्घ निष्पन्न न करा सकेगा।[1] यदि यह कहा जाये कि पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (४.१.३३) सूत्र की तरह अन्त्य वर्ण को नकारादेश न कर आगम बनाने के लिए नुक् को कित् करना ही अल्लोप के अभाव का द्योतक होगा तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'शर्व' शब्द में जहां न संयोगाद्वमन्तात् (६.४.१३७) निषेध के कारण अल्लोप की प्रसक्ति ही नहीं—नकारादेश का मार्ग अपनाया नहीं जा सकता, उसके लिए नुक् का आगमीकरण ही आवश्यक है। इस प्रकार अकार और ककार के अन्यार्थक सिद्ध हो जाने से उन में सामर्थ्य नहीं रह जाता। अतः अनुक् करने की स्थिति में पररूप प्रसक्त होगा जिसका वारण कथमपि नहीं किया जा सकेगा—यही सोच कर आचार्य ने दीर्घघटित आनुक् आगम का ही विधान किया है।

भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण प्रक्रियाकौमुदी की प्रकाशव्याख्या में 'इन्द्र-वरुण०' सूत्रगत 'आनुक्' पद का 'आ+अनुक्' इस प्रकार छेद कर इन्द्र आदियों को

---

१. यत्तु केचिद्—नुकि कृतेऽनो लाक्षणिकत्वाद् अल्लोपोऽनः इत्यस्याऽप्रवृत्त्या सवर्णदीर्घ एव अनुकि कृते भविष्यत्यकारोच्चारणसामर्थ्यादित्याहुस्तन्न। अल्लोपोऽनः इत्यत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाया अप्रवृत्तेः बहुव्रीहेरूधसो ङीष् (४.१.२५) इति सूत्रभाष्यसम्मतत्वाद् इति लघुशब्दरत्ने प्रदीपोद्योते च नागेशभट्टेन स्पष्टीकृतम्।

पहले आकारादेश और पुनः अनुक् का आगम विधान करते हैं।[1] उन का कथन है कि यद्यपि केवल अनुक् आगम से भी अकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'इन्द्राणी' आदि प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं तथापि आकारादेश का विधान क्वचित् हलन्तों से भी पुंयोग में इस सूत्र की प्रवृत्ति के लिए किया गया है—इसके उदाहरणार्थ उन्होंने 'ब्रह्माणी' प्रयोग का निर्देश किया है—ब्रह्मणः स्त्री ब्रह्माणी, ब्रह्मन् शब्द के नकार को आकार आदेश तथा अनुक् और ङीष् करने पर 'ब्रह्माणी' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु दीक्षित जी ने अपने गुरु प्रकाशकार के इस मत को चिन्त्य कहा है।[2] दीक्षित जी के हेतु वही हैं जो उन्होंने शब्दकौस्तुभ के उपर्युक्त उद्धरण में हरदत्तमिश्र के मत का खण्डन करते हुए दिये हैं। 'ब्रह्माणी' रूप की सिद्धि के विषय में वे सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—'कथं ब्रह्माणीति ? ब्रह्माणम् आनयति जीवयतीति 'कर्मण्यण्'।[3] अर्थात् ब्रह्मन्कर्मोपपद 'अन प्राणने' (अदा० प०) इस ण्यन्त धातु से कर्मण्यण् (३.२.१) द्वारा अण् प्रत्यय होकर 'ब्रह्मन्+आन', पुनः उपपदसमास और टिड्ढाणञ्० (४.१.१५) से ङीप् करने पर 'ब्रह्माणी' प्रयोग सिद्ध होता है।[4] परन्तु दीक्षितोक्त इस प्रक्रिया के प्रसङ्ग में कुछ लोग शङ्का किया करते हैं कि यदि इस तरह 'ब्रह्माणी' रूप सिद्ध किया जाये तो 'इन्द्राणी' आदि की सिद्धि भी इसी प्रकार हो सकती है—इन्द्रम् आनयति जीवयतीति इन्द्राणी, पुनः सूत्रनिर्माण का क्या प्रयोजन ? इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए नागेशभट्ट लघुशब्दरत्न में लिखते हैं—

१. अत्र पूर्वमिन्द्रादीनामाकारादेशस्ततोऽनुक्। यदि पूर्वमनुक् तत आकारादेशस्तदाऽनुको नकारस्यैवादेशः स्यादिति नकारकरणं व्यर्थं स्यादिति नकारोच्चारणं ज्ञापयति—पूर्वमाकारादेशस्ततोऽनुगिति हृद्गतम्।

२. यत्तु वदन्ति—दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् 'आ+अनुक्' इति पदं विभज्यते। तत्रेन्द्रादीनाम् अनुकैव सिद्धे आकारादेशविधानसामर्थ्यात् क्वचिदन्यतोऽपि विधानमनुमीयते। तेन ब्रह्माणी सिध्यतीति। तच्चिन्त्यम्।' (प्रौढमनोरमा पृष्ठ ४३०)
(मतमिदं प्रकाशकाराणामिति भैरव्यां भैरवमिश्रेण निर्दिष्टम्)

३. सिद्धान्तकौमुदी पृष्ठ (२८८)।
दीक्षितजी को इसकी प्रेरणा सम्भवतः दुर्घटवृत्ति से मिली होगी। दुर्घटवृत्ति में लिखा है—'कथम्ब्रह्माणी ? ब्रह्माणम् अनितीति, अनितेः कर्मण्यण्' (पृष्ठ ८४)। दुर्घटवृत्तिकार ने यहां शुद्ध 'अन प्राणने' धातु से कर्मण्यण् किया है परन्तु दीक्षितजी ने णिजन्त 'अन' से। कुछ अन्य लोग इसकी निष्पत्ति 'अण शब्दे' (भ्वा० प०) धातु से भी मानते हैं यथा—'ब्रह्म अणतीति ब्रह्माणी' (अमरकोष, टीकासर्वस्व पृष्ठ २८), 'ब्रह्माणम् अणति कीर्त्तयति। 'अण शब्दे' कर्मण्यण्, टिड्ढाणञ्० इति ङीप्' (अमरकोष, व्याख्यासुधा पृष्ठ १६)। क्षीरस्वामी इस प्रकार की व्युत्पत्ति से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। वे अमरकोष की अपनी व्याख्या में इसे केवल 'प्रसिद्धं नाम' मानते हैं—'ब्रह्माणीत्यानुगागमाभावाच्चैव प्रसिद्धं नाम' (पृष्ठ ८)।

४. अत्र णत्वं तु पूर्वपदात्संज्ञायामगः (८.४.३) इति बोध्यम्।

'इन्द्रवरुणेतिसूत्रं तु इन्द्रीत्यादिव्यावृत्त्यर्थम् । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण च स्वरे न विशेष इति ।' (प्रौढमनोरमा, ल० शब्दरत्न, पृष्ठ ४३२)

तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रवरुण० (४.१.४९) सूत्र न होता तो इन्द्रस्य स्त्री—इस पुंयोग में पुंयोगादाख्यायाम् (४.१.४८) से ङीष् होकर 'इन्द्री, वरुणी, भवी' आदि अनिष्ट रूप बन जाते, अतः उन अनिष्ट रूपों को रोकने के लिए ही सूत्रनिर्माण किया गया है।[1]

तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रभिक्षु भट्टोजिदीक्षित से भी बढ़ कर प्रकाशकार के मत की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"आनुगिति दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् 'आ+अनुक्' इति पदं विभज्यते । तत्रेन्द्रादीनामनुकैव सिद्धे आकारादेशविधानसामर्थ्यात् क्वचिदन्यतोऽपि विधानमनुमीयते, तेन ब्रह्मणः स्त्री ब्रह्माणीति सिध्यतीत्याहुः । अत्र नव्याः—अस्तूक्तरीत्या दीर्घोच्चारणमन्यतो विधानार्थमेव, परन्तु 'आ-अनुगिति' पदं विभज्य नकारस्याकारादेशे कृते दीर्घग्रहणसामर्थ्याद् अनजन्तस्याप्यनुकि कृते ब्रह्माणीति सिध्यतीति न व्याख्येयम्, उभयविधौ वाक्यभेदापत्तेः । किन्तु इन्द्रमाचक्षाण इन्द्र् । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति ण्यन्तात् क्विप् । तस्य स्त्री इन्द्राणीति सिध्यतीत्येवेति व्याख्येयम् । दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् 'अतः' इत्यधिकारोऽनुपसर्जनाधिकारश्च बाध्यत इति सुवचत्वात् । न चोभयबाधाभ्युपगमापेक्षयाऽत इत्यधिकारबाधमात्राभ्युपगमेन ब्रह्मणः स्त्री ब्रह्माणीति रूपसिद्धये आकारादेशोऽनुक् च भवतीत्येव व्याख्यायतामिति वाच्यम्, वाक्यभेदापत्त्यपेक्षया उभयबाधनगौरवस्य सुसहत्वात् ।" (सि० कौ० तत्त्व० पूर्वार्धं, पृष्ठ २८८)

ज्ञानेन्द्रस्वामी का यह अभिप्राय है कि चाहे दीर्घविधानसामर्थ्य से 'क्वचिदन्यतोऽपि विधानम्' मान भी लें तो भी 'आ+अनुक्' इस प्रकार छेद कर 'ब्रह्माणी' की इस से सिद्धि नहीं करनी चाहिये । क्योंकि इस छेद के मानने से सूत्रार्थ में दो भिन्न-भिन्न वाक्य मानने पड़ते हैं जो बहुत बड़ा गौरव दोष है । इस की अपेक्षा तो 'इन्द्रम् आचक्षाण इन्द्र्, तस्य स्त्री इन्द्राणी' इस प्रकार का न्यासोक्त उदाहरण ही देना चाहिये । इस उदाहरण में भी यद्यपि 'अतः' और 'अनुपसर्जनात्' इन दो अधिकारों का बाध उपस्थित होता है तथापि इन दोनों बाधों की अपेक्षा वाक्यभेदापत्ति अधिक गौरवग्रस्त है ।

इस प्रकार न्यासप्रवर्तित शास्त्रपरिचर्चा से उत्तरवर्ती वैयाकरण अत्यन्त प्रभावित और उद्वेल्लित हुए हैं और इस विषय पर पर्याप्त चिन्तनसामग्री व्याकरणजगत् के सामने प्रस्तुत हुई है ।

---

१. यत्तु सूत्रसत्त्वे इन्द्राणीत्यन्तोदात्तम् । इन्द्रमानयतीत्यर्थे ङीपि तु अन्तानुदात्तमिति, अत्रोदात्तत्वसिद्धये सूत्रमिति तन्न, इन्द्रशब्दस्यान्तोदात्ततया अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (६.१.१६१) इत्यनेनानुदात्तस्य ङीप उदात्तत्वविधानेन स्वरे भेदाभावात् । तस्माद् इन्द्रीत्यादिव्यावृत्तिरेव सूत्रस्य फलम् ।

[२.२६] तद्धिताः (४.१.७६) सूत्र पर न्यासकार स्वोत्प्रेक्षित एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"अथ तद्धिताधिकारः स्त्रीप्रत्ययानामादित एव कस्मान्न क्रियते ? किमेवं सति भवति ? ङ्याबन्तमपि तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकमिति ङ्याप्प्रातिपदिकात् इत्यत्र ङ्याब्ग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति; प्राचां ष्फ तद्धितः इत्यत्र च तद्धितग्रहणम्, यस्येति च इतीकारग्रहणं च, तद्धित इत्येवं सिद्धत्वात्। अशक्यमेवं कर्तुम्। एवं हि क्रियमाणे तत्र ङ्याब्ग्रहणस्य यत्पूर्वं प्रयोजनमुक्तं तन्न स्यात्, ङीब्-ङीष्-ङीनां च ङकारस्येत्सञ्ज्ञा 'अतद्धिते' इति प्रतिषेधात्, इह च पट्वीति ओर्गुणः इति गुणः स्यात्। तस्माद् यथान्यासमेवास्तु।" (न्यास ४.१.७६)

न्यासकार द्वारा प्रतिपादित शङ्का और उस का समाधान दोनों ही स्पष्ट, सुन्दर और युक्तियुक्त हैं। उत्तरवर्त्ती अनेक वैयाकरण इस से प्रभावित हुए हैं। तद्यथा—

हरदत्तमिश्र इसी का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"स्त्रीप्रत्ययानामादितस्तद्धिताधिकारे क्रियमाणे प्राचां ष्फ तद्धितः इत्यत्र तद्धितग्रहणं न कर्त्तव्यम्, यस्येति च इत्यत्र चकारग्रहणम्, ङ्याप्प्रातिपदिकात् इत्यत्र तु तदन्तात् तद्धितविधानार्थं ङ्याब्ग्रहणं कर्त्तव्यमेव। सत्यम्, ङीबादीनां ङकारस्य इत्संज्ञा न स्यात्, 'अतद्धिते' इति प्रतिषेधात्। सत्यामपि वा पट्वीत्यादौ ओर्गुणः स्यात्। तस्माद्यथान्यासमेवास्तु।" (पदमञ्जरी ४.१.७६)

भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

'ननु स्त्रीप्रत्ययानामुपक्रम एव तद्धिता इत्यधिक्रियताम्। तथा च ष्फविधौ तद्धितग्रहणं यस्येति लोपे ईद्ग्रहणं च मास्त्विति लाघवम्। सत्यम्। एवं सति ङीबादीनां ङकारस्येत्सञ्ज्ञा न स्यात्, अतद्धित इति पर्युदासात्। ङकारस्थाने टकारोऽस्तु इति चेन्न, एवमपि पट्वीत्यादौ ओर्गुणप्रसङ्गात्।' (शब्दकौस्तुभ ४.१.७६)

प्रौढमनोरमा में भी यही कहते हैं—

"स्यादेतत्, टापः प्रागयमधिकारोऽस्तु, ष्फविधौ तद्धितग्रहणं 'यस्य०' इति लोप ईद्ग्रहणं च मास्त्विति चैद् मैवम्। पट्वीत्यत्र ओर्गुणप्रसङ्गात्।" (प्रौढम० पृष्ठ ४४१-४२)

तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रस्वामी भी यही कहते हैं—

"ननु टापः प्रागेवायमधिकारोऽस्तु, ष्फविधौ तद्धितग्रहणं यस्येतिलोपे ईद्ग्रहणं च मास्त्विति चेन्मैवम्, 'पट्वी' 'मृद्वी' इत्यादावोर्गुणप्रसङ्गात्। यदि तु यस्येति च इत्यत्र ईद्ग्रहणमेव ङीषि तद्धितकार्याभावं ज्ञापयतीति स्वीक्रियेत, तर्हि टापः प्राक् तद्धिताधिकारेऽपि न कश्चिद् दोष इति केचित्। तच्चिन्त्यम्। 'कुरूः' इत्यादौ ओर्गुणादिप्रसङ्गादिति नव्याः।"

यहां पर तत्त्वबोधिनीकार ने यस्येति च में ईद्ग्रहण के ज्ञापक का सोदाहरण खण्डन कर न्यासोक्त समाधान को और अधिक विकसित व पुष्ट किया है।

नागेशभट्ट भी इसे और अधिक परिमार्जित और परिबृंहित करते हुए बृ० शब्देन्दुशेखर में लिखते हैं—

"ननु ष्फविधौ तद्धितग्रहणाऽकरणलाघवानुरोधात् टापः प्रागेवायमधिकारोऽस्तु । न च ङीबादीनां ङस्येत्त्वाऽनापत्तिः । 'चुटुङ' इति सूत्रकरणेन तत्सम्भवात् । टीप्-टीन्-टीष् इत्येव वा प्रत्ययाः सन्तु । न च तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे 'फिषोऽन्त उदात्तः' इत्यस्यापत्तिः । प्रकृतिप्रत्ययविभागशून्य एव तत्प्रवृत्तेः । पकार-षकार-नकाररूप-भिन्नाऽनुबन्धकरणवैयर्थ्यापत्तेश्च । अत एव सिद्धान्ते लिङ्गविशिष्टपरिभाषया नाऽत्र फिट्स्वरः । डाप्प्रत्यये विजातीयडकारानुबन्धकरणं च न कार्यमित्यपरं लाघवम् । टिलोपस्य नस्तद्धिते इत्यनेनैव सिद्धेः । यस्येतिसूत्रे ईद्ग्रहणम् 'औङः श्याम्०' इति वार्त्तिकं च न कार्यम् ।"

"न च ईद्ग्रहणं ङीबादिषु तद्धितकार्याऽभावज्ञापनार्थं, तेन पट्वीत्यादौ न ओर्गुणापत्तिरिति वाच्यम् । कुरूरित्यादिसिध्यर्थं स्त्रीप्रत्ययेषु तदभावज्ञापने आसुरायणीत्यादौ ष्फेऽपि यस्येति लोपाऽनापत्तेरिति चेन्न । 'कुरूः', 'पट्वी' इत्यादावोर्गुणापत्तेः । अत एव दण्डिनीत्यादौ टिलोपो नेति दिक् ।" (बृ० श० शे० पृष्ठ ७८५-८६)

यही वाक्यावली लघुशब्दरत्न में भी नागेशभट्ट ने प्रयुक्त की है । इसी का आश्रय लेकर सभापतिशर्मोपाध्याय सि० कौ० की लक्ष्मीटीका में लिखते हैं—

"ननु तद्धिताधिकारः 'अजाद्यतः' प्रागेवास्तु, तथा सति 'प्राचां ष्फः' इत्यत्र तद्धिताधिकारेणैव सिद्ध्या तद्धितग्रहणम्, 'यस्येति च' ईतिग्रहणम्, 'औङः श्याम्०' इति वार्त्तिकम्, डापि डकारानुबन्धकरणं च विफलम्, ङ्यादिषु तद्धितपरत्वेनैव 'यस्य' इत्यस्य, 'नस्तद्धिते' इत्यस्य च प्रवृत्त्या लोपसिद्धेः । टाबादिषु 'चुटुङ' इति न्यासेन 'अतद्धिते' इति पर्युदासेऽपि इत्त्वसिद्धेः । ङीबादिस्थाने टीबादीतिन्यासेनैवेष्टसिद्धेः ।"

"न च टाबाद्यन्तस्य तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकतया फिट्स्वरापत्तिः, टाबादिषु पकारषकाराद्यनुबन्धकरणेन तदप्रवृत्तेः, फिट्पदेन प्रकृतिप्रत्ययशून्यस्यैव ग्रहणाच्च । अन्यथा लिङ्गविशिष्टपरिभाषया फिट्स्वरो दुर्वार एव स्यादिति चेन्न, 'मृद्वी' इत्यादौ 'ओर्गुणः' इत्यस्यापत्तेः । न च 'यस्येति च' इत्यत्रेतिग्रहणं कृत्वा तेन तद्धितनिमित्तकं कार्यं ङीबादीकारादौ नेति ज्ञापकान्न दोष इति वाच्यम्, 'कुरूः' इत्यत्र 'ओर्गुणः' इति गुणस्य दुर्वारत्वात् ।"

"सामान्यतः 'स्त्रीप्रत्ययेषु तद्धितकार्यं न' इति ज्ञापने तु 'आसुरायणी' इत्यत्रेकारलोपानापत्तेः । 'शुनी' इत्यत्र 'तद्धिते' इति सम्प्रसारणानापत्तेः, 'दण्डिनी' इत्यादौ 'नस्तद्धिते' इति टिलोपापत्तेश्च ।" (सि० कौ० लक्ष्मी, पृष्ठ ७६३)

इस प्रकार न्यासंकार द्वारा प्रवर्त्तित विचार ने उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों के लिए पर्याप्त चिन्तनसामग्री उपस्थित की है, इस से वे अत्यन्त उद्वेलित और चमत्कृत हुए हैं । इस शङ्कासमाधान की यद्यपि शाखाप्रशाखाएं अनेक हो चुकी हैं तथापि मूल वही है जो न्यासकार ने प्रतिपादन किया है ।

[२.३०] ऊरूत्तरपदादौपम्ये (४.१.६९) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

"ऊरूत्तरपदात् प्रातिपदिकाद् औपम्ये गम्यमाने स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। कदलीस्तम्भोरूः। नागनासोरूः। करभोरूः।"

इस स्थल की व्याख्या करते हुए न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

"लाघवार्थम् ऊर्वन्तादिति वक्तव्ये 'ऊरूत्तरपदाद्' इत्युक्तम्—यत्र केवल ऊरुशब्द उत्तरपदं तत्र यथा स्यादित्येवमर्थम्, अन्यथा हि यदि ऊर्वन्तादित्युच्येत तदा—स्वामिन ऊरू—स्वाम्यूरू, हस्तिन इव स्वाम्यूरू यस्याः सा हस्तिस्वाम्यूरुरित्यत्रापि स्यात्, भवति ह्येवमूर्वन्तं प्रातिपदिकम्. उत्तरपदग्रहणे तु न दोषः, न ह्येतदूरूत्तरपदं प्रातिपदिकम्। किं तर्हि? स्वाम्यूरूत्तरपदम्।" (न्यास ४.१.६९)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति केवल वहीं होगी जहां उत्तरपद में केवल 'ऊरु' शब्द ही होगा, यदि उत्तरपद 'ऊरु' न होकर ऊर्वन्त शब्द होगा तो इसकी प्रवृत्ति न होगी। यथा—स्वामिन ऊरू स्वाम्यूरू, हस्तिन इव स्वाम्यूरू यस्याः सा हस्तिस्वाम्यूरुः। यहां 'हस्तिस्वाम्यूरुः' के उत्तरपद में 'स्वाम्यूरु' होने से ऊङ् नहीं होता। अत एव सूत्रकार ने 'ऊर्वन्तादौपम्ये' सूत्र न बना कर 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इतना लम्बा सूत्र बनाया है।

न्यासकार के इस युक्तियुक्त व्याख्यान से उत्तरवर्त्ती पाणिनीय व पाणिनीयेतर प्रायः सब वैयाकरण प्रभावित हुए हैं। तद्यथा—

शाकटायन अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'लाघवार्थमूर्वन्तादिति वक्तव्ये उत्तरपदग्रहणं किम्? हस्तस्वाम्यूरुः।'[1]

(शाकटायन० अमोघा १.३.७२)

हेमचन्द्रसूरि बृहद्वृत्ति में यही कहते हैं—

'कथं स्वामिन ऊरू—स्वाम्यूरू। हस्तिन इव स्वाम्यूरू यस्याः सा हस्तिस्वाम्यूरुर्वडवा। एवं करभमात्रूरुः। नाऽत्रोरुशब्द उपमानादिपूर्वः, अपितु स्वाम्यूरु-मात्रूरु-शब्दौ।' (हैमबृद्वृत्ति २.४.७५)

हैमशब्दार्णवन्यास में भी—

"यद्यत्रादिग्रहणमकृत्वाऽन्तग्रहणं क्रियेत तदा ऊर्वन्तादिति विज्ञायमानेऽप्यत्राप्यूङ् प्रसज्येत, भवति ह्युपमानात् परोऽयमूर्वन्तः।' (श्रीसिद्धहेम० श० न्यास २.४.७५)

संक्षिप्तसार के व्याख्याकार गोयीचन्द्र भी यही कहते हैं—

'हस्तस्वाम्यूरुरिति नात्र ऊरुशब्द उत्तरपदं किन्तु स्वाम्यूरुशब्दः, अत एव ऊर्वन्तादित्येव सिद्धे ऊरूत्तरपदादिति कृतम्।'

(संक्षिप्त० गोयी० तद्धितपाद, सूत्र १११)

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याकार विट्ठल शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार से न्यास का अनुकरण करते हुए लिखते हैं—

१. अत्रामोघायां 'हस्तसाम्यूरुः' इति मुद्रितः पाठोऽपपाठः।

"लाघवार्थम् ऊर्वन्तादिति वाच्ये 'उत्तरपदाद्' इत्युक्तम् । यत्र केवल ऊरुशब्द उत्तरपदं तत्र यथा स्यादिह मा भूत्—स्वामिन ऊरुः स्वाम्यूरुः, हस्तिन इव स्वाम्यूरुरस्या हस्तिस्वाम्यूरुरिति । भवति ह्येतद् ऊर्वन्तं प्रातिपदिकं न तूत्तरपदं किन्तु स्वाम्यूरूत्तर-पदम् ।" (प्रसाद, पूर्वार्ध, पृष्ठ ३७५)

शब्दकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

"ऊर्वन्तादिति ऊरोरिति वा वक्तव्ये उत्तरपदग्रहणं हस्तिस्वाम्यूरुरित्यादौ पदान्तरव्यवधाने मा भूदित्येवमर्थम् ।" (शब्दकौस्तुभ ४.१.६९)

तत्त्वबोधिनीकार भी इसी का समर्थन करते हैं—

'ऊर्वन्तादिति वक्तव्ये उत्तरपदग्रहणं हस्तिस्वाम्यूरुरित्यत्र मा भूदित्येवमर्थम् । अत्र हि हस्तिन इव स्वाम्यूरू अस्या इति विग्रहः । तथा चोर्वन्तत्वेऽपि ऊरूत्तरपदत्वमिह नास्ति । स्वाम्यूरुशब्दस्यैवोत्तरपदत्वात् ।' (सि० कौ० तत्त्व० पूर्वार्ध, पृ० २९७)

न्यासकार को इस की प्रेरणा सम्भवतः चान्द्रव्याकरण से प्राप्त हुई होगी । चन्द्राचार्य ने इस स्थल पर अपना सूत्र इस प्रकार निर्माण किया है—

"ऊरोरुपमान-संहित-सहित-सह-शफ-वाम-लक्षणादेः" (चान्द्र० २.३.७९)

यह चान्द्रसूत्र पाणिनि के 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४.१.६९) तथा 'संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च' (४.१.७०) सूत्रों के साथ-साथ 'सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' वार्त्तिक को भी अपने में संगृहीत किये हुए है । इस में उपमानादिपूर्वक ऊरु शब्द से ऊङ् का विधान किया गया है, अतः 'हस्तिस्वाम्यूरुः' आदि में ऊङ् की प्राप्ति ही नहीं होती ।

नोट—वस्तुतः देखा जाये तो इस चान्द्रसूत्र से न्यासकार ने आंशिक लाभ ही उठाया है पूरा लाभ नहीं । चान्द्रसूत्रद्वारा उपमानपूर्वक ऊरु शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ्विधान करना पाणिनीयसूत्रापेक्षया अवश्य ही ऋजु मार्ग है । इस से जहां 'हस्तिस्वाम्यूरुः' आदि में अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती वहां 'करभोपमोरुः' (करभ उपमा ययोस्तौ करभोपमौ, करभोपमौ ऊरू यस्याः सा करभोपमोरुः) आदि में भी अनिष्ट का वारण हो जाता है । न्यासकार के मतानुसार तो 'करभोपमोरुः' में उत्तरपद में केवल 'ऊरु' शब्द होने से ऊङ् की प्राप्ति अनिवार्य है । अतः इस दोष से बचने के लिए पाणिनीयजगत् में सर्वप्रथम प्रयास भट्टोजिदीक्षित का है । उन्होंने 'औपम्ये' के सन्दर्भ में 'उत्तरपद' ग्रहण से 'उपमानवाचिपूर्वपद' का अध्याहार किया है, इस तरह सूत्रार्थ हो जाता है—उपमानवाचिपूर्वपदं यदूरूत्तरपदं प्रातिपदिकं तस्मात्स्त्रि-यामूङ् स्यात् । इससे 'करभोपमोरुः' आदि में ऊङ् प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि करभ उपमानवाची तो है पर पूर्वपद नहीं ।[1]

---

१ देखें—

शब्दकौस्तुभ—अत एव 'धात्रीकराभ्यां करभोपमोरू' रिति रघुकाव्ये (६.८३) दीर्घपाठः क्वाचित्कः प्रामादिकः ।' (४.१.६९)

[२.३१] **प्रावृष एण्यः** (४.३.१७) सूत्र द्वारा कृतणत्व 'एण्य' प्रत्यय का विधान किया गया है। इस पर न्यासकार लिखते हैं—

'अथ किमर्थं प्रत्यये मूर्धन्यः पठ्यते, न रषाभ्यामित्यनेनैव णत्वं भविष्यति ? नैवं शक्यम्, इह हि न स्यात्—प्रावृषेण् इति, पदान्तत्वात्।' (न्यास ४.३.१७)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रावृष् शब्द से 'एन्य' प्रत्यय का विधान करने पर भी **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (८.४.१) से णत्व होकर 'प्रावृषेण्यः' प्रयोग सिद्ध हो सकता था तथापि 'प्रावृषेण्'[1] पद में णत्वसिद्धि के लिए आचार्य ने 'एण्य' प्रत्यय का विधान किया है, क्योंकि 'एन्य' प्रत्यय कर देने से 'प्रावृषेण्' न बनता 'प्रावृषेन्' ही बनता, **पदान्तस्य** (८.४.३७) निषेध के कारण णत्व न हो सकता। न्यासकार के इस समाधान से पाणिनीय व पाणिनीयेतर सब वैयाकरण प्रभावित हुए हैं। तद्यथा—

(क) शाकटायन स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'एण्य इति मूर्धन्यो णकारोऽतिनिमित्तकः।[2] ण्यन्तात् क्विपि प्रावृषेण् इति मूर्धन्यार्थः।' (शाकटायन० अमोघा ३.१.७८)

(ख) जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी भी इसी का अनुसरण करते हैं—

'णत्वं किमर्थम् ? प्रावृषेण्यम् आचष्टे, णिचि, क्विपि, अतः खे च कृते णकारस्य श्रवणार्थम्।' (जैनेन्द्रमहा० ३.२.१३६)

(ग) हरदत्तमिश्र भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

'रषाभ्यामित्येव सिद्धे प्रत्यये णकारोच्चारणम्—प्रावृषेण्यम् आचष्टे, प्रावृषेण्ययतेः क्विप्, णिलोपः, लोपो व्योर्वलीति यलोपः, प्रावृषेण् इत्यत्र णत्वार्थम्, अन्यथा **पदान्तस्य** इति प्रतिषेधः स्यात्।' (पदमञ्जरी ४.३.१७)

(घ) हेमचन्द्र भी हैमशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति में यही कहते हैं—

'एण्य इति प्रत्यये णकारो निर्निमित्तकः। प्रावृषेण्ययतीति ण्यन्तात् क्विपि प्रावृषेण् इति मूर्धन्यार्थः।' (हैमबृहद्वृत्ति ६.३.९२)

(ङ) संक्षिप्तसारव्याकरण के व्याख्याता गोयीचन्द्र भी यही कहते हैं—

'किमयं णकारवान् प्रत्ययः, एन्यं कृत्वा णत्वमत्र विधीयते वेति सन्देहनिरा-

---

तत्त्वबोधिनी—'धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः' इत्यत्र तूङ् न, करभशब्दस्योपमानवाचित्वेऽपि पूर्वपदत्वाभावात्। (पृष्ठ २९७)

बृ० शब्देन्दुशेखर—उत्तरपदेन च पूर्वपदमाक्षिप्यते। तच्च प्रत्यासत्तिन्यायादुपमानवाच्येव। अत एवोत्तरपदग्रहणं चरितार्थम्। अन्यथा 'ऊर्वन्ताद्' इत्येव वदेत्। अत एव करभोपमोरुरित्यत्र न। (पृष्ठ ७७९)

१. प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः, प्रावृषेण्यमाचष्ट इति णिचि टिलोपे प्रावृषेण्ययतेः क्विपि णिलोपे **लोपो व्योर्वलि** इति यलोपे च कृते 'प्रावृषेण्' इति पदं सिध्यति।

२. अतिनिमित्तकः—निर्निमित्तकः स्वाभाविक इत्यर्थः।

सार्थमाह—प्रावृषेण्यम् आख्यातवान् प्रावृषेण् इति। यद्ययं नकारवान् प्रत्ययः स्यात् तदा प्रावृषेण्यशब्दाण्णिङि क्विपि च कृते क्विब्वस्वोश्चेति णिङ्लोपे क्वौ य इति यलोपे पदान्तत्वाद् णत्वाभावे प्रावृषेण् इति न स्यात्।'

(संक्षिप्त० गोयी० तद्धितपाद सूत्र ३९५)

(च) मुग्धबोधव्याकरण के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार रामतर्कवागीश भी यही लिखते हैं—

णत्वविधानं प्रावृषेण्यमाचक्षाणः प्रावृषेण् इत्यत्र णत्वार्थम्।'

(मुग्धबोध पृष्ठ ६१०)

(छ) भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ और प्रौढमनोरमा में इसी का समर्थन करते हैं—

'रषाभ्यामिति सिद्धे प्रक्रियालाघवार्थं णकारोच्चारणम्। किंच—प्रावृषेण्यम् आचक्षाणः प्रावृषेण् इत्यत्र णकारश्रवणार्थं तत्। ण्यन्तात् क्विप्। णिलोपाऽल्लोपयलोपाः।' (शब्दकौस्तुभ ४.३.१७; प्रौढम० द्वितीयभाग पृष्ठ १६४)

इसी शब्दावली को ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने तत्त्वबोधिनी (पूर्वार्ध पृष्ठ ६४८) तथा नागेशभट्ट ने बृ० शब्देन्दुशेखर (पृष्ठ १३४१) में भी दोहराया है।

इस प्रकार न्यासकार द्वारा प्रवर्तित विचार उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया है।

[२.३२] विदूराञ्ञ्यः (४.३.८४) सूत्र पर काशिकागत **'बालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा। न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत्'** इस कारिका के प्रसङ्ग में न्यासकार लिखते हैं—

'यथा विश्रवणरवणौ इत्यादेशावेव शिवादिषु पठ्येते। अपत्याधिकारात्तु येन तयोरपत्यापत्यवत्सम्बन्धः स एव प्रकृतित्वेनाक्षिप्यते विश्रवश्शब्दः। विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणः, रावणः।'

(न्यास ४.३.८४)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि शिवादिगण में जो विश्रवण और रवण शब्द पढ़े गये हैं वे ऐसे शब्द नहीं हैं जिन से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय होता है, किन्तु वे तो आदेश पढ़े गये हैं। उन आदेशों के अनुरूप प्रकृति 'विश्रवस्' अपने आप आक्षिप्त की जाती है। इस प्रकार—'विश्रवसोऽपत्यम्—'वैश्रवणः' या 'रावणः' बनता है। 'विश्रवस्' शब्द से शिवादित्वात् अण् प्रत्यय तथा विश्रवस् को 'विश्रवण' या 'रवण' आदेश हो कर आदिवृद्धि करने से रूप निष्पन्न होते हैं।

गणगत इन शब्दों का इस प्रकार का व्याख्यान न्यास से पूर्व अभी तक किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। भाष्य में इस का कोई उल्लेख नहीं, काशिकाकार ने यहां शिवादिगण में 'विश्रवण, रवण' इस प्रकार निर्देशमात्र ही किया है, किसी प्रकार की कुछ व्याख्या नहीं लिखी। चान्द्रवृत्ति में भी काशिकावत् केवल उल्लेखमात्र ही पाया

जाता है। परन्तु उत्तरवर्त्ती पाणिनीय व पाणिनीयेतर सब वैयाकरणों ने इस विषय में न्यास का ही अनुसरण किया है। तद्यथा—

(क) कैयट उपाध्याय प्रदीप में लिखते हैं—

'यथा शिवादिगणे विश्रवणरवणेत्यादेशौ पठ्येते ताभ्यां तु विश्रवः-शब्दः स्थानित्वेनाक्षिप्यते।' (प्रदीप ४.३.८४)

(ख) हरदत्तमिश्र इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'रवण-विश्रवणशब्दौ पठ्येते, तौ विश्रवःशब्दस्यादेशौ प्रकृत्यन्तरे वा वृत्ति-विषये तत्समानार्थे। विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणो रावणः।' (पदमञ्जरी ४.१.११२)

(ग) पुरुषोत्तमदेव भी यही कहते हैं—

'विश्रवसोऽपत्यमिति वाक्ये विश्रवण-रवणाभ्यां वृत्तिः। वैश्रवणो रावणः।' (भाषावृत्ति ४.१.११२)

(घ) प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल भी यही कहते हैं—

'विश्रवण, रवण—एतौ विश्रवःशब्दस्यादेशौ प्रकृत्यन्तरे वा। वृत्तिविषये तत्समानार्थे। विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणो रावणश्च।' (प्रसाद, पूर्वार्धं पृष्ठ ७११)

(ङ) भट्टोजिदीक्षित भी इसी का अनुमोदन करते हैं—

'विश्रवण-रवणशब्दौ पठ्येते, विश्रवःशब्दस्यादेशौ प्रकृत्यन्तरमेव वा, वृत्ति-विषये तत्समानार्थे। वैश्रवणः, रावणः।' (शब्दकौस्तुभ ४.१.११२)

यही शब्दावली प्रौढमनोरमा में भी प्रयुक्त है—(देखें—प्रौढमनोरमा, द्वितीय भाग, पृष्ठ १३८)।

(च) ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी तत्त्वबोधिनी में यही कहते हैं—

'विश्रवण-रवणशब्दावत्र पठ्येते तौ च विश्रवःशब्दस्यादेशौ। विश्रवसोऽपत्यम्—वैश्रवणः, रावणः।' (तत्त्व० पूर्वार्धं पृष्ठ ५६३)

(छ) नारायणभट्ट भी यही कहते हैं—

'विश्रवसो विश्रवण-रवणौ। विश्रवसः पुत्रो वैश्रवणः, रावणः।' (प्रक्रियास० तद्धित०, पृष्ठ ८)

(ज) बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी इसी का समर्थन करते हैं—

'विश्रवण-रवणशब्दौ च। तौ विश्रवःशब्दादेशौ। प्रकृत्यन्तरे एव वा तत्समा-नार्थे। वैश्रवणः, रावणः।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १२६२)

पाणिनीयेतर न्यासोत्तरवर्त्ती वैयाकरणों पर यहां न्यास का प्रभाव तीन रूपों में परिलक्षित होता है। कुछ वैयाकरणों यथा जैनेन्द्रव्याकरण के व्याख्याता अभयनन्दी तथा संक्षिप्तसारव्याकरण के कर्त्ता क्रमदीश्वर आदि ने तो सीधा न्यास का अनुसरण किया है।[1] कुछ दूसरे पाल्यकीर्त्ति प्रभृति ने विश्रवस् को नङ् और रवण आदेशों का

1. 'विश्रवसोऽपत्यमिति विगृह्य विश्रवण-रवणादेशौ। प्रकृत्यन्तरे वा। अव्यविकन्यायेन ताभ्यामेवाण्।' (जैनेन्द्रमहा० ३.१.१०१)
'विश्रवसो विश्रवण-रवणौ च'। (संक्षिप्त० तद्धितपाद सूत्र २०७)

वैकल्पिक विधान किया है।[1] नङ् अन्त्यादेश तथा रवण सर्वादेश है। कुछ इतर तीसरे प्रकार के वैयाकरणों ने विश्रवस् के सकार को नकार या णकारादेश तथा उसके आदि 'विश्' का वैकल्पिक लोप कर 'वैश्रवणः' और 'रावणः' की सिद्धि की है। इस श्रेणी में सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजदेव तथा हैमशब्दानुशासन के कर्त्ता हेमचन्द्र आदि आते हैं।[2] गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान ने न्यासवत् प्रक्रिया दर्शा कर 'अन्ये' द्वारा किसी व्याकरण का एक सूत्र भी उद्धृत किया है।[3]

इस प्रकार इस विषय में सम्पूर्ण व्याकरणजगत् न्यासकार के व्याख्यान से प्रभावित प्रतीत होता है।

[२.३३] परिमुखं च (४.४.२९) सूत्र पर 'पारिमुखिकः' शब्द का अर्थ समझाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः। सर्वतो भावे वा परिः, तस्य कुगतिप्रादयः इति प्रादिसमासः, यतो यतः स्वामिनो मुखं वर्त्तते ततस्ततो यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः।' (न्यास ४.४.२९)

उत्तरवर्त्ती अनेक वैयाकरणों ने इस व्याख्या का शब्दतः तथा अर्थतः अनुसरण किया है। तद्यथा—

हरदत्तमिश्र इसी का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः। सर्वतो भावे वा परिशब्दः, परितो मुखम्, प्रादिसमासः, यतो यतः स्वामिनो मुखं ततस्ततो वर्त्तत इत्यर्थः।' (पदमञ्जरी ४.४.२९)

पाल्यकीर्ति अमोघावृत्ति में यही लिखते हैं—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा वर्त्तमानः। परितो मुखं यतो यतो वा स्वामिनो मुखं ततस्ततो वर्त्तमानः पारिमुखिकः सेवकः।' (शाकटायन० अमोघा ३.२.२७)

हेमचन्द्र भी बृहद्वृत्ति में यही कहते हैं—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा वर्त्तमानोऽथवा यतो यतः स्वामिमुखं ततस्ततो वर्त्तमानः पारिमुखिकः सेवकः।' (हैमबृहद्वृत्ति ६.४.२९)

भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः। यदा तु सर्वतो भावे परिशब्दः प्रादिसमासश्च तदा यतो यतः स्वामिनो मुखं ततो यो वर्त्तते सोऽर्थः।' (शब्दकौस्तुभ ४.४.२९)

---

१. 'विश्रवसो नङ्रवणौ'। (शाकटायन० २.४.५०)
२. 'नश्च विश्रवसो विश्लोपश्च वा' (सरस्वती० ४.१.९०)
'णश्च विश्रवसो विश्लुक् च वा' (हैमशब्दानु० ६.१.६५)
३. 'वैश्रवणः। रावणः। रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः। विश्रवसोऽपत्यं वाक्यमेव। विश्रवणरवणाभ्यां तु नित्यं वृत्तिविषयाभ्यां प्रत्ययः। अन्ये तु णश्च विश्रवसो विश्लोपश्च वा इत्यनेन सूत्रेण वैश्रवणरावणशब्दौ साधयन्ति।' (गणरत्न० पृष्ठ २५९)

प्रौढमनोरमा में भी—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः। यदा तु सर्वतोभावे परिशब्दः प्रादिसमासश्च तदा यतो यतः स्वामिमुखं ततो यो वर्त्तते सोऽर्थः।'

(प्रौढम० द्वितीय भाग, पृष्ठ १८६)

तत्त्वबोधिनीकार भी इसी का समर्थन करते हैं—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः। यदा तु सर्वतोभावे परिशब्दः प्रादिसमासश्च तदा यतो यतः स्वामिनो मुखं ततस्ततो यो वर्त्तते स एवमुच्यते।'

(सि० कौ० तत्त्व० पूर्वार्धं पृष्ठ ६७६)

वृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही लिखा है—

'स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा यः सेवको वर्त्तते स पारिमुखिकः। यदा सर्वतोभावे परिः प्रादिसमासश्च, ततो यतो यतः स्वामिनो मुखं ततो यो वर्त्तते सोऽर्थः।'

(वृ० श० शे० पृष्ठ १३८०)

[२.३४] **अजाविभ्यां थ्यन्** (५.१.८) सूत्र में काशिकाकार ने 'अजा' शब्द का ग्रहण न कर 'अज' शब्द का ग्रहण माना है। इसका समर्थन करते हुए न्यासकार इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

"अजशब्दोऽयमिह पुंलिङ्ग उपात्तः। अविशब्दस्य घ्यन्तशब्दस्यापूर्वनिपातनात्। आबन्तस्य ग्रहणे ह्यविशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात्। अदन्तस्य ग्रहणे द्वन्द्वे घि इत्येतस्य बाधितत्वाद् **अजाद्यदन्तम्** इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातो युज्यते। तस्मात् पुंलिङ्गस्य ग्रहणम्। तथा च प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवतीति। स्त्रीलिङ्गादपि प्रत्ययो भवत्येव। अजाभ्यो हितम्—अजथ्यम्। **तसिलादिष्वाकृत्वसुचः** इति पुंवद्भावः। परिसंख्यायन्ते हि तत्र तसिलादयः। तेषां च मध्ये परिसंख्यातौ थ्यंस्थालावपि। स्त्रीप्रत्ययान्तस्य ग्रहणे शब्दान्तरत्वादकारान्तात् पुंलिङ्गान्न स्यात्।" (न्यास ५.१.८)

न्यासकार के इस युक्तियुक्त व्याख्यान से उत्तरवर्त्ती वैयाकरण अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। तद्यथा हरदत्तमिश्र इसी का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"अजशब्दोऽयमिह पुंलिङ्ग उपात्तः, अत एव द्वन्द्वे घि इत्यविशब्दस्य पूर्वनिपातं बाधित्वा **अजाद्यदन्तम्** इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातः कृतः। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति स्त्रीलिङ्गादपि थ्यन् भवत्येव—अजायै हितम् अजथ्यम्। तसिलादिषु 'थ्यन्थालौ' इतिपरिगणनात् पुंवद्भावः।" (पदमञ्जरी ५.१.८)

इसी का अनुसरण भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा में किया है—

'अजशब्दः पुंलिङ्ग उपात्तः। अत एव द्वन्द्वे घि इत्यविशब्दस्य पूर्वनिपातं बाधित्वा **अजाद्यदन्तम्** इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातः कृतः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रीलिङ्गादपि थ्यन्। तसिलादिष्विति पुंवद्भावः। तत्र थ्यनः परिगणनात्।'

(प्रौढम० द्वितीय भाग, पृष्ठ २०१)

नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

'सूत्रे अजशब्दः पुंलिङ्गो व्याख्यानात् । अत एव 'द्वन्द्वे घि' इति बाधित्वाऽज-शब्दस्य अजाद्यदन्तत्वात् पूर्वनिपातः कृतः । स्त्रीलिङ्गाभ्यामपि अजावीभ्यां लिङ्गविशिष्ट-परिभाषया थ्यन् । तसिलादिष्विति पुंवत्त्वम् ।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १३९७)

इस प्रकार इस के प्रभाव से प्रभावित होकर हेमचन्द्र को अपने व्याकरण में 'अव्यजात् थ्यप्' (हैम० ७.१.३८) सूत्र बनाना पड़ा ।

[२.३५] द्वेस्तीयः (५.२.५४) सूत्र पर न्यासकार अपनी ओर से एक शङ्का और उस का समाधान प्रस्तुत करतें हुए लिखते हैं—

"अथ द्विशब्दादुत्तरस्य डटस्तीयादेशः कस्मादेव न भवति ? ज्ञापकत्वात् । यदयम् कर्मणि द्वितीया इति टापा निर्देशं करोति, तज्ज्ञापयति—नायमादेश इति । यद्येवमनेनैव सिद्धत्वात् प्रत्ययविधानमनर्थकम् ? न, स्वरार्थत्वात् । निपातनाद्धि प्राति-पदिकस्वरेणान्तोदात्तः स्यात्, तीयप्रत्यये तु प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तो भवति । किं च —यदि प्रत्ययो न विधीयते 'अबाधकान्यपि[1] निपातनानि भवन्ति' इति डडपि स्यात् । यदि पुनरयं डडादेशः स्यात्, तर्हि किं स्यात् ? डट्स्वरेण तीयशब्दोऽन्तोदात्तः स्यात्, स्त्रियां च टित्त्वान्ङीप्, ततश्च द्वितीयेति निर्देशो नोपपद्यते ।" (न्यास ५.२.५४)

न्यासकार के इस आशय का अनेक उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने अनुसरण किया है । तद्यथा हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

'डटो द्विशब्दस्य चादेशो न भवति, द्वितीयेति निर्देशात् । यद्येवम्, तस्मादेव निर्देशान्न सिद्धमस्य साधुत्वम् ? सिध्यतु साधुत्वम्, पूरणार्थस्तु कथं लभ्यते । किं च तदाश्रयणे प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावात् प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्वं स्यात्, 'अबाध-कान्यपि निपातनानि भवन्ति' इति पक्षे डटः प्रसङ्गश्च ।' (पदमञ्जरी ५.२.५४)

विट्ठल प्रसाद में—

'द्वेस्तीयः । अयं तु डटोऽपवादः प्रत्ययो नादेशः । कर्मणि द्वितीया इति टापा निर्देशाज्ज्ञापकात् । आदेशत्वे हि ङीप् स्यात् ।' (प्रसाद पूर्वार्ध पृष्ठ ८७८)

भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में—

'द्वेस्तीयः । डटोऽपवाद इति । डटो द्विशब्दस्य वाऽऽदेशस्तु न भवति द्वितीयेति निर्देशात् ।' (प्रौढम० द्वितीय भाग, पृष्ठ २४१)

इसी पर लघुशब्दरत्न में—

'विभाषा द्वितीयातृतीयेति निर्देशादित्यर्थः । डडादेशत्वे तत्र ङीप्प्रसङ्गः, द्विशब्दादेशत्वे तु तदश्रवणप्रसङ्ग इति भावः ।' (प्रौढम० ल० शब्द०, द्वितीय०, पृष्ठ २४१)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में—

---

१. प्राच्यसंस्करणसम्पादकाभ्यां 'विधीयतेबाधकान्यपि' इत्यादिन्यासीयपाठे संहितायां पूर्वरूपमबुद्ध्वा 'बाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' इति यन्मुद्रापितं तत्तयोरति-प्रमादविजृम्भितमेवेति सुधीभिराकलनीयम् ।

'द्वैस्तीयः । डटोऽपवाद इति । डट आदेशस्तु न भवति, टिति टिड्ढेति ङीपः प्रसक्त्या द्वितीयाश्रितेति निर्देशानुपपत्तेः । अत एव निर्देशाद् द्विशब्दस्याप्यादेशो न भवति ।' (सि० कौ० पूर्वार्धं तत्त्व० पृष्ठ ७३७)

नागेशभट्ट बृहच्छब्देन्दुशेखर में—

'डटोऽपवाद इति । प्रत्ययाधिकारात्प्रत्ययस्यैव न्याय्यत्वात् । किं च तदादेशत्वे हि 'द्वितीया' इत्यत्र ङीप्प्रसङ्गः । एवं च विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् इति निर्देशाऽसङ्गतिः । अत एव द्विशब्दस्य नादेश इत्याहुः ।'

(बृ० श० शे० पृष्ठ १४६५)

[२.३६] त्रेः सम्प्रसारणं च (५.२.५५) इस पाणिनीय सूत्रद्वारा त्रिशब्द से तीय प्रत्यय तथा त्रि को सम्प्रसारण आदेश होकर त्रयाणां पूरणः—'तृतीयः' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु सुप्रसिद्ध शब्दलाघवपटु देवनन्दी ने जैनेन्द्रव्याकरण में यहां पर 'त्रेस्तृ च' (जैनेन्द्र० ४.१.६) इस प्रकार सूत्र बनाया है। वे त्रिशब्द से तीय प्रत्यय तथा त्रि को तृ आदेश कर इसे सिद्ध करते हैं। पाणिनीय-व्याकरण की अपेक्षा जैनेन्द्र० का सूत्र लघु तथा प्रक्रिया सरल है। इस प्रकार पाणिनीयव्याकरण पर लगे इस गौरवदोष की व्यावृत्ति करते हुए न्यासकार इस पर अपना समाधान प्रस्तुत करते हैं—

"अत्र 'त्रेस्तृ च' इत्येवं कस्मान्नोक्तम् ? अशक्यमेवं वक्तुम्, एवं ह्युच्यमाने सन्देहः स्यात् किमयमादेश उत प्रत्यय इति ।" (न्यास ५.२.५५)

न्यासकार का उत्तर अत्यन्त समुचित है। उन का आशय यह है कि प्रस्तुत प्रत्ययाधिकार में कहीं 'तृ' को प्रत्यय न समझ लिया जाये अतः शब्दलाघव की अपेक्षा अर्थलाघव को अधिक महत्त्व देते हुए आचार्य ने स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए सम्प्रसारण वाला लम्बा पर असन्दिग्ध मार्ग अपनाया है।

न्यासकार के इस विचार का अनेक वैयाकरणों ने सर्वात्मना अनुमोदन किया है। तद्यथा—हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

'त्रेस्तृ च इति नोक्तम्, प्रत्ययो मा विज्ञायीति ।' (पदमञ्जरी ५.२.५५)

भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में—

'त्रेस्तृ च इति नोक्तम्, प्रत्ययो मा विज्ञायीति ।'

(प्रौढम० द्वितीय भाग, पृष्ठ २४१)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में—

'त्रेस्तृ च इति नोक्तम्, प्रत्ययो मा विज्ञायीति ।'

(सि० कौ० तत्त्व० पूर्वार्धं पृष्ठ ७३७)

नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में—

'प्रत्यय-भ्रमव्यावृत्तये तृ चेति नोक्तम् ।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १४६५)

भैरवमिश्र चन्द्रकला में—

'अत्र प्रक्रियालाघवाय 'त्रेस्तृ च' इति नोक्तम् । प्रत्ययान्तरत्वभ्रमापत्तेः ।'

(ल० श० शे०, चन्द्रकला, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३८)

ध्यान रहे कि भोजदेव ने न्यासकार के इस समाधान को कुछ भी महत्त्व न देते हुए सरस्वतीकण्ठाभरण में जैनेन्द्रव्याकरण का अनुकरण करते हुए 'त्रेस्तृ च' (सरस्वती० ५.२.८३) सूत्र ही बनाया है। उन का अभिप्राय सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि 'तृ' का आदेश होना 'तृतीयासप्तम्योर्वा' (सरस्वती० ३.१.१९७) प्रभृति सूत्रों के अनेकशः निर्देशों से सुतरां सिद्ध है अतः उस के प्रत्यय समझे जाने का किंचित् भी भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता। हेमचन्द्र (हैम० ७.१.१६६), क्रमदीश्वर (संक्षिप्त० तद्धित० सूत्र ९७१) आदि ने भी भोजदेव का ही अनुसरण किया है।

[२.३७] प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे (६.१.११५) सूत्र पर काशिकाकार का कहना है कि 'पादशब्देन ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिष्यते न तु श्लोकपादस्य', परन्तु पादशब्द से यहां सामान्य पाद का ग्रहण न कर ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण क्यों किया जाये ? इस शङ्का का समाधान भाष्य या अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस का समाधान सर्वप्रथम हम न्यास में ही पाते हैं। न्यासकार यहां लिखते हैं—

'कथं पुनर्ऋक्पादस्यैव ग्रहणं लभ्यते, यावता पादशब्दः सामान्यवाची ? एवं मन्यते—वा छन्दसि इत्यतः छन्दोग्रहणमिह मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तते, तेन ऋक्पादस्यैव ग्रहणं विज्ञायते। अथ सर्वत्र विभाषा गोः इत्यतः सूत्रात् प्राक् छन्दस्येव कार्यं विज्ञायते। एवं हि तत्र सर्वत्रग्रहणमर्थवद् भवति यदि च्छन्दसि पूर्वं विधानं भवति।'

(न्यास ६.१.११५)

न्यासकार के इस समाधान को उत्तरवर्त्ती सब मूर्धन्य वैयाकरणों ने मुक्तकण्ठ से अपनाया है। निदर्शनार्थ यथा—

(क) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

'अन्ये तु वा च्छन्दसि इत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीत्यनुवर्त्तयन्ति।'

(पदमञ्जरी ६.१.११५)

(ख) भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में—

'पादश्चेह न श्लोकस्य। वा च्छन्दसीत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीत्यनुवर्त्तनात्। तदाह—ऋक्पादेति।'

(प्रौढम० तृतीयभाग पृष्ठ ८५२)

(ग) नागेशभट्ट बृहच्छब्देन्दुशेखर में—

'पादश्चेह न श्लोकस्य, वा च्छन्दसीत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीत्यनुवृत्तेः।'

(बृ० श० शे० पृष्ठ २१८२)

(घ) जयकृष्णमौनी सुबोधिनी में—

'पादश्चेह ऋक्पाद एव गृह्यते, न श्लोकस्य। वा च्छन्दसीत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीति वर्त्तते, तेनास्य वैदिकत्वं सम्पद्यत इत्याशयेनाह—ऋक्पादमध्यस्थ इति।'

(सि० कौ० सुबोधिनी, पृष्ठ ६०३)

(ङ) भैरवमिश्र लघुशब्देन्दुशेखर की भैरवीटीका में—

'वा च्छन्दसीति सूत्राच्छन्दसीत्यस्य मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्त्तनादस्य छन्दस्येव प्रवृत्तिः। मौलमृक्पादेत्यत्र ऋक्पदं वेदपरम् ।' (ल० श० शे०, भैरवी, पृष्ठ ८७७)

(च) डा० प्रज्ञादेवी अपने अष्टाध्यायीभाष्य में—

'यद्यपि इस प्रकरण में 'छन्दसि' का निर्देश नहीं है तथापि इस प्रकरण के अधिकांश सूत्र वेदविषयक ही हैं, क्योंकि लौकिकपादबद्ध पद्यों में यह कार्य नहीं देखा जाता है। 'सर्वत्र विभाषा गोः' (६.१.११८) सूत्र में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यही ध्वनित होता है।' (अष्टाध्यायी-भाष्य, तृतीय भाग, पृष्ठ ५५)

पाणिनीयेतरतन्त्रों में सरस्वतीकण्ठाभरण के सिवाय किसी भी अन्य शब्दानुशासन में वैदिकप्रकरण नहीं पाया जाता अतः उन में एतद्विषयक न्यास के प्रभाव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सरस्वतीकण्ठाभरण में सम्पूर्ण वैदिकप्रकरण पृथग्रूपेण अष्टमाध्याय में पढ़ा गया है जिसका प्रथम अधिकारसूत्र है—'बहुलं छन्दसि' (सरस्वती० ८.१.१)। उस के अन्तर्गत 'एङः प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे' (सरस्वती० ८.२.१९) सूत्र पढ़ा गया है अतः वहां 'छन्दसि' के अधिकृत होने से 'पाद' शब्द से ऋक्पाद के ग्रहण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

[२.३८] ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु (६.३.८५) इस सूत्र पर सज्योतिः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा आदि उदाहरण काशिका में दिये गये हैं। इन उदाहरणों में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दोनों प्रकार के समास समझने चाहियें—यह बात सर्वप्रथम न्यासकार ने ही बतलाई है; भाष्य, चान्द्रवृत्ति आदि में इस का कोई संकेत नहीं पाया जाता। तद्यथा—

'समानं ज्योतिरस्येति बहुव्रीहिः। सजनपदादयोऽपि वेदितव्याः। तत्पुरुषेऽपि भवितव्यमेव, विशेषानुपादानात्।' (न्यास ६.३.८५)

इसी बात को परिबृंहित कर हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

सरूपाणामेकशेषः, स्थानान्ताद्विभाषा, सस्थानेनेति निर्देशाद् बहुव्रीहावप्ययं सभावो भवति न तु पूर्वाऽपरप्रथमचरमजघन्यसमान० इति प्रतिपदोक्त एव तत्पुरुषे।' (पदमञ्जरी ६.३.८५)

अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में यही भाव व्यक्त करते हैं—

'समानं ज्योतिरस्य सज्योतिः। यदि वा—समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः। 'पूर्वापरप्रथम०' (१.३.५३) इत्यादिना यसः।—बसेऽभिधेयवल्लिङ्गम्। यसे च परवल्लिङ्गम्।'[1] (जैनेन्द्रमहा० ४.३.१९२)

हेमचन्द्रसूरि पाणिन्युक्त इन सब शब्दों को धर्मादिगणान्तर्गत पढ़ते हुए अपने हैमशब्दानुशासन में 'समानस्य धर्मादिषु' (३.२.१४९) सूत्र बनाते हैं। उस की

१. जैनेन्द्रव्याकरणे 'यसः' इति कर्मधारयसमासस्य 'बसः' इति बहुव्रीहिसमासस्य च सञ्ज्ञाऽवगन्तव्या (द्रष्टव्यम्—जैनेन्द्र० १.३.२; १.३.४४; १.३.८६)।

व्याख्या करते हुए स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में बहुव्रीहि और कर्मधारय दोनों प्रकार के समासों के उदाहरण देते हैं। तद्यथा—

'समानशब्दस्य धर्मादिषूत्तरपदेषु सादेशो भवति। समानो धर्मोऽस्य सधर्मा। समानो वा धर्मः सधर्मः। समानं नामास्य सनामा। समानं नाम सनाम।'

(हैम० ३.२.१४९)

सरस्वतीकण्ठाभरण के 'समानस्य पक्षज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिबन्धुगन्धपिण्ड-पत्यादिषु' (६.२.१२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए नारायणदण्डनाथ हृदयहारिणी में लिखते हैं—

'समानः पक्षोऽस्य, समानः पक्षो वा सपक्षः। सज्योतिः।'

(सरस्वती० हृदयहारिणी ६.२.१२२)

संक्षिप्तसारव्याकरण के 'समानो दृगादौ' (समासपाद ४८०) सूत्र की व्याख्या करते हुए गोयीचन्द्र भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

'सज्योतिरित्यादौ समानं ज्योतिरस्येति बहुव्रीहिः। अथवा—समानं ज्योतिरिति एकादीनां चेति कर्मधारयः।' (संक्षिप्त० गोयी० बंगाक्षर, पृष्ठ ११०९)

मुग्धबोध व्याकरण के 'ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिबन्धु०' (४१४) सूत्र पर 'समानं ज्योतिर्यस्यासौ सज्योतिः' ऐसा बहुव्रीहिपरक विग्रह मूल में दिया गया है। रामतर्कवागीशभट्टाचार्य कर्मधारयपरक विग्रह भी अपनी टीका में दर्शाते हुए लिखते हैं—

'ज्योतिः। एषु चतुर्दशसु परेषु समानस्य सः स्यात्। सज्योतिरिति—समानं च तज्ज्योतिश्चेति वाक्यम्, एकादीनां चेति यसः।'

(मुग्धबोध एशियाटिक् संस्करण पृष्ठ ५२४)

तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी हरदत्त के नाम से उपर्युक्त विचार प्रकट करते हैं—

'इह समानमध्यमध्यमवीराश्च इति प्रतिपदोक्त एव समासो न गृह्यते, सरूपाणामिति लिङ्गात्, किन्तु बहुव्रीहिरपीति हरदत्तः। (तत्त्व० पूर्वार्धं पृष्ठ ५५७)

प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट भी 'हर' के नाम से इसी मत का निर्देश करते हैं—

'एषु समानस्य सः। सज्योतिः। सजनपदः। सरात्रिः। सवचन इत्यादि। सर्वत्र बहुव्रीहिः कर्मधारयो वेति हरः।' (प्रक्रियास० समासखण्ड पृष्ठ ७३)

नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में हरदत्त के नाम से उपर्युक्त मत का प्रतिपादन करने पर भी बिना कोई हेतु दिये इस मत में किंचित् असन्तोष प्रकट करते हैं—

"सज्योतिरिति। समानं ज्योतिरस्येति विग्रहः। यत्र ज्योतिषि आदित्ये नक्षत्रे वा सञ्जातमाशौचं तदस्तमयपर्यन्तमनुवर्त्तते, तत् सज्योतिः। इह समानमध्यमध्यमेति प्रतिपदोक्त एव समासो न गृह्यते, सरूपाणामित्यादिनिर्देशादिति हरदत्तः। 'समानस्य छन्दसि०' 'ज्योति' रिति च बहुव्रीहिविषयमेवेत्याहुः।" (बृ० श० शे० पृष्ठ १२०४)

इस प्रकार न्यासोत्तरवर्त्ती पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर व्याकरणजगत् पर इस विषय में न्यासकार का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

[२.३९] न संयोगाद्वमन्तात् (६.४.१३७) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

"अथान्तग्रहणं किमर्थम् ? न 'वमः' इत्येवोच्यते। वकारमकाराभ्यां संयोगेन विशिष्यमाणेन च तदन्तविधिर्भवतीत्यन्तरेणाप्यन्तग्रहणं तदन्तविधिर्लभ्यत एव। सत्यमेतत्, विस्पष्टार्थमन्तग्रहणम्।" (न्यास ६.४.१३७)

न्यासकार की इस बात को हरदत्तमिश्र अपने शब्दों में लिपिबद्ध करते हैं—

'स्याद् वकारमकाराभ्यां संयोगस्य विशेषणात् तदन्तविधिरत्रेति विस्पष्टार्थमन्तग्रहणम्।' (पदमञ्जरी ६.४.१३७)

पाल्यकीर्त्ति सम्भवतः न्यासकार के उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखते हुए अपने व्याकरण के सूत्र का निर्माण करते हुए 'अन्त' का ग्रहण नहीं करते—

श्वोऽनोऽहल् वमात्। (शाकटायन० १.२.१४९)

इसी प्रकार भोजराज भी सरस्वतीकण्ठाभरण में 'अन्त' का ग्रहण नहीं करते—

न संयोगाद्वमः। (सरस्वती० ६.३.१३४)

हेमचन्द्र-सूरि अपने शब्दानुशासन में न वमन्तसंयोगात् (हैम० २.१.१११) सूत्र निर्माण कर 'अन्त' का ग्रहण तो करते हैं, परन्तु उसे स्वोपज्ञ शब्दमहार्णवन्यास में स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थक ही मानते हैं—

"वकारमकारयोः संयोगविशेषणत्वेन 'विशेषणमन्तः' (७.४.११३) इत्यन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहणं विस्पष्टार्थम्। अन्यथा 'वमसंयोगात्' इति समस्तनिर्देशे तयोरेव संयोगादित्याऽऽशङ्का स्यात्, 'वमः संयोगात्' इति व्यस्तनिर्देशेऽपि वकारमकाराभ्यां परो यः संयोगस्तस्मादित्यपि प्रतीयेतेति।" (श्रीसिद्धहेम० श० न्यास २.१.१११)

नागेशभट्ट भी न्यासकार से सहमत हैं—

'वमाभ्यां संयोगस्य विशेषणात् तदन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ५९५)

'अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्। संयोगस्य वमाभ्यां विशेषणेन तदन्तलाभात्।' (ल० श० शे० पृष्ठ ४२९)

बालमनोरमाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं—

'अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्। वमयोः संयोगविशेषणत्वादेव तदन्तलाभात्।' (सि० कौ० बालमनो० पूर्वार्धं पृष्ठ १८६)

शेखर के टीकाटिप्पणकारों ने इस विषय पर और अधिक विचार किया है, उन सब का सार सि० कौमुदी पर सभापतिशर्मोपाध्यायविरचित लक्ष्मी टीका में इस प्रकार संगृहीत किया गया है—

"संयोगाद्वमात् इत्युक्तावपि वमयोः संयोगविशेषणत्वेन येन विधिः० इति तदन्तत्वे सिद्धेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्। अन्यथा अन्तग्रहणाभावे 'वम' इत्यस्य षष्ठ्यन्तसम्भावनया मकारवकारसम्बन्धी यः संयोगस्ततः परस्यानो लोपो नेत्यर्थे शोभिनो जम्भो (भक्ष्यो दन्तो वा) ऽस्येत्यर्थे बहुव्रीहौ जम्भासुहरित० (५.४.१२५) इति समा-

सान्तेऽनिचि शसि 'सुजम्भन्+अस्' इत्यत्रापि निषेधः स्यात्। तथा च 'सुजम्भनः'[१] इत्यादि न सिध्येत्। तन्निवृत्त्यर्थम् अन्तग्रहणम्।"[२]

"वस्तुतस्तु 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याय्यम्' इति लाघव-मूलकपरिभाषया 'संयोगात्' इत्यनेन सामानाधिकरण्येनान्वये सम्भवति षष्ठ्यन्तत्वस्य अन्याय्यत्वात्, 'न संयोगाद्वमात्' इति न्यासेन षष्ठ्यन्तत्वसम्भावनाया अभावाच्चान्त-ग्रहणं चिन्त्यं सद् अदृष्टार्थमेव।"

"अन्ये तु अन्तग्रहणं व्यर्थीभूय 'येन विधिः०' इत्यस्याऽनित्यत्वं ज्ञापयति। तेन **समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः** इति वार्त्तिकं नाऽपूर्वं किन्त्वेतत्फलितार्थपरमित्याहुः।"[३]

(सि० कौ० लक्ष्मी पृष्ठ ५०३)

इस प्रकार न्यासकार के उपर्युक्त वचन से व्याकरणजगत् पर्याप्त उद्वेल्लित हुआ है। परन्तु न्यासकार को इस की प्रेरणा सम्भवतः उनके पूर्ववर्त्ती जैनेन्द्र और चान्द्र व्याकरणों के सूत्रपाठ से प्राप्त हुई होगी। इन दोनों व्याकरणों के सूत्रपाठ में 'अन्त' शब्द का परित्याग किया गया है।[४]

[२.४०] ग्रह् (क्र्या० उभय०) धातु से यङ्प्रत्यय करने पर सम्प्रसारण, द्वित्व और रीक् का आगम आदि होकर 'जरीगृह्य' यह यङन्त धातु बन जाती है। अब इस से तृच् प्रत्यय, इट् आगम तथा अकार और यकार का लोप करने से 'जरीगृहिता' रूप निष्पन्न होता है। परन्तु यहां **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (७.२.३७) सूत्र से इट् को दीर्घ क्यों न हो? इस शङ्का का समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'विहित-विशेषणपक्षोऽत्र व्याख्यायते। ग्रहेर्यो विहित इट् तस्य दीर्घो भवति। न चात्र ग्रहेर्विहित इट्, कुतस्तर्हि? यङन्तात्। तस्मान्नेह दीर्घस्य प्रसङ्गः।'

(न्यास ७.२.३७)

यह समाधान काशिका में कहीं नहीं लिखा। कातन्त्र और चान्द्र में भी उप-

---

१ 'सुजम्भ्नः' इति पाठस्तूचितः।

२. वस्तुतस्तु—सुजम्भेत्याद्यनिच्प्रत्ययान्तं निपात्यते। न तु सुहरिततृणसोमेभ्य उत्तर-पदस्य जम्भ इत्यस्यानिच्समासान्तो विधीयते। निपातनाश्रयणेन कोऽर्थः? यदि नाम सूत्रकारस्यानिच्प्रत्ययः सर्वासु विभक्तिष्विष्टः स्यात्तदा जम्भात् सुहरिततृण-सोमेभ्य इत्येवं सूत्रयेत्। अतः सुजम्भ्न इति शब्दस्य रूपमेव नास्तीति चारुदेवशास्त्रि-प्रभृतयोऽभियुक्ता आहुः।

३. मतमिदं मौनिश्रीकृष्णभट्टानाम् (दृश्यताममत्रत्या शेखरव्याख्या ज्योत्स्ना विषमपद-विवृतिश्च)।

४. (क) 'अनोऽखम् अम्वस्फात्' (जैनेन्द्र० ४.४.१२२)। अन्नन्तस्य अखं भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात् परो न भवति—(महावृत्ति० पृष्ठ ३३१)। अखम्=अस्य खम् (लोपः)। स्फेति प्रातिपदिकस्य संज्ञा जैनेन्द्रे।

(ख) 'न संयोगाद् वमः' (चान्द्र० ५.३.१३३)।

लब्ध नहीं। भाष्यकार ने भी इस का उल्लेख नहीं किया। अद्ययावदुपलब्ध व्याकरण-वाङ्मय में सब से प्रथम हम न्यास में ही इसे पाते हैं। न्यासोत्तरवर्ती पाणिनीय और पाणिनीयेतर प्रायः सब वैयाकरणों ने न्यासप्रदर्शित इस समाधान को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। निदर्शनार्थं कुछ उदाहरण यथा—

(क) आचार्य कैयट महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'सूत्रकारमतेऽपि ग्रहेर्विहितस्येत्येवं विहितविशेषणाऽऽश्रयणाद् यङ्लोपे दीर्घाऽभावसिद्धिः।' (प्रदीप ७.२.३७)

(ख) पदमञ्जरी में हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'इह जरीगृहितेति यङन्तात् तृचि अल्लोपयलोपयोः कृतयोः द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनमिति स एवायं ग्रहिरिति दीर्घः प्राप्नोति। पूर्वस्मादपि विधौ यः स्थानिवद्भावः सोऽपि दीर्घविधौ प्रतिषिद्धः। तस्माद्विहितविशेषणमिहाऽऽश्रयणीयम्—ग्रहेर्यद्विहितमार्धधातुकं तस्य य इट् तस्य दीर्घ इति।' (पदमञ्जरी ७.२.३७)

(ग) भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव—

'यङ्लुगन्ताच्च न भवति। ग्रहेर्विहितस्येटो विज्ञानात्। जरीगृहिता।' (भाषावृत्ति ७.२.३७)

(घ) माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य सायण भी यही कहते हैं—

'ग्रहोऽलिटीत्यत्र ग्रहेर्यद्विहितमार्धधातुकं तस्य इड् इति। विहितविशेषणाङ्गीकारस्य च प्रयोजनं जरिगृह्यशब्दाद् वलाद्यार्धधातुके इटि अल्लोपयलोपयोर्जरिगृहितेत्यादौ दीर्घनिवृत्तिः। अत्र च न ग्रहेर्विहितमार्धधातुकं किं तर्हि यङन्तात्।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ५३५)

(ङ) सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित इसी सूत्र पर लिखते हैं—

'ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घः स्यान्न तु लिटि।' (सि० कौ० उत्तरार्ध, पृष्ठ २२०)

(च) तत्त्वबोधिनीकार भी प्रत्युदाहरण दर्शाते हुए 'विहित' विशेषण का समर्थन करते हैं—

'विहितस्येति किम्? ग्राहितम्।' (तत्त्व० उत्तरार्ध, पृष्ठ २२०)

(छ) बालमनोरमाकार भी विहित-विशेषण को आवश्यक समझते हैं—

'विहितस्येति किम्? ग्राहितम्। णिलोपे कृते विहितत्वाभावाद् इटो न दीर्घः।' (सि० कौ० बालमनो० उ० पृष्ठ २२०)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी—

(ज) जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी लिखते हैं—

'यङन्तस्य कस्माद् दीर्न भवति। जरीगृहिता, जरीगृहितुम्। तन्न, ग्रहेर्यो विहित इट् तस्य दीर्भवति विहितविशेषणात्।' (जैनेन्द्रमहा० ५.१.८५)

(झ) शाकटायन-व्याकरण के निर्माता आचार्य पाल्यकीर्त्ति इस न्यासोक्त विहितविशेषण का पूरी तरह उपयोग करते हुए अपने व्याकरण में सूत्रनिर्माण करते हैं—ग्रह एकाचोऽलिटीटः (शाकटायन० ४.२.१३६)। यहां पर 'एकाचः' ग्रहण से

वही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है जो पाणिनीयव्याकरण में विहितविशेषण से सिद्ध होता है। अत एव वे स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में लिखते भी हैं—

'एकाच इति किम् ? जरीगृहिता, जरीगृहितुम्, जरीगृहितव्यम् ।'[1]

(शाकटायन० अमोघा, ४.२.१३६)

(ञ) इसी प्रकार भोजराज सरस्वतीकण्ठाभरण में यहां पर अपना सूत्रनिर्माण करते हैं—ग्रहेरस्याऽलिटि दीर्घः (सरस्वती० ६.४.१०६)। इस सूत्र में 'अस्य' का ग्रहण कर पाणिनीयव्याकरण के विहितविशेषण का पूरा-पूरा लाभ उठा लिया गया है।

(ट) आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने यहां अपने व्याकरण के गृह्णो परोक्षायां दीर्घः (हैम० ४.४.३४) सूत्र की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में लिखा है—

'गृह्णातेर्यो विहित इट् तस्य दीर्घो भवति ।—विहितविशेषणं किम् ? यङन्ताद्विहितस्य मा भूत्—जरीगृहिता, जरीगृहितुम्, जरीगृहितव्यम् ।'

(हैमबृहद्वृत्ति ४.४.३४)

इस प्रकार व्याकरण-जगत् को न्यासकार का यह योगदान कहा जा सकता है।

[२.४१] शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७.३.३७) सूत्र पर काशिका में एक वार्तिक पढ़ा गया है—लुगागमस्तु वक्तव्यः। अर्थात् पा रक्षणे धातु से णिच् में लुक् का आगम कहना चाहिये—पालयति। अब यहां पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि पाल रक्षणे (चुरादि०) इस स्वार्थिकणिजन्त धातु से जब हेतुमण्णिजन्त में 'पालयति' प्रयोग सिद्ध हो सकता है तो पुनः इसके लिए वार्तिक का आरम्भ कैसा ? इस शङ्का को उठा कर इस का समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'लुगागमस्तु तस्य वक्तव्य इति । ननु च पाल रक्षणे इति चुरादौ पठ्यते, तस्य पालयतीति भविष्यति ? सत्यमेतत्, पुकस्तु निवृत्त्यर्थो लुगागम उपसङ्ख्यायते, अन्यथा हि पातेः पापयतीति[2] स्यात् ।' (न्यास ७.३.३७)

न्यासकार का समाधान यह है कि चौरादिक णिजन्त पाल् धातु से हेतुमण्णिच् में यद्यपि 'पालयति' प्रयोग बन सकता है परन्तु पा रक्षणे धातु का हेतुमण्णिच् में 'अर्त्तिह्री०ली—' (७.३.३६) से पुक् होकर 'पापयति' प्रयोग न बन जाये—इस के लिये वार्तिक का आरम्भ किया गया है। समाधान अत्यन्त समुचित है, अत एव

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित अमोघावृत्ति में 'जरीगृहीता, जरीगृहीतुम्, जरीगृहीतव्यम्' इस प्रकार दीर्घघटित रूप सम्पादक-मण्डल की असावधानता से मुद्रित हुए हैं, जो स्पष्टतः प्रत्युदाहरण होने के कारण अपपाठ हैं। यही अवस्था शाकटायनव्याकरण के चिन्तामणिलघुवृत्तिस्थ पाठ की है।

२. मुद्रित न्यास (राजशाही तथा प्राच्य संस्करणद्वय) में 'पाययतीति' पाठ पाया जाता है, जो न्यासकार के 'पुकस्तु निवृत्त्यर्थो लुगागम उपसङ्ख्यायते' इस पूर्ववचन के विरुद्ध होने से सर्वथा अपपाठ है (देखें ५.५७)।

न्यासोत्तरवर्ती पाणिनीय व पाणिनीयेतर समस्त वैयाकरणों पर इस का प्रभाव पड़ा है। वे मुक्तकण्ठ से न्यास के इस समाधान का समर्थन करते हैं। तद्यथा—

(क) उपाध्याय कैयट महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'पातेर्लुगिति। यद्यपि **पाल रक्षणे** इत्यस्य पालयतीति सिध्यति तथापि पातेः पुङ्निवृत्तये लुगागमविधानम्। लुग्विकरणत्वात् तस्य युकोऽप्रसङ्गः।'

(प्रदीप, ७.३.३७)

(ख) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में यही कहते हैं—

'लुगागमस्त्विति। यद्यपि पालयतीति रूपम् **पाल रक्षणे** इत्यस्यैव चुरादिणिजन्तस्य पुनर्हेतुमण्णिचि सिद्धं तथापि पातेः पुकि पापयति, युकि[1] तु पाययतीति मा भूदिति लुग्वचनम्।' (पदमञ्जरी ७.३.३७)

(ग) विट्ठल प्रसादटीका में यही कहते हैं—

पाल रक्षणे इत्यनेनं पालयतीति सिद्धे पातेः पुग्बाधनार्थं लुग्विधिः।'

(प्रसाद, उत्तरार्ध, पृष्ठ ३१३)

(घ) भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में यही लिखते हैं—

'पुकोऽपवाद इति। एवं च **पाल रक्षणे** इति धातुना पालयतीति रूपे सिद्धे लुगागमस्य पुग्निवृत्तिरेव फलमिति भावः।' (प्रौढम० पृष्ठ ६३६)

(ङ) ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में इसी के समर्थक हैं—

'पुकोऽपवाद इति। आदन्तत्वात् पुकः प्राप्तिः। एवं च लुगागमस्य पुङ्निवृत्तिरेव फलम्। पालयतीति रूपस्य **पाल रक्षणे** इति धातुनापि सिद्धेरिति भावः।'

(सि० कौ० तत्त्व०, उत्तरार्ध, पृ० २५१)

(च) नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में इसी का समर्थन करते हैं—

'पातेर्णौ०। कैयटमते अर्त्तिह्रीत्यस्याऽपवादः। अन्यमते शाच्छेत्यस्य। अत्र लुग् आगम एव। साहचर्यात्। प्रत्ययाऽदर्शनस्यैव लुक्संज्ञत्वाच्च। पाल रक्षणे इत्यनेन रूपस्य सिद्धत्वेऽपि आगमान्तरनिवृत्तये वचनम्।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १८४१)

लघु-शब्देन्दु-शेखर में भी—

'पुक इति। अर्त्तिह्रीत्यस्येत्यर्थः। अत्र लुगागम एव। **पाल रक्षणे** इत्यनेन रूपे सिद्धेऽप्यागमान्तरनिवृत्तये वचनम्।' (ल० श० शे०, पृष्ठ २५१)

(छ) बालमनोरमाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं—

---

१. कुछ आचार्य पा रक्षणे धातु में **अर्त्तिह्रीव्लीरी०** (७.३.३६) द्वारा पुक् आगम की प्राप्ति स्वीकार करते हैं। इन में काशिकाकार, न्यासकार, कैयट, भट्टोजिदीक्षित आदि प्रमुख हैं। इतर आचार्य यहां **शाच्छासा०** (७.३.३७) द्वारा युक् का आगम प्राप्त मानते हैं। आगे के (च) नम्बर पर नागेश ने इन दोनों प्रकार की प्राप्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। बृ० शब्देन्दुशेखर के पृष्ठ १८४१ पर मुद्रित टिप्पण भी यहां अनुसन्धेय है।

'पुकोपवाद इति। आदन्तलक्षणपुकोऽपवाद इत्यर्थः। यद्यपि पाल रक्षणे इति धातोरेव सिद्धं तथापि पुको निवृत्तिः फलम्।'

(सि० कौ० बालमनो० उ० पृष्ठ २५१)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

(ज) जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी—

'ननु पाल रक्षणे इति चौरादिकस्य रूपं भविष्यति? न, अत्रापि युक् स्यात्।'

(जैनेन्द्रमहा० ५.२.४४)

(झ) पाल्यकीर्त्ति अमोघावृत्ति में यही कहते हैं—

'पातेर्लग्वचनं रूपान्तर-निवृत्त्यर्थम्, पल रक्षण इति चुरादिषु पठ्यत एव।'

(शाकटायन० अमोघा ४.१.१६७)

(ञ) हेमचन्द्रसूरि भी यही लिखते हैं—

'फलण् रक्षणे इति चौरादिकेनैव सिद्धे पातेर्लोऽन्तः स्यादिति वचनम्।'

(हैम० बृहद्वृत्ति ४.२.१७)

(ट) संक्षिप्तसार के व्याख्याता गोयीचन्द्र भी यही कहते हैं—

'पल रक्षणे इत्यस्य चुरादेः पालयतीति रूपं सिध्यत्येव। पुङ्निवृत्त्यर्थं वचनम्।'

(संक्षिप्त० पृष्ठ २६७)

(ठ) सारस्वतव्याकरण की सिद्धान्तचन्द्रिका पर व्याख्या करते हुए सदानन्द भी सुबोधिनी में न्यास का अनुसरण करते हैं—

'पातेर्ञौ लुक्। लुगागमः स्यात्। रातो ञौ पुगिति पुकोऽपवादः। लुगागमस्य पुङ्निवृत्तिरेव फलम्। पालयतीति[1] रूपस्य 'पाल रक्षणे' इति धातुनापि सिद्धेः।'

(सि० चन्द्रिका, उत्तरार्ध, पृष्ठ १५३)

इस प्रकार न्यासकार के व्याख्यान से अनेक वैयाकरण प्रभावित हुए हैं पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात न्यासकार की स्वोपज्ञ नहीं है क्योंकि इस का संकेत न्यासकार से पूर्व कातन्त्र पर दुर्गसिंहरचित वृत्ति में पाया जाता है।[2] सम्भव है न्यासकार को उस से प्रेरणा प्राप्त हुई हो। फिर भी इतना तो निःशङ्क कहा जा सकता है कि इस समय तक उपलब्ध पाणिनीय वैयाकरणों में न्यासकार से प्राचीन ऐसा कोई वैयाकरण नहीं है जिस ने इस का वर्णन किया हो।

[२.४२] शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७.३.३७) सूत्र में वेञ् को भी आत्व कर 'वा' इस प्रकार बना कर निर्देश क्यों नहीं किया गया? इस शङ्का का समाधान न्यासकार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'शाप्रभृतीनां कृतात्वानां ग्रहणं कृतम्, तदा वेञोऽपि कृतात्वस्यैव ग्रहणं युक्तम्?

---

१. पावयतीति मुद्रितः पाठोऽपपाठः।

२. देखें—कातन्त्र आख्यातवृत्ति वंगाक्षर सूत्र २८७, पृष्ठ ४७४।

नैवं शक्यम्, वेत्युच्यमाने पै ओवै शोषणे इत्यस्यापि ग्रहणं स्यात् । तस्माद् अकृतात्वस्यैव वेञो ग्रहणं युक्तम् ।' (न्यास ७.३.३७)

अत्यन्त समुचित समाधान है। उत्तरवर्त्ती पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर सब वैयाकरणों ने इसी का आश्रय लिया है। तद्यथा—

(क) जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी—

'वेञ एकारान्तनिर्देशः ओवै शोषणे इत्यस्य निवृत्त्यर्थः'।

(जैनेन्द्रमहा० ५.२.४२)

(ख) शाकटायनव्याकरण की अमोघावृत्ति में पाल्यकीर्ति यही कहते हैं—

"वे इति वेञोऽनात्वेन निर्देश 'ओवै' इत्यस्य निवृत्त्यर्थः।"

(शाकटायन० अमोघा० ४.१.२००)

(ग) हेमचन्द्रसूरि स्वोपज्ञ वृहद्वृत्ति में—

'वे इत्यनात्वेन निर्देशो वांक् गतिगन्धनयोः, ओवै शोषणे इत्यनयोर्निवृत्त्यर्थः।'

(हैम० वृहद्वृत्ति ४.२.२०)

(घ) माधवीयधातुवृत्ति में माधव भी—

"शाच्छासा० इति युक् तु तत्रैव 'वे' इति निर्देशात् वेञ् तन्तुसन्ताने इत्यग्रे पठिष्यमाणस्यैव न त्वस्य प्रसज्जति।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ २४४)

(ङ) प्रक्रियाकौमुदी पर प्रसादटीकाकार विट्ठल भी यही कहते हैं—

'वे इत्यनात्वेन निर्देशो वातिवायत्योर्निवृत्त्यर्थः।' (प्रसाद, उ० पृष्ठ ३१०)

[२.४३] वो विधूनने जुक् (७.३.३८) सूत्रद्वारा विधूनन अर्थात् कम्पन अर्थ में 'वा' धातु से णिच् परे होने पर जुक् का आगम विधान किया गया है—पक्षेण उपवाजयति। यहां पर पाणिनीयसूत्र में 'वः' कहा गया है। काशिकाकार इसे 'वा' धातु का षष्ठयन्त रूप बतला कर 'वः—वा इत्येतस्य' इतना मात्र लिखते हैं। किसी विशेष धातु का निर्देश नहीं करते। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहां 'वा' से किस धातु का ग्रहण किया जाये? 'वा' से तीन धातुओं का ग्रहण सम्भव हो सकता है[1]—(१) वा गतिगन्धनयोः (अदादि०), (२) वेञ् तन्तुसन्ताने (भ्वादि०), (३) ओ वै शोषणे (भ्वादि०)। अन्तिम दो धातुओं को आत्व होकर 'वा' रूप बनता है। इन तीनों में से दूसरी धातु का ग्रहण यहां नहीं हो सकता क्योंकि उस के लिए शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७.३.३७) द्वारा युक् का आगम पृथक् विधान किया गया है। शेष रहे प्रथम और तृतीय। इन में ही वैयाकरणों का मतभेद है। न्यासकार कहते हैं कि यहां 'वा' से वा गतिगन्धनयोः (अदादि०) धातु का ग्रहण करना चाहिये।[2] न्यासकार का

---

१. गतिगन्धनयोर्वाति वायतीति तु शोषणे।
वयते वयतीत्येवं तन्तुसन्तान इष्यते॥ (दैवम् पृष्ठ १९)

२. वा इत्येतस्येति। वा गतिगन्धनयोः इत्येतस्य। (न्यास ७.३.३८)

(१२)

अनुसरण करने वालों में हरदत्तमिश्र,[१] अभयनन्दी,[२] मैत्रेयरक्षित,[३] माधव,[४] गोयीचन्द्र[५], भट्टोजिदीक्षित[६] आदि[७] प्रमुख हैं।

लेकिन न्यासकार का कथन मान कर यदि यहां 'वा' से केवल अदादिगणीय **वा गतिगन्धनयोः** धातु का ग्रहण किया जाये तो 'विधूनने किम् ? आवापयति केशान्' इस प्रत्युदाहरण में भी इसी धातु का ग्रहण मानना होगा, क्योंकि प्रत्युदाहरण में तो केवल विधूनन का अभाव ही दर्शाना है न कि धातु का परिवर्त्तन। परन्तु काशिकाकार स्वयं इस प्रत्युदाहरण में **ओवै शोषणे** धातु का प्रयोग मानते हुए कहते हैं—'पै ओवै शोषणे इत्यस्यैतद्रूपम्'। यहां न्यासकार ने भी इस का सयुक्तिक मण्डन किया है।[८] इत्थं न्यासकार का अपने पूर्ववचन से विरोध उपस्थित होता है। परन्तु यदि गहराई से सोचा जाये तो न्यासकार का यह स्ववचोविरोध आपाततः ही है वास्तविक नहीं। यह विरोध वैसा ही है जैसा कि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में **अदसो मात्** (१.१.१२) के प्रत्युदाहरण 'अमुकेऽत्र' में। दीक्षित ने 'अदसो मात्' का अर्थ करते हुए 'अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः' ऐसा लिखा है। इस अर्थ के अनुसार तो 'अमुकेऽत्र' में ईत् ऊत् न होने से स्वतः ही प्रगृह्यत्व प्राप्त नहीं होता पुनः यह प्रत्युदाहरण कैसा ? इसका समाधान करते हुए दीक्षित ने लिखा है—'असति माद्ग्रहण एका-

---

१. 'वा' इत्येतस्येति। **वा गतिगन्धनयोः** इत्यस्य। (पदमञ्जरी ७.३.३८)

२. वज व्रज गतावित्यस्य ण्यन्तस्य किन्न रूपम्। नैवम्, वातेर्युक् स्यात्। (जैनेन्द्रमहा० ५.२.४३)

३. **वा गतिगन्धनयोः**। वाति। ववौ। वाजयति, वापयति। (धातुप्रदीप, पृष्ठ ८१)

४. **वा गतिगन्धनयोः**। वाजयति—वो विधूनने जुक्—इति णौ जुक्। विधूननं कम्पनम्, अन्यत्र पुगेव—वापयतीति। (मा० धा० वृत्ति, पृष्ठ ३६१)
वो विधूनने जुक् इत्यत्र **वा गतिगन्धनयोः** इत्यादादिकस्यैव ग्रहणम्, तस्यैव विधूनने वृत्तिसम्भवात्—इति व्याख्यातारः। (मा० धा० वृत्ति, पृष्ठ २४४)

५. **वा गतिगन्धनयो**रित्यस्य कम्पनार्थस्य णौ परे वाजादेशो भवति— (संक्षिप्त० गोयी० तिङन्तपाद सूत्र ४४६)

६. वातेर्जुक् स्याण्णौ कम्पेऽर्थे—वाजयति। (सि० कौ०, ण्यन्तप्रक्रिया, पृष्ठ २५१)

७. क्षीरतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी भी—
'**वा गतिगन्धनयोः**। वाजयति—वो विधूनने जुक्। पक्षकेनोपवाजयति। (क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ १७८)

८. **पै ओ वै शोषणे** इत्येतस्यैतद्रूपमिति। ननु च लाक्षणिकस्याकारान्तत्वम्, अतो जुका न भवितव्यम्। नैतदस्ति इदानीमेव ह्युक्तम्—एतस्मिन्प्रकरणे लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नास्तीति। (न्यास ७.३.३८)

रोऽप्यनुवर्त्तेत'। अर्थात् 'मात्' के कारण ही तो 'एत्' की अनुवृत्ति नहीं ला रहे क्योंकि अदस् के मकार से परे एत् का होना असम्भव है; अब यदि 'मात्' का सूत्र में ग्रहण नहीं करेंगे तो उस की भी अनुवृत्ति आकर 'अमुकेऽत्र' में प्रगृह्यत्व प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। ठीक इसी प्रकार न्यासकार का अभिप्राय यह है कि 'वः=वा इत्येतस्य' से यद्यपि आदादिक वा गतिगन्धनयोः तथा भौवादिक ओवै शोषणे दोनों धातुओं का ग्रहण होता है तथापि सूत्र में 'विधूनने' के निर्देश से केवल आदादिक 'वा' का ही अर्थ की दृष्टि से ग्रहण सम्भव है दूसरे का नहीं, क्योंकि विधूनन=कम्पन भी एक प्रकार की गति है जो आदादिक 'वा' का ही अर्थ माना जा सकता है।[1] अतः यदि सूत्र में 'विधूनने' का ग्रहण नहीं करते तो 'ओ वै शोषणे' से भी जुक् की प्राप्ति होने लगेगी जो अनिष्ट है। यही सोचकर उस का प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस तरह इस धातु के उदाहरण में वा गतिगन्धनयोः धातु का तथा प्रत्युदाहरण में ओवै शोषणे धातु का प्रयोग किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि प्रायः समस्त पाणिनीय और पाणिनीयेतर वैयाकरण इस सूत्र के उदाहरण और प्रत्युदाहरण में न्यासकारोक्त प्रकार का ही अवलम्बन करते हैं।[2]

पाणिनीय वैयाकरणों में सम्भवतः तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती ही प्रथम वैयाकरण हैं जिन्हों ने सदियों से चली आ रही इस परम्परा को तोड़ कर यह लिखा है कि इस सूत्र में वा गतिगन्धनयोः धातु का नहीं अपितु ओ वै शोषणे धातु का ग्रहण करना चाहिये—

"वो विधू०। लुग्विकरणाऽलुग्विकरणपरिभाषया ओ वै शोषणे इत्यस्यैव ग्रहणं

---

१. द्रष्टव्य—माधवीयधातुवृत्ति का पूर्वनिर्दिष्ट उद्धरण तथा बृ० शब्देन्दुशेखर (पृष्ठ १८४२) का वक्ष्यमाण उद्धरण।

२. पाणिनीय वैयाकरणों तथा कुछ पाणिनीयेतर वैयाकरणों के उद्धरणों का निर्देश पहले कर चुके हैं। अन्य पाणिनीयेतर उद्धरण यथा—

(१) शाकटायन—

'वाशद्योर्विधूननागत्योर्जक्तौ' (४.१.१६६) इस सूत्र पर अमोघा में—

'विधूननागत्योरिति किम्? केशान् आवापयति, शोषयतीत्यर्थः। वाजयतीति वज गतावित्यस्यापि सिध्यति। वाते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वाग्रहणम्।'

(शाकटायन०, अमोघा०, पृष्ठ ३४२)

(२) हेमचन्द्रसूरि—

'विधूनन इति किम्? ओवैं, केशान् आवापयति। शोषयतीत्यर्थः। वजिनैव सिद्धे वाते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम्।' (श्रीसिद्धहैम० बृहद्वृत्ति ४.२.१९)

(३) मुग्धबोध—

'वो जन् धूतौ (सूत्र ७९२)—वातेर्जन् स्यात् कम्पने णौ। वाजयति। धूतौ किम्? केशान् वापयति।' (मुग्धबोध सूत्र ७९२, पृष्ठ ६४८)

न तु वा गतिगन्धनयोः इत्यस्य । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा त्वस्मिन्प्रकरणे न प्रवर्त्तत इत्युक्तं प्राक् । ओवै शोषणे इत्यस्य रूपमिति वदन् वामनोप्यत्रानुकूलः । वज गताविति धातुना वाजयतीति रूपे सिद्धे जुगागमस्य पुङ्निवृत्तिरेवेहापि फलम् । वातेरिति वायतेरिति वक्तुं युक्तम् ।" (सि० कौ० तत्त्व०, उ०, पृष्ठ २५१)

इसी का अनुसरण करते हुए बालमनोरमाकार वासुदेव दीक्षित भी लिखते हैं—

'वो विधूनने । ओ वै शोषणे इति धातोः कृतात्वस्य 'वः' इति षष्ठचन्तम् अर्तिह्रीत्यतो णावित्यनुवर्त्तते । तदाह—वातेरित्यादि । पुकोऽपवादो जुक् । केशान् वापयतीति । सुगन्धीकरोतीत्यर्थः । अत्र वैधातोः पुगेव । वाधातोस्त्विह न ग्रहणम्, लुग्विकरणत्वात् । केचित्तु वातेरेवात्र ग्रहणं न तु वेञो नापि वै इत्यस्य, लाक्षणिकत्वात् सानुबन्धकत्वाच्चेत्याहुः ।' (सि० कौ० बालमनो०, उ०, पृष्ठ २५१)

परन्तु नगेशभट्ट जोरदार शब्दों में तत्त्वबोधिनीकार के मत का खण्डन करते हुए शेखरद्वय में पुनः न्यासोक्त मत की स्थापना करते हैं—

'वो विधूनने । अत्रार्थानुरोधात् वातेरेव ग्रहणं न वेञो नापि वै इत्यस्य । लाक्षणिकत्वात् सानुबन्धकत्वाच्चेत्याहुः । केशान्वापयतीति । सुगन्धीकरोतीत्यर्थः । वजेर्ण्यन्तस्य सिद्धे वातेः पुग्निवृत्त्यर्थं वचनम् ।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १८४२)

'वो विधू० । अत्र वातेरेव ग्रहणं न वेञो नापि वै इत्यस्य, लाक्षणिकत्वात् सानुबन्धकत्वाच्च ।' (ल० श० शे० पृष्ठ २५१)

न्यासकार ने यद्यपि स्वोत्तरवर्त्ती समस्त वैयाकरणों को प्रभावित किया है तथापि वे स्वयं सम्भवतः कातन्त्र के वृत्तिकार व टीकाकार दुर्गसिंह से प्रभावित हुए होंगे । दुर्गसिंह ने इस विषय पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

'पक्षेणोपवाजयतीति वजते रूपम् । वाधातोः कम्पने कारिते न वृत्तिः ।'
(कातन्त्रदुर्गवृत्ति, आख्यातवृत्ति, पृष्ठ ४७६)

[२.४४] **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७.३.५२) सूत्र में घित् और ण्यत् दो निमित्तों तथा च् और ज् दो स्थानियों का प्रतिपादन किया गया है, तो यहां **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (१.३.१०) के अनुसार निमित्तों और स्थानियों में यथासंख्य क्यों न हो ? इस शङ्का का समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'ननु चात्र घिण्ण्यतोः कार्यिणोश्चजोः साम्याद् यथासङ्ख्यं प्राप्नोति—चकारस्य घिति, जकारस्य ण्यति, तत्कथं 'त्यागः, रागः' इति घिति जकारस्य कुत्वं प्राप्नोति ? नैतदस्ति, ज्ञापकादत्र यथासंख्यं न भवति । यद् **भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः, प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे** इति घञि जकारस्य कुत्वाभावं निपातयति, तेन रक्तं रागात् इति च निर्देशं करोति, तज्ज्ञापयति—यथासंख्यमिह न भवतीति ।' (न्यास ७.३.५२)

इस प्रकार न्यासकार ने पाणिनि के सूत्रनिर्देशों से समाधान किया है । यह समाधान भाष्य में कहीं उपलब्ध नहीं । इस की प्रेरणा न्यासकार को सम्भवतः

कातन्त्र की दुर्गसिंहवृत्ति से प्राप्त हुई होगी।[1] न्यासकार के बाद समस्त पाणिनीय वैयाकरणों ने न्यासकार का अनुकरण किया है। निदर्शनार्थं कुछ उदाहरण यथा—

(क) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

'यथासङ्ख्यमत्र न भवति—घिति चकारस्य, ण्यति जकारस्येति। भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः, प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे, वचोऽशब्दसंज्ञायाम् इत्यादेर्लिङ्गात्। क्वचित्तु पठ्यते यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते, तेन रक्तं रागादिति लिङ्गात्।' (पदमञ्जरी ७.३.५२)

(ख) अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में—

'न त्वत्र चकारस्य घिति जकारस्य णे साम्याद् यथासङ्ख्यं प्राप्नोति, तेन रक्तं रागात् (जैनेन्द्र० ३.२.१.) इति ज्ञापकात् स्वरितलिङ्गाऽभावाद्वा न भवति।'
(जैनेन्द्रमहा० ५.२.५६)

(ग) ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में—

'यथासङ्ख्यं नेह विवक्षितम्, तेन रक्तं रागात् इति लिङ्गाद् इति कयट-हरदत्तादिभिरुक्तम्।' (सि० कौ० तत्त्व० उ० पृष्ठ ३९०)

(घ) नागेशभट्ट शेखर में—

'यथासंख्यं न, रागादित्यादिनिर्देशात्।'
(बृ० श० शे० पृष्ठ २०१७; ल० श० शे०, उ० पृष्ठ ३९०)

(ङ) वासुदेवदीक्षित बालमनोरमा में—

'चजोर्घिण्ण्यतोश्च यथासंख्यं तु न, तेन रक्तं रागाद् इति घञि जस्य कुत्व-निर्देशात्। (सि० कौ० बालमनो० पृष्ठ ३९०)

(च) अन्नम्भट्ट मिताक्षरा में—

'अत्र यथासंख्यं नेष्यते, तेन रक्तं रागादिति लिङ्गात्।'
(व्या० मिता० ७.३.५२)

(छ) विट्ठल प्रसाद में—

'यथासंख्यमत्र न भवति, तेन रक्तं रागादिति लिङ्गात्।
(प्रसाद, उत्तरार्ध, पृ० ४७९)

(ज) साम्बशास्त्री प्रक्रियासर्वस्व की व्याख्या में—

'तेन रक्तं रागादिति ज्ञापकादत्र स्थानिनिमित्तयोर्यथासङ्ख्यं नेत्याह—रेक्यम्, योग्यमिति।' (प्रक्रियास० कृत्खण्ड, पृष्ठ ७३)

सरस्वतीकण्ठाभरण को छोड़ अन्य पाणिनीयेतरतन्त्रों में यथासङ्ख्य की प्राप्ति ही नहीं होती।[2] सरस्वतीकण्ठाभरण में भी तेन रक्तं रागात् (सरस्वती० ४.२.१)

१. चजोः कगौ धुड्घानुबन्धयोः (कातन्त्र कृद्वृत्ति बंगाक्षर सूत्र ४८६) की व्याख्या करते हुए दुर्गसिंह लिखते हैं—

'चजोः कगौ भवतः, धुटि घानुबन्धे च प्रत्यये परे। निमित्तेन तु सम्बन्धस्याविवक्षितत्वान्न यथासङ्ख्यम्।'

२. शाकटायन—क्तेऽनिट्चजः कुर्घिति (शाकटायन० ४.१.१७१)। क्तेऽनिटो

सूत्र विद्यमान है अतः वहां पर भी पाणिनीयव्याकरणवत् समाधान सम्भव है। जैनेन्द्र व्याकरण का निर्देश ऊपर किया जा चुका है।

इत्थं न्यासकार का इस विषय में व्याकरणजगत् आभारी है।

[२.४५] हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७.३.५४) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'हन्तेः श्तिपा निर्देशो धातुनिर्देशार्थं एव, न यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः। तत्र हि अभ्यासाच्च इति भवितव्यमेव कुत्वेन।' (न्यास ७.३.५४)

हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में यहां पक्ष या विपक्ष में कुछ टिप्पण नहीं की है। परन्तु उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने मुक्तकण्ठ से न्यास का समर्थन किया है। तथाहि—

जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी हो हन्तेर्ञ्णिन्नि (जैनेन्द्र० ५.२.५९) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'कथं यङ्बन्तस्य जङ्घनीति। अत्र चात् (जैनेन्द्र० ५.२.६०) इति कुत्वमिष्यते। धुनिर्देशार्थस्तिप्।' (जैनेन्द्रमहा० ५.२.५९)

माधवीयधातुवृत्ति (पृष्ठ ३१२) में 'जङ्घनीति, जङ्घन्ति, जङ्घतः, जङ्घ्नति' आदि रूप दर्शा कर न्यासकार के मत का समर्थन किया गया है।

प्रक्रियाकौमुदी में रामचन्द्र भी 'जङ्घनीति जङ्घन्ति' आदि रूप दर्शाते हुए न्यास के समर्थक हैं। उन के पौत्र विट्ठल ने तो प्रसादटीका में 'अभ्यासाच्च इति कुत्वम्' कह कर न्यासोक्त पक्ष ही द्योतित किया है।

(देखें प्रक्रिया कौ०, प्रसाद, उत्तरार्ध, पृ० ३६३)

भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी के यङ्लुगन्तप्रकरण में स्पष्टतः न्यासकार का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"हन्तेर्यङ्लुक्। अभ्यासाच्च इति कुत्वं यद्यपि हो हन्तेरित्यतो हन्तेरित्यनुवर्त्य विहितं तथापि यङ्लुकि भवत्येवेति न्यासकारः। 'श्तिपा शपा—' इति निषेधस्त्वनित्यः, गुणो यङ्लुकोः इति सामान्यापेक्षज्ञापकादिति भावः। जङ्घनीति-जङ्घन्ति, जङ्घतः, जङ्घ्नति।" (सि० कौ० उ० पृष्ठ २८०)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट न्यासकार का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

"न्यासकार इति। राजा वृत्रं जङ्घनदिति प्रयोगस्तस्य बीजम्। परिभाषायां निर्दिष्टपदेन यत्र सूत्रे श्तिबन्तोच्चारणं तस्यैवाऽनित्यत्वं स्यात्, न श्तिबादिनिबन्धनस्येति भावः।"[1] (बृ० श० शे० पृष्ठ १८६७)

धातोश्चजान्तस्य कवर्गादेशो भवति घिति प्रत्यये—अमोघा।

हेमचन्द्र—क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति (हैम० ४.१.१११)। क्तेऽनिटो धातोश्चकारजकारयोः स्थाने घिति प्रत्यये यथासंख्यं कगौ भवतः—बृहद्वृत्ति।

इन दोनों सूत्रों में स्थानी च् और ज् हैं तथा निमित्ती केवल 'घिति' कहा गया है अतः स्थानी और निमित्त के यथासङ्ख्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

१. नागेश-भट्ट का अभिप्राय यह है कि जिस सूत्र में साक्षात् श्तिबन्त निर्दिष्ट होगा

तत्त्वबोधिनी में ज्ञानेन्द्रसरस्वती इस का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

"सामान्यापेक्षेति । अयं भावः—एकाच इत्यत्रैकाज्ग्रहणाद् यङ्लुकि द्विर्वचनं न कुत्रापि प्राप्नोति, तथा च 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य विधीयमानो गुणो द्विर्वचनं विना निवेशमलभमानः सन् 'श्तिपा शपा—' इति सर्वेषामपि निषेधानां क्वचिद् यङ्लुक्यप्रवृत्तिं ज्ञापयतीति । तथा च प्रयुज्यते—'राजा वृत्रं जङ्घनत्' इत्यादि ।"

(सि० कौ० तत्त्व० उ० पृ० २८०)

बालमनोरमाकार भी यही कहते हैं—

"गुणो यङ्लुकोरित्यभ्यासस्य गुणविधानम् एकाज्ग्रहणस्याऽनित्यत्वं ज्ञापयत् तद्वचनोपात्तत्वसामान्यात् 'श्तिपा शपे'त्यादिसर्वनिषेधानां यङ्लुकि क्वचिदप्रवृत्तिं ज्ञापयतीत्यर्थः । इति भाव इति । न्यासकृत इति शेषः ।"

(सि० कौ० उ० बालमनो० पृ० २८०)

ओरम्भट्ट अपनी व्याकरणदीपिका में दीक्षित के शब्दों से ही न्यास का समर्थन करते हैं—

'हन्तेर्यङ्लुकि अभ्यासाच्चेति कुत्वं यद्यपि 'हो हन्ते'रित्यनुवर्त्य विहितं तथापि यङ्लुकि भवत्येवेति न्यासकारादयः । श्तिपा शपेति निषेधस्त्वनित्यः । 'गुणो यङ्लुकोः' इति सामान्यापेक्षज्ञापकादिति भावः । जङ्घनीति ।' (व्याकरणदीपिका पृष्ठ ८३४)

सरस्वतीकण्ठाभरणकार को छोड़ कर प्रायः सब पाणिनीयेतरतन्त्रकार न्यासकार के वचन से सावधान हो उठे हैं। इसीलिये उन्होंने यङ्लुक् में हन् के अभ्यास से परे कुत्व की निर्बाध प्रवृत्ति चाहते हुए अपने अपने तन्त्रों में श्तिप् से निर्देश ही नहीं किया।[1] सरस्वतीकण्ठाभरण के इस स्थल की वृत्ति अभी प्रकाशित नहीं हुई। सम्भवतः उसमें भी पाणिनीयव्याकरणवत् परिहार किया गया होगा।

इस प्रकार न्यासकार की दो पंक्तियों ने व्याकरण-जगत् में पर्याप्त हलचल मचा दी है।

[२.४६] वज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'वाजः' प्रयोग सिद्ध होता है। यह शब्द अन्न, घृत, पक्ष, वेग आदि का वाचक है। अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'वाजः' में चजोः कु घिण्ण्यतोः (७.३.५२) सूत्र से कुत्व क्यों न हो? अष्टाध्यायी में कोई

उस सूत्र की प्रवृत्ति यङ्लुक् में न होगी, परन्तु जिस सूत्र में श्तिबन्त अनुवर्तित होगा वहाँ वह निर्बाध यङ्लुक् में प्रवृत्त हो जायेगा निषेध न होगा। उन का यह भाव बृ० शब्देन्दुशेखर के एक पाठभेद में अतीव स्पष्ट है—

'परिभाषायां निर्दिष्टपदेन यत्र सूत्रे श्तिबन्तोच्चारणं तस्यैव निषेधो यत्र त्वनुवृत्तिस्तद् भवत्येवेत्यन्ये।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १८६७ पर टिप्पण)

१. शाकटायन—हिघ्नोऽङे कुः पूर्वात् (शाकटायन० ४.१.७१)
हेमचन्द्र —अङे हिहनो हो घः पूर्वात् (श्रीसिद्धहेम० ४.१.३४)
बोपदेव —खेर्हो घो ञ्णिति च (मुग्धबोध सूत्र ६७९)

ऐसा सूत्र नहीं जो इस अनिष्ट का वारण कर सके। इस पर अनुत्सूत्रपदव्याख्याकार न्यासकार अपना समाधान प्रस्तुत करते हुए **अजिव्रज्योश्च** (७.३.६०) सूत्र पर लिखते हैं—

'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन वजेरपि प्रतिषेधो भवति—वाजः, वाज्यम् इति।' (न्यास ७.३.६०)

इसी का अनुसरण करते हुए माधव माधवीयधातुवृत्ति में लिखते हैं—

'वाजः, वाज्यम्। घञ्ण्यतौ। **अजिव्रज्योश्च** इति चकारेण कुत्वनिषेधः।'

(मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १०२)

भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव भी इसी का अनुसरण करते हैं—

'चकाराद् वाजः=पक्षः।' (भाषावृत्ति ७.३.६०)

प्रक्रियाकौमुदी में रामचन्द्राचार्य इसी की पुष्टि करते हैं—

'चाद् वजेरपि—वाज्यम्।' (प्रक्रिया कौ०, पृष्ठ ४७९)

अमरकोष के टीकाकार सर्वानन्द भी यही कहते हैं—

'वज गतौ। करणे घञ्। वाजः। **अजिव्रज्योश्च** इति चकारस्य अनुक्त-समुच्चयार्थत्वात् कुत्वनिषधः।' (अमरटीकासर्वस्व, तृतीयसम्पुट, पृष्ठ १२४)

धातुरूपकल्पद्रुम में गुरुनाथविद्यानिधि भी यही लिखते हैं—

'घञ्—वाजः, ण्यत्—वाज्यम्। **अजिव्रज्योश्च**। इति चकारेण कुत्वनिषेधः।'

(धातुरूपकल्पद्रुम पृष्ठ ९२)

परन्तु क्षीरस्वामी अमरकोष की व्याख्या करते हुए 'वाजः' शब्द पर निम्नस्थ टिप्पण करते हैं—

'वजति गच्छत्यनेन वाजः, न्यङ्क्वादेरकुत्वम्।'

(अमरकोष, क्षीरस्वामि० पृष्ठ १३५)

क्षीरस्वामी का 'वाजः' को न्यङ्क्वादिगणान्तर्गत मानना नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि न्यङ्क्वादिगण में तो अविहितलक्षणकुत्व शब्द आते हैं अर्थात् जिन शब्दों में कुत्व तो देखा जाता है परन्तु कोई सूत्र उसे विधान करने वाला नहीं होता वे न्यङ्क्वादिगणान्तर्गत पढ़े जाते हैं। 'वाजः' में तो हमें कुत्व नहीं करना बल्कि कुत्व का अभाव दिखाना है अतः इसे न्यङ्क्वादिगणान्तर्गत मानना भूल होगा।[1] यही बात भानुजिदीक्षित अमरकोष की व्याख्या में 'मुकुट' के मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं—

'वजत्यनेन। वज गतौ।—न्यङ्क्वादित्वाद् अकुत्वम् इति मुकुटश्चिन्त्यः।'

(अमरकोषव्याख्यासुधा पृष्ठ २९३)

नोट—पाणिनीयव्याकरण के भट्टोजिदीक्षित आदि नवीन वैयाकरण महाभाष्य

---

१. न्यङ्क्वादयः कृतकुत्वाः प्रातिपदिकगणे पठ्यन्ते। (न्यास ७.३.५३)

कृतकुत्वानामेव गणे पाठात्। (पदमञ्जरी ७.३.५३)

में पठित 'क्वाद्यजिव्रजियाचिरुचीनामप्रतिषेधो निष्ठायामनिटः कुत्ववचनात्'[1] इस वार्तिक का आश्रय लेकर यहां कुत्व की प्राप्ति ही स्वीकार नहीं करते। तथाहि—

'वार्तिककारस्तु चजोरिति सूत्रे निष्ठायामनिट इति पूरयित्वा न क्वादेरित्यादि प्रत्याचख्यौ। तेन अर्जि-तर्जिप्रभृतीनां न कुत्वम्। निष्ठायां सेट्त्वात्। ग्रुचुग्लुञ्चु-प्रभृतीनां तु क्वादित्वेऽपि कुत्वं स्यादेव, सूत्रमते तु यद्यपि विपरीतं प्राप्तं तथापि यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।'[2]

(सि० कौ० उ० पृष्ठ ३९२-९३)

'वजत्यनेन। वज गतौ। हलश्च (३.३.१२१)। निष्ठायां सेट्त्वान्न कुत्वम्। वाजयति वा ण्यन्तः। पचाद्यच् (३.१.१३४)। न्यङ्क्वादित्वादकुत्वम् इति मुकुटश्चिन्त्यः।'

(अमरकोषव्याख्यासुधा, पृष्ठ २९३)

'वाजः। पुं० निस्वने। शब्दे॥ पक्षे॥ शरपक्षे॥ वेगे॥ मुनौ॥ न० घृते। यज्ञे॥ अन्ने॥ वारिणि॥ वजत्यनेन। वज गतौ। हलश्चेति घञ्। निष्ठायां सेट्त्वान्न कुत्वम्। वाजयति वा। ण्यन्तः। पचाद्यच्।'

(शब्दार्थचिन्तामणि, चतुर्थ भाग, पृष्ठ २४९)

इसी प्रकार पाणिनीयेतर वैयाकरण भी अपने अपने सूत्रपाठों में 'क्तेऽनिटः' आदि कहते हैं। इस से उन के मत में कुत्व की प्राप्ति ही नहीं होती पुनः परिहार कैसा ?[3]

इत्थं यह सुतरां सिद्ध हो जाता है कि सूत्रकार के मत में 'वाजः' आदि में कुत्ववारण का न्यासप्रदर्शित मार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता। साथ ही इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि न्यासकार का यह मत वार्त्तिककार से भी प्राचीन बनी किन्हीं वृत्तियों व व्याख्याओं पर आधारित हो। क्योंकि यह समाधान वार्त्तिककार की अपेक्षा अधिक सुलझा हुआ नहीं है। प्रतीत होता है कि वार्त्तिककार ने अपना वार्त्तिक इस या इस प्रकार के अन्य समाधानों के गहन चिन्तन के बाद ही बनाया होगा। विचारों के क्रमिक विकास में वार्त्तिककार का विचार उत्कृष्ट होने से उत्तरवर्ती ही ठहरता है।

---

१. महाभाष्य में ७.३.५९ पर प्रथम वार्त्तिक।

२. वार्त्तिकस्य सूत्रदूषणाय प्रवृत्तत्वाद् भाष्यकृता च वार्त्तिकमते 'शोकः' इत्यस्यासिद्धिमाशङ्क्य सूत्रकारमतेऽपि ण्यति कुत्ववारणाय नियमार्थमावश्यकेन 'शुचेर्घञी'-ति वचनेन समाधानाद् वार्त्तिकमतस्यैव अभ्यनुज्ञानाच्चेति भावः—(ल० श० शे०)।
दीक्षित का सि० कौमुदीस्थ उपर्युक्त लेख कैयटोपाध्याय के अत्रत्य प्रदीप तथा ७.३.५९ पर पदमञ्जरी के आश्रय पर लिखा गया है।

३. निदर्शनार्थ यथा—

जैनेन्द्र	—चजोः कु घिण्ण्ययोस्तेऽनिटः (५.२.५६)।
शाकटायन	—क्तेऽनिट्चजः कुघिति (४.१.१७१)।
भोज	—न क्वाद्यजिव्रज्यादेः निष्ठायां सेटः (७.१.११७)।
हेमचन्द्र	—क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति (४.१.१११)।

[२.४७] **द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति** (७.४.४०) सूत्र पर 'मा' के विषय में काशिकाकार ने केवल 'मा—मितः, मितवान्' इतना मात्र लिखा है, इस से अधिक कुछ नहीं कहा। परन्तु न्यासकार इस का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

"मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रणिदाने—'गा-मा-दा-ग्रहणेष्वविशेषः' इति त्रयाणामपि ग्रहणम्।" (न्यास ७.४.४०)

उत्तरवर्ती पाणिनीय व पाणिनीयेतर सब वैयाकरणों ने यहां न्यास का ही अनुसरण एवं समर्थन किया है। तथाहि—

(क) हरदत्तमिश्र यहां पर पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रणिदाने—त्रयाणामपि ग्रहणम्, गामादाग्रहणेष्वविशेषात्।' (पदमञ्जरी ७.४.४०)

(ख) अभयनन्दी जैनेन्द्रव्याकरण के 'द्यति-स्यति-मा-स्थां ति कितीत्' (जैनेन्द्र० ५.२.१४४) सूत्र की व्याख्या करते हुए महावृत्ति में लिखते हैं—

'गामादाग्रहणेष्वविशेषः—इति मा-माङ्-मेङां ग्रहणम्।'

(ग) पाल्यकीर्त्ति 'दो-सो-मा-स्थां क्ति' (शाकटायन० ४.२.१०९) सूत्र पर अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'मा इति मा-मेङ्-माङां सामान्यग्रहणम्'।

(घ) हेमचन्द्रसूरि अपने अनुशासन के 'दो-सो-मा-स्थ इः' (श्रीसिद्धहेम० ४.४.११) सूत्र की व्याख्या करते हुए बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

'मा—मितः, मितवान्। मित्वा। मितिः। गा-मा-दाग्रहणेष्वविशेष इति माङ्-मा-मेङां ग्रहणम्। अन्यस्तु माङ्मेङोरेवेच्छति, मातेस्तु मातः, मातवान्।'

(ङ) मैत्रेयरक्षित ने उपर्युक्त तीनों धातुओं पर 'मितम्' उदाहरण देकर न्यासकार के मत का ही अनुसरण किया है (देखें धातुप्रदीप पृष्ठ ७०, ८२, ८६)।

(च) माधवीयधातुवृत्ति में सायण ने भी इसी का अनुसरण करते हुए लिखा है—

'मितम्। द्यतिस्यतिमा० इतीत्त्वम्। सर्वेष्वेषु माग्रहणेषु मा-मेङ्-माङ्ग्रहणम्, गामादाग्रहणेष्वविशेष इति वचनात्।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ३६८)

(छ) संक्षिप्तसारव्याकरण के 'दो-षो-मा-स्थां कित्ते' (तिङन्तप्रकरण ७२८) सूत्र की व्याख्या करते हुए गोयीचन्द्र लिखते हैं—

'मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रतिदाने इत्येतेषां ग्रहणम्।'

(ज) मुग्धबोधव्याकरण के 'दो-षो-मा-स्थां ङिस्त्यणौ' (मुग्धबोध सूत्र १०८३) पर 'मितः' उदाहरण की व्याख्या करते हुए दुर्गादासवागीश लिखते हैं—

"मा इति स्वरूपाद् मेङ प्रतिदाने, माङलि शब्दे, माल च माने, माङय च माने—इत्येतेषां 'मितः'।"

(झ) प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में विट्ठल लिखते हैं—

'मा माने, माङ् माने, मेङ् प्रतिदाने—त्रयाणां ग्रहणम्। गामादाग्रहणेष्वविशेषात्।' (प्रसाद, उ० पृष्ठ ५६६)

(ञ) भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'मा-माङ्-मेङ्—मितः ।' (सि० कौ० उ० पृष्ठ ४३६)

(ट) नागेशभट्ट यहां लिखते हैं—

'मा माङ् इति। गामादाग्रहणेष्वविशेषादिति भावः।' (ल० श० शे० पृष्ठ ४३६)

(ठ) बालमनोरमाकार भी यहां पर यही कहते हैं—

'मा माङ् मेङिति । 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति वचनादिति भावः।'

(सि० कौ० उ० पृष्ठ ४३६)

पाणिनीयव्याकरण में न्यासकार से पूर्व इस सूत्र पर ऐसा विवेचन अभी तक किसी का उपलब्ध नहीं हुआ। यह सूत्र महाभाष्य में भी व्याख्यात नहीं है। चान्द्र-स्वोपज्ञवृत्ति में भी काशिका की तरह 'मितम्, मितवान्' (चान्द्रवृत्ति, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३१४) उदाहरणमात्र ही प्रदर्शित किये गये हैं। पाणिनीयेतरव्याकरणों में केवल कातन्त्र की दुर्गसिंहकृतवृत्ति में ही इस प्रकार का उल्लेख मिलता है।[1] दुर्गसिंह काशिकाकार से भी प्राचीन माने जाते हैं।[2] यदि यह सत्य है तो कहा जा सकता है कि न्यासकार ने दुर्गवृत्ति से प्रेरित होकर पाणिनीयतन्त्र का इस प्रकार का व्याख्यान उपस्थित किया होगा।

[२.४८] शाच्छोरन्यतरस्याम् (७.४.४१) सूत्र पर 'श्यतेरित्वं व्रते नित्यमिति वक्तव्यम्' इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'व्रत इति नोत्तरपदं गृह्यते, किं तर्हि ? विषयः। व्रतविषये श्यतेर्नित्यमित्वम्भवति। —ननु च व्रतविषये विधीयमानेनेत्वेनैव व्रतस्य द्योतितत्वाद् व्रतशब्दस्य प्रयोगो न प्राप्नोति ? नैष दोषः ; अन्यत्र हीत्वं भवत्येव, व्रते तु नित्यमाख्यायते, सोऽयं सामान्य-शब्दो भवति। अत्र विशेषार्थो व्रतशब्दः प्रयुज्यते।' (न्यास ७.४.४१)

उत्तरवर्त्ती प्रायः सब वैयाकरण यहां पर न्यास के व्याख्यान का ही अनुसरण करते हैं—

(क) आचार्य कैयट इस सूत्र पर महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'व्रत इति। विषयो निर्दिश्यते न तूत्तरपदम्, तेन संशितो ब्राह्मण इत्यत्रापि नित्यमित्वं भवति। यद्येवम् इत्वेन व्रतस्य द्योतितत्वात् संशितव्रत इति व्रतशब्दप्रयोगो न प्राप्नोति। नैष दोषः, अन्यत्रापीत्वविधानात्। संशितशब्दः सामान्यशब्द इति विशेष-प्रतिपादनायाविरुद्धो व्रतशब्दप्रयोगः।' (प्रदीप ७.४.४१)

(ख) हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'व्रत इति विषयो निर्दिश्यते, नोत्तरं पदम्, तेन संशितो ब्राह्मण इत्यत्रापि

---

१. 'मा इति मा-माङ्-मेङां सामान्येन ग्रहणम्।' (कातन्त्रकृद्वृत्ति सूत्र ७६)

२. देखें—यु० मीमांसककृत 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ ५६१-६४)।

नित्यमित्वं भवति ।—व्रतादन्यत्रापि इत्वम्भवति, व्रते तु नित्यमिति । संशितशब्दस्य सामान्यशब्दत्वादविरुद्धो व्रतशब्दस्य प्रयोगः ।' (पदमञ्जरी ७.४.४१)

(ग) आचार्य पाल्यकीर्ति 'शो व्रते' (शाकटायन० ४.२.११०) सूत्र पर अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'संशितं व्रतम् । संशितशब्दोऽन्यत्राप्यस्तीति व्रतविशेषणं न दुष्यति ।'

(घ) आचार्य हेमचन्द्रसूरि 'शो व्रते' (श्री सिद्धहेम० ४.४.१३) सूत्र पर स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

'श्यतेः क्तप्रत्यये व्रतविषये प्रयोगे नित्यमित्वं भवति । संशितं व्रतम् । असिधारा-तीक्ष्णमित्यर्थः । संशितव्रतः साधुः । संशितः साधुः । व्रते यत्नवान् इत्यर्थः । संशितशब्दः अन्यत्राप्यस्तीति व्रतमिति विशेषणं न दुष्यति । नित्यार्थं वचनम् । तेन व्रतविषये संशात इति न भवति । व्रत इति किम् ? निशातः ।'

(ङ) जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी भी 'शाच्छोर्विभाषा' (जैनेन्द्र० ५.२.१४५) सूत्र पर न्यास का अनुसरण करते हुए इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

'व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन श्यतेरित्वं व्रतविषये नित्यमिष्यते । संशितव्रतः साधुः । संशितं यत्नेन सम्यक्सम्पादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः । संशितः साधु-रित्यपि भवति । यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते ।'

(च) प्रक्रियासर्वस्व में इस स्थल की व्याख्या करते हुए साम्बशास्त्री लिखते हैं—

'वचने व्रतस्य विषयत्वेनैव-प्रवेशो नोत्तरपदत्वेन घटनायामपि । तत उदाहरणं द्विविधं सम्भवि । संशितः, संशितव्रत इति च ।' (प्रक्रियास० कृत्खण्ड, पृष्ठ ४१)

इस प्रकार न्यासोत्तरवर्ती प्रायः सब वैयाकरण न्यासप्रदर्शित व्याख्यान का ही इस स्थल पर अनुसरण करते चले आ रहे हैं ।

[२.४६] पाणिनि ने रुहः पोऽन्यतरस्याम् (७.४.४३) सूत्र द्वारा रुह् के हकार को णिच् परे होने पर वैकल्पिक पकार का विधान किया है। इस से णिजन्तप्रक्रिया में रुह् धातु के 'रोपयति' और 'रोहयति' दो रूप बन जाते हैं—व्रीहीन् रोपयति, व्रीहीन् रोहयति । परन्तु काशिकाकार से भी बहुत समय पूर्व चान्द्र तथा कातन्त्र व्याकरण के निर्माताओं ने पाणिनि के इस सूत्र को निरुपयोगी समझ कर अपने-अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया था। उन का आशय यह था कि णिच्प्रक्रिया में रुह् धातु का 'रोहयति' और 'रुप विमोहने' इस दैवादिक धातु का 'रोपयति' बन कर निर्बाध यथेच्छ दो रूप सिद्ध हो सकते हैं। यद्यपि 'रोपयति' की धातु रुप् विमोहनार्थक पढ़ी गई है तथापि धातुओं के अनेकार्थक होने से उसे रुह्यर्थक भी समझा जा सकता है। अतः इन दो रूपों की सिद्धि के लिए 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं ।[1]

---

१. चन्द्राचार्य स्वोपज्ञवृत्ति में यथा—

काशिकाकार ने पाणिनीयव्याकरण पर उठाई गई इस शङ्का का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। परन्तु सूत्रकार के प्रति सश्रद्ध न्यासकार इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इस शङ्का को उठा कर इस का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं—

'रोपयतीति। रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च। किमर्थं पुनरिदमुच्यते, यावता दिवादिषु रुप लुप विमोहने इति रुपिः पठ्यते, तस्य रोपयतीति भविष्यति, रुहेस्तु रोहयतीति। जन्मार्थेऽपि रोपयतीति प्रयोगो यथा स्यात्, अन्यथा हि विमोहनार्थस्यैव स्यात्। अनेकार्थत्वाद् धातूनां रुपिर्जन्मनि वर्तिष्यत इति चेद् ? नैतदस्ति; अनेकार्था हि धातवः, न तु सर्वार्थाः। न हि रुप्यतीत्युक्ते जन्मार्थः प्रतीयते, किं तर्हि ? विमोहनार्थ एव।"

(न्यास ७.४.४३)

न्यासकार के समाधान का अभिप्राय यह है कि 'अनेकार्था हि धातवः' कह कर किसी धातु का मनमाना अर्थ नहीं किया जा सकता। रुप् धातु विमोहन अर्थ में ही प्रसिद्ध है रुहार्थ में इसका प्रयोग कहीं देखा नहीं जाता, अतः 'रोपयति' को 'रोहयति' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए रुह् धातु के णिजन्त में 'रोपयति, रोहयति' दो रूप बनाने के लिए रुहः पोऽन्यतरस्याम् सूत्र बनाना आवश्यक है, निरर्थक नहीं।

न्यासकार के इस समाधान का आश्रय लेकर अनेक उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने इसे अपने-अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। तद्यथा—

(क) जैनेन्द्रव्याकरण के 'रुहः पः' (५.२.४७) सूत्र की व्याख्या करते हुए महावृत्तिकार अभयनन्दी लिखते हैं—

"अथ 'युप रुप लुप विमोहने' इति रुप्यतेः रोपयति, रुहेः रोहयतीति भविष्यति। न शक्यमेवम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम्। आरोपयतीत्यत्र रुहेरर्थः प्रतीयते न रुप्यतेः। अनेकार्था धव इति पादप्रसारिकैषा।"

(ख) शाकटायनव्याकरण के स्वोपज्ञवृत्तिकार पाल्यकीर्ति अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'रोहत्यर्थे रुप्यतिर्न दृश्यत इति योगारम्भः।'

(शाकटायन० अमोघा० ४.१.१९६)

(ग) हेमचन्द्रसूरि अपने व्याकरण की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में यही कहते हैं—

'रोहत्यर्थे रुप्यतिर्न दृश्यत इति योगारम्भः।'

(श्रीसिद्धहेम० बृहद्वृत्ति ४.२.१४)

'कथं व्रीहीन् रोपयति रोहयतीति ? रुपिणा रुहिणा च सिद्धम्।'

(चान्द्रवृत्ति, द्वितीय भाग, पृष्ठ २८१)

दुर्गसिंह कातन्त्रवृत्ति में यथा—

'रुहार्थे रुपिरिति व्रीहीन् रोपयति, कार्यमध्यारोपयति, अर्थं समारोपयति। रुहेस्तु—रोहयति, आरोहयति हस्ती हस्तिपकम्।'

(कातन्त्रदुर्गसिंहवृत्ति, आख्यातवृत्ति सूत्र २९०)

(घ) विट्ठल प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में यही कहते हैं—

"किमर्थमिदमुच्यते ? यतो 'रुप परिमोहने' इति दिवादिस्तस्य रोपयतीति स्यात् । रुह जन्मनीत्यस्य रोहयतीति चेत् ? सत्यम् । जन्मार्थस्य रोपयतीति प्रयोगार्थम् । धातूनामनेकार्थत्वात् स्यादिति चेद् ? अनेकार्था हि धातवो न सर्वे सर्वार्थाः ।"

(प्रसाद उ० पृष्ठ ३१७)

(ङ) दुर्गादास विद्यावागीश मुग्धबोध के 'रुहः पङ् वा' (मुग्धबोधसूत्र ७८९) सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकारोक्त मत का समर्थन करते हैं—

'ननु रोहते रुप्य इविर्मोहे इति द्वयोः रोहयति रोपयतीति सिद्धौ रुहः पङ्-विधानं कथमिति चेन्न । रोपयतीतिपदेन जननप्रेरणस्य बोधयितुमशक्यत्वात् ।'

न्यासकार के उपर्युक्त समाधान के होते हुए भी कुछ वैयाकरण न्यासकार की युक्ति की ओर नहीं झुके । उन में हरदत्तमिश्र प्रमुख हैं । वे पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम् । कथम् ? 'रुप विमोहने' इति दिवादौ पठ्यते, स ण्यन्तोऽत्र जन्मनि वर्त्तिष्यते, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्, तस्य रोपयतीति । रुहेस्त्वारोहयतीति ।'

(पदमञ्जरी ७.३.४३)

व्याकरणदीपिकाकार ओरम्भट्ट भी पदमञ्जरी के नाम से यही बात कहते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम् । 'रुप लुप विमोहने' इति दैवादिकस्य रोपयतीति रुहश्च रोहयतीति च सिद्धेर्धातूनामनेकार्थत्वान्नार्थासङ्गतिरिति पदमञ्जर्यां स्पष्टम् ।"

(व्याकरणदीपिका ७.३.४३)

वैयाकरणसिद्धान्तचन्द्रिका के 'रुहेर्णौ पो वा' सूत्र की व्याख्या करते हुए सुबोधिनीकार सदानन्द भी यही कहते हैं—

"रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च । 'रुप विमोहने' इति दैवादिकस्य धातूनामनेकार्थत्वाज्जन्मनि वृत्तौ सूत्रं स्पष्टार्थम् ।"

(सिद्धान्तचन्द्रिका, सुबोधिनी, उ० पृष्ठ १५४)

इसी सूत्र पर लोकेशकर भी तत्त्वदीपिका में यही लिखते हैं—

'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च । रुप विमोहन इति दैवादिकस्यापि रोपयतीति सिद्धम्, धातूनामनेकार्थत्वाज्जन्मनि वृत्तिः । सूत्रं तु स्पष्टार्थम् ।' (वही)

हरदत्तमिश्र आदियों का आशय यह है कि यद्यपि 'रुप्यति' आदि से रुह्यर्थ की प्रतीति नहीं होती तथापि णिजन्त रुप् धातु से इस रुह्यर्थ की प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता । अतः रुप् धातु से णिजन्तप्रक्रिया में 'रोपयति' और रुह् धातु से 'रोहयति' सिद्ध हो सकता है । इस प्रकार इस सूत्र को स्पष्टार्थक मानना ही उचित है ।

यहां यह बात बड़े आश्चर्य की है कि भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्रसरस्वती, वासुदेन्दीक्षित, नागेशभट्ट आदि वैयाकरणों ने इस विषय में अपने कहीं विचार व्यक्त नहीं किये ।

[२.५०] अष्टाध्यायी में **सः स्यार्धधातुके** (७.४.४९) सूत्र **अङ्गस्य** (६.४.१) के अधिकार के अन्तर्गत पढ़ा गया है। अतः 'सः' से तदन्तविधि होकर 'सकारान्तस्याङ्गस्य सकारादावार्धधातुके तकारादेशो भवति' ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है। पुनः अलोऽन्त्य-परिभाषा से यह तकारादेश सकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर ही होता है। परन्तु इस सूत्र में 'तः' की अनुवृत्ति **अच उपसर्गात्तः** (७.४.४७) सूत्र से होती है। वहां भाष्य तथा काशिका आदि में 'त्तः' इस प्रकार द्वितकारपक्ष का भी विधान किया गया है, उस पक्ष में आदेश के अनेकाल् होने से 'वस्+स्यति' आदि में सम्पूर्ण सकारान्त अङ्ग 'वस्' के स्थान पर द्वितकार आदेश प्रसक्त होगा जो अनिष्ट है।

इस शङ्का का समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"अत्रापि द्वितकारपक्षेऽनेकाल्त्वात् सर्वादेशः प्राप्नोति, तस्माद् 'अचः' इति पञ्चम्यन्तमनुवर्त्तनीयम् इति। अथवा 'निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्ति' इति सकारस्यैव भविष्यति।" (न्यास ७.४.४९)

न्यासकार के इस समाधान को ध्यान में रखते हुए आचार्य अभयनन्दी जैनेन्द्र-महावृत्ति में लिखते हैं—

"अन्ते लः (१.१.४९) इति वा 'निर्दिश्यमानस्यादेशाः' इति वा सकारस्य तत्वम्। द्वितकारकपक्षे 'अचः' इति काविभक्त्यन्तम्[1] अनुवर्त्यम्।" (जैनेन्द्रमहा० ५.२.१५१)

उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों पर भी न्यासोक्त समाधान का प्रभाव पड़ा है। उन्हों ने 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने पर भी, पहले तदन्तविधि करना और बाद में केवल सकार को तकारादेश के लिये न्यासोक्तप्रकारेण समाधान ढूंढना इन सब से बचने के लिये यहां के सूत्रार्थ में तदन्तविधि करना ही छोड़ दिया। तथाहि—

(क) रूपमाला—
'सस्य तः स्यात्सकारादावार्धधातुके।' (द्वितीय भाग, पृष्ठ १७४)

(ख) भाषावृत्ति—
'सकारादावार्धधातुके सस्य तः स्यात्' (पृष्ठ ५१२)

(ग) प्रक्रियाकौमुदी—
'सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके' (उत्तरार्ध, पृष्ठ १७५)

(घ) सिद्धान्तकौमुदी—
'सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके' (उत्तरार्ध, पृष्ठ १००)

(ङ) व्याकरणमिताक्षरा—
'सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके।' (व्याकरणमिताक्षरा, पृ० ८३९)

(च) व्याकरणदीपिका—
'सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके' (७.४.४९, पृष्ठ ८९०)

---

१. काविभक्त्यन्तम् = पञ्चम्यन्तम् इत्यर्थः। दृश्यताम्— (जैनेन्द्र० १.२.१५८)

परन्तु यह सब तात्पर्यतः ठीक होने पर भी पाणिनीयनियमों के विरुद्ध है। पाणिनीयव्याकरण की व्याख्या पाणिनि के नियमों के आधार पर ही की जानी चाहिये। ऐसी स्थिति में न्यासोक्त समाधान के सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं है—'नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

नोट— यह सब तो हुआ पर द्वितकार आदेश वाले पक्ष में रूप क्या बनेगा—यह किसी ने नहीं दर्शाया। तब वस् धातु का लृट् में 'वत्स्यति' रूप ही बन सकेगा, 'वत्स्यति' नहीं, क्योंकि 'झरो झरि सवर्णे' (८.४.६५) सूत्र से तो तकार का लोप हो न सकेगा, वह हल् से परे झरोझरिलोप का विधान करता है यहां पर ऐसा हल् है ही नहीं। आश्चर्य है कि किसी वैयाकरण ने यहां कुछ प्रकाश नहीं डाला। हमारे विचार में यहां पर भाष्यकार के 'न हि व्यञ्जनपरस्य एकस्याऽनेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति' (महाभाष्य ६.४.२२; ७.१.७२) इस वचन के सिवाय अन्य कोई समाधान नहीं है।

[२.५१] रोः सुपि (८.३.१६) सूत्र को समस्त पाणिनीय वैयाकरण नियमार्थ मानते हैं—'सुपि (सप्तमी-बहुवचने) रोरेव विसर्जनीयो नाऽन्यस्य रेफस्य। गीर्षु, धूर्षु।'

परन्तु यहां पर इससे विपरीत नियम क्यों न समझा जाये—'रोः सुप्येवेति' अर्थात् यदि रु के रेफ को विसर्ग आदेश हों तो सप्तमी के बहुवचन में ही हों अन्यत्र न हों। इस शङ्का का समाधान करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'विपरीतनियमो नाऽऽशङ्कनीयः, किमः क्षेपे इत्यादौ विसर्जनीयनिर्देशात्।'
(न्यास ८.३.१६)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि यदि विपरीत नियम स्वीकार करेंगे तो पाणिनि के किमः क्षेपे आदि सैंकड़ों निर्देश इस नियम के विरुद्ध पड़ेंगे। यथा—किमः क्षेपे (५.४.७०) में ककार परे होने पर रु के रेफ को विसर्ग आदेश देखा जाता है।

इस प्रकार न्यासकार ने पाणिनिनिर्देश उपस्थित करते हुए विपरीत नियम की सम्भावना का परिहार किया हैं। उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने भी इस विपरीत नियम की आशङ्का का परिहार न्यासोक्त पद्धति से ही किया है। तथाहि—

(१) कैयट—

'रोः सुप्येवेति नियमो न भवति, हलोऽनन्तराः संयोगः इत्यादिनिर्देशात्।'
(प्रदीप ८.३.१६)

(२) हरदत्तमिश्र—

'विपरीतस्तु नियमो न भवति—रोः सुप्येवेति। हलोऽनन्तराः संयोगः इत्यादिनिर्देशात्।'
(पदमञ्जरी ८.३.१६)

(३) ज्ञानेन्द्रसरस्वती—

"रोः सुप्येव विसर्जनीय इति विपरीतनियमस्त्विह न भवति, हलोऽनन्तराः संयोगः इत्यादिनिर्देशात्।"
(सि० कौ० पू० तत्त्व० पृ० १७९)

(४) नागेश भट्ट—
'रोः सुप्येवेति नियमस्तु न। हलोऽनन्तराः संयोगः इतिनिर्देशात्।'
(बृ० श० शे० पृ० ५८२)

(५) वासुदेव दीक्षित—
'विपरीतनियमस्तु न, हलोऽनन्तराः संयोग इतिनिर्देशात्।'
(सि० कौ० पू० बालमनो० पृष्ठ १७९)

(६) गोपालशास्त्री नेने—
'विपरीतनियमस्तु नेष्यते, हलोऽनन्तराः संयोग इत्यादिनिर्देशात्।'
(सि० कौ० सरला, पृष्ठ ८४)

(७) सभापतिशर्मोपाध्याय—
'विपरीतनियमस्तु न, हलोऽनन्तराः संयोग इत्यादिनिर्देशात्।'
(सि० कौ० लक्ष्मी, पृष्ठ ४८२)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी न्यासोक्त पद्धति से प्रभावित हुए हैं। निदर्शनार्थं जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी लिखते हैं—

'सुप्येव रेरिति कस्मान्न नियमः। सस्से द्युस्थस्य (जैनेन्द्र० ५.४.३३) इति सकारद्वयनिर्देशात्।' (जैनेन्द्रमहा० ५.४.२४)

[२.५२] रोः सुपि (८.३.१६) सूत्र में सुप् से किस का ग्रहण करना चाहिये? सप्तमी के बहुवचन सुप् का या सुप् प्रत्याहार का? यदि सुप् प्रत्याहार का ग्रहण होगा तो यह सूत्र 'पयोभ्याम्' आदि में प्रवृत्त हो जायेगा तब यह नियमार्थ न बन सकेगा। इस शङ्का का समाधान महाभाष्य में उपलब्ध नहीं। काशिकाकार ने यहां पर केवल इतना ही लिखा है कि 'सुपीति सप्तमीबहुवचनं गृह्यते', परन्तु सुप् से सप्तमी के बहुवचन का ही ग्रहण क्यों हो—यह काशिकाकार ने नहीं बताया। यहां पर न्यासकार अपनी प्रत्युत्पन्नमति से निजशैली के अनुसार समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'एतच्च खरीत्यनुवर्त्तनाल्लभ्यते, न हि सप्तमीबहुवचनादन्यः सुप् खरादिरस्ति।'
(न्यास ८.३.१६)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि पिछले खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८.३.१५) सूत्र से 'खरि' की अनुवृत्ति लाकर 'खरादि सुप्' अर्थ कर लिया जायेगा, खरादि सुप् केवल सप्तमी का बहुवचन ही हो सकता है, सुप्प्रत्याहारान्तर्गत अन्य कोई नहीं। इस प्रकार सूत्र की नियमार्थता अक्षुण्ण रहेगी अतः 'गीर्षु, धूर्षु' आदि में रेफ को विसर्ग न होंगे।

न्यासकार का समाधान अत्यन्त समुचित है। उत्तरवर्ती प्रायः सब वैयाकरण इस समाधान से प्रभावित हुए हैं। तद्यथा—

(क) कैयट आचार्य महाभाष्यप्रदीप में—
'अथ सुपीतिप्रत्याहाराश्रयणात् पयोभ्यामित्यादौ विध्यर्थः कस्मादारम्भो न

भवति ? खरीत्यनुवृत्त्या खरादेः सुपो ग्रहणात्, न च सप्तमीवहुवचनादन्यः खरादिः सुबस्तीति तस्यैव ग्रहणाद् विध्यर्थानुपपत्त्या नियमार्थं आरम्भः।'
(प्रदीप ८.३.१६)

(ख) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में—

'सप्तमी-बहुवचनं गृह्यते इति न प्रत्याहारः, खरीत्यनुवृत्तेः। न हि सप्तमी-बहुवचनादन्यः सुप् खरादिरस्ति। तेन पयोभ्यामित्यादौ विध्यर्थं न भवति। किं तर्हि ? नियमार्थम्, यदाह—सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ इति।' (पदमञ्जरी ८.३.१६)

(ग) ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में—

'सुपीति न प्रत्याहारः, खरीत्यनुवृत्तेः। तेन पयोभ्यामित्यादौ विध्यर्थमेतन्न भवति।' (सि० कौ० पूर्वार्धं तत्त्व० पृष्ठ १७९)

(घ) नागेशभट्ट शेखरद्वय में—

'सुप् न प्रत्याहारः, खरीत्यनुवृत्तेः। न हि सप्तमीवहुवचनादन्यः खरादिः सुवस्ति। तेन पयोभ्यामित्यत्र विध्यर्थत्वं न शङ्क्यम्। एवं च खरवसानयोरित्येव सिद्धे नियमार्थोऽयमित्याह।' (बृ० श० शे० पृष्ठ ५८२)

'अत्र खरीत्यनुवर्त्तते, तेन सप्तमीबहुवचनमेवात्र सुप्। एवं च खरवसानयोरिति सिद्धे इतरनिवृत्तिफलक एवैष विधिरित्याह—रोरेवेति।'
(ल० श० शे० पृष्ठ ४१५)

(ङ) वासुदेवदीक्षित बालमनोरमा में—

'खरीत्यनुवृत्तेः सप्तमीबहुवचनमेवात्र सुप्।'
(सि० कौ० बालमनो० पृष्ठ १७९)

(च) सभापतिशर्मोपाध्याय लक्ष्मी में—

"अत्र 'खरवसानयोः०' इत्यतः 'खरि' इति 'विसर्जनीय' इति चानुवर्त्तते। तेन सुपीत्यनेन प्रत्याहारस्य न ग्रहणम्। खरादिः सुप् सप्तमीवहुवचनमेव नान्यः। न च प्रथमैकवचनमपि खरादिः, तस्य विसर्गेण लोपेन च खरादित्वाभावात् सुप्शब्दमुच्चार्य विहितत्वेन प्रतिपदोक्तत्वाच्च। तत्र 'खरवसानयोः०' इत्येव विसर्गे सिद्धे इतरनिवृत्तये नियमार्थमिदम्। तदाह—सप्तमीबहुवचने रोरेवेति।"
(सि० कौ० लक्ष्मी, द्वितीयभाग, पृष्ठ २८२)

(छ) गोपालशास्त्री नेने सरला में—

"खरवसानयोः० इत्यतः खर्ग्रहणमनुवर्त्य खरादेः सुपो ग्रहणम्। खरादिसुबपि सप्तमीवहुवचनमेव न तु प्रत्याहारः, 'पयोभ्याम्' इत्यादावपि विसर्गप्रसङ्गात्। अत एव 'खरवसानयोः०' इत्यनेन सिद्धे नियमार्थमिदमिति।" (सि० कौ० सरला, पृष्ठ ८४)

न्यासकार के इस व्याख्यान से न केवल पाणिनीय वैयाकरण अपितु पाणिनीयेतर वैयाकरण भी प्रभावित हुए विना नहीं रह सके। तद्यथा—

(ज) आचार्य पाल्यकीर्त्तिप्रणीत शाकटायनव्याकरण में यहां पीछे से 'खरि'

का अनुवर्त्तन नहीं हो रहा था, परन्तु न्यासोक्त समाधान के प्रभाव के कारण वे इस की अपने सूत्र में ही व्यवस्था करते हुए स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

"रः सुप्सि (शाकटायन० १.२.७४)। रेफस्य सुपः सकारे परे रिरादेशो भवति। वार्षु। द्वार्षु। गीर्षु। धूर्षु। र इति किम्? भित्सु। छित्सु। अहस्सु। पयस्सु। इति न रिरसत्वात्। सुब्ग्रहणं किम्? गीस्सुनोति। धूस्सुनोति। सिग्रहणं किम्? गीः। धूः। इदमेव ज्ञापकं सुब्ग्रहणे प्रत्याहारग्रहणमेवेति। रेफस्य रिवचनं विसर्जनीयबाधनार्थम्।" (अमोघा० १.२.७४).

यहां पर 'सि' कथन के कारण सुप् प्रत्याहार के सकार में ही इस की प्रवृत्ति होती है। सुपों में सकार सप्तमी के बहुवचन के सिवाय अन्यत्र सुलभ नहीं।[1] अतः पाणिनीयव्याकरण में जो प्रयोजन 'खरादि सुप्' कहने से सिद्ध होता है वही प्रयोजन यहां 'सुप्सि=सकारादि सुप्' कथन से हल हो जाता है।

(झ) सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने पाणिनिवत् 'रोः सुपि' (सरस्वती० ७.४.२४) सूत्र ही बनाया है। उन के अनुशासन में इस से पूर्व 'खरि' (सरस्वती० ७.४.२१) सूत्र विद्यमान है। अतः उस से 'खरि' का अनुवर्तन होकर पाणिनीयव्याकरणवत् 'खरादौ सुपि' अर्थ हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

(ञ) हैमशब्दानुशासन में पाणिनीय 'रोः सुपि' सूत्र के बदले 'अरोः सुपि रः' (हैम० १.३.५७)[2] सूत्र बनाया गया है। परन्तु वहां 'सुपि' कहने पर भी न तो पाणिनीयव्याकरणवत् कोई शङ्का उठती है और न ही वहां न्यासोक्तप्रकारेण किसी समाधान की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि पहले से सावधान हेमचन्द्रसूरि ने पाणिनीय सु औ जस् आदि प्रत्ययों में 'सु' प्रत्यय के स्थान पर अपने व्याकरण में 'सि' प्रत्यय कर लिया है। इस से उन के व्याकरण में सुप् प्रत्याहार बनता ही नहीं, वहां 'सुप्' से केवल सप्तमी के बहुवचन सुप् का ही ग्रहण होता है किसी अन्य का नहीं।[3]

[२.५३] हे मपरे वा (८.३.२६) सूत्र में 'पर' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाते हुए न्यासकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

---

१. भिस् और भ्यस् में भी सकार है परन्तु उस से अव्यवहित पूर्व रेफ नहीं मिल सकता। प्रथमा के एकवचन सु प्रत्यय के सकार का भी यहां ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि उसे या तो विसर्गादेश हो जाता है या उस का लोप हो जाता है।

२. रुवर्जितस्य रेफस्य स्थाने सुपि परे रेफ एव भवति, कार्यान्तरबाधनार्थः। गीर्षु, धूर्षु, वार्षु, द्वार्षु—विसर्गसकारौ न भवतः। अरोरिति किम्? पयःसु, पयस्सु, अहःसु, अहस्सु। सुपीति किम्? गीः; धूः। र इत्येव—महत्सु। (बृहद्वृत्ति १.३.५७)

३. दूसरी यह बात भी यहां मुख्यतया ध्यातव्य है कि आचार्य हेमचन्द्र अपने अनुशासन में कहीं पर भी प्रत्याहारशैली को नहीं अपनाते।

"अथ 'हे मे'[1] इत्येवं कस्मान्नोक्तम्, एवं हि परग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति, सप्तम्यैव हि तदर्थं प्रतिपादयिष्यते—मकारे परतो यो हकार[2] इति। नैतदस्ति, हे म इत्युच्यमाने विपर्ययोऽपि विज्ञायेत—हकारपरे मकार इति। ततश्च किम्मह[3] इत्यादावेव स्यात्। अकारेण व्यवधानान्न भविष्यतीति चेद् ? न, 'येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यात्' इत्येकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते, न पुनरनेकेनेति। आद्यपक्षे किम्ह्मलयतीत्यादिषु कृतार्थं वचनम्, अतो न शक्यं व्यवधानमाश्रयितुमिति चेद् ? न, येन हकारपरे मकार इत्येष सूत्रार्थो गृहीतः, तं प्रति पक्षान्तरस्याऽसम्भवात्। तस्मात् परग्रहणमेव कर्त्तव्यं विपर्ययप्रतीतिर्मा भूदित्येवमर्थम्।" (न्यास ८.३.२६)

न्यासकार का तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'हे मपरे वा' सूत्र के स्थान पर 'हे मे वा' सूत्र बना कर भी वही अर्थ प्राप्त किया जा सकता है तथापि स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये यहां आचार्य ने 'पर' शब्द का ग्रहण किया है।

श्रीहरदत्तमिश्र न्यासकार के इन वचनों का सार ग्रहण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'परग्रहणं शक्यमकर्तुम्, सप्तम्यैव तदर्थलाभात्। मकारे परतो यो हकारस्तत्रेति। विपर्ययस्तु न भवति, असम्भवात्। न हि मकारात् परो हकारः क्वचित्सम्भवति।'

(पदमञ्जरी ८.३.२६)

आचार्य पाल्यकीर्त्ति ने न्यासकार की व्याख्या से प्रभावित होकर अपने व्याकरण में 'पर' शब्द का प्रयोग न करते हुए सूत्रनिर्माण किया है—

'हि ल्व्यम्नि।' (शाकटायन० १.१.११२)

पाणिनीयव्याकरण के 'हे मपरे वा', 'नपरे नः', 'यवलपरे यवला वा' इन तीनों नियमों को यहां पाल्यकीर्त्ति ने एक ही सूत्र में बद्ध किया है और 'पर' शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

भोजराज, आचार्य हेमचन्द्रसूरि तथा आचार्य क्रमदीश्वर को पाल्यकीर्त्ति का 'पर' शब्द को हटा कर सूत्रनिर्माण करना कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ क्योंकि इस से सूत्र जटिल हो जाता है अतः उन्हों ने न्यास के मत का पूर्णरीत्या अनुसरण करते हुए अपने अपने व्याकरण के सूत्रों में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए 'पर' शब्द का प्रयोग आवश्यक समझा। तद्यथा—

'हे मनयवलपरे ते वा।' (सरस्वती० ७.४.११)

'मनयवलपरे हे।' (श्रीसिद्धहेम० १.३.१५)

'हे नमयवलपरे नमयवला वा।' (संक्षिप्त० सन्धिपाद, सूत्र १२०)

श्रीसिद्धमहेमचन्द्रशब्दानुशासन की आनन्दबोधिनी टीका पर तो न्यास की छाप स्पष्ट झलकती है—

---

१. 'हे मः' इति प्राच्यसंस्करणमुद्रितः पाठोऽपपाठः। दृश्यताम्—(५.७६)।

२. 'योऽकारः' इति मुद्रितपाठोऽपपाठः। दृश्यताम्—(५.७६)।

३. 'किमह्ल' इति मुद्रितपाठोऽसम्बद्धः। दृश्यताम्—(५.७६)।

"ननु 'मनयवले' इति सप्तम्यन्तपाठे परशब्दाभावे च मकारादौ परे यो हकारस्तस्मिन् इत्यर्थेनाऽभिप्रेतलक्ष्यसंसिद्धौ किमर्थं परग्रहणमिति चेदुच्यते—यद्यपि परशब्दाऽभावे विनिगमकाऽभावेन हकारपरे मकारादाविति विपरीतार्थविज्ञाने 'येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात्' इति न्यायेन अकारादिव्यवधाने 'किं मह्यति, किं नह्यति, किं याहि, किं वह्सि, किं लिह्यते' इत्यत्रैव सूत्रं प्रवर्त्तेत न तु किं ह्मलयतीत्यादौ, तथापि विपरीतार्थविज्ञाने पूर्वेणैव सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ इति न्यायेनेदं मकारादौ हपर एव इति नियमयति। तथा सति 'त्वं मन्यसे' इत्यादौ पूर्वेणापि न स्यादिति परग्रहणम्।" (श्रीसिद्धहेम० आनन्दबोधिनी १.३.१५)

न्यासकार का स्पष्ट आश्रय लेकर आनन्दबोधिनीकार का चिन्तन यद्यपि न्यासकार से भी एक कदम आगे पहुंचा है तथापि उस का औचित्य सन्देहास्पद है। यदि 'पर' का ग्रहण न कर 'हे मे वा' सूत्र बनाते हैं तो 'हकारपरक मकार के परे होने पर मकार को विकल्प से मकार हो' ऐसा विपरीत अर्थ ग्रहण कर भी लिया जाये तो यह अर्थ पूर्व से सिद्ध नहीं है क्योंकि पूर्वसूत्र से नित्य प्राप्ति होती थी जो अब इस विपरीतार्थ से वैकल्पिक होगी। अतः 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' का आश्रय लेकर इसे नियमार्थ नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार आनन्दबोधिनीकार इस अंश में भ्रान्त हैं, न्यासकार का चिन्तन ही युक्त प्रतीत होता है।

[२.५४] हे मपरे वा। (८.३.२६)
नपरे नः। (८.३.२७)
ङ्णोः कुक्टुक् शरि। (८.३.२८)
डः सि धुट्। (८.३.२९)
नश्च। (८.३.३०)
शि तुक्। (८.३.३१)
ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्। (८.३.३२)
मय उञो वो वा। (८.३.३३)

इस अष्टाध्यायीक्रम में यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (८.३.३२) सूत्र में 'नित्यम्' ग्रहण की क्या आवश्यकता है, क्योंकि इस से अगले सूत्र में 'वा' ग्रहण किया ही है, अतः 'वा'ग्रहण के सामर्थ्य से उस से पूर्व यह विधि अपने आप नित्य समझी जा सकती है? इस प्रश्न का अत्यन्त समुचित समाधान करते हुए यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

"अथ नित्यग्रहणं किमर्थम्, यावतोत्तरसूत्रे वाग्रहणादेव नित्यो विधिर्विज्ञास्यते? सत्यमेतत्; पूर्वसूत्रेऽपि नित्यत्वं विज्ञायेत। तस्मात् पूर्वसूत्रेषु हे मपरे वा इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्तते इति ज्ञापनार्थं नित्यग्रहणम्।" (न्यास ८.३.३२)

इसी का अनुसरण करते हुए ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिनी में लिखते हैं—

"नित्यग्रहणं विस्पष्टार्थम्। 'हे मपरे वा', 'मय उञो वो वा' इति च विकल्प-

द्वयस्य मध्ये पाठादेव नित्यत्वलाभात्। नन्विह नित्यग्रहणाभावे 'हे मपरे वा' इति वाग्रहणमुत्तरसूत्रेषु पञ्चस्वप्यनुवर्त्तते वा नवेति शङ्का स्यादिति चेत्सत्यम्, अत एव विस्पष्टार्थमित्युक्तं न तु व्यर्थमिति।" (सि० कौ० तत्त्व० पृष्ठ ७०)

प्रौढमनोरमाकार भी यही कहते हैं—

'नित्यग्रहणं विस्पष्टार्थम्। 'हे मपरे वा' इति 'मय उञो वो वा' इति च विकल्पद्वयस्य मध्ये पाठादेव नित्यत्वलाभात्।' (प्रौढम० पृष्ठ १३७)

बालमनोरमाकार भी इसी आशय को व्यक्त करते हैं—

'हे मपरे वेति वाग्रहणानुवृत्तिशङ्काव्युदासार्थं नित्यग्रहणम्।'

(सि० कौ० बालमनो० पृष्ठ ७०)

[२.५५] **इण्कोः** (८.३.५७) सूत्र पर काशिका में 'इण्कोरिति किम्? दास्यति' यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। परन्तु **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (१.१.६९) सूत्र द्वारा आक्षरसमाम्नायिक अण् अपने सवर्णों के ग्राहक होते हैं, इससे अण्प्रत्याहारान्तर्गत हकार आकार का भी ग्राहक होगा। तदित्थं 'दास्यति' में आकार को हकार का सवर्ण समझ कर उसके इणन्तर्गत होने से उससे परे सकार को **आदेशप्रत्यययोः** (८.३.५९) द्वारा सुतरां मूर्धन्य प्राप्त हो रहा है तो पुनः काशिकाकार का 'इण्कोरिति किम्?' इसके अन्तर्गत इसे प्रत्युदाहरणरूपेण प्रस्तुत करना कहां तक उचित कहा जा सकता है? इस शङ्का को उत्थापित कर इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"दास्यतीति। कथं पुनरिदं प्रत्युदाहरणमुपपद्यते, यावता **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** इत्यत्र हकारेण गृह्यमाणेन आकारो गृह्यत इति। अस्ति ह्याकारस्य हकारेण सह सवर्णत्वम्, तुल्यस्थानप्रयत्नत्वात्। स्थानमस्ति ह्यनयोस्तुल्यमिति 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः' इति। प्रयत्नोऽपि तुल्यः, 'विवृतं करणमूष्मणां स्वराणां चेति। तस्मात् सत्यपीण्कोरिति प्राप्नोत्येव मूर्धन्यः। **नाज्झलौ** इति सवर्णसञ्ज्ञाप्रतिषेधादिति चेद्?[1] नैष दोषः, यदयम् **वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप्** इत्यत्राकारादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यमकृत्वा निर्देशं करोति, ततोऽवसीयते—हकारो गृह्यमाणो नाकारं ग्राहयति, अन्यथा 'वयस्यासु' इति निर्देशं न कुर्यात्।" (न्यास ८.३.५७)

यहां पर न्यासकार का 'आकार और हकार की सवर्णसंज्ञा नहीं होती' इसके लिये 'वयस्यासु' आदि निर्देशों का आश्रयण पाणिनीयव्याकरण में ऐसा अपूर्व योगदान है जो उत्तरवर्त्ती समस्त वैयाकरणों के लिए प्रकाशस्तम्भ सिद्ध हुआ है। इसकी चर्चा महाभाष्य में कहीं नहीं पाई जाती। काशिकाकार ने भी इसका कोई उल्लेख नहीं किया। इसकी सर्वप्रथम उपलब्धि इस समय हमें न्यास में ही उपलब्ध होती है।

१. यहां पर 'सवर्णसञ्ज्ञाप्रतिषेधात्' इस न्यासकार के वचन में 'सवर्णसञ्ज्ञाया अप्रतिषेधात्' ऐसा विग्रह समझना चाहिये। अन्यथा अग्रिमग्रन्थ की संगति नहीं लग सकेगी। इस सवर्णसंज्ञा का अप्रतिषेध **अकः सवर्णे दीर्घः** (६.१.१०१) सूत्र पर काशिका और न्यास दोनों में स्पष्ट किया जा चुका है।

हरदत्तमिश्र इसी न्यासोक्त मार्ग का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"दास्यतीति। ननु च नाज्झलौ इत्यत्राऽगृहीतसवर्णानामचां ग्रहणम्—इत्यसकृदुक्तम्, ततश्च यथा 'कुमारी शेते' इत्यत्र ईकारशकारयोः सावर्ण्यमप्रतिषिद्धं तथा आकारहकारयोरपि, ततः किम्? हकारेणेणा आकारस्य ग्रहणात् षत्वप्रसङ्गः? नैष दोषः, हकारो विवृतः, आकारो विवृततरः। एवं हि पठन्ति—विवृतकरणाः स्वराः, तेभ्य ए ओ विवृततरौ, ताभ्याम् ऐ औ, ताभ्यामप्याकारः, संवृतोऽकार इति। एवं च कृत्वा—'इष्टकासु', 'वयस्यासु' इत्यादयो निर्देशा उपपद्यन्ते।"

(पदमञ्जरी ८.३.५७)

इस प्रकार हरदत्तमिश्र ने न्यासोक्त मार्ग के अवलम्बन के साथ-साथ प्रयत्नभेद दर्शा कर मार्ग को और भी परिष्कृत कर दिया है।

माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य सायण भी इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

"भवितासि—। तासस्त्योर्लोपः—सकारस्य सकारादौ प्रत्यय इति शेषः। अत्र नाज्झलौ इत्यज्झलोर्मिथः सावर्ण्यनिषेधेऽपवादे प्रवृत्ते पश्चात्तद्विषयपरिहारेण सवर्णसञ्ज्ञाप्रवृत्तौ तदुपजीव्य प्रवर्त्तमानस्य ग्रहणकशास्त्रस्य नाज्झलावित्यत्राऽनिष्पन्नत्वादज्ग्रहणेन पठितानामेवाचां ग्रहणादन्येषां हल्भिः सवर्णसञ्ज्ञाया अनिषेधाद्, आकारस्य सवर्णेन हकारेण ग्रहणादिण्त्वाद् आदेशप्रत्यययोः इतीण्कोश्च परस्यादेशरूपस्य प्रत्ययावयवस्य च सकारस्य विधीयमानं षत्वं कस्मान्नेति चेद्, न, हकारो विवृतः, आकारो विवृततरः। एवं हि पठन्ति—ए ओ विवृततरौ, ताभ्यामप्याकार इति। 'वयस्यासु मूर्ध्नः' इत्यादिनिर्देशात्।"

(मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १६)

भट्टोजिदीक्षित ने न्यासप्रदर्शित मार्ग का आश्रय कर उस से भी आगे एक नया पग बढ़ाते हुए नाज्झलौ (१.१.१०) सूत्र में आकार का भी प्रश्लेष कर लिया। वे सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'नाज्झलौ (१.१.१०)। आकारसहितोऽच् आच्, स च हल् चेतौ मिथः सवर्णौ न स्तः।'

(सि० कौ० पृष्ठ १४)

इस स्थल की व्याख्या करते हुए प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

'अत्र च कालसमयवेलासु० इत्यादिनिर्देशाः प्रश्लेषे लिङ्गम्।'

सिद्धान्तकौमुदी में वे पुनः आगे लिखते हैं—

'नाज्झलाविति निषेधो यद्यप्याक्षरसमाम्नायिकानामेव तथापि हकारस्याऽऽकारो न सवर्णः, तत्राऽऽकारस्यापि प्रश्लिष्टत्वात्। तेन विश्वपाभिरित्यत्र हो ढः इति ढत्वं न भवति।'[1]

(सि० कौ० पृष्ठ १५)

१. यद्यपि हो ढः (८.२.३१) इत्यस्य संयोगान्तस्य लोपः (८.२.२३) इति दृष्ट्या असिद्धत्वेन संयोगान्तलोप एवापादनीयः, तथापि आपाद्यमानेऽर्थे न्यायस्यानादराद् हकारेणाकारग्रहणे यद्यत् प्राप्नोति तस्य सर्वस्योपलक्षणत्वाच्चास्य न दोषः।

भट्टोजिदीक्षित के नाज्झलौ (१.१.१०) सूत्र में दीर्घ आकार के प्रश्लेष की क्लिष्ट और केनाप्यनुपदिष्ट कल्पना की अपेक्षा काल-समय-वेलासु तुमुन्, बधस्थासु मूर्ध्नः० इत्यादिनिर्देशों से न्यासकारप्रदर्शित 'हकारो गृह्यमाणो नाकारं[1] ग्राहयति' ऐसा सामान्यतः समझना अधिक सरल व उपादेय है, क्योंकि दीर्घ आकार के प्रश्लेष के बावजूद भी प्लुत आकार में अनिष्ट की प्राप्ति पूर्ववत् बनी रहती है अतः उसका भी प्रश्लेष मानना पड़ेगा।[2] जैसाकि सभापतिमिश्र अपनी सिद्धान्तकौमुदी की लक्ष्मीव्याख्या में लिखते हैं—

"इदमुपलक्षणं प्लुताकारप्रश्लेषस्यापि, अन्यथा प्लुताकारहकारयोः सवर्णसंज्ञायाम् 'हे यियासो' इत्यादौ गुरोरनृतः० (८.२.८६) इत्याकारस्य प्लुतत्वे इण्पदबोध्य इकारेऽणुदित्सूत्रप्रवृत्त्या हकारसवर्णप्लुताकारस्यापि इण्ग्रहणेन ग्रहणे आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९) इति षत्वापत्तिः। तत्र षत्वस्येष्टत्वं तु न, ईषद्विवृतमूष्मणामिति भाष्यमते हकारस्य सकलाकारैः सावर्ण्याभावेन षत्वाऽप्राप्तेः।" (सि० कौ० लक्ष्मी० पृष्ठ ५६)

इसी प्रकार हरदत्तमिश्र तथा माधव द्वारा की गई प्रयत्नभेदपरक व्याख्या से दीर्घ में सावर्ण्यनिषेध उपपन्न होने पर भी प्लुत में सावर्ण्य-प्रसक्ति से अनिष्ट की प्राप्ति पूर्ववत् बनी रहती है, अतः न्यासकार का उपर्युक्त सामान्यनिर्देश ही युक्त प्रतीत होता है।

इत्थम् इस विषय में पाणिनीय वैयाकरणों को पर्याप्त चिन्तनसामग्री प्रदान करने से न्यासकार का अंशदान सुविख्यात है।

[२.५६] नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८.३.५८) सूत्र पर न्यासकार शर्व्यवधान के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

ढत्वमुपलक्षणम् 'पृथगायुः' इत्यादौ झयो होऽन्यतरस्याम् (८.४.६२) इति आकारस्य स्थाने घत्वस्यापि—इत्याहुः।

१. यहां पर 'न+आकारम्' ऐसा छेद न कर 'न+अकारम्' ऐसा सामान्य छेद ही करना चाहिये।

२. यही बात दीक्षित स्वयं प्रौढमनोरमा में कहते हैं—
'न चैवमपि 'यिया३सो' इत्यादौ 'गुरोरनृतः०' इति प्लुतादाकारात्परस्य सनः सस्य षत्वं स्यादेवेति वाच्यम्। आश्च आश्चेति द्वन्द्वे सवर्णदीर्घेण दीर्घात्परत्र प्लुतोऽपि प्रश्लिष्यत इति व्याख्यानात्।' (प्रौढम० पृष्ठ ३८)
महामहोपाध्याय शिवदत्त दाधिमथ सिद्धान्तकौमुदी की यहां एक अपनी टिप्पण में यही बात लिखते हैं—
'कालसमयवेलासु०, हे यिया३सो! इति सूत्रभाष्यप्रयोगाभ्यां दीर्घप्लुतावाकारौ बोध्यौ।' (सि० कौ० शिवदत्तटिप्पण, पृष्ठ ४)
यहां उन्होंने 'हे यिया३सो!' को भाष्यप्रयोग माना है जो भाष्य में अनुपलब्ध होने से चिन्त्य है।

'सकारग्रहण एव कर्त्तव्ये शरिति प्रत्याहारग्रहणं वैचित्र्यार्थम् । न हि शकार-षकाराभ्यां निमित्तकार्यिणोर्व्यवधानमस्ति ।' (न्यास ८.३.५८)

तात्पर्य यह है कि शर्व्यवाय में सकार के सिवाय अन्य किसी वर्ण (श्, ष्) के व्यवाय का उदाहरण कहीं उपलब्ध नहीं होता, अतः शर् के स्थान पर सूत्र में स् का ही ग्रहण करना उचित है। न्यासकार के इस विचार का अनुमोदन अनेक मूर्धन्य वैयाकरणों ने किया है। निदर्शनार्थ यथा—

(क) हरदत्तमिश्र इसी स्थल पर लिखते हैं—

'सकारग्रहणे कर्त्तव्ये शरिति प्रत्याहारग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् ।'

(पदमञ्जरी ८.३.५८)

(ख) भट्टोजिदीक्षित इसी सूत्र पर प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

'सकारग्रहणेन सिद्धे शर्ग्रहणस्य प्रयोजनं चिन्त्यम् ।' (प्रौढम० पृष्ठ ३८३)

(ग) नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में लिखते हैं—

'अत्र सग्रहणेनैव सिद्धे शरिति प्रत्याहारग्रहणे फलं चिन्त्यम् ।'

(बृ० श० शे० पृष्ठ ६६५)

न्यासकारोक्त इस व्याख्यान के आलोक में गत एक शताब्दी से चला आ रहा तत्त्वबोधिनी का एक भ्रष्ट पाठ भी शुद्ध किया जा सकता है। तथाहि—

सि० कौ० में नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि सूत्र पर 'पिपठीष्षु, पिपठीःषु' उदाहरणों की सिद्धि करते हुए ज्ञानेन्द्रसरस्वती अपनी सुप्रसिद्ध व्याख्या तत्त्वबोधिनी में लिखते हैं—

"सनः रुत्वविसर्गयोः कृतयोः वा शरि इति विकल्पात् पक्षे सकारस्तेन शरा व्यवाये सुपः सस्य षत्वम् । पूर्वस्य ष्टुत्वम्, न तु आदेशप्रत्यययोरिति षः, अपदान्तस्येति निषेधादिति भावः । एवं स्थिते शर्ग्रहणेन न प्रयोजनं किंतु नुम्विसर्जनीयव्यवायेऽपि इत्येव सूत्रं युक्तमित्येके ।" (सि० कौ० तत्त्व पृष्ठ २२४)

यहां पर 'एवं स्थिते शर्ग्रहणेन न प्रयोजनं किंतु नुम्विसर्जनीयव्यवायेऽपि इत्येव सूत्रं युक्तमित्येके' यह पाठ असंगत होने से भ्रष्ट है। यदि शर्ग्रहण से प्रयोजन नहीं तो नुम्विसर्जनीयव्यवायेऽपि सूत्र बना कर भी कैसे काम चलेगा ? बीच में सकार का जो व्यवधान पड़ेगा उसका क्या बनेगा ? अतः यहां पर 'नुम्विसर्जनीयसव्यवायेऽपि इत्येव सूत्रं युक्तमित्येके' ऐसा तत्त्वबोधिनी का पाठ होना चाहिए। तत्त्वबोधिनीकार का अभिप्राय भी न्यासकारवत् समझना चाहिये। तत्त्वबोधिनीकार कहते हैं कि जब सकार का ही उदाहरण मिलता है तो शर्ग्रहण का क्या प्रयोजन ? सीधा 'नुम्विसर्जनीयस-व्यवायेऽपि' सूत्र ही बना लेना चाहिये—ऐसा कुछ लोगों का कथन है।

नोट—ध्यान रहे कि न्यासप्रदर्शित यह मत वार्तिककार की अपेक्षा न करने वाले सूत्रकार के भक्तों का ही है। यदि वार्तिककार का ध्यान रखा जाये तो यहां 'नुम्शर्व्यवायेऽपि' इतने मात्र से ही काम चल सकता है, क्योंकि वार्तिककार ने अयोगवाहों (विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः) का पाठ शर्-

प्रत्याहार के अन्तर्गत स्वीकार किया है[1] अतः शर्ग्रहण से ही विसर्गव्यवधान में सूत्र-प्रवृत्ति हो जायेगी। इसी विचार को लेकर जैनेन्द्रव्याकरण में विसर्जनीय का ग्रहण न कर केवल 'नुम्शर्व्यवायेऽपि' (जैनेन्द्र० ५.४.३८) इतना मात्र सूत्र बनाया गया है। इस विषय में सभापतिशर्मोपाध्याय ने अत्यन्त उचित लिखा है—

"वस्तुतस्तु 'नुम्शर्व्यवाये' इति न्यासेनापि विसर्गस्यायोगवाहे पाठाद् अयोगवाहस्य विसर्गस्य शर्षु पाठात् शर्व्यवधानमादाय षत्वे सिद्धे सूत्रे विसर्जनीयग्रहणं व्यर्थमेव। तदुक्तं हयवरट्सूत्रे भाष्ये—सर्पिःषु, धनुःषु। शर्व्यवाये इति षत्वं सिद्धम्भवतीति नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति।"

(सि० कौ० लक्ष्मी० पृष्ठ ५९२)

[२.५७] वनं पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-शारिका-कोटराऽग्रेभ्यः (८.४.४) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

"पुरगादिभ्यो वननकारस्यैवेति विपरीतनियमो नाऽऽशङ्कनीयः, पुरगादीनां कृतदीर्घाणां निर्देशात्। स ह्येवमर्थः क्रियते—यत्रैषां दीर्घत्वं तत्र नियमो यथा स्यादन्यत्र मा भूदिति। अन्यथा वनगिर्योरित्यनेनैव दीर्घत्वे सिद्धे दीर्घोच्चारणं गौरवफलमेव केवलं स्यात्। तस्माद्यत्रैषां दीर्घत्वं तत्रैव नियमः। अतो व्यवच्छेद्याभावान्न भवति विपरीतनियमाशङ्का; न हि वनादन्यस्मिन्नमीषां पूर्वपदभूतानां दीर्घत्वमस्ति।"

(न्यास ८.४.४)

न्यासकार के इस युक्तियुक्त विवेचन का अनेक मूर्धन्य वैयाकरणों ने अनुसरण व अनुकरण किया है। तद्यथा—

(१) हरदत्तमिश्र इसी स्थान पर पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'एतेभ्यो वननकारस्यैव—इत्ययं नियमो न भवति, दीर्घोच्चारणात्। तद्धि दीर्घान्तेष्वयं नियमो भवेदिति। न च वनादन्यत्रोत्तरपदे दीर्घान्तत्वमेषां सम्भवति, यत्रास्य णत्वं दीर्घान्तेषु व्यावर्त्येत।' (पदमञ्जरी ८.४.४)

(२) ज्ञानेन्द्रसरस्वती इसी सूत्र पर तत्त्वबोधिनी में लिखते हैं—

'एभ्यो वनस्यैव णत्वं नाऽन्येषामिति विपरीतनियमशङ्का तु न भवति, वनादन्यस्मिन्नुत्तरपदे पुरगादीनां दीर्घान्तत्वाऽसम्भवात्।'

(सि० कौ० तत्त्व०, पू०, पृष्ठ ५६१)

(३) विट्ठल प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादव्याख्या में यही कहते हैं—

'कृतदीर्घाणां निर्देशो यत्रैव दीर्घत्वं तत्रैव नियमो यथा स्यात्। ततो नास्ति विपरीतनियमाशङ्का। न हि वनादन्यत्रैषां पूर्वपदभूतानां दीर्घोऽस्ति।'

(प्रसाद, पू०, पृष्ठ ६७०)

---

१. 'हयवरट्' सूत्र पर भाष्यस्थ वार्त्तिकपाठ—
"(१) अयोगवाहानामट्सु णत्वम्।
(२) शर्षु जश्भावषत्वे।

(४) नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

'अत एव विपरीतनियमो न। अन्योत्तरपदे एषां दीर्घान्तत्वाऽसम्भवात्।'[1]

(ल० श० शे० उ० पृष्ठ १७५)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी न्यासकार के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। निदर्शनार्थ यथा—

(५) पाल्यकीर्त्ति अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'पुरगादीनां दीर्घोच्चारणादेतेभ्य एव वणमिति नियमः। न हि दीर्घान्तेभ्य एतेभ्योऽन्यदुत्तरपदं सम्भवति, कोटराञ्जनादीनां वनगिराविति दीर्घविधानात्।'

(अमोघा० २.२.१६०)

(६) अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में लिखते हैं—

'अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्मान्न नियमः। एवं सति पुरगादिनियमः स्यात्। वनं त्वनियतं तस्य खौ पूर्वेणैव णत्वं सिद्धमित्युत्तरसूत्रे खावपि प्रादिभ्यः परं वनं विनम्यत इत्यपिशब्दोऽनर्थकः स्यात्। ज्ञायते पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यत इति नियमः। पुरगादीनां कृतदीत्वानाम् उच्चारणं किम्? यत्रैव दीत्वं तत्रैव णत्वं यथा स्यात्।' (जैनेन्द्रमहा० ५.४.८८)

[२.५८] विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः (८.४.६) सूत्र पर काशिका में निम्न श्लोक पाया जाता है—

फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः।
ओषध्यः फलपाकान्ता लता गुल्माश्च वीरुधः॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"यद्यप्यनेन श्लोकेन वृक्षवनस्पत्योर्भेदो दर्शितः, तथापि तयोरिहाऽभेदेन ग्रहणं वेदितव्यम्। अभेदग्रहणे तु तयोर्भाष्यकारवचनमेव लिङ्गम्। तथाहि—लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने इत्यत्र भाष्यकारेणोक्तम्—'व्यक्तिवचने इति किम्? शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तेषां वनं शिरीषवनम्।' यद्यत्र व्यक्तिवचने इति नोच्येत, तदा वनस्पतित्वम् अतिदिश्येत, तत्र विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः इति णत्वं प्रसज्येत। यदि चेह वृक्षवनस्पत्योरभेदेनं ग्रहणं न स्यात् ततो वनस्पतित्वातिदेशाद् विभाषा णत्वप्रसञ्जनञ्च नोपपद्यते, शिरीषाणामवनस्पतित्वात्।" (न्यास ८.४.६)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि यदि यहां पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार वृक्ष और वनस्पति में भेद माना जाये तो 'शिरीष' को वृक्ष ही मानना पड़ेगा वनस्पति नहीं, क्योंकि इस के पुष्प और फल दोनों हुआ करते हैं केवल फल नहीं। तब इस स्थिति में

---

१. इस स्थल की व्याख्या करते हुए भैरवमिश्र भी लिखते हैं—

'अत एव=कृतदीर्घनिर्देशादेव। विपरीतनियमो नेति। एभ्यः परस्य यदि णत्वं भवति तर्हि वनशब्दस्यैवेति विपरीतनियमो नेत्यर्थः। विपरीतनियमपक्षे सारिकाणामित्यत्र णत्वव्यावृत्तिः फलं स्यात्।'

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१.२.५१) सूत्र पर भाष्यकार का 'व्यक्तिवचने इति किम् ? शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तस्य ग्रामस्य वनम् शिरीषवनम्। किं च स्यात् ? **विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः** इति णत्वं प्रसज्येत।' यह प्रत्युदाहरण उपपन्न न हो सकेगा। क्योंकि जब शिरीष वनस्पति ही नहीं तो उस से परे वन के नकार को वैकल्पिक णत्व स्वतः ही प्राप्त न होगा पुनः इस का भय दिखा कर भाष्यकार का उसे प्रत्युदाहरण रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं ठहराया जा सकता। अतः इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि भाष्यकार यहां वृक्ष और वनस्पति में भेद नहीं मानते वे दोनों को ही वनस्पति मानते हैं। अतः उनके अनुसार यहां वैकल्पिक णत्व प्राप्त था जो अब 'व्यक्तिवचने' कहने से अतिदिष्ट नहीं हुआ।

न्यासकार के इस निष्कर्ष को उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने खूब अपनाया है। सब मूर्धन्य वैयाकरण न्यासकार के इस व्याख्यान से सहमत हैं। निदर्शनार्थं यथा—

(क) आचार्य कैयट प्रदीप में लिखते हैं—

'फली वनस्पतिर्ज्ञेय इत्ययं भेदो णत्वविधौ नाश्रित इति फलाभावेऽपि[1] शिरीषस्यास्ति वनस्पतित्वम्।' (प्रदीप १.२.५१)

(ख) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में यही कहते हैं—

"यद्यपि वृक्षवनस्पत्योर्भेदः स्मर्यत इति शङ्कां परिहरति—इहाभेदेन ग्रहणं द्रष्टव्यमिति। अत्र च **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** इत्यत्र भाष्यकारवचनं लिङ्गम्। उक्तं हि तत्र—व्यक्तिवचने इति किम्, शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तस्य वनं शिरीषवनमिति—वनस्पतित्वं नातिदिश्यते। यद्यतिदिश्येत **विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः** इति णत्वं प्रसज्येत। यदि चोक्तो भेद इहाश्रितः स्यात्, शिरीषाणामवनस्पतित्वाद् वनस्पतित्वणत्वयोः प्रसञ्जनं नोपपद्येत।" (पदमञ्जरी ८.४.६)

(ग) भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में न्यासकार की तरह यही कहते हैं—

"ननु यस्य फलमेव न पुष्पं स वनस्पतिः। **वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिः** इत्यमरकोशात्। स च उदुम्बरादिः, शिरीषस्तु न तथा। तस्य पुष्पफलोभयसत्त्वात् तत्कथमिव णत्वमिति चेत् ? सत्यम्। इह वनस्पतिशब्देन वृक्षमात्रमुपलक्ष्यते। अत्र च लिङ्गं लुपि युक्तवदितिसूत्रे 'व्यक्तिवचने इति किम् ? शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषास्तस्य वनं शिरीषवनम्। वनस्पतित्वमतिदिश्येत ततश्च णत्वं स्यादिति भाष्यकारोक्तिः।" (प्रौढम० द्वितीय भाग, पृष्ठ ११६)

(घ) तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी यही कहते हैं—

"ननु **वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिः** इत्यमरकोशाद् यस्य पुष्पं विनैव फलप्रादुर्भावः स वनस्पतिः, स चोदुम्बरादिः। शिरीषस्तु न तथा, तस्य पुष्पफलोभयसत्त्वाद् अतो णत्वमिह कथमिति चेत् ? अत्राहुः—वनस्पतिशब्देनात्र वृक्षमात्रमुपलक्ष्यते। अत्र च **लुपि युक्तवद्०** इति सूत्रस्थं भाष्यं लिङ्गम्। तत्र हि व्यक्तिवचने किम् ? शिरीषा-

१. फलाभावेऽपीत्यस्यापुष्पफलाभावेऽपीत्यर्थः। यद्वा शिम्बीनां फलत्वाभावं मन्यते एवं च वनस्पतिशब्देन वृक्ष एवोच्यत इति भावः। (प्रदीपोद्योत १.२.५१)

णामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तेषां वनं शिरीषवनमित्यत्र णत्वे कर्त्तव्ये वनस्पतित्वमप्यतिदिश्येतेत्युक्तम्। तच्च शिरीषाणां वनस्पतित्वे सङ्गच्छते नान्यथेति दिक्।"

(सि० कौ० पूर्वार्ध, तत्त्व०, पृष्ठ ५६३)

(ङ) नागेशभट्ट शेखरद्वय में यही भाव व्यक्त करते हैं—

"पुष्पैर्विना फलवान् वनस्पतिः। वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिरित्यमरात्। उभयेऽपि वृक्षत्वेन व्यवहार्याः। इह तु वनस्पतिग्रहणे न वृक्षमात्रग्रहणम्। तद् ध्वनयन्नुदाहरति शिरीषवणमिति। शिरीषो हि पुष्पफलोभयवान्। अत एव लुपि युक्तवदिति सूत्रे व्यक्तिवचने इति किम्? शिरीषाणाम् अदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तस्य वनं शिरीषवनम्। वनस्पतित्वम् अतिदिश्येत। ततश्च णत्वं स्यादिति भाष्यं सङ्गच्छते।"

(बृ० श० शे० पृष्ठ १२१४)

"वनस्पतिरत्र वृक्षमात्रम्, व्याख्यानात्। ध्वनितं चेदं 'लुपि युक्तवद्०' इति सूत्रे भाष्ये।"

(ल० श० शे० पृष्ठ ५६३)

(च) बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित भी यही कहते हैं—

'यद्यपि यः पुष्पैर्विना फलति स एव उदुम्बरादिर्वनस्पतिः, वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिरित्युक्तेः। शिरीषवृक्षश्चाऽयं पुष्पफलवानेव न वनस्पतिस्तथापि वनस्पतिशब्देनात्र वृक्षसामान्यं विवक्षितम्। अत एव 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इति सूत्रे भाष्ये 'शिरीषवनम्' इत्यत्र शिरीषे वनस्पतित्वं व्यवहृतमिति दिक्।'

(सि० कौ० पूर्वार्ध बालमनो० पृष्ठ ५६३)

नोट—पाणिनीयेतर तन्त्रकारों ने पाणिनि के 'वनस्पति' शब्द को हटा कर उस के स्थान पर अपने अपने व्याकरणों के सूत्रपाठों में 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग किया है, इस से उन को यहां व्याख्यान का आश्रय लेना नहीं पड़ता।[1] तद्यथा—

---

१. पाणिनीयेतर तन्त्रकारों में देवनन्दी ही एक ऐसे वैयाकरण हैं जिन के सूत्रपाठ में यहां पर 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग न हो कर पाणिनिवत् 'वनस्पति' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, सम्भवतः यह उनकी प्राचीनता का ही परिचायक है। जैनेन्द्र-व्याकरण का यहां का सूत्र है—विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः (जैनेन्द्र० ५.४.९०)। इस व्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी यहां पर लिखते हैं—

"इह वनस्पतिग्रहणे वृक्षाणामपि ग्रहणम्। यतः—फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः। पुष्पफले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति ये ते वृक्षाः। तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव। वृक्षस्तु नावश्यं वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम्। एतेभ्य इति किम्? शिरीषवनम्। शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः, तस्य वनम्। वरणादेः (जैनेन्द्र० ३.२.६२) इत्युप्। उपि कृते 'युक्तवदुसि लिङ्गसङ्ख्ये' (जैनेन्द्र० १.१.६८) इत्यनेन लिङ्गसंख्ययोरेवातिदेशो न वनस्पतित्वस्येति णत्वाभावः।"

(जैनेन्द्रमहा० ५.४.९०)

यहां पर न्यास का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

चान्द्र० —वौषधिवृक्षाद् द्वित्र्यचोऽनिरिकादेः (६.४.१०५)
शाकटायन०—द्वित्र्यज्भ्योऽनिरिकादिभ्यो वृक्षौषधिभ्यो वा (२.२.१६२)
सरस्वती०—अनिरिकातिमिरचीरिकाकर्मारेभ्यो द्वित्र्यज्भ्य ओषधिवृक्षेभ्यो वा (७.४.११३)
श्रीसिद्धहेम०—द्वित्रिस्वरौषधि-वृक्षेभ्यो नवाऽनिरिकादिभ्यः (२.३.६७)
संक्षिप्त० —इरिकाभद्रिकातिमिरवर्जं द्वित्र्यज्वृक्षौषध्योर्वा वनस्य (सूत्र३२३)

[२.५६] विभाषौषधि-वनस्पतिभ्यः (८.४.६) सूत्र पर काशिकागत फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः आदि श्लोक के वृक्षाः पुष्पफलोपगाः अंश की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'न च ये पुष्पफले उपगच्छन्ति त एव वृक्षाः, किं तर्हि ? येऽन्यतरत् पुष्पं फलं चोपगच्छन्ति तेऽपि वृक्षा एव। तत्र वेतसादयः पुष्पमेवोपगच्छन्ति, प्लक्षादयः फलमेव, आम्रादयस्तूभयम्। तत्र यो वनस्पतिः स नियतं वृक्षो भवति, यस्तु वृक्षः स तु नाऽवश्यं वनस्पतिः।' (न्यास ८.४.६)

न्यास की इस व्याख्या के पारिप्रेक्ष्य में हरदत्तमिश्र अपनी पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"फलमेव यस्य न पुष्पं स वनस्पतिः—उदुम्बरादिः, पुष्पोपगमा वेतसादयः, फलोपगा उदुम्बरादयः, उभयोपगा आम्रादयश्च वृक्षाः। अन्तात्यन्तःदिसूत्रे 'डोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति वचनाड् डः।" (पदमञ्जरी ८.४.६)

इसी न्यासोक्त व्याख्या का आश्रय लेते हुए आचार्य अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में लिखते हैं—

'पुष्पफले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति ये ते वृक्षाः। तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव, वृक्षस्तु नाऽवश्यं वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम्।' (जैनेन्द्रमहा० ५.४.६०)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन के शब्दार्णवन्यास में यही भाव व्यक्त करते हैं—

'पुष्पं विना फलमेव यस्य स प्लक्षादिः फली वनस्पतिः, पुष्पं च फलं च तदुपगच्छति 'नाम्नो गमः' (५.३.१३१) इति डे पुष्पफलोपगा इति, न चोभयमेव ये उपगच्छन्ति त एव वृक्षाः, किं तर्हि ? येऽप्यन्यतरत् पुष्पं फलं वा उपगच्छन्ति तेऽपि वृक्षा एव, तत्र वेतसादयः पुष्पमेव, प्लक्षादयः फलमेव, आम्रादयस्तूभयमप्युपगच्छन्ति, तत्र वृक्षो वनस्पतित्वमवकेशित्वं[1] च न व्यभिचरति, वनस्पतिरवकेशी च वृक्षत्वं व्यभिचरतः।' (हैमशब्दार्णवन्यास २.३.६७)

न्याससमुद्धार में इस स्थल पर मनीषिकनकप्रभसूरि भी यही कहते हैं—

---

१. फलवन्ध्यस्त्ववकेशी—इत्यभिधानचिन्तामणौ हेमचन्द्रः, वन्ध्योऽफलोऽवकेशी—इत्यमरश्च।

"पुष्पं विना फलमेव यस्य स प्लक्षादिः फली। पुष्पं च फलं च उपगच्छन्ति—पुष्पफलोपगाः 'नाम्नो गमः' (५.१.१३१) इति डे वृक्षाः पुष्पफलोपगा इति। न चोभयमेव उपगच्छन्ति त एव वृक्षाः किं तर्हि ? येऽप्यन्यतरत् पुष्पं फलं वा उपगच्छन्ति तेऽपि वृक्षा एव, तत्र वेतसादयः पुष्पमेव, प्लक्षादयः फलमेव, आम्रादयस्तूभयमप्युपगच्छन्ति, तत्र वृक्षो वनस्पतित्वमवकेशित्वं च न व्यभिचरति। वनस्पतिरवकेशी तु वृक्षत्वं व्यभिचरतः, यतः फली वनस्पतिर्ज्ञेयः फलवन्ध्यस्त्ववकेशीति, अत एव वनस्पत्यादिग्रहणमकृत्वा वृक्षग्रहणं कृतं तदन्तर्गतत्वाद् वनस्पतित्वादेरिति।"

(श्रीसिद्धहेमशब्दार्णवन्याससमुद्धार पृष्ठ २१४)

व्याकरणकारिकाप्रकाश में सुदर्शनदेव भी यही कहते हैं—

'वृक्षाः पुष्पफलोपगाः। पुष्पं फलं चोपगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ते पुष्पफलोपगाः। ये पुष्पवन्तः फलवन्तश्च भवन्ति ते वृक्षा वेदितव्याः। ये केवलं पुष्पमेवोपगच्छन्ति तेऽपि वृक्षा एव। तद्यथा वेतसादयः। आम्रादस्तूभयमुपगच्छन्ति, तस्मात्ते वृक्षाः।'

(व्याकरणकारिकाप्रकाश पृष्ठ १२६)

[२.६०] विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः (८.४.६) सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार सूत्रगत बहुवचन का प्रयोजन बतलाते हुए लिखते हैं—

'बहुवचननिर्देशस्तु स्वरूपनिरासार्थः।' (न्यास ८.४.६)

तात्पर्य यह है कि सूत्रगत बहुवचन के कारण ओषधिशब्द या वनस्पतिशब्द का यहां ग्रहण नहीं होता किन्तु उनके विशेषों का ही ग्रहण अभीष्ट है।

न्यासकार की इसी बात को आचार्य पाल्यकीर्ति अमोघावृत्ति में कहते हैं—

'विशेषग्रहणमिहेष्यते। इह न भवति—द्रुमवनम्, वृक्षवनम्।'

(अमोघा० २.२.१६२)

जैनेन्द्रव्याकरण के व्याख्याता आचार्य अभयनन्दी भी अपनी महावृत्ति में न्यास का अनुसरण करते हैं—

'बहुत्वनिर्देशः पर्यायार्थः।' (जैनेन्द्रमहा० ५.४.६०)

न्यासकार से पूर्व चान्द्रव्याकरण में इस पाणिनिसूत्रगत बहुवचन को निरुपयोगी समझ कर 'वौषधिवृक्षाद् द्वित्र्यचोऽनिरिकादेः' (चान्द्र ६.४.१०५) इस प्रकार नया सूत्र बना कर एकवचन का प्रयोग किया गया था। अतः न्यासकार को चान्द्रप्रभाव मिटाने के लिये यहां सूत्रगत बहुवचन के प्रयोग का प्रयोजन बतलाना पड़ा। न्यासकार के इस समाधान के बाद किसी पाणिनीयेतरतन्त्रप्रणेता ने चान्द्रवत् पुनः एकवचनप्रयोग का साहस नहीं किया। तद्यथा—

शाकटायन—'द्वित्र्यज्भ्योऽनिरिकादिभ्यो वृक्षौषधिभ्यो वा'

(शाकटायन० २.२.१६२)

भोजराज—'अनिरिकातिमिरचीरिकाकर्मरेभ्यो द्वित्र्यज्भ्य ओषधिवृक्षेभ्यो वा।'

(सरस्वती० ७.४.११३)

हेमचन्द्र —'द्वित्रिस्वरौषधिवृक्षेभ्यो न वाऽनिरिकादिभ्यः'
(श्रीसिद्धहेम० २.३.६७)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि इसी न्यासोक्त बात को बृहद्वृत्ति में इरिकादियों के निषेध से द्योतित करते हैं—

'इरिकादिविशेषवर्जनाद् विशेषाणमेवेह विधिः, तेनेह न भवति—द्रुमवनम्, वृक्षवनम् ।' (बृहद्वृत्ति २.३.६७)

पुनः वे स्वोपज्ञ शब्दमहार्णवन्यास में भी इसी का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

'इरिकादिविशेषवर्जनादिति । अनिरिकादीत्यत्र नञः पर्युदासत्वेन सदृशग्रहणाद् इरिकादिविशेषसदृशान्यविशेषे एव विधिर्न सामान्य इत्यर्थः । तेनेत्यनेन तत्फलमाह—द्रुमाणां वनम्, वृक्षाणां वनमिति विग्रहः—।' (श्रीसिद्धहेम० श० न्यास २.३.६७)

यहां यह विशेष स्मर्त्तव्य है कि श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन के सूत्र में ही 'अनिरिकादिभ्यः' का प्रतिपादन है अतः उसके व्याख्याकार ऐसा कह सकते हैं परन्तु पाणिनीयतन्त्र के व्याख्याकार ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि पाणिनीयव्याकरण में इरिकादियों का निषेध वार्त्तिक में प्रतिपादित किया गया है[1] न कि सूत्रपाठ में । अतः पाणिनीयतन्त्र में केवल न्यासोक्त समाधान ही सम्भव हो सकता है दूसरा नहीं ।

[२.६१[आनि लोट् (८.४.१६) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'आनीत्याकारोच्चारणं किमर्थम् ? यदाऽऽडागमो न भवति तदा शुद्धस्य नीशब्दस्य मा भूदित्येवमर्थम् । ननु च नित्यमेवाऽऽडागमेन भवितव्यम्, न हि तद्विधौ विकल्पोऽस्ति ? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—अनित्यमागमशासनमिति । तेन अपि शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः इत्यादयः प्रयोगाः सिद्धा भवन्तीति ।"[2]
(न्यास ८.४.१६)

इदानींयावदुपलब्ध संस्कृतव्याकरणवाङ्मय में न्यासकार से प्राचीन किसी अन्य वैयाकरण ने इस सूत्र से इस परिभाषा का ज्ञापन नहीं कराया है । सम्भवतः न्यासकार ही प्रथम वैयाकरण हैं जो इस सूत्र से इस परिभाषा का ज्ञापन कराते हैं। न्यासकार ने इस परिभाषा का ज्ञापन युवोरनाकौ (७.१.१) सूत्र की व्याख्या करते समय घोर्लोपो लेटि वा (७.३.७०) में 'वा' ग्रहण से भी कराया है।[3] उत्तरवर्त्ती प्रायः सब वैयाकरण इस

---

१. इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा० ८.४.६) ।

२. न्यासकार के राजशाही तथा प्राच्य दोनों संस्करणों में यहां का पाठ अशुद्ध मुद्रित हुआ है । यहां शुद्ध पाठ दिया गया है । इस का विवेचन ५.९२ पर देखें ।

३. "अनित्यता पुनरागमशासनस्य घोर्लोपो लेटि वा इत्यत्र वाग्रहणलिङ्गाद् विज्ञायते । तद्धि ददद् ददाद् इत्यत्र नित्यं घोर्लोपो मा भूदित्येवमर्थं क्रियते । यदि च नित्यम् आगमशासनं स्याद् वाग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नित्यो लोपः, सत्यपि तस्मिन् लेटोऽडाटौ

परिभाषा के ज्ञापन में न्यासकार का ही अनुसरण करते हैं। निदर्शनार्थं कुछ उदाहरण यथा—

(क) आचार्य कैयट महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

"केचित्तु 'अनित्यमागमशासनम्' इत्यस्य ज्ञापकं वाग्रहणं वर्णयन्ति। अनित्यत्वात् तस्य आटचसति ददादिति न स्यादिति तत्सिद्धये वाग्रहणं क्रियमाणमेनां परिभाषां ज्ञापयति।" (प्रदीप ७.३.७०)

(ख) हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में यही कहते हैं—

'अन्ये त्वाहुः—ज्ञापकार्थं वाग्रहणम्, एतज्ज्ञापयति—अनित्यमागमशासनमिति। अनित्यत्वे तु आटचसति ददादिति न स्यादिति तत्सिद्धये वाग्रहणं कर्त्तव्यमिति।' (पदमञ्जरी ७.३.७०)

(ग) सीरदेव अपनी परिभाषावृत्ति में लिखते हैं—

"अनित्यमागमशासनम्। तेन 'शाकं पचानस्य' इत्याने मुग्न भवति। 'सागरं तर्तुमिच्छति' इत्यत्रेड् न भवति। ज्ञापकं चाऽत्र आनि लोड् इत्यत्रानीत्यागमसहितस्य नेर्ग्रहणम्। नित्ये ह्यागमशासन आट उपादानमकृत्वा 'नि लोड्' इत्येवं कुर्यात्। तथा युवोरनाकौ इत्यत्र न्यासे घोर्लोपो लेटि वा इति वाग्रहणेन ज्ञापिता।" (परिभाषासंग्रह, पूना, पृष्ठ २५४)

(घ) नीलकण्ठदीक्षित अपनी परिभाषावृत्ति में लिखते हैं—

"आगमशास्त्रमनित्यम्। 'नि लोट्' इत्येव सिद्धे आनिग्रहणमत्र लिङ्गम्। तेन सागरं तर्त्तुकामस्येत्यादि सिद्धम्।" (परिभाषासंग्रह, पूना, पृष्ठ ३१०)

(ङ) हरिभास्कर अग्निहोत्रिकृत परिभाषा-भास्कर में भी यही लिखा है—

"अनित्यमागमशासनम्। तेन क्षुब्धो राजा, शाकं पचानस्येत्यत्र नेण्मुकौ। ज्ञापकमत्र आनि लोट् इत्यत्र आकारग्रहणम्। अन्यथा हि 'नि लोट्' इत्येवाऽवक्ष्यत्।" (परिभाषासंग्रह, पूना, पृष्ठ ३६४)

(च) भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में आनि लोट् सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"नि लोड् इत्येव सिद्धे आनिग्रहणमागमशास्त्रस्याऽनित्यतां ज्ञापयितुम्। तेन सागरं तर्तुकामस्य, जप्त्वा स्तोत्रम् इत्यादि सिध्यति।" (प्रौढम० उ० पृ० ५४२)

(छ) ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी तत्त्वबोधिनी में यही दोहराते हैं—

'नि लोड् इत्येव सिद्धे आनिग्रहणमागमशास्त्रस्याऽनित्यतां ज्ञापयितुम्। तेन सागरं तर्तुकामस्य, जप्त्वा स्तोत्रमित्यादि सिध्यति।' (सि० कौ० उ० तत्त्व०, पृष्ठ ३२)

(ज) नागेशभट्ट परिभाषेन्दुशेखर में लिखते हैं—

इत्यटि कृते ददद् ददादिति सिध्यत्येव। अनित्यत्वे त्वागमशासनस्याडागमाभावान्न सिध्यति। ततो वावचनमर्थवद् भवति।" (न्यास ७.१.१)

"तथा 'नि लोड्' इत्येव सिद्धे आनिग्रहणमागमशास्त्रस्याऽनित्यतां ज्ञापयितुम्। तेन सागरं तर्तुकामस्येत्यादि सिद्धम्।" (परिभाषे० शे० पूना, पृष्ठ १६४)

बृ० शब्देन्दुशेखर में भी—

"नीत्येव सिद्धे आनीति कथनमागमशास्त्रस्याऽनित्यत्वबोधनार्थम्। तेन तर्तुमित्यादि सिद्धम्। न च 'नि लोड्' इति न्यासे प्रभवाणीत्यत्र णत्वानापत्तिः। यदागमा इति न्यायात्, आगमविशिष्टस्यार्थवत्त्वाच्च तत्र णत्वसिद्धेः।"

(बृ० श० शे०, पृष्ठ १६२७)

हरिदीक्षित (वस्तुतः नागेशभट्ट)[1] ने लघुशब्दरत्न में इस ज्ञापक से इस परिभाषा के ज्ञापन का खण्डन भी किया है। तथाहि—

'इदं भाष्ये क्वापि न दृश्यतेऽतस्तर्तुकामस्येत्यादेरसाधुत्वमेवोचितम्। किं च ज्ञापिते चारितार्थ्यमपि दुरुपपादम्। आडागमशून्यप्रयोगाऽप्रसिद्धेः। आग्रहणन्तु लोड्वदिति।' (प्रौढम० शब्दरत्न उ० पृष्ठ ५४२)

प्रदीपोद्योत में नागेशभट्ट पुनः इस का खण्डन करते हुए लिखते हैं—

'अस्यार्थस्य भाष्यकृताऽस्पृष्टत्वादिदमप्रामाणिकम्। जप्त्वेत्याद्यसाध्वेवेत्यन्ये।'

(प्रदीपोद्योत ७.३.७०)

बृ० शब्देन्दुशेखर में भी इस का खण्डन पाया जाता है—

'केचित्तु आगमशास्त्रस्याऽनित्यत्वे ज्ञापितेऽपि कथमस्य चारितार्थ्यम्। आगमशून्यप्रयोगाऽप्रसिद्धेरित्याहुः।' (बृ० श० शे० पृष्ठ १६२७)

लघुशब्देन्दुशेखर में नागेश ने घोर्लोपो लेटि वा (७.३.७०) सूत्र पर 'वा' ग्रहण से परिभाषा का ज्ञापन न करा कर उसे स्पष्टार्थक ही माना है। तथाहि—

"लोपेऽप्याडागमेन 'ददात्' इत्यस्य सिद्धौ वाग्रहणं स्पष्टार्थम्।"

(ल० श० शे० वैदिकीप्रक्रिया, पृष्ठ ६११)

इस प्रकार नागेशभट्ट के सिवाय शेष सब वैयाकरण न्यासकार के निकाले ज्ञापक को स्वीकार करते चले गये। परन्तु नागेश की इस युक्ति में पर्याप्त बल है कि जहां से जो ज्ञापक निकाला जाये वह ज्ञापक वहां पर स्वविषय में भी चरितार्थ होना चाहिये। यदि आनि लोट् में 'आ' ग्रहण के कारण 'अनित्यमागमशासनम्' ऐसा ज्ञापक निकालेंगे तो उसे कहीं न कहीं 'नि' में भी चरितार्थ होना चाहिये। परन्तु लोट् में ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिलता जहां 'आनि' न होकर केवल 'नि' हो।

पुरुषोत्तमदेव ने इस परिभाषा का ज्ञापन स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.४०) सूत्र के 'स्तोः' प्रयोग के द्वारा कराया है। वे अपनी लघुपरिभाषावृत्ति में लिखते हैं—

"अनित्यमागमशासनम्। आगमविधायकं शासनं शास्त्रमनित्यम्। तेन 'अपि शाकं

१. लघुशब्दरत्न के लेखक हरिदीक्षित नहीं अपितु नागेशभट्ट ही हैं—इस विषय का विस्तृत विवेचन वेङ्कटेश लक्ष्मण जोशी द्वारा सम्पादित पूना से प्रकाशित बृहच्छब्दरत्नसहिता प्रौढमनोरमा की प्रस्तावना में देखें।

पचानस्य' इत्याने मुगिति मुग्न भवति । सागरं तर्तुमिच्छतीति चेड् न भवति । ज्ञापितश्चायमर्थः स्तोः श्चुना श्चुः इत्यत्र नुममकृत्वा स्तोरिति निर्देशेन । अन्यथा हि तत्र स् च तुश्चेति समाहारद्वन्द्वे ङसि नुमि 'स्तुनः' इति निर्देशः स्यात् ।"

(परिभाषासंग्रह, पूना, पृष्ठ १४६)

नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने परिभाषेन्दुशेखर की गदाटीका में पुरुषोत्तमदेव के इस ज्ञापक का खण्डन करते हुए लिखा है—

'यत्तु स्तोः श्चुनेत्यत्राकृतनुमागमनिर्देशोऽत्र ज्ञापक इति पुरुषोत्तमदेवस्तन्न । सौत्रत्वेन तत्रोपपत्तेः ।' (परिभाषे० शे०, गदा०, पूना०, पृष्ठ १९४)

[२.६२] इजादेः सनुमः (८.४.३२) सूत्र पर न्यासकार ने बड़े युक्तियुक्त ढंग से यह प्रमाणित किया है कि यहां पर भी अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८.४.२) सूत्र की तरह नुम् से अनुस्वार का ही ग्रहण करना चाहिये नुम् का नहीं । तथाहि—

"सनुम इति । सानुस्वारादित्यर्थः । कुत एतत् ? नुम्ग्रहणस्याऽनुस्वारोपलक्षणार्थत्वात् । कस्मात्पुनरेवं व्याख्यायते नियमार्थत्वादस्य योगस्य । एवं चास्य नियमार्थता भवति यदि नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थं भवति नाऽन्यथा । असति विधेये नियमार्थता विज्ञायते । यदि नुम्ग्रहणं नुम एव प्रतिपादकं स्याद् नानुस्वारोपलक्षणार्थं स्यात्, एवं च सति यत्र कृत्यचः इत्यनेन न सिध्यति तत्र स्यादेवास्य विधेयत्वम् । क्वैतेन न सिध्यतीति ? इवि व्याप्तौ, प्रेन्वनमिति । अत्र यद्यपि च अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि इत्यनुवर्त्तते, तथापि तेनात्र न प्राप्नोति, नुम्ग्रहणस्यानुस्वारोपलक्षणार्थत्वाद्, इह चाऽनुस्वाराभावात् । तस्मान्नियमार्थतामस्येच्छता नुम्ग्रहणस्यानुस्वारोपलक्षणार्थत्वं वेदितव्यम् । एवं प्रेङ्खणम् इत्यादौ कृत्यचः इति सिद्धे नियमार्थमेतत् सम्पद्यते । अनुस्वारोपलक्षणार्थता च नुमः इजादेः सनुमः इति महतः सूत्रस्य प्रणयनादवसीयते । यदि हि नुम्ग्रहणं नुम एव प्रतिपादकं स्यान्नानुस्वारोपलक्षणार्थं तदानीम् 'इवे' इत्येवं ब्रूयात्, न हीवेरन्यो धातुरिजादिर्हलन्तः सनुम् सम्भवति । इखिप्रभृतयः सम्भवन्तीति चेद् ? न, अनुस्वारे कृते नुमोऽभावात् । प्रेङ्खणमिति । उख वख इत्यादौ कवर्गान्त इखिः पठ्यते, तस्येदित्त्वान्नुम्, नश्चाऽपदान्तस्य झलि इत्यनुस्वारः, अनुस्वारस्य ययि० इति परसवर्णत्वम् । तस्याऽसिद्धत्वादनुस्वार एवाऽयम् । प्रोम्भणमिति । उभ उन्भ पूरणे, पूर्ववदनुस्वारः ।" (न्यास ८.४.३२)

न्यासकार से पूर्व इस विषय का ऐसा विवेचन अभी तक किसी ग्रन्थ में नहीं मिला । महाभाष्य तथा चान्द्रव्याकरण आदि में भी इसका साक्षात् कोई उल्लेख नहीं है । न्यासकार के इस विवेचन को उत्तरवर्त्ती समस्त मूर्धन्य वैयाकरणों ने मुक्तकण्ठ से अपनाया है । निदर्शनार्थं कुछ उदाहरण यथा—

(क) हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

"ननु चाऽत्रानुस्वारे कृते नायं सनुम्को भवति, काममत्र स्थानिवद्भावात् सिध्यति, प्रोम्भणमित्यत्र तु आदित एव नुम् न भवतीत्यत्र न सिध्यति, औत्पत्तिको हि

तत्र नकारः, प्रेन्वनमित्यत्र च प्राप्नोति यत्र नुमेवाविकृतः श्रूयते, तस्मादिहापि नुम्ग्रहणम् अनुस्वारोपलक्षणार्थं व्याख्येयम् । नक्षत्रदर्शनन्यायेन इष्टविषये सर्वत्र भविष्यति अनिष्टे च न भविष्यति, एवं च कृत्वा नियमार्थतोपपद्यते । अन्यथा प्रेन्वनमित्यत्र विध्यर्थता सम्भाव्येत । न च अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि इत्येतेन सिद्धिः, तत्रापि नुम्ग्रहणस्याऽनुस्वारोपलक्षणत्वात् ।" (पदमञ्जरी ८.४.३२)

(ख) पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति में यही लिखते हैं—

'नुमोऽनुस्वारमात्रोपलक्षणात् प्रोम्भणम् ।' (भाषावृत्ति ८.४.३२)

(ग) भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में यही कहते हैं—

'नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणम् । अट्कुप्वाङ्० इति सूत्रेऽप्येवम् । तेनेह न—प्रेन्वनम् । इह तु स्यादेव—प्रोम्भणम् ।' (सि० कौ० उ० पृष्ठ ३८४)

प्रौढमनोरमा में भी इसी स्थल पर—

'नुम्ग्रहणमिति । तेनास्य प्रेन्वनम् इत्यादौ विध्यर्थताऽस्त्विति न शङ्क्यमिति भावः ।' (प्रौढम० पृष्ठ ७१०)

(घ) तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी इसी का समर्थन करते हैं—

"नन्वेवमपि नियमार्थता न युज्यते प्रेन्वनमित्यत्र विध्यर्थत्वसम्भवात्, नुम्नकारेण व्यवधानात् 'कृत्यचः' इत्यस्याप्राप्तेरित्यत आह—नुम्ग्रहणमिति । अट्कुप्वाङ्० इति सूत्र इवाऽत्रापि नुमाऽनुस्वारो लक्ष्यत इति विध्यर्थत्वमिह न शङ्कनीयमिति भावः ।" (सि० कौ० तत्त्व० पृष्ठ ३८४)

(ङ) नागेशभट्ट लघुशब्देन्दुशेखर में यही लिखते हैं—

'अनुस्वारश्च सर्वोऽपि गृह्यते व्याख्यानात्[1] । तदाह प्रोम्भणमिति ।' (ल० श० शे० पृष्ठ ७५०)

बृहच्छब्देन्दुशेखर में भी—

'अनुस्वारेति । अतः प्रेन्वनमित्यादौ नेदं विध्यर्थमिति भावः । अनुस्वारश्च सर्वोऽपि गृह्यते व्याख्यानात् । तदाह प्रोम्भणमिति ।' (बृ० श० शे० पृष्ठ २०१०)

(च) नारायणभट्ट प्रक्रियासर्वस्व में इसी से सहमत हैं—

'उक्तणत्वं सानुस्वारस्य धातोश्चेदिजादेरेव । प्रेङ्खणम् । अन्यत्र न । प्रकम्पनम् । इन्वतेर्नुमि सत्यपि अनुस्वाराभावात् प्रेन्वनमित्यत्र णत्वं न । इविर्व्याप्त्यर्थः ।' (प्रक्रियास० समासखण्ड पृष्ठ ८८)

(छ) ओरम्भट्ट व्याकरणदीपिका में इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

---

१. 'व्याख्यानात्' का व्याख्यान करते हुए यहां पर भैरवमिश्र लिखते हैं—

'अट्कुप्वाङ्० इति सूत्र एव नुम्ग्रहणस्यानुस्वारसामान्यार्थकत्वेन तस्यैव इहानुवृत्तिमूलकव्याख्यानादित्यर्थः ।'

वस्तुतः इस व्याख्यान की अपेक्षा न्यासकार का बताया 'इवेः' वाला उपर्युक्त व्याख्यान अत्यन्त सुगम व बुद्धिसम्मत प्रतीत होता है ।

'नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम् । अट्कुप्वाङिति सूत्रेऽप्येवम् । तेनेह न—प्रेन्वनम् । इह तु स्यादेव—प्रोम्भणम् ।' (व्या० दी० ८.४.३२)

(ज) वालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित भी इसी को दोहराते हैं—

'इवि प्रीणने इति धातोर्ल्युटि तस्यानादेशे प्रेन्वनमित्यत्रापि णत्वं स्यात्, सनुमोऽस्य इजादित्वाद् हलन्तत्वाच्चेत्यत आह—नुम्ग्रहणमित्यादि । अनुस्वारश्च सर्व एव गृह्यते न तु नुम्स्थानिक एव, अविशेषात् । तदाह—इह त्विति । प्रोम्भणमिति । इह उम्भधातुः स्वाभाविकानुस्वारवानेव, न तु नुम्स्थानिकानुस्वारवानिति भावः ।'

(सि० कौ० वालमनो० पृष्ठ ३८४)

(झ) पाणिनीयेतरतन्त्रकर्त्ता आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी अपने श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन में न्यासप्रतिपादित मत का ही अनुसरण किया है। वे अपने 'नाम्यादेरेव ने' (श्रीसिद्धहेम० २.३.८६) सूत्र की बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

'नग्रहणं नागमादेशोपलक्षणार्थम् ।'

स्वोपज्ञशब्दमहार्णवन्यास में अपने इस वचन को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

"नग्रहणमिति । यथा 'शिङ् नाऽन्तरेऽपि' इत्यत्र नग्रहणं तदादेशोपलक्षणार्थम्, एवमन्यत्रापि, एवं ह्यभिन्नः प्रक्रमो भवति, अपि च नियमार्थोऽयमिष्यते, नग्रहणे च नागमादेशोपलक्षणे 'स्वरात्' (२.३.८५) इत्यनेन णत्वस्य सिद्धत्वान्नियमार्थोऽयमुपपद्यते—नाम्यादेरेव नागमे सतीति,स्वार्थसमर्पके तु नग्रहणे प्रेन्वनमित्यादौ 'अलचटतवर्ग' इति प्रतिषेधात् 'स्वरात्' इत्यनेन प्राप्तेरभावाद् अप्राप्तमेव णत्वमनेन विधीयते, तस्मादस्य नियमार्थतां प्रक्रमभेदं चेच्छता नग्रहणं तदादेशोपलक्षणार्थं मन्तव्यमिति ।"

(श्रीसिद्धहेम० शब्दमहार्णवन्यास २.३.८६)

इस प्रकार न्यासकारप्रदर्शित मार्ग इस समय समस्त वैयाकरणों में स्वीकृत हो चुका है।

[२.६३] 'क्षुभ्नाति' में क्षुभ्नादिषु च (८.४.३९) सूत्र से णत्व का निषेध उचित है पर 'क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति' आदि में जहां 'क्षुभ्ना' नहीं रहता कैसे निषेध हो सकेगा ? इस शङ्का का समाधान करते हुए काशिकाकार लिखते हैं—

'अजादेशस्य स्थानिवद्भावाद् इहापि प्रतिषेधो भवति—क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति ।'

(काशिका ८.४.३९)

यह समाधान पाणिनि के अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१.१.५७) सूत्र पर आधारित है और अत्यन्त समुचित है। पर न्यासकार इस समाधान के साथ-साथ अपना भी एक सरल समाधान प्रस्तुत करते हैं—

'अजादेशस्य स्थानिवद्भावाद् एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाद्वा भविष्यतीत्यदोषः ।'

(न्यास ८.४.३९)

'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय का आश्रय लेने से समाधान अत्यन्त सरल

हो जाता है। यही कारण है कि उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों को न्यासकार का यह समाधान बहुत पसंद आया है। तद्यथा--

(१) हरदत्तमिश्र इसी स्थल पर पदमञ्जरी में लिखते हैं---

'अत्रेत्वाल्लोपयोः[1] स्थानिवद्भावाद् एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाद्वा णत्वं न भवति।' (पदमञ्जरी ८.४.३९)

(२) जैनेन्द्रव्याकरण के व्याख्याता आचार्य अभयनन्दी भी अपनी महावृत्ति में लिखते हैं—

'एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति।' (जैनेन्द्रमहा० ५.४.११७)

(३) माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य सायण भी इसी प्रकार लिखते हैं—

'क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति इत्यादौ तु एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् स्थानिवत्त्वाद्वा भवत्येव (णत्वनिषेधः)।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ५३२)

(४) आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने व्याकरण के 'क्षुभ्नादीनाम्' (श्रीसिद्धहेम० २.३.९६) सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वोपज्ञ शब्दमहार्णवन्यास में न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'क्षुभ्नेति रूपग्रहणं न तु यङ्लुपि निवृत्त्यर्थम्, लुप्ततिब्निर्देशेन धातुग्रहणं तदा हि क्षोभणमित्यत्रापि स्यात्, एवं तृप्नु इत्यत्रापि। यद्येवं क्षुभ्नीत इत्यादौ णत्वशास्त्रस्य परे सत्वाद् ईकारादौ कृते क्षुभ्नेति रूपाभावान्न प्राप्नोति, उच्यते—णत्वशास्त्रेऽसद्विधावित्यस्यानिवृत्तत्वात् स्वरादेशस्य स्थानिवद्भावाद् एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाद्वा भविष्यतीत्यदोषः।' (श्रीसिद्धहेम० शब्दमहार्णवन्यास, २.३.९६)

(५) मनीषिकनकप्रभसूरिविरचित न्याससारसमुद्धार में भी आचार्य हेमचन्द्रसूरि के उपर्युक्त वचनों को अक्षरशः दोहराया गया है।

(श्रीसिद्धहेम० न्याससारसमुद्धार, पृष्ठ २२९)

इसी प्रकार हिनुमीना (८.४.१५) सूत्र पर 'प्रहिणोति, प्रमीणीतः' प्रयोगों में 'हिनु' और 'मीना' के न होने से कैसे णत्व होगा? इस का समाधान भाष्य और काशिका में अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१.१.५७) द्वारा स्थानिवद्भाव के कारण बतलाया गया है। परन्तु न्यासकार इसके साथ-साथ 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय के आश्रय से भी इस का सरल समाधान प्रस्तुत करते हैं। तथाहि—

'अजादेशस्य स्थानिवद्भावाद् एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्वा भविष्यतीत्यदोषः।' (न्यास ८.४.१५)

न्यासोक्त इस दूसरे सरल समाधान को उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने खूब अपनाया है। निदर्शनार्थ यथा—

(१) जैनेन्द्रमहावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी—

---

१. पदमञ्जरी में यहां का पाठ भ्रष्ट है। न्यास की सहायता से इस के पाठ का संशोधन किया गया है। (देखें—४.६४)।

'प्रहिणोति, प्रमीणीतः। एबीत्वयोः कृतयोरेकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाण्णत्वम् ।'
(जैनेन्द्रमहा० ५.४.१०२)

(२) आचार्य हेमचन्द्रसूरि—

'हिनु—प्रहिणोति, प्रहिणुतः। मीना—प्रमीणाति, प्रमीणीतः। हिनु-मीनाग्रहणे विकृतस्यापि भवति, एकदेशे विकृतस्याऽनन्यत्वात् ।'
(श्रीसिद्धहेम० बृहद्वृत्ति, पृष्ठ ११६)

(३) आचार्य सायण—

'प्रहिणोति। 'हिनुमीना' इति णत्वं प्रहिणु इत्यादौ हिनुशब्दे सावकाशमपि एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् विकृतेऽपीह भवति।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ४५१)

पुनरपि—

'प्रमीणीतः, प्रमीणन्ति इत्यादौ परनिमित्तकस्येत्वस्याल्लोपस्य च पूर्वविधौ स्थानिवत्त्वाद् एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाद्वा णत्वम् ।' (मा० धा० वृत्ति, पृष्ठ ५२०)

(४) नागेशभट्ट भी—

'एकदेशविकृतन्यायेनापीदं सिध्यतीतीदं भाष्यमेकदेश्युक्तिरिति केचित् ।'
(प्रदीपोद्योत ८.४.१५)

[२.६४] ष्टुना ष्टुः (८.४.४१) सूत्र पर काशिका के 'अत्ट्—अट्टते'[1] उदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अत्ट अतिक्रमणहिंसयोः, अद्ड अभियोगे। तकारदकारोपधयोरेतयोर्गणे पाठः क्विबन्तयोस्तयोः संयोगान्तलोपे तकारदकारयोः श्रवणार्थः।' (न्यास ८.४.४१)

न्यास के इन वचनों का अनुकरण करते हुए हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'अत्ट अतिक्रमणहिंसयोः, अद्ड अभियोगे। तकारदकारोपधयोरेतयोर्गणपाठः क्विबन्तयोः संयोगान्तलोपे तकारदकारयोः श्रवणार्थः।' (पदमञ्जरी ८.४.४१)

जैनेन्द्रमहावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी भी न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'अट्ट अट्टते। तकारोपदेशः[2] क्विपि स्फान्तखे च कृते श्रवणार्थः।'
(जैनेन्द्रमहा० ५.४.१२०)

क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी में यही कहते हैं—

'क्विपि तकारश्रवणार्थं तोपधोऽयं पठितः।' (क्षीर० पृष्ठ ४७)

आचार्य माधव माधवीयधातुवृत्ति में न्यास के नाम का निर्देश करते हुए लिखते हैं—

१. अत्टधातोरनुदात्तेत्त्वाद् 'अट्टति' इति मुद्रितः सार्वत्रिकः पाठोऽप्यपपाठः।
२. तकारोपदेशः—उपधायां तकारोपदेश इत्यर्थः।

"अट्ट अतिक्रमणहिंसयोः । इतः शाड्न्ता उदात्ता अनुदात्तेतः । दोपधोऽयं स्मर्यते इति मैत्रेयः । तोपधोऽयमिति 'ष्टुना ष्टुः' इत्यत्र न्यास-वृत्ति-प्रदीपकारादयः । स्वाम्यपि क्विपि अदिति तकारश्रवणार्थं तोपधत्वमुक्त्वा दोपधत्वमप्याह । मैत्रेयस्तु स्वमते दोपधत्वमुक्त्वा तोपधत्वं मतान्तरमाह ।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १०३)

[२.६५] नादिन्याऽऽक्रोशे पुत्रस्य (८.४.४८) सूत्रस्थ 'तत्परे चेति वक्तव्यम्' वार्त्तिक के 'तत्परे' पद की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'स आदिन्शब्दः परो यस्मात् पुत्रशब्दात् तत्र द्विर्वचनं न भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः ।' (न्यास ८.४.४८)

तात्पर्य यह है कि वार्त्तिक के 'तत्परे' पद में बहुव्रीहिसमास है । बहुव्रीहिसमास अन्यपदप्रधान होता है । 'जिस से परे आदिन् शब्द है' ऐसा अन्यपद कोई भी हो सकता है । परन्तु न्यासकार को यह अभीष्ट नहीं । वे यहां केवल पुत्रशब्द को ही अन्यपदत्वेन ग्रहण करना चाहते हैं किसी अन्य शब्द को नहीं । दूसरे शब्दों में वे 'पुत्र-पुत्रादिनी' में पुत्रादिन् शब्द के परे होने पर ही प्रकृतवार्त्तिक से प्रथम पुत्रशब्द के तकार को द्वित्व का निषेध मानते हैं, आदिन्परक किसी अन्य शब्द के परे होने पर नहीं ।

परन्तु हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में यहां अन्यपद केवल पुत्रशब्द को ही नहीं माना बल्कि वे आदिनीपरक किसी को भी अन्यपद स्वीकार करते हैं । वे यहां व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'स आदिनीशब्दो यस्मात्परस्तत्रापि परतः पुत्रशब्दस्य द्विर्वचनं न भवति—पुत्राश्च पौत्राश्च पुत्रपौत्राः, तानत्तुं शीलमस्याः पुत्रपौत्रादिनी । अन्ये तु 'तत्परे पुत्रशब्दे' इति व्याचक्षाणाः पुत्रपुत्रादिनीत्युदाहरन्ति, तत्र पुत्रस्य पुत्रमत्तीति विग्रहः ।' (पदमञ्जरी ८.४.४८)

हरदत्तमिश्र की बात वैयाकरणों में आदृत नहीं हुई । न्यासकार की तरह उत्तरवर्त्ती सब वैयाकरण आदिन्परक (मतभेदेन आदिनीपरक)[1] पुत्र शब्द के परे होने पर ही निषेधप्रवृत्ति का उदाहरण देते हैं । यहां तक कि न्यासोत्तरवर्त्ती पाणिनी-तरतन्त्रों के वैयाकरण आचार्यों ने भी इसे इसी रूप में स्वीकृत किया है । अत एव उन्हों ने इस सन्देह से बचने के लिए समास को छोड़ कर सीधा 'पुत्रादिन्' शब्द का ही प्रयोग किया है । तद्यथा—

आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायनसूत्र तथा उस की अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'पुत्रस्यादि-पुत्रादिन्याक्रोशे (शाकटायन० १.१.१२०) । पुत्रशब्दस्य आदिन्शब्दे परे पुत्रादिन्शब्दे च परे आक्रोशे विषये द्वे रूपे न भवतः । पुत्रादिनी त्वमसि पापे । पुत्रपुत्रादिनी भव । आक्रोश इति किम् ? पुत्त्रादिनी शिशुमारी । पुत्त्रपुत्रादिनी ।' (शाकटायन० अमोघा० १.१.१२०)

---

१. इस मतभेद का विस्तृत विवेचन (३.२९) पर देखें ।

भोजराज सरस्वतीकण्ठाभरण में न्यास के मत का अनुसरण करते हुए सूत्र बनाते हैं—

'न पुत्रस्यादि-पुत्रादिनोराक्रोशे' (सरस्वती० ७.४.१६२)

हेमचन्द्रसूरि अपने श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन के सूत्र तथा उस की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

"पुत्रस्यादिन्पुत्रादिन्याक्रोशे। (सिद्धहेम० १.३.३८)। आदिन्शब्दे पुत्रादिन्शब्दे च परे पुत्रशब्दसम्बन्धिनस्तकारस्य आक्रोशविषये द्वे रूपे न भवतः। 'अदीर्घाद्विरामैक-व्यञ्जने' (सिद्धहेम० १.३.३२) इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः। पुत्रादिनी त्वमसि पापे। पुत्रपुत्रादिनी भव।" (हैम० बृहद्वृत्ति, १.३.३८)

आचार्य क्रमदीश्वर अपने संक्षिप्तसार व्याकरण में इसी का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

"पुत्रादिनः पुत्रपुत्रादिनश्च तोऽनाक्रोशे (सन्धिपाद सूत्र २१६)। पुत्रानत्तुं शीलमस्याः पुत्रादिनी, पुत्त्रादिनी; पुत्रपुत्रानत्तुं शीलमस्याः पुत्रपुत्रादिनी, पुत्त्रपुत्त्रा-दिनी शिशुमारी। आक्रोशे तु पुत्रादिन्याः पुत्रः।' (संक्षिप्त० वंगाक्षर पृष्ठ ५८)

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित, तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती, बाल-मनोरमाकार वासुदेवदीक्षित, शेखरकार नागेशभट्ट, मिताक्षराकार अन्नम्भट्ट, व्याकरण-दीपिकाकार ओरम्भट्ट आदि प्रायः सब आधुनिक पाणिनीय वैयाकरण यहां पर न्यास-कार-निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए उदाहरणों को प्रदर्शित करते हैं।[1] अत एव सभापतिशर्मोपाध्याय सिद्धान्तकौमुदी की अपनी व्याख्या 'लक्ष्मी' में लिखते हैं—

"स आदिनीशब्दः परो यस्मात्स तत्परः। आदिनीशब्दपरको यः कश्चन शब्द-स्तस्मिन् परेऽपि पुत्रशब्दस्य यरो न द्वे स्तः। तथा च पुत्रश्च पौत्रश्च पुत्रपौत्रौ, ताव-त्तीति 'पुत्रपौत्रादिनी' इत्यत्रापि न द्वित्वम्। वस्तुतस्तु आदिनीशब्दपरकः प्रत्यासत्त्या पुत्रशब्द एव गृह्यते। तथा च पुत्रपुत्रादिनीत्येवोदाहरणम्।'

(सि० कौ० लक्ष्मी, प्रथम भाग, पृ० ११३)

न्यासोक्त मन्तव्य की प्रकारान्तर से सिद्धि करने के लिये महामहोपाध्याय शिवदत्त दाधिमथ 'तत्परे' पद के समास में एक नई दिशा सुझाते हुए सिद्धान्तकौमुदी की अपनी टिप्पणी में लिखते हैं—

"तस्मात् पुत्रशब्दात् परः तत्पर इति समासेन पुत्रशब्दात् परे आदिनीशब्दे परे पुत्रशब्दसम्बन्ध्यजव्यवहितपरस्य यरो न द्वित्वम् इत्येवार्थः। आदिनीशब्दपरके इत्यर्थे तु 'पुत्रपौत्रादिनी, पुत्रमांसादिनी' इत्यत्रापि निषेधापत्तिः स्यात्।"

(सि० कौ० दाधिमथटिप्पण, पृष्ठ ८)

---

१. केवल प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने कृत्खण्ड में पृष्ठ (१३५ पर) विना वार्तिकप्रमाण के यह पङ्क्ति लिखी है—

'पुत्रपुत्रादिनी पुत्रपौत्रादिनीत्यनयोश्च पुत्रशब्दस्याऽद्वित्वमिष्टम्।'

इस का आधार सम्भवतः हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी ही है।

इस प्रकार सारा वैयाकरण-जगत् न्यास के सुझाए मार्ग से आलोकित होने के कारण न्यासकार का ऋणी है।

[२.६६] उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य (८.४.६१) सूत्र पर काशिका में एक वार्त्तिक आया है—

'रोगे चेति वक्तव्यम् उत्कन्दको नाम रोगः।'

इस की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'तत्रेदं व्याख्यानम्—पृषोदरादित्वात् भविष्यतीति।' (न्यास ८.४.६१)

इसी का अनुकरण करते हुए शाकटायन-व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में पाल्यकीर्त्ति लिखते हैं—

'स्कन्धेरुत्क्रन्धको रोग इति पृषोदरादिषु द्रष्टव्यः।' (अमोघा० १.१.१३४)

हेमचन्द्रसूरि भी इसी तरह न्यास का अनुसरण करते हैं—

'कथमुत्स्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति पृषोदरादित्वाद् भविष्यति।'

(श्रीसिद्धहेम० बृहद्वृत्ति १.३.४४)

प्रभावो न्यासकारस्य स्पष्टमुत्तरवर्त्तिषु।
स्थालीपुलाकन्यायेन द्वितीयेऽयं प्रपञ्चितः॥

तृतीय अध्याय

[उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन]

वचांसि न्यासकारस्य खण्डितान्युत्तरैर्मुहुः ।
आलोच्य तानि सम्मर्शस्तार्तीये विहितो मया ॥

[३.०] व्याकरणशास्त्र बौद्धिकशास्त्र है, दूसरे शब्दों में इसे बुद्धि की क्रीड़ा व विलास भी कहा जा सकता है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न व्याकरणों में प्रकृतिप्रत्ययभेद एवं प्रक्रिया-भेद पाया जाता है। मनुष्य-बुद्धि के अतीव सीमित तथा प्रमादसुलभ होने के कारण पटु से पटु, सावधान से सावधान और विज्ञ से विज्ञ ग्रन्थकार भी बहुधा भ्रान्त हो जाते हैं। कुछ विशिष्ट प्रकार की भ्रान्तियां ऐसी भी होती हैं जो लेखक या ग्रन्थ-प्रणेता को जीवनपर्यन्त प्रतीत भी नहीं होतीं। कारण स्पष्ट है कि उसके चिन्तन का प्रकार प्रायः एकवर्त्मगामी हुआ करता है, वह बड़ी कठिनता से अपने चिन्तनमार्ग से हट कर सोचा करता है। अतः उत्तरवर्त्ती चिन्तक पूर्ववर्तियों के ज्ञान का लाभ उठा कर जब उन के चिन्तनपथ से हट कर सोचा करते हैं तब पूर्ववर्त्तियों की त्रुटियों की प्रतीति हो कर उन में सुधार हुआ करता है। इस से पूर्ववर्त्तियों का अपकर्ष, मौर्ख्य या हीनता नहीं माननी चाहिये क्योंकि आज के चिन्तकों की भी आगे यही दशा होने वाली है। सृष्टि में ज्ञान के विस्तार का यही शाश्वत क्रम है, इसे लांघा नहीं जा सकता।

न्यासकार भी ज्ञानसृष्टि के इस शाश्वत क्रम से अछूते नहीं हैं। उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों में शायद ही कोई ऐसा वैयाकरण होगा जो न्यासकार से प्रभावित न हुआ हो या जिस ने न्यासकार का किसी न किसी अंश में खण्डन व प्रत्याख्यान न किया हो। यद्यपि ऐसे स्थल उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों में सैंकड़ों नहीं वरन् हज़ारों हैं उन का साकल्येन निर्देशमात्र भी एक दुष्कर कार्य है तथापि यहां निदर्शनार्थ कुछ ऐसे विशिष्ट स्थलों का समालोचनापूर्वक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है जहां उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने न्यास का खुल कर खण्डन किया है। इस के साथ ही उत्तरोत्तर पाणिनीय व पाणिनीयेतर वैयाकरणों की तत्तत्प्रतिक्रिया की युक्तायुक्तता पर भी विचार किया गया है। इन में से बहुत से प्रत्याख्येय स्थल न्यासकार के स्वोपज्ञ न होकर पूर्ववर्त्तियों की देन भी हो सकते हैं, परन्तु हमारे पास इस समय इन को जांचने का कोई साधन नहीं कि वे स्थल न्यासकार की अपनी देन हैं या किसी अन्य की? इस समय वे स्थल हमें न्यास से पूर्ववर्त्ती किसी ग्रन्थ में नहीं मिल रहे अतः हम इन को न्यासकार की स्वोपज्ञ कल्पना मान रहे हैं। कालान्तर में अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने पर उन की उपज्ञता में फेरबदल भी सम्भव हो सकता है।

[३.१] वार्तिककार और भाष्यकार के मत में काम्यच्च (३.१.९) सूत्र द्वारा विधीयमान काम्यच्प्रत्यय का चित्करण अनर्थक माना गया है। उन का कथन है कि चित्करण का प्रयोजन चितः (६.१.१६३) सूत्रद्वारा अन्तोदात्त करना होता है, किन्तु यह प्रयोजन धातोः (६.१.१६२) सूत्र से ही सिद्ध है अतः चित्करण व्यर्थ है।[1] परन्तु न्यास-

---

१. "किमर्थश्चकारः ? स्वरार्थः, चितोऽन्त उदात्तो भवतीत्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्।

कार इस स्थल पर भाष्यकार से भिन्न मत प्रकट करते हुए चित्करण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखते हैं—

"अथ द्वितीयश्चकारः किमर्थः[1] ? यावता धातोः (६.१.१६२) इत्येवमन्तोदात्तत्वं सिद्धम् ? इह 'पुत्रकाम्यिष्यति' इति सतिशिष्टस्वरमपि बाधित्वा चित्करणसामर्थ्यात् काम्यच एव स्वरो यथा स्यात् ।" (न्यास ३.१.९)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'पुत्रकाम्य' आदि में धातुस्वर से ही अन्तोदात्तत्व की सिद्धि हो सकती है इस के लिये प्रत्यय के चित्करण की आवश्यकता नहीं, तथापि 'पुत्रकाम्यिष्यति' आदि में धातुस्वर को 'स्य' आदि का स्वर बाध कर लेगा क्योंकि वह सतिशिष्टस्वर है, अतः उस से बचने के लिए आचार्य पाणिनि ने काम्यच् प्रत्यय को चित् किया है, अब चित्करणसामर्थ्य से स्य आदि का स्वर बलवान् न माना जायेगा, चितः (६.१.१६३) द्वारा अन्तोदात्त स्वर ही हो जायेगा।

न्यासकार के इस युक्तियुक्त व्याख्यान से उत्तरवर्त्ती अनेक वैयाकरण प्रभावित हुए हैं। सर्वप्रथम भाष्य के परम अनुयायी हरदत्तमिश्र न्यास का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में इसी स्थल पर लिखते हैं—

"चित्करणं तु पुत्रकाम्यिष्यतीत्यत्र सतिशिष्टमपि स्यस्वरं बाधित्वा चित्स्वर एव यथा स्यादिति ।' (पदमञ्जरी ३.१.९)

इसी प्रकार माधव इसी का अनुसरण करते हुए माधवीयधातुवृत्ति में लिखते हैं—

'काम्यचि[2] चित्करणं पुत्रकाम्यिष्यतीत्यादौ सतिशिष्टस्वरं बाधित्वा धातुस्वरो यथा स्यादिति ।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ५९०)

स्वामिदयानन्दसरस्वती अपने अष्टाध्यायीभाष्य में—

'चकारश्चान्तोदात्तस्वरार्थं एव ।' (अष्टाध्यायीभाष्य ३.१.९)

पाणिनीयेतर व्याकरणों में प्रायः स्वरप्रकरण नहीं अतः वे 'काम्यच्' के स्थान पर 'काम्य' प्रत्यय का ही विधान करते हैं।[3] सरस्वतीकण्ठाभरण में स्वरप्रकरण है

नैतदस्ति प्रयोजनम्, धातुस्वरेणाप्येतत्सिद्धम् । ककारस्य तर्हीत्सञ्ज्ञापरित्राणार्थं आदितश्चकारः कर्त्तव्यः । अत उत्तरं पठति—

'काम्यचश्चित्करणानर्थक्यं कस्येदर्थाभावात् ।'

काम्यचश्चित्करणमनर्थकम्, ककारस्येत्संज्ञा कस्मान्न भवति ? इदर्थाऽभावात् । इत्कार्याभावादत्रेत्संज्ञा न भविष्यति ।" (महाभाष्य ३.१.९)

१. अत्र काम्यचः ('च्काम्यच्' इत्येवम्) द्विचकारनिर्देशप्रसङ्गः प्रस्तुतः । आद्यचकारस्य प्रयोजनमुक्तम् । इदानीं द्वितीयचकारस्य प्रयोजनं व्याख्यातुकामेनेदमारभ्यते—अथ द्वितीयश्चकार इति ।

२. अत्र क्यचीति मुद्रितः पाठोऽपपाठः । द्रष्टव्यताम्—(४.७०) ।

३. तद्यथा—

कातन्त्रव्याकरण— 'काम्य च' । (कातन्त्र, आख्यातवृत्ति सूत्र ४०)

अतः वहां पर 'काम्यच्' प्रत्यय का चित्करण किया गया है।[1] इस से भोजराज भी न्यास के प्रभाव से प्रभावित प्रतीत होते हैं। अन्यथा वे 'काम्यच्' को चित् न करते।

परन्तु भट्टोजिदीक्षित न्यासकार के इस व्याख्यान से सहमत नहीं। वे भाष्य का आश्रय लेकर इस का खण्डन करते हुए शब्दकौस्तुभ में कठोर शब्दों में लिखते हैं—

'चकारस्तु भाष्यवार्त्तिकयोः प्रत्याख्यातः। न्यासकार-हरदत्त-माधवास्तु पुत्रकाम्यिष्यतीत्यादौ सतिशिष्टमपि स्यस्वरं बाधित्वा धातु-स्वरो यथा स्यादित्येतदर्थं चित्करणमित्याहुः। तत्तु प्रौढिवादमात्रं मुनिवचनविरोधेन स्वोत्प्रेक्षितस्वारस्यस्यानादर्त्तव्यत्वादिति सुहृदयैर्विभाव्यताम्।' (शब्दकौस्तुभ ३.१.९)

भट्टोजिदीक्षित का अनुसरण करते हुए नागेशभट्ट भी प्रदीपोद्योत में यही कहते हैं—

'काम्यचश्चित्करणाऽनर्थक्यमिति वार्त्तिकविरोधेन पुत्रकाम्यिष्यतीत्यादौ सति शिष्टस्य स्वरं बाधित्वा चित्स्वर एव यथा स्यादिति चित्त्वम्—इति हरदत्तोक्तमपास्तम्।' (उद्योत ३.१.९)

शेखरद्वय में भी—

'धातुस्वरेण सिद्धेऽस्य चित्त्वं व्यर्थम्। माधवस्तु पुत्रकाम्यिष्यतीत्यादौ सतिशिष्टस्यस्वरं बाधित्वा धातुस्वरो यथा स्यादिति चित्त्वमित्याह।'

(बृ० श० शे० पृष्ठ १८८१)

'धातुस्वरेण सिद्धेऽस्य चित्त्वञ्चिन्त्यप्रयोजनम्।'[2]

(ल० श० शे० उ० पृष्ठ २९३)

दीक्षित आदि वैयाकरण वार्त्तिक तथा भाष्य में प्रतिपादित चित्त्व के आनर्थक्य

जैनेन्द्रव्याकरण	— 'काम्य'।	(जैनेन्द्र० २.१.७)
शाकटायनव्याकरण	— 'सुपः कर्त्तुः काम्यः'।	(शाकटायन० ४.१.१७)
हैमव्याकरण	— 'द्वितीयायाः काम्यः'।	(हैम० ३.४.२२)
संक्षिप्तसारव्याकरण	— 'काम्यो नाम्न इच्छायाम्'।	(संक्षिप्त० तिङन्तपाद ४९८)

मलयगिरिशब्दानुशासन—'आत्मन इषावाप्यात् काम्यः'। (पृष्ठ १६७)

१. 'सुपः कर्मणः काम्यच्' (सरस्वती० १.३.१०)। दुर्भाग्य से दण्डनारायणवृत्ति यहां खण्डित है।

२. ल० शब्देन्दुशेखर के इस स्थल की व्याख्या करते हुए भैरवमिश्र अपनी सुप्रसिद्ध टीका चन्द्रकला में न्यासवत् समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'चिन्त्यप्रयोजनमिति। केचित्तु घेटष्टित्त्ववद् यत्र काम्यजन्तात् सन् तत्र सतिशिष्टमपि नित्स्वरं चित्स्वरो बाधतामित्येवमर्थं चित्त्वमित्याहुः।'

(ल० श० शे० चन्द्रकला, द्वितीयभाग पृष्ठ ६५७)

के कारण चित्करण को व्यर्थ समझते हुए न्यासकार का खण्डन करते हैं, परन्तु न्यासकार का यह व्याख्यान निश्चय ही किन्हीं पूर्ववृत्तिकारों व व्याख्याकारों के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। न्यासकार से बहुत पूर्व चान्द्रवृत्ति में भी यह समाधान उपलब्ध होता है—

'चकारः सतिशिष्टस्वरबाधनार्थः—पुत्रकाम्यिष्यतीति।' (चान्द्रवृत्ति १.१.२३)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि न्यास में यह अंश पर्याप्त प्राचीन है।

यहां दीक्षित आदि के मत में एक बात विशेषतया प्रष्टव्य है कि वे 'पुत्रकाम्यिष्यति' में कौन सा स्वर स्वीकार करते हैं। यदि कहें कि सतिशिष्ट-'स्य' का स्वर, तो यह उपपन्न न होगा क्योंकि भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—'नैतदस्ति प्रयोजनम्, धातुस्वरेणाप्येतत् सिद्धम्'। और यदि कहें कि धातोः (६.१.१६२) से धातुस्वर, तो सतिशिष्टस्वर का बाध कौन करेगा? इस मत में भी उपर्युक्त भाष्यवचन से उनको सतिशिष्टस्वर का बाध मानना पड़ेगा। इस से यही अच्छा है कि यथावस्थित काम्यच् के चित्करणसामर्थ्य से ही इसकी सिद्धि की जाये। यही लघु उपाय है। पहले काम्यच् के चित्त्व का खण्डन कर बाद में भाष्य के वचनों के आश्रय से सतिशिष्टस्वर का बाध—यह उपाय तो गुरुतर रहेगा। सम्भवतः भाष्य के परमभक्त हरदत्तमिश्र आदियों ने यही सोच कर न्यासोक्त मत का अनुसरण किया होगा।

[३.२] (किङ्करी Versus किङ्करा)

पाणिनि का मत—

'किम्' कर्म के उपपद रहते 'कृ' धातु से दिवा-विभा-निशा-प्रभा० (३.२.२१) सूत्र से टप्रत्यय करने पर 'किङ्कर' शब्द व्युत्पन्न होता है। अब इससे स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्ढाणञ्० (४.१.१५) से ङीप् हो कर 'किङ्करी' प्रयोग सिद्ध होता है। पुंयोग में ङीष् (४.१.४८) होकर भी 'किङ्करी' बनेगा। दिवा-विभा-निशा० (३.२.२१) सूत्र अहेत्वाद्यर्थक है अतः हेतु आदि अर्थों में भी कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु (३.२.२०) से टप्रत्यय होकर 'किङ्करी' ही बनेगा। इस प्रकार आचार्य पाणिनि के मत में हेतु आदि अर्थ हों या न हों, पुंयोग हो या न हो सर्वत्र स्त्रीत्व में 'किङ्करी' ही रूप बनता है, 'किङ्करा' कहीं नहीं।

कात्यायन का मत—

कात्यायन ने दिवा-विभा-निशा० (३.२.२१) सूत्र पर कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम् यह वार्त्तिक लिखा है। इसके अनुसार 'किङ्कर' शब्द के अच्प्रत्ययान्त होने से स्त्रीत्व में अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) से टाप् होकर 'किङ्करा' प्रयोग बनता है। पुंयोग में 'किङ्करी' ही बनेगा इसमें विवाद नहीं। परन्तु पुंयोग के अभाव में 'किङ्करा' ही बनेगा।

भाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य में कात्यायन का उपर्युक्त वार्त्तिक देकर केवल 'किङ्करा' आदि उदाहरण ही दिये हैं, अपनी ओर से किसी प्रकार का कोई व्याख्यान व प्रत्याख्यान नहीं किया।

न्यासकार का मत—

उत्तरोत्तरम्मुनीनां प्रामाण्यम् के अनुसार यद्यपि कात्यायन का मत स्वीकृत होना चाहिये परन्तु यहां पर कात्यायन के वचन की भिन्नप्रकारेण व्याख्या प्रस्तुत करते हुए न्यासकार एक नये मत का निर्देश करते हैं[1]—

"अहेत्वाद्यर्थत्वाच्चारम्भस्य यदा हेत्वादयो विशेषा न विवक्ष्यन्ते तदा 'कियत्तद्-बहुषु कृञोऽज्विधानम्'। तेषु विवक्षितेषु पूर्वसूत्रेण ट एव भवति। तथाऽयं प्रयोग उपपन्नो भवति—जातिरियं किङ्करीति। किङ्करणशीला किङ्करी, न किञ्चिदपि करोति। निष्प्रयोजनेति यावत्।" (न्यास ३.२.२१)

न्यासकार का अभिप्राय यह है कि दिवा-विभा-निशा० सूत्र अहेत्वाद्यर्थक है। यह वार्त्तिक इस सूत्र पर लिखा गया है। अतः यह भी एतद्विषयक ही समझा जायेगा। इसलिये अहेतु आदि अर्थों में ही वार्त्तिक से अच्प्रत्यय होगा और तब 'किङ्करा' बन जायेगा। परन्तु जब हेतु आदि अर्थ विवक्षित होंगे तब पूर्वसूत्र कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३.२.२०) से टप्रत्यय होकर स्त्रीत्व में ङीप् करने से 'किङ्करी' रूप बनेगा। न्यासकार ने यहां किसी अज्ञातग्रन्थ का प्रयोग भी उद्धृत किया है।[2]

कैयट, हरदत्तमिश्र तथा भट्टोजिदीक्षित आदि कुछ वैयाकरणों को छोड़ कर प्रायः समस्त वैयाकरणजगत् ने न्यासकार के पक्ष का समर्थन किया है। निदर्शनार्थ यथा—

(क) जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी लिखते हैं—
'हेत्वादिषु ट एव भवति। किङ्करणशीला—किङ्करी।' (जैनेन्द्रमहा० २.२.२८)

(ख) शाकटायनव्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति अमोघा में—
'जातिरिदानीं किङ्करीति हेत्वादौ टः।' (शाकटायन० अमोघा ४.३.१३१)

(ग) श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति में—
'जातिरिदानीं किङ्करीति हेत्वादौ टः।' (हैम० बृहद्वृत्ति ५.१.१०१)

(घ) हैमधातुपारायण में भी—

---

१. वस्तुतः यह मत नया नहीं है। न्यासकार से पूर्व चान्द्रवृत्ति में भी इस मत का उल्लेख पाया जाता है। तथाहि चान्द्रवृत्ति में—'किङ्करा, यत्करा, तत्करा, बहुकरेति पूर्ववदेवाच्' (चान्द्रवृत्ति १.२.३) इस प्रकार अच्प्रत्ययान्त कह कर पुनः 'कृञो हेतु-शीलाऽऽनुलोम्येषु' (चान्द्र० १.२.७) सूत्र पर भी 'किङ्करः' शब्द टप्रत्ययान्त सिद्ध किया गया है जिसका प्रयोजन 'किङ्करी' बनाना ही है।

२. वर्तमान उपलब्ध मुद्रित न्यास में यह उद्धरण 'जातिरियं किङ्करी' इस प्रकार उपलब्ध होता है। परन्तु संक्षिप्तसारव्याकरण में इसे 'इदानीं याति किङ्करी' इस प्रकार न्यास का नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किया गया है—
"तथा च 'इदानीं याति किङ्करी' इति न्यासः"।
(संक्षिप्त० वंगाक्षर कृदन्त० सूत्र १३०)

'जातिरिदानीं किङ्करीति तु 'हेतुतच्छील०' इति टे रूपम्। यथा—विद्या यशस्करीति।' (हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान में उद्धृत ५.१.१०१)

(ङ) मलयगिरिकृतशब्दानुशासन में भी—

'जातिरिदानीं किङ्करीति हेत्वादौ टः।' (मलयगिरिशब्दानु० पृष्ठ २६६)

(च) माधवीय धातुवृत्ति में आचार्य माधव भी यही कहते हैं—

'किङ्करीति तु पुंयोगे ङीष्, हेत्वादौ वा पूर्वसूत्रेण टप्रत्ययः।' (मा० धा० वृत्ति पृ० ५१३)

(छ) संक्षिप्तसार में क्रमदीश्वर भी इसी का समर्थन करते हैं—

'किकर-यत्कर-तत्कर-बहुकरेभ्यो मात्रादित्वान्न स्त्रियाम् ई, तेन किङ्करा। हेत्वादौ तु भवत्येव—किङ्करी। तथा च 'इदानीं याति किङ्करी' इति न्यासः।' (संक्षिप्त० वंगाक्षर कृदन्तपाद, सूत्र १२०)

(ज) संक्षिप्तसार के इस स्थल की व्याख्या करते हुए गोयीचन्द्र भी यही कहते हैं—

'हेत्वाद्यर्थरहितानामेव किङ्करादीनां, मात्रादित्वमिति। हेत्वादौ तु भवत्येव किङ्करीत्यनेन सूचितम्। किङ्करीत्युपलक्षणमात्रम्, यत्करीत्याद्यपि बोद्धव्यम्।' (गोयी० कृदन्तपाद सूत्र १२०)

(झ) भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव ने भी यही कहा है—

'कियत्तद्बहुष्वज्विधानं टाबर्थमिति कात्यायनः। किङ्करा। यत्करा। तत्करा। बहुकरा। सूत्रकारस्य मते तु अजादिपाठाट्टाप्। हेत्वादौ तु किङ्करी।'[1] (भाषावृत्ति ३.२.२१)

(ञ) प्रक्रियाकौमुदी में न्यास के मत को अतितरां स्वीकार करते हुए वार्त्तिक में ही 'वा' का पद पढ़ कर 'अच्' का विकल्प कर पक्ष में 'ट' का भी विधान कर दिया गया है। इस से किङ्करा, किङ्करी दोनों रूपों के सिद्ध करने में कोई आपत्ति ही नहीं रहती। तद्यथा—

'कियत्तद्बहुष्वज्वा। किङ्करा स्त्री इत्यादि।' (प्रक्रिया कौ० उ० पृष्ठ ५१८)

(ट) प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने भी प्रक्रियाकौमुदी के मार्ग का अनुसरण किया है—

'कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्वेति कौमुदी। अचि टाप्, टे ङीप्। किङ्करा, किङ्करी।' (प्रक्रियास० प्रथम खण्ड पृष्ठ ११५)

(ठ) हैमशब्दमहार्णवन्यासानुसन्धानकार विजयलावण्यसूरि पाणिनीयतन्त्र-विषयक अपनी एक टिप्पणी में लिखते हैं—

"पाणिनीये तु निर्गलितोऽयमंशः—किङ्करीति प्रयोगो वार्त्तिककृतो मते—

---

१. 'हेत्वादावित्यादिः क्वाचित्कः पाठ इति भाषावृत्तिसम्पादकाः।

किंयत्तद्बहुषु अहेत्वादौ अचो विधानेन, हेत्वादिविवक्षायां टेन, तदविवक्षायां पुंयोग-विवक्षया च साधनीयः। सूत्रमते चाऽहेत्वादावपि टस्य विधानेन सर्वथोपपन्न एव प्रयोग इति तन्मते किंकरेत्येवानुपपन्नमिति। उभयविधप्रयोगदर्शनेन मतद्वयमप्यादरणीयमिति प्रक्रियाग्रन्थोक्तविकल्पः फलित इति।" (शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान, ५.१.१०१)

इस न्यासोक्त मत का सबसे प्रथम खण्डन हमें कैयट के प्रदीप में उपलब्ध होता है—

'वार्त्तिकेन सूत्रस्य बाधितत्वाट् टस्याभावे किङ्करीत्यसाधुरित्याहुः।'

(प्रदीप ३.२.२१)

कैयटोपाध्याय का अभिप्राय यह है कि जब इस वार्त्तिक ने सूत्र का बाध कर अच् प्रत्यय का विधान कर दिया तो टित्वाभाव के कारण 'किङ्करी' प्रयोग नहीं बनेगा अतः उसे असाधु समझना चाहिये।

हरदत्तमिश्र भी इसी प्रकार के विचार पदमञ्जरी में व्यक्त करते हैं—

'किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानमिति वार्त्तिकेन सूत्रस्य बाधितत्वाट् टस्याभावाद् हेत्वादिषु अन्यत्र (च) किङ्करीत्यसाधुरित्याहुः।' (पदमञ्जरी ३.२.२१)

कैयट और हरदत्तमिश्र द्वारा निर्दिष्ट खण्डन का समर्थन करते हुए भट्टोजि-दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम् इति वार्त्तिकम्। किंकरा, यत्करा, तत्करा। हेत्वादौ टं बाधित्वा परत्वादच्। पुंयोगे ङीष्—किंकरी।'

(सि० कौ० उत्तरार्ध पृष्ठ ४१०)

शब्दकौस्तुभ में भी—

'किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्। वार्त्तिकमेतद् इति कैयट-हरदत्तौ। इष्टिरिति माधवः। किङ्करा, यत्करा, तत्करा। वार्त्तिकेन सूत्रबाधाट् टस्याभावात् 'किङ्करी' इत्यसाधुरिति कैयटः। हेत्वादावपि टं बाधित्वा परत्वादजेवेति तस्याशयः।'

(शब्दकौस्तुभ ३.२.२१)

प्रौढमनोरमा में भी—

'परत्वादिति। यत्तु न्यासकृतोक्तं हेत्वादिषु तु पूर्वसूत्रेण ट एव भवति। तेन किङ्करीत्युपपन्नमिति। तन्न। पूर्वविप्रतिषेधस्य निर्मूलत्वादिति भावः।'

(प्रौढमनोरमा, पृष्ठ ७२१)

दीक्षित का अभिप्राय यह है कि 'किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्' वार्त्तिक में कोई ऐसा निर्देश तो है नहीं कि यह वार्त्तिक केवल अहेत्वाद्यर्थक है या केवल हेत्वाद्यर्थक।[1] इसलिये इसकी प्रवृत्ति दोनों में ही होगी। अतः अहेत्वादि में सावकाश

---

१. 'यत्तु परिष्कुर्वन्ति हेत्वाद्यभावेऽच्, हेत्वादौ तु टः।—अत्रेदं वक्तव्यम्, अज्विधौ हेत्वाद्यभाव इति विशेषणं न तावन्मुनित्रयेण दत्तं येन भिन्नविषयत्वं स्यात्।'

(प्रौढम० पृष्ठ ७२१)

होकर जब यह हेत्वादियों में प्रवृत्त होगा तो यह परत्वात् पूर्वसूत्र-प्राप्त ट का भी बाध कर लेगा। इस प्रकार हेत्वादि अर्थों में भी अच् प्रत्यय के हो जाने से 'किङ्करा' ही प्रयोग बनेगा, 'किङ्करी' नहीं।

परन्तु भाष्येकृतभूरिपरिश्रम नागेशभट्ट को कैयट-हरदत्त-दीक्षित आदि की युक्तियों में कुछ भी सार प्रतीत नहीं होता, वे प्रक्रियाकौमुदीद्वारा निर्दिष्ट वैकल्पिक अज्विधान को ही युक्तियुक्त मानते हुए अहेत्वाद्यर्थ में भी 'किङ्करी' रूप की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि भाष्यकार ने वार्त्तिक का अवतरण करते हुए भी सूत्रगत-किमादि-ग्रहण का प्रत्याख्यान तो किया नहीं, अतः वार्त्तिक द्वारा विधीयमान अच् प्रत्यय के साथ साथ सूत्रद्वारा विधीयमान टप्रत्यय का भी समावेश मानना चाहिये। यदि केवल 'अच्' प्रत्यय करेंगे तो सूत्रगत किमादिग्रहण व्यर्थ हो जायेगा, अतः दोनों प्रत्ययों का पर्याय से होना या विकल्प से होना फलित होता है। इत्थं जब अच्प्रत्यय होगा तब 'किङ्करा' और जब ट प्रत्यय होगा तब 'किङ्करी' रूप बनेगा। इस प्रकार पुंयोग के बिना भी अहेत्वाद्यर्थ में 'किङ्करी' रूप की निष्पत्ति निर्बाधरूपेण हो जायेगी, अतः इसे असाधु या अपशब्द नहीं माना जा सकता। नागेशभट्ट के एतद्भावद्योतक वचन निम्नस्थ हैं—

'सूत्रस्थ-किमादि-ग्रहणस्य भाष्येऽप्रत्याख्यानेन, हेत्वादिग्रहणस्य सूत्र एव निवृत्तेश्च, एषु क्रमः प्रत्ययद्वयमपीत्यन्ये। एतन्मूलमेव कैश्चिद् अज्वेति पठितम्।'

(बृ० श० शे० पृष्ठ २०३२)

'वार्त्तिकस्य हेत्वादौ टबाधनेन चरितार्थतया सूत्रस्थकिमादि-ग्रहणस्य भाष्येऽप्रत्याख्यानेन वा हेत्वादौ सूत्रे किमादिग्रहणसामर्थ्याट् टो भवत्येवेति।'

(उद्योत ३.२.२१)

नागेशभट्ट के आशय को स्पष्ट करते हुए भैरवमिश्र भी लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या में यही भाव व्यक्त करते हैं—

'भाष्यकृता सूत्रस्थ-किमादिग्रहणस्याऽप्रत्याख्यानेनात्र द्वयोरपि टाचोः प्रवृत्तिरिष्टैवेति। किं च पुंयोगाऽविवक्षायामपि स्त्रियाः कर्तृत्वे किङ्करीति सूत्रकारमतसिद्धस्य भवदुक्तरीत्याऽसिद्धिरपि द्रष्टव्या।' (ल० श० शे० भैरवी० पृ० ७७१)

परन्तु यदि गम्भीरता से विश्लेषण किया जाये तो कैयट आदियों के इस खण्डन का कुछ भी ठोस आधार प्रतीत नहीं होता। ये सब खण्डन एक ही बात पर आश्रित हैं कि वार्त्तिक की प्रवृत्ति हेत्वादि अर्थों तथा अहेत्वादि अर्थों में समानरूपेण होती है। बस, यहीं पर न्यासकार के साथ इन का मौलिक मतभेद है। न्यासकार का आशय यह है कि वार्त्तिक जिस सूत्र पर पढ़े जाते हैं तत्तत्सूत्रविषयक ही हुआ करते हैं, उनमें केवल उस अंश का ही वर्णन हुआ करता है जो सूत्र से विभिन्न होता है, शेष अंशों में वे सूत्रानुगामी ही हुआ करते हैं। यथा—शश्छोऽटि (८.४.६३) सूत्र पर 'छत्वममीति वक्तव्यम्' वार्त्तिक पढ़ा गया है। इस वार्त्तिक द्वारा सूत्रार्थगत 'झयः' आदि अंशों का खण्डन नहीं किया जाता, केवल 'अटि' अंश के स्थान पर 'अमि'

अंश का प्रतिपादन किया जाता है। इसी प्रकार यहां पर 'कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्' यह वार्त्तिक दिवा-विभा-निशा० (३.२.२१) सूत्र पर पढ़ा गया है, यह सूत्र अहेत्वाद्यर्थक है—यह सर्वसम्मत है।[1] अतः इस वार्त्तिक द्वारा उस सूत्र का प्रयोजन खण्डित नहीं किया जायेगा, केवल 'ट' के स्थान पर 'अच्' प्रत्यय ही बदला जायेगा। इस प्रकार इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति भी अहेत्वाद्यर्थों तक ही सीमित रहेगी। न्यासकार के इस प्रधानविन्दु का किसी ने कुछ उल्लेख नहीं किया। इस बिन्दु के पारिप्रेक्ष्य में यदि विचार करें तो न्यासकार का मत अत्यन्त प्रामाणिक, युक्तियुक्त और अकाट्य प्रतीत होता है। तभी तो व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार विश्वेश्वरसूरि को कहना पड़ा है—

'न्यासकारस्तु हेत्वादौ पूर्वसूत्रेण ट एव। तेन किङ्करीत्युपपन्नमित्याह। तस्यायमाशयः, अहेत्वर्थं दिवेत्यादिसूत्रमिति सर्वसिद्धम्। तदपवादस्य कियदिति वार्त्तिकस्य स एव विषयः। एतेनाज्विधौ हेत्वाद्यभाव इति विशेषणं मुनित्रयेण न दत्तमिति निरस्तम्। तथा च हेतुविवक्षायां ट उपपन्न एव। एतेन पूर्वविप्रतिषेधस्य निर्मूलत्वादिति तद्दूषणमपास्तम्, उक्ताभिप्रायेणैव तत्प्रवृत्तेः। अत एवोक्तं वार्त्तिकमेवेति।'
(व्या० सि० सु० पृ० १३३३)

इस न्यासोक्त मत का समर्थन एक अन्य सुकर उपाय से भी किया जा सकता है। तथाहि—

काशिका में इस वार्त्तिक पर एक अन्य पाठ भी प्राप्त होता है—'अथवा पचादिषु पाठः करिष्यते'[2]। इस पाठ का अभिप्राय यह है कि 'कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्' यह वचन नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३.१.१३४) सूत्रस्थ पचादियों में पढ़ देने से भी कार्य सिद्ध हो जायेगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः। (काशिका ३.२.२१)
अहेत्वाद्यर्थत्वाच्चारम्भस्य। (न्यास ३.२.२१)
अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः। (शब्दकौस्तुभ ३.२.२१)
हेत्वादिग्रहणस्य सूत्र एव निवृत्तेः। (बृ श० शे० पृष्ठ २०३२)
हेत्वादिग्रहणाननुवृत्तेरिति भावः। (ल० श० शे० पृष्ठ ४१०)
अहेत्वर्थं दिवेत्यादिसूत्रमिति सर्वसिद्धम्। (व्या० सि० सु० पृ० १३३३)

२. वर्त्तमान मुद्रित काशिका के सब संस्करणों में यहां पर 'अथवा—अजादिषु पाठः करिष्यते' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। जो स्पष्टतः भ्रष्ट है। क्योंकि हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित (शब्दकौ० ३.२.२१, प्रौढमनो० पृष्ठ ७२१), ज्ञानेन्द्रस्वामी (सि० कौ० तत्त्वबोधिनी उत्तरार्ध पृष्ठ ४१०), विश्वेश्वरसूरि (व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि पृष्ठ १३३४) आदि अनेक मूर्धन्य वैयाकरणों ने इस पाठ को उद्धृत न कर काशिका के उपर्युक्त पाठ को ही उद्धृत किया है। हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी में इस पाठ पर व्याख्या भी उपलब्ध है।

वृत्तिकार की दृष्टि में इस वचन को यहां पढ़ने से जो फल प्राप्त होता है वह फल इसे पचादियों में पाठ करने से भी प्राप्त हो सकता है। अब तुल्यन्याय से विचार करें कि यह वचन वहां दिया गया होता तो 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' के अनुसार यह वचन **कर्मण्यण्** (३.२.१) का तो बाध कर लेता पर **कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु** (३.२.२०) द्वारा प्राप्त 'ट' का नहीं। तब हेतु आदि अर्थों में परत्वात् टप्रत्यय होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'किङ्करी' ही सिद्ध होता। तो अब इस उपलब्धि और न्यासकारोक्त उपलब्धि में अभूतपूर्व सामंजस्य बैठ जाता है। इससे न्यासकार के मत का वृत्त्यनुसारी होना सुतरां सिद्ध हो जाता है । तभी तो तत्त्वबोधिनीकार को भी यहां यह स्वीकार करना पड़ा है—

"वृत्तौ तु पक्षान्तरमप्युक्तम्—अथवा पचादिषु पाठः करिष्यत इति। दिवा-विभेत्यस्मिन्त्सूत्रे किमादिग्रहणमपनीय पचादिष्वेव 'कियत्तद्बहुषु कृञः' इति पठितव्यम्। वार्त्तिकमपीत्थमेव नेयमिति तस्याशयः। अस्मिन् पक्षे कर्मण्यणं बाधित्वा चरितार्थमिदं वचनं हेत्वादिविवक्षायां परत्वाट्टेन बाध्यते, तेन पुंयोगं विनापि किङ्करी स्यादेव, पुंयोगविवक्षायां तु निर्विवादो ङीष्।" (सि० कौ० तत्त्व, उत्तरार्ध, पृ० ४१०)

[३.३] **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (३.३.१०८ पर वार्त्तिक) के उदाहरण 'पचतिः' की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'पचतिरिति सार्वधातुकनिबन्धनः शब्भवति। ननु च कर्तृवाचिनि सार्वधातुके शब् विधीयते, न चात्र कर्त्ता प्रत्ययार्थः, तेन कुतः शपः सम्भवः? सार्वधातुकसंज्ञार्थशित्करण-सामर्थ्याद् अकर्तृवाचिन्यपि सार्वधातुके शब् भविष्यति, अन्यथा हि शित्करणमनर्थकं स्यात्।' (न्यास ३.३.१०८)

यहां स्पष्ट न्यासकार ने श्तिप् के शित्करणसामर्थ्य से उस की सार्वधातुकसंज्ञा मानकर शप् आदि विकरणों की उत्पत्ति मानी है, अन्यथा श्तिप् का शित्करण व्यर्थ हो जायेगा यह उनका आशय है।

कैयट भी न्यासोक्त युक्ति का आश्रय लेते हुए महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'श्तिपः शित्करणाद् अकर्तृवाचिन्यपि तस्मिन् शपादयो भवन्ति।' (प्रदीप ३.३.१०८)

प्रक्रियासर्वस्व में नारायणभट्ट भी यही कहते हैं—

'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे वाच्यौ पुंसि च तौ मतौ।
भिदिश्च पचतिर्हन्तिः श्तिपः शित्वाच्छबादयः॥ (प्रक्रियास०, कृत्खण्ड, पृष्ठ ११०)

परन्तु हरदत्तमिश्र ने श्तिप् के शित्करण का न्यासोक्त प्रयोजन बताते हुए इस का खण्डन किया है। उनका कथन है कि श्तिप् के शित् करने से पा आदि को पिब आदि आदेश तथा ध्यै आदि धातुओं में **आदेच उपदेशेऽशिति** (६.१.४४) से आत्व का वारण हो जाता है अतः अन्यप्रयोजन में चरितार्थ होने से शित्करणसामर्थ्य से विकरण प्राप्त

नहीं कराया जा सकता। इसलिये विकरणप्राप्ति के लिए उपसर्गात् सुनोतिसुवति० (८.३.६५) विभाषा लीयतेः (६.१.५०), ध्यायतेः सम्प्रसारणं च (वा० ३.२.१७८) आदि निर्देशों का ही आश्रय लेना युक्त होगा। तथाहि—

'श्तिपः शित्करणसामर्थ्याद् अकर्तृवाचिन्यप्येतस्मिन् शबादयो भवन्ति।—कथं पुनः शित्करणस्य सामर्थ्यम्? यावता पिबतिर्जिघ्रतिरित्यादौ श्तिपि पिबाद्यादेशार्थं ग्लायत्यादौ आत्वप्रतिषेधार्थं च शित्करणं स्यात्? एवं तर्हि उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति०, विभाषा लीयतेः, भवतेर्ण उपसङ्ख्यानम्, ध्यायतेः सम्प्रसारणं च इत्येवमादि-निर्देशाच्छबादयो भविष्यन्ति।' (पदमञ्जरी ३.६.१०८)

भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा[1] तथा ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने तत्त्वबोधिनी[2] में हरदत्त-मिश्र की ही युक्तियों को दोहराया है और न्यासोक्त शित्करणसामर्थ्य से विकरणों के किये जाने का ज़ोरदार खण्डन किया है।

नागेशभट्ट भी उपर्युक्त कैयटवचन पर आक्षेप करते हुए प्रदीपोद्योत में लिखते हैं—

'शित्करणस्य पिबाद्यादेशविधानेन चारितार्थ्यादिदं चिन्त्यम्। तस्मान्निर्देशैरेव विकरणः साध्यः।' (उद्योत ३.३.१०८)

इस प्रकार प्रायः सब आधुनिक वैयाकरण इस विषय में न्यास का प्रत्याख्यान करते चले आ रहे हैं। परन्तु यदि हम तटस्थता से तनिक गहरा विचार करें तो न्यास-कार की युक्ति का औचित्य भी बुद्धिगम्य होने लगता है। तथाहि—

यदि श्तिप् प्रत्यय को शित् न भी करते तो भी 'पिबतेरीच्चाभ्यासस्य, जिघ्र-तेर्वा, ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' इत्यादि निर्देशों से यह ज्ञापित हो सकता था कि इस (तिप्) प्रत्यय के परे होने पर पिब आदि आदेश हो जाते हैं। तो पुनः शित्करण व्यर्थ हो कर ज्ञापित करेगा कि इस की सार्वधातुकसंज्ञा होकर शप् आदि विकरण हो जायें।

---

१. "पचतिरिति। उपसर्गात्सुनोतिसुवति०, ध्यायतेः सम्प्रसारणं चेत्यादिनिर्देशाद् अकर्तृ-वाचिन्यपि परे शबादयः। एवं भावकर्मवाचिन्यपि (अभावकर्मवाचिन्यपीत्युचितः पाठः) क्वचिद् यक्। विभाषा लीयतेरिति यथा। तत्र हि लीलीङोर्यका निर्देश इत्युक्तम्। यत्तु प्राचा शित्करणसामर्थ्यात् शबादय इत्युक्तं तन्न। पिबतिर्ग्ला-यतिरित्यादौ पिबाद्यादेशप्रवृत्त्या आत्वनिवृत्त्या च शित्त्वस्य चरितार्थत्वात्।" (प्रौढम० पृ० ८२२)

२. "पचतिरिति। 'उपसर्गात्सुनोतिसुवति०' 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' इत्यादिनिर्देशाद्-कर्तृवाचिन्यपि सार्वधातुके परे शबादयः। एवं भावकर्मवाचिन्यपि (अभावकर्म-वाचिन्यपीत्युचितः पाठः) सार्वधातुके क्वचिद्यक्, 'विभाषा लीयतेः' इति यथा। तत्र हि लीलीङोर्यका निर्देशो न तु श्यनेत्युक्तम्। यत्तु प्राचा श्तिपः शित्करण-सामर्थ्याच्छबादय इत्युक्तम्। तन्न। पिबतिर्ग्लायतिरित्यादौ पिबाद्यादेशप्रवृत्त्या, आत्वनिवृत्त्या च शित्त्वस्य चरितार्थत्वात्।" (तत्त्व० उ० पृ० ५६५)

इस विचार की पुष्टि सिद्धान्त-सुधानिधिकार के इस लेख से भी होती है जो उन्हों ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

'शित्करणं शप्प्रवृत्त्या चरितार्थम् । पिबादयस्तु लोपः पिबतेरित्यादि निर्देशाद् इत्यस्यापि सुवचत्वात् । एतदभिप्रायेणैव कैयट-हरदत्त[1]-न्यासकारादिभिः शित्करणसामर्थ्यादित्येवाऽभिहितत्वात् ।' (व्या० सि० सु० ३.३.१०८)

[३.४] इक्श्तिपौ धातुनिर्देश इति वक्तव्यम् (वा० ३.३.१०८) की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'इक्श्तिपाविति । शकारः शित्कार्यार्थः । तेन पचतिरिति सार्वधातुकनिबन्धनः शब्भवति । ननु च कर्तृवाचिनि सार्वधातुके शब् विधीयते, न चाऽत्र कर्त्ता प्रत्ययार्थः, तत्कुतः शपः सम्भवः ? सार्वधातुकसंज्ञार्थशित्करणसामर्थ्यादकर्तृवाचिन्यपि सार्वधातुके शब् भविष्यति, अन्यथा हि शित्करणमनर्थकं स्यात् । यद्येवं यगपि स्यात् ? अनभिधानान्न भविष्यति ।' (न्यास ३.३.१०८)

न्यासकार ने यहां अकर्तृवाचक सार्वधातुक परे रहते जो यक् का परिहार 'अनभिधानात्' कह कर दर्शाया है वह ठीक नहीं । क्योंकि विभाषा लीयतेः (६.१.५१) सूत्र पर काशिकाकार तथा स्वयं न्यासकार इस स्थिति में यक् को स्वीकार करते हैं तथाहि—

काशिका—'लिङ् श्लेषणे इति दिवादिः, ली श्लेषणे इति क्र्यादिः । तयोरुभयोरपि यका निर्देशः स्मर्यते ।'

न्यास—'तयोरुभयोरपि यका निर्देशः स्मर्यत इति । आचार्यैः । अथ दैवादिकस्यायं श्यना निर्देशः कस्मान्न विज्ञायते ? अत एव निर्देशात् । यदि दैवादिक एवाऽत्र निर्देष्टुमभीष्टः स्यात्, अनुबन्धेन लीङ इति निर्देशं कुर्यात् । तस्मात् साधारणेन आगन्तुकेन यकाऽयमुभयोर्निर्देशः ।

इस प्रकार न्यासकार का 'अनभिधानात्' हेतु स्ववचोविरुद्ध होने से दोषपूर्ण है । जिस प्रकार श्तिप् प्रत्यय परे होने पर शप् हो जाता है उसी प्रकार क्वचित् यक् भी हो जाता है—ऐसा मानना ही युक्त है ।[2] अत एव हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'श्तिपः शित्करणसामर्थ्याद् अकर्तृवाचिन्यप्येतस्मिन् शबादयो भवन्ति । एवमभावकर्मवाचिन्यपि क्वचिद् यगपि भवति । यथा—विभाषा लीयतेः, अत्र लीलीङोर्यका निर्देशः कृतः, श्यनि तु लीङ एव ग्रहणं स्यात् न तु लीनातेः ।' (पदमञ्जरी ३.३.१०८)

१. अत्र हरदत्तोल्लेखोऽतिरभसवशाद् बोध्यः । नैतद् हरदत्तस्य मतमिति पूर्वनिर्दिष्टपदमञ्जरीप्रमाणतो नितरां स्पष्टम् ।

२. जैसाकि कैयट उपाध्याय महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'श्तिपः शित्करणाद् अकर्तृवाचिन्यपि तस्मिन् शबादयो भवन्ति । यगपि क्वचिद् भवति; यथा विभाषा लीयतेरिति । अत्र हि लीलीङोर्यका श्तिपि निर्देशः कृतः । श्यनि तु लीङ एव ग्रहणं स्याद्, न तु लिनातेः ।' (प्रदीप ३.३.१०८)

पुनः विभाषा लीयतेः (६.१.५१) सूत्र पर भी—

'श्तिपः श्तिकरणसामर्थ्याच्चाऽभावकर्मवाचित्वेऽपि यग्भवति यथा अकर्तृवाचित्वशबादयः भवतेः इत्यादौ ।' (पदमञ्जरी ६.१.५१)

प्रौढमनोरमा में भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

'एवमभावकर्मवाचिन्यपि[1] क्वचिद्यक् विभाषा लीयतेरिति यथा। तत्र हि लीलीङोर्यका निर्देश इत्युक्तम्।' (प्रौढम० पृष्ठ ८२२)

तत्त्वबोधिनी में ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी यही लिखते हैं—

'एवमभावकर्मवाचिन्यपि[2] सार्वधातुके क्वचिद् यक्, विभाषा लीयतेः इति यथा। तत्र हि लीलीङोर्यका निर्देशो न तु श्यनेत्युक्तम्।' (तत्त्व० उ० पृ० ५६५)

व्याकरणदीपिका में ओरम्भट्ट भी यही मानते हैं—

'एवमभावकर्मवाचिन्यपि क्वचिद्यक्। विभाषा लीयतेरिति यथा।'
(व्या० दी० ६.१.५१)

[३.५] तस्य समूहः (४.२.३७) सूत्र पर काशिका के अनेक मुद्रित संस्करणों में 'शौकम्' यह उदाहरण मिलता है। 'शौकम्' का अर्थ है—शुकानां समूहः—शौकम्।

यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

'काकम्, शौकम्, बाकमिति। काक-शुक-वकशब्दा अद्युदात्ताः, 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' इत्यनेन। अस्यायमर्थः—प्राणिविशेषवाचिनां शब्दानां ये आदिभूताः कवर्गात् पूर्वे तेषामुदात्तो भवतीति।' (न्यास ४.२.३७)

न्यासकार के इस व्याख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन के काल में इस सूत्र पर काशिका में 'शौकम्' पाठ विद्यमान था। परन्तु काशिकाकार के अनुसार इस सूत्र पर वे उदाहरण दिये जाने चाहियें जिन में किसी अन्य सूत्र द्वारा समूहार्थक प्रत्यय का विधान न किया गया हो, तात्पर्य यह है कि अपवादों से मुक्त उदाहरण ही इस सूत्र पर दिये जाने चाहियें।[3] परन्तु यदि काशिकाकार की इस बात को ध्यान में रखा जाये

१.-२. 'एवं भावकर्मवाचिन्यपि' इति प्रौढमनोरमायां तत्त्वबोधिन्यां च मुद्रितपाठोऽपपाठः। यतो विसंवदत्येष पदमञ्जरीपाठम्। दृश्यतामत्रस्थ उपर्युद्धृतः पदमञ्जरीपाठः। अत एव दीक्षितवचोऽनुकारिणा ओरम्भट्टेनाऽत्र व्याकरणदीपिकायां शुद्धः पाठ उद्धृतः।

३. 'किमिहोदाहरणम्? चित्तवद्, आद्युदात्तम्, अगोत्रम्, यस्य च नाऽन्यत्प्रतिपदं ग्रहणम्। अचित्ताट्ठकं वक्ष्यति, अनुदात्तादेरञ्, गोत्राद्वुञ्, प्रतिपदञ्च केदाराद्यञ्च इत्येवमादि। तत्परिहारेणाऽत्रोदाहरणं द्रष्टव्यम्।' (काशिका ४.२.३७)

यही बात भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में कहते हैं—

'चित्तवद् आद्युदात्तम् अगोत्रान्तम् प्रतिपदम् अनुक्तप्रत्ययमिहोदाहरणम्। तथाहि—अचित्ताट्ठग्वक्ष्यति, अनुदात्तादेरञ्, गोत्रान्ताद् वुञ्, केदारादिभ्यः प्रतिपदं यञादयः।' (शब्दकौस्तुभ ४.२.३७)

तो उन का 'शौकम्' उदाहरण उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि 'शुक' शब्द का खण्डिकादिगण में पाठ आया है अतः वहां **खण्डिकादिभ्यश्च** (४.२.४५) सूत्र से अञ् प्रत्यय ही होगा न कि अण्। इस सूत्र (४.२.४५) की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार और न्यासकार दोनों ने 'शुक' शब्द का खण्डिकादिगण में पाठ मुक्तकण्ठ से स्वीकार भी किया है।[1]

इस प्रकार वृत्तिकार और न्यासकार दोनों की महती अनवधानता प्रकट होती है। अत एव हरदत्तमिश्र यहां पर लिखते हैं—

'तत्र शौकमित्यनुदाहरणम्, खण्डिकादिषु पाठात्। बकशब्दस्तूदाहार्यः।'
(पदमञ्जरी ४.२.३७)

"शुकशब्दोऽत्र (खण्डिकादिषु) पठ्यते। **तस्य समूहः** इत्यत्र तु 'यस्य च नाऽन्यत् प्रतिपदविधानमस्ति' इत्युक्त्वोदाहृतम्—काकं शौकमिति। तस्मात्तत्र शौकमित्यस्य स्थाने बाकमिति पठितव्यम्। बकशब्दः 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' इत्याद्युदात्तः।"
(पदमञ्जरी ४.२.४५)

यही बात भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ और प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

'इह शौकमिति वृत्तिन्यासयोरुदाहृतम्। तदन्याय्यम्। खण्डिकादिषु शुकशब्दस्य भाष्ये वृत्तौ च पठितत्वेनाञन्तत्वात्।' (शब्दकौस्तुभ ४.२.३७)

'यत्तु वृत्तौ न्यासे च शौकमित्युदाहृतं तत् प्रामादिकम्, खण्डिकादिषु शुकशब्दस्य भाष्ये वृत्तौ च पठितत्वेनाञन्तत्वादित्यवधेयम्।' (प्रौढम० द्वितीय० पृ० १४६)

तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

'यत्तु वृत्ति-न्यासयोः शौकमित्युदाहृतं तदुपेक्ष्यं खण्किादिषु शुकशब्दस्य पाठात् तत्राञा भाव्यमिति हरदत्तादयः।' (तत्त्व० पू० पृ० ६२१)

नागेशभट्ट भी इसी का प्रतिपादन करते हैं—

'यत्तु शौकमित्युदाहरन्ति, तन्न। खण्डिकादिषु शुकस्य पाठेन तस्याञन्तत्वादिति दिक्।' (बृ० श० शे० पृ० १३०४)

सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजदेव भी शुक शब्द का खण्डिकादियों में परिगणन करते हैं—

'खण्डिकाहन्हलबन्धयुगवस्त्रवडवाभिक्षुकशुकोलूकश्वानुदात्तादेरञ्।'
(सरस्वती० ४.२.६०)

---

१. काशिका—खण्डिका। वडवा। क्षुद्रकमालवात् सेनासञ्ज्ञायाम्। भिक्षुक। शुक। उलूक—(४.२.४५)।
न्यास—शुकोलूकयोरपि 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' इति कुपूर्वादिरुदात्त एव।
(४.२.४५)
किञ्च ४.२.४५ के महाभाष्य में 'खण्डिकशुकोलूक' पाठ से शुकशब्द का खण्डिकादियों में पाठ भाष्यसम्मत भी है।

हरदत्तमिश्र आदियों का कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वृत्तिकार और न्यासकार का यहां प्रमाद ही समझना चाहिये। उस्मानियासंस्करण में यह पाठ काशिका के मूल से हटा कर सम्पादकों ने अच्छा नहीं किया, क्योंकि किसी ग्रन्थकार के ऐसे प्रमाद जिनकी आलोचना सैंकड़ों वर्षों से होती चली आ रही हो उस के ग्रन्थ से हटाये नहीं जा सकते, वरन् यह अनधिकार चेष्टा कहलाती है।

नोट—'शौकम्' में अण् व अञ् करने से स्वर का ही अन्तर पड़ता है। अञ् करने से आद्युदात्त तथा अण् करने से अन्तोदात्त स्वर होता है।

[३.६] तस्य समूहः (४.२.३७) सूत्र की व्याख्या करते समय 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' (फिट्सूत्र ३०) इस फिट्सूत्र का प्रसङ्गतः अर्थ दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'काकशुकवकशब्दा आद्युदात्ताः, प्राणिनां कुपूर्वाणामित्यनेन। अस्यायमर्थः—प्राणिविशेषवाचिनां शब्दानां ये आदिभूताः कवर्गात् पूर्वे तेषामुदात्तो भवतीति।'

न्यासकार ने यहां 'प्राणिनाम्' और 'कुपूर्वाणाम्' में व्यधिकरणषष्ठीविभक्तियां मानी हैं तथा 'कुपूर्वाणाम्' में 'कोः कवर्गात् पूर्वे तेषाम्' ऐसा कह कर पञ्चमीतत्पुरुष-समास व्यक्त किया है। हरदत्तमिश्र भी ठीक इसी का अनुसरण करते हैं—

"काकशुकवकशब्दा आद्युदात्ताः 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' इत्यनेन। अस्यार्थः—व्यधिकरणे षष्ठ्यौ, अथादिः प्राक् शकटेरित्यत आदिरित्यनुवृत्तं षष्ठीबहुवचनान्तं विपरिणम्यते। प्राणिवाचिनां ये आदिभूताः कवर्गात् पूर्वे अचस्तेषामुदात्तो भवतीति।" (पदमञ्जरी ४.२.३७)

परन्तु न्यासकार के अनुसार 'कुपूर्वाणाम्' में यदि पञ्चमीतत्पुरुषसमास मानते हैं तो तत्पुरुषसमास में सर्वनामसंज्ञा के अबाध रहने से 'कुपूर्वेषाम्' पाठ होना चाहिये था। सर्वनामसंज्ञा का बाध द्वन्द्व, तृतीयातत्पुरुष या बहुव्रीहिसमास में ही हुआ करता है जो यहां सम्भव नहीं। इस दोष की ओर ध्यान दिलाते हुए भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ और प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

"काकवृकबकशब्दा आद्युदात्ताः 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' इति फिट्सूत्रात्। सूत्रं तु न्यासकार इत्थं व्याख्यत्। प्राणिविशेषवाचिनां शब्दानां ये आदिभूताः कवर्गात् पूर्वे तेषामुदात्तः स्यादिति। अथादिः प्राक्शकटेरिति ह्यधिकृतम्। हरदत्तोऽप्येवम्। किन्त्वत्र कुपूर्वेषामिति स्यात् तस्मात्फलितार्थकथनमिदम्। कुना हेतुना पूर्वे इति तु तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः पुंसानुज इतिवत्, तेन सर्वनामकार्यं न। अस्माभिस्तु फिट्सूत्रवृत्तिमनुसृत्य 'प्राणिनां कुपूर्वम्' इति पाठः प्रागुक्तः[1]। स तु निर्बाध एवेत्यवधेयम्।" (शब्दकौस्तुभ ४.२.३७)

'प्राणिनां कुपूर्वम्। यत्तु कुपूर्वाणामिति पाठमुपन्यस्य कवर्गाद् ये पूर्वे तन्मध्ये आदिरिति न्यासकारहरदत्तौ तस्य समूहः इतिसूत्रे प्रोचतुः, तच्चिन्त्यम्। सर्वनामत्वेन सुटि सति कुपूर्वेषामितिप्रयोगापत्तेः। सौत्रत्वं वा शरणीकर्त्तव्यम्।' (प्रौढम० उ० पृष्ठ ८६८)

---

१. दीक्षित ने यहां किस फिट्सूत्रवृत्ति की ओर निर्देश किया है—यह अज्ञात है। Leipzig सं० में छपी फिट्सूत्रवृत्ति में तो न्यासोक्तपाठ ही उपलब्ध होता है।

नागेशभट्ट लघुशब्देन्दुशेखर में कहते हैं—

'तस्य समूह इतिसूत्रे न्यासहरदत्तयोः कुपूर्वाणामिति पाठो दृश्यते। कवर्गाद्यं पूर्वे तन्मध्य आदिरित्यर्थः। सर्वनामकार्यं तु सौत्रत्वान्न।' (ल० श० शे० उ० पृष्ठ ६४३)

बृ० शब्देन्दुशेखर में भी यही शब्दावली दी गई है।

स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका में श्रीनिवासयज्वा लिखते हैं—

'प्राणिनां च कुपूर्वाणाम् इति क्वचित् पाठः। कवर्गात् ये पूर्वे तन्मध्ये आदिरुदात्तः इति तदर्थमाहुः। आमि सर्वनाम्नः० इति सुडभावः सौत्रः।'

(स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका पृष्ठ २७१)

प्रसादटीकाकार विट्ठल ने 'प्राणिनां कुपूर्वः' सूत्रपाठ लिखा है (प्रक्रिया कौ० उत्तरार्ध पृष्ठ ७५०) वह सम्भवतः भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुकरण पर लिखा होगा।[1] वैसे तस्य समूहः सूत्र की व्याख्या में उन्हों ने 'प्राणिनां कुपूर्वाणाम्' पाठ का ही उल्लेख किया है (देखें प्रक्रियाकौ० पूर्वार्ध पृष्ठ ७४८)।

जब सैंकड़ों पाणिनीयसूत्रों में दीक्षित सौत्रकार्य मानते हैं तो यहां सौत्रकार्य (सर्वनामताऽभाव) मानने में क्या आपत्ति हो सकती है। अतः केवल इसी आधार पर सूत्रपाठ को मनमाने ढंग से बदलना उचित प्रतीत नहीं होता।

[३.७] ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च (६.४.२०) सूत्र पर 'क्ङिति' पद की अनुवृत्ति लानी चाहिये या नहीं—इस विषय में वैयाकरण एक मत नहीं हैं। काशिकाकार ने यहां 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन किया है।[2] न्यासकार की निम्नस्थ पङ्क्ति से भी यही द्योतित होता है कि वृत्तिकार की तरह न्यासकार भी इसी पक्ष के अनुयायी थे। तथाहि—

'किं पुनः कारणमस्या वृत्तिकारोपदर्शिताया उपधाया ऊड् भवति, नाऽन्यस्याः ? क्विझलयां क्ङिता चोपधाविशेषणात् अत्र क्विप्प्रत्ययेन झलादिना क्ङिता चोपधा विशिष्यते।'

(न्यास ६.४.२०)

परन्तु भट्टोजिदीक्षित यहां पर 'क्ङिति' के अनुवर्त्तन के पक्ष में नहीं हैं। वे इस का विरोध करते हुए सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'अत्र क्ङितीति नाऽनुवर्त्तते, अवतेस्तुनि ओतुरिति दर्शनात्।'

(सि० कौ० उ० पृ० २८७)

इसी का अनुसरण करते हुए तत्त्वबोधिनीकार कहते हैं—

'अत्र वृत्तौ झलादौ क्ङितीत्युक्तम्। तत्र क्ङितीत्येतद्भ्रमसक्तमेवेत्याह—

१. प्राणिनां कुपूर्वः (सरस्वती० ८.३.१३८)।

२. "ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव—इत्येतेषामङ्गानां वकारस्य उपधायाश्च स्थाने 'ऊठ्' इत्ययमादेशो भवति क्वौ परतोऽनुनासिके झलादौ च क्ङिति"—(काशिका ६.४.२०)।

क्ङितीति नानुवर्त्तत इति, अवेस्तुनीति । ज्वरत्वरेत्युपधावकारयोरूठि गुणे च कृते ओतुरिति सिध्यति नान्यथा । तेनात्र क्ङितीति नानुवर्त्तनीयमिति भावः ।'

(तत्त्व० उ० पृष्ठ २८७)

तात्पर्य यह है कि अव् धातु से औणादिक तुन् प्रत्यय लाने पर अव् के वकार तथा उपधा-अकार को ऊठ् हो कर गुण करने से 'ओतुः' रूप सिद्ध होता है। यदि 'क्ङिति' की अनुवृत्ति लाते हैं तो यह सिद्ध नहीं हो सकेगा, अतः 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन नहीं करना चाहिये।

दीक्षित की बात उचित और युक्तियुक्त प्रतीत होती है। 'क्ङिति' के अनुवर्त्तन का यहां कोई फल नहीं दीखता, उल्टा 'ओतु' में बाधा उपस्थित होती है। इस से अगले सूत्र राल्लोपः (६.४.२१) में भी इस के अनुवर्त्तन का कोई फल नहीं है। अतः इस का यहां अनुवर्त्तन न करना ही श्रेयस्कर है। परन्तु इस से यह नहीं समझना चाहिये कि 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन करने वाले वैयाकरण 'ओतु' की सिद्धि से अनभिज्ञ थे। वे 'ओतु' की सिद्धि प्रकारान्तर से अर्थात् 'बाहुलकात्' के आश्रय से किया करते थे। यथा उज्ज्वलदत्त पञ्चपादी उणादि की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'ज्वरत्वरेति ऊठ् बाहुलकात् । अक्ङित्त्वादप्राप्तेः । ओतुर्विडालः ।'

(पञ्चपादी उणादि० १.६९)

दशपादी उणादि की वृत्ति में भी यही लिखा है—

'ओतुर्विडालः । बाहुलकाद् ऊठ् ।' (दशपादी उणादि० १.१२२)[1]

ध्यान रहे कि इस दोष के इदम्प्रथमतया उद्घोषक भट्टोजिदीक्षित ही नहीं हैं, वरन् यह दोष प्राचीन अनेक वैयाकरणों को ज्ञात था। जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी, शाकटायन-अमोघाकार पाल्यकीर्त्ति, हैमबृहद्वृत्तिकार हेमचन्द्रसूरि आदि अनेक वैयाकरण यहां 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन नहीं करते ताकि 'ओतु' रूप सिद्ध हो जाये।[2] धातुवृत्ति में आचार्य सायण ने भी इस अनुवर्त्तन का खण्डन किया है। तथाहि—

"ज्वरत्वर० इत्यत्र क्वचिद् वृत्तिकोशे क्वौ झलादौ क्ङितीति पठ्यते, तत्र

---

१. दीक्षित स्वयं सि० कौ० के उणादिप्रकरण में इस मत का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

'ज्वरत्वरेत्यूठ् । तत्र क्ङितीत्यनुवर्त्तत इति मते तु बाहुलकात् । ओतुर्विडालः ।'
(सि० कौ० उणादि सूत्र ६९)

२. (क) 'क्ङितीति निवृत्तम् । तेन ओतुः ।' (जैनेन्द्रमहा० ४.४.१८)

(ख) 'त्वर्-जर्-मव्यति-स्रिवोऽव्श्च (४.१.१४२) । ऊः, उवौ, उवः, ऊतिः, ओतुः ।' (शाकटायन-अमोघा ४.१.१४२)

(ग) "अवत्याखुभ्य ओतुः । 'कृसि-कमि०' (उणा० ७७३) इति तुन् । मव्यवि० (४.१.१०९) इत्यूठादेशे गुणः ।" (अभिधानचिन्तामणि पृष्ठ ५२४)

(घ) 'ज्वरत्वर० इत्यादौ सूत्रे क्ङिद्ग्रहणमनुवर्त्तते, कथमत्र ऊठ् भवति ? उच्यते —क्ङिद्ग्रहणं केचिन्नानुवर्त्तयन्ति ।' (उणादि० श्वेतवनवासि० पृष्ठ ३०)

क्ङिद्ग्रहणं संपातायातम्, अवतेस्तुनि ओतुरिति दर्शनात्। तथाऽनुनासिकादिग्रहणं चावश्यमत्रानुवर्त्यम्, अवतेर्मनिन्प्रत्यये तस्य च टिलोपे ओमिति दर्शनात्।[1] तथा च न धातुलोप० इत्यत्र कैयटे 'आस्त्रेमाणम्' इत्युपादाय छान्दसत्वाद्वकारस्य ऊठ् न भवतीत्युक्तम्।"
(मा० धा० वृ० पृष्ठ १५६-६०)

[३.८] पाणिनि के **द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति** (७.४.४०) सूत्र के लिये चान्द्रव्याकरण में 'दो-सो-मा-स्थामित्ति किति' (चान्द्र० ६.२.६२) सूत्र बनाया गया है। इस तरह पाणिनि के 'द्यति-स्यति' धातुओं के लिये चान्द्र में 'दो-सो' पढ़ा गया है। 'दो' से **दो अवखण्डने** (दिवा० प०) तथा 'सो' से **षो अन्तकर्मणि** (दिवा० प०) धातु पाणिनीयव्याकरणवत् गृहीत किये जाते हैं। इत्थं चान्द्र में पाणिनि की अपेक्षा स्पष्टतः लाघव है। यह चान्द्रसूत्र काशिकाकार तथा न्यासकार दोनों के सामने विद्यमान था किन्तु काशिकाकार ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा। पर न्यासकार इस का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'द्यतिस्यतीति श्तिपा निर्देशोऽयं यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः। तेन तयोर्यथाप्राप्तमेव भवति—दादत्तः, दादत्तवान्, सासीतः, सासीतवान्।' (न्यास ७.४.४०)

न्यासकार ने यहां **दो अवखण्डने** की यङ्लुगन्त धातु 'दादा' से क्त और क्तवतु प्रत्यय कर प्रकृतसूत्र में श्तिप्निर्देश के कारण इत्वादेश की प्रवृत्ति स्वीकार नहीं की, तब **दो दद् घोः** (७.४.४०) सूत्र से दा को दद् आदेश कर 'दादत्तः' और 'दादत्तवान्' प्रयोग सिद्ध किये हैं। इसी प्रकार **षो अन्तकर्मणि** की यङ्लुगन्त धातु 'सासा' से उक्त क्त और क्तवतु प्रत्यय ला कर पूर्ववत् इत्वादेश की अप्रवृत्ति तथा **घुमास्था०** (६.४.६६) से आकार को ईकार आदेश करने पर 'सासीतः' 'सासीतवान्' रूप सिद्ध किये हैं।

जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी ने न्यास का अनुसरण किया है—

'द्यतिस्यत्योस्तिपा निर्देशो यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः। निर्दादत्तः, निर्दादत्तवान्। अवसासीतः, अवसासीतवान्। दद्भाव ईत्वं च भवति।' (जैनेन्द्रमहा० ५.१.१४४)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में विट्ठल भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

'श्तिपा निर्देशो यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः—दादत्तः। (प्रसाद, उत्तरार्ध, पृ० ५६६)

न्यासकार के इस मत का विरोध करने वाले सम्भवतः सर्वप्रथम हरदत्तमिश्र हैं। उन्हों ने अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में पदमञ्जरी में केवल इतना ही कहा है—

'द्यतिस्यति० इति श्तिपा निर्देशो धातुविशेषणार्थः।' (पदमञ्जरी ७.४.४०)

इस का अभिप्राय यह है कि यहां 'द्यति' और 'स्यति' में श्तिप् का निर्देश

---

१. सायण के इस वचन से यह भी द्योतित होता है कि काशिकानिर्दिष्ट पूर्वोक्त अर्थ में अद्यत्वे उपलभ्यमान 'अनुनासिके' पद प्रक्षिप्त है। संभवतः यही कारण है कि काशिकाकार ने 'अनुनासिके' का कोई उदाहरण नहीं दिया और न ही न्यास एवं पदमञ्जरी में इस का किंचिद् व्याख्यान किया गया है।

यङ्लुङ्निवृत्ति के लिये नहीं अपितु श्यन्विकरणीय 'दो' और 'षो' धातुओं के निर्देश के लिये किया गया है—

पर सत्रहवीं शती में भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में प्रसादकार को आगे कर इस मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं—

'द्यतिस्यति० । श्तिपा निर्देशो धातुविशेषणार्थः । न हि तेन विना श्यन् सुलभः । यत्तु प्रसादकृतोक्तम्—श्तिपा निर्देशो यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः, दादत्तः, सासात[1] इति । तन्न । यङ्लुकि हि इटा भाव्यम्—दादितः, सासित इति । तत्र दो दद् घोरिति विधीयमान आदेशोऽनेकाल्त्वात् सर्वस्येति निर्विवादम् । तथा च साभ्यासस्य प्रवर्त्तेत हन्तेर्यङ्लुगन्तस्येव विधिः । तथा च दादत्त इति त्वदुदाहृतं रूपं कथमुक्तिसम्भवं लभेत ।'

(प्रौढम० उ० पृष्ठ ७३७)

प्रायः इसी शब्दावली का प्रयोग करते हुए ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी तत्त्वबोधिनी में यही भाव व्यक्त करते हैं—

'श्तिपा निर्देशो धातुविशेषणार्थः । न हि श्तिपं विना श्यन् सुलभः । यत्तु प्रसादकृतोक्तम्—श्तिपा निर्देशो यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थः, दादत्त इति । तन्न । यङ्लुकि हि इटा भाव्यम्—दादितः, सासित इति । तत्र 'ति किति' इति वचनान्नास्ति प्रसङ्गः। किं च 'दो दद् घोः' इति विधीयमान आदेशोऽनेकाल्त्वात् सर्वस्येति निर्विवादम् । तथा च हन्तेर्यङ्लुगन्तस्य वधादेशवत् साभ्यासस्य प्रवर्त्तेतेति दादत्त इति त्वदुदाहृतरूपं कथमुक्तिसम्भवं लभेतेत्याहुः ।' (सि० कौ० तत्त्व० उ० पृ० ४३६)

इन दोनों उद्धरणों से दीक्षित की युक्तयों की प्रबलता स्पष्ट प्रतीत होती है । यङ्लुगन्त में सर्वत्र इट् का विधान होता है क्योंकि यहां द्वित्व के कारण कोई धातु एकाच् नहीं रहती, और इट् के आ जाने से तकारादि कित् का परत्व सम्भव नहीं अतः द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (७.४.४०) सूत्र से स्वयं ही इत्त्व प्राप्त नहीं होगा पुनः श्तिप्निर्देश से उस के अभाव की कल्पना करना उचित नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाये कि यहां श्तिप्निर्देश के सामर्थ्य से यङ्लुक् में इट् का आगम नहीं होगा तो पुनरपि दो दद् घोः (७.४.४६) से सर्वादेश दद् कैसे रोका जा सकेगा वह तो सम्पूर्ण 'दादा' के स्थान पर प्रवृत्त होगा । अतः न्यासाद्युक्त श्तिप्निर्देश से यङ्लुक् में इत्त्वनिवृत्ति मानना तथा 'दादत्तः' आदि प्रयोग दोनों ही चिन्त्य हैं । यही कारण है कि पाणिनीयेतर प्रायः सब आचार्यों ने यहां श्तिप्निर्देश को त्याग दिया है । चान्द्रसूत्र पहले उद्धृत कर चुके हैं । अन्य आचार्यों के सूत्र भी देखिये—

शाकटायन—दो-सो-मा-स्थां क्ति । (शाकटायन० ४.२.१०६)

भोजराज —दो-सो-मा-स्थामित्ति किति । (सरस्वती० ७.२.६१)

हेमचन्द्र —दो-सो-मा-स्थ इः । (हैम० ४.४.११)

बोपदेव —दो-षो-मा-स्थां ङिस्त्यणौ । (मुग्धबोध० सूत्र १०८३)

---

१. सासीत इति पाठेन भवितव्यम् । इदानीम्मुद्रितप्रसादे पाठोऽयं नितरां नोपलभ्यते ।

क्रमदीश्वर —दो-षो-मा-स्थां क्िति । (संक्षिप्त० सूत्र ७२८)

नोट— बृ० शब्देन्दुशेखर के कुछ हस्तलेखों का निम्न पाठ भी यहां विशेष विचारणीय है—

'दो-सो-मा-स्थेति सिद्धे श्तिन्निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः। तत्सामर्थ्याच्च तत्र इडभावोऽपि। तथा च तत्र च इत्वाऽभावे 'दो दद्०' इति सर्वादेशे 'दत्त' इत्येव रूपमित्याहुः।' (बृ० श० शे० पृ० २०५६, टिप्पण १)

इस का यही तात्पर्य है कि यदि न्यासोक्तप्रकार से श्तिप्निर्देश के कारण यङ्लुक् में इत्व की प्रवृत्ति स्वीकार न करें तो तत्सामर्थ्य से इट् का आगम भी न होगा।[1] तब 'दो दद् घोः' (७४.६) से सम्पूर्ण 'दादा' को दद् सर्वादेश होकर 'दत्तम्' प्रयोग बन जायेगा।

इस से न्यास के पक्ष का समर्थन तो होता है परन्तु रूप का नहीं। इस स्थिति में 'षो' का क्या रूप बनेगा ? वहां पर भी इट् का आगम न होकर 'सासा+त' इस अवस्था में घुमास्था० (३.४.६६) से ईत्व करने पर 'सासीतः' बनेगा। इस प्रकार न्यास के पहले उदाहरण को छोड़ दूसरे उदाहरण का समर्थन भी किया जा सकता है। परन्तु हैमशब्दानुशासन की 'धागः' (हैम० ४.४.१५) सूत्र पर बृहद्वृत्ति को देखने से यह विदित होता है कि कुछ वैयाकरण 'परमात्रस्यैव दद्भावः' अर्थात् पर 'दा' को ही दद् आदेश होता है पूर्व को नहीं—ऐसा स्वीकार करते हैं, यदि यह माना जाये तो न्यास का 'दादत्तः' उदाहरण भी अदुष्ट होगा।[2]

[३.९] दधातेर्हिः (७.४.४२) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः। तेन यङ्लुगन्तस्य हिरादेशो न भवति। दाधीतः, दाधीतवान्, दाधीत्वेति।' (न्यास ७.४.४२)

अर्थात् दधातेर्हिः सूत्रगत 'दधातेः' पद में श्तिप् का निर्देश होने से 'श्तिपा शपानुबन्धेन—' कारिका के अनुसार इस सूत्र की प्रवृत्ति यङ्लुक् में नहीं होती।

---

१. 'धाञो हिः' (शाकटायन० ४.२.११६) सूत्र की अमोघावृत्ति से प्रतीत होता है कि कुछ लोग 'अनित्यमागमशासनम्' का आश्रय लेकर इन स्थानों पर इट् का आगम नहीं मानते। प्रौढमनोरमा के उद्धृत उद्धरण में 'अभ्युपेत्य ब्रूमः' का भी यही आशय है। इसलिये यहां शब्दरत्नकार कहते हैं—

'श्तिपं विनापि सेवेत्यादौ शपा निर्देशवत् श्यना निर्देशस्य कर्त्तुं शक्यत्वेन श्तिप्निर्देशादिडभावमभ्युपेत्येत्यर्थः।' (पृष्ठ ७३७)

२. 'केचित्तु दो-सो-हाक्-धागां यङ्लुपि आगमशासनमनित्यम् इति न्यायादिटं नेच्छन्ति इत्वहित्वविधिं च निषेधन्ति। तन्मते दत्तः, दत्तवान्। परमात्रस्यैव दद्भाव इति मते निर्दादत्तः, निर्दादत्तवान्, अवसासीतः अवसासीतवान्, जाहीतः, जाहीतवान्, दाधीतः, दाधीतवान् इत्येव भवति।' (हैम० बृहद्वृत्ति ४.४.१५)

यङ्लुक् में क्तप्रत्यय लाने पर 'दाधा+त' इस स्थिति में घुमास्था० (६.४.६६) द्वारा आकार को ईकार हो कर 'दाधीतः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दाधीतवान्, दाधीत्वा' आदि में समझना चाहिये।

न्यास की इस प्रक्रिया ने उत्तरवर्ती अनेक वैयाकरणों को प्रेरित व उद्वेलित किया है। तथाहि—

जैनेन्द्र-व्याकरण के महावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी न्यास से प्रेरणा पा कर लिखते हैं—

'अनुबन्धनिर्देशो यङुबन्तनिवृत्त्यर्थः। दाधीतः, दाधीतवान्[1]।'

(जैनेन्द्रमहा० ५.२.१४६)

आचार्य पाल्यकीर्त्ति शाकटायनव्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में न्यास का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'यङ्श्लुचा हीट्[2] स्यात्। अथ त्वनित्यमागमशासनमिति न स्यात् तन्निवृत्त्यर्थश्च। दाधीतः, दाधीतवान्।' (अमोघा ४.२.११६)

आचार्य हेचन्द्रसूरि भी इस मत का उल्लेख करते हैं—

"केचित्तु दो-सो-हाक्-धागां यङ्लुपि 'आगमशासनमनित्यम्' इति न्यायाद् इटं नेच्छन्ति, इत्वहित्वविधिं च निषेधन्ति। तन्मते—दत्तः, दत्तवान्। परमात्रस्यैव दद्भाव इति मते निर्दादत्तः, निर्दादत्तवान्। अवसासीतः, अवसासीतवान्। जाहीतः, जाहीतवान्। दाधीतः, दाधीतवान् इत्येव भवति।" (हैम० बृहद्वृत्ति ४.४.१५)

माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य सायण भी यही लिखते हैं—

'दधातेरिति तिपा निर्देशाद् दाधीत्वेत्यत्र ह्यादेशो न भवति। यद्वा तकारादि-कित्परत्वाभावान्नैव हेः प्रसङ्गः।'[3] (मा० धा० वृ० पृष्ठ २७७)

विट्ठल भी प्रसादटीका में न्यास के अनुगामी हैं—

'श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः—दाधीतः।' (प्रसाद उ० पृ० ५७०)

परन्तु हरदत्तमिश्र न्यासकार के मत से उद्वेलित होकर उस का खण्डन करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"श्तिपा निर्देशो धेटो मा भूदिति। 'ध' इत्युच्यमाने धेटोऽप्यनुकरणं सम्भाव्येत, यथा दाधाघ्वदाप् इत्यत्र। यङ्लुकि त्विटि सति 'दाधितः' इति भवति।"

(पदमञ्जरी ७.४.४२)

इस का आशय यह है कि यङ्लुक् में किसी धातु के एकाच् न रहने से प्रत्येक धातु सेट् हो जाती है इस से वहां सदा सब धातुओं से इट् का आगम हो जाता है। इस स्थिति में इट् के आ जाने से तादि कित नहीं रहेगा, तादि कित् परे होने पर ही

---

१. अत्र 'देधीतः, देधीतवान्' इति मुद्रितः पाठः प्रमादजः।

२. 'हिट्' इति मुद्रितः पाठो भ्रष्टोऽवसेयः।

३. अत्र सायणेन 'यद्वा' इत्यादिना हरदत्तमिश्रमतमुपन्यस्तम्।

(१६)

इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अतः उसकी प्रवृत्ति यङ्लुक् में स्वतः ही रुक जायेगी, उसे रोकने के लिये सूत्र में श्तिप् का निर्देश मानना उचित नहीं। श्तिप्-निर्देश तो घेट् पाने धातु के ग्रहण को रोकने के लिये किया गया है। इस प्रकार धा धातु के यङ्लुक् में इट् का आगम होकर 'दाधा+इत' इस अवस्था में आतो लोप इटि च (६.४.६४) से आकार का लोप हो 'दाधितः' प्रयोग होना चाहिये न कि न्यासोक्त 'दाधीतः'।

हरदत्तमिश्र के प्रायोऽनुगामी भट्टोजिदीक्षित ने विट्ठल की प्रसादटीका को शिखण्डी बना कर प्रौढमनोरमा में मिश्र की युक्तियों से ही न्यासमत में दोषोद्भावित करते हुए लिखा है—

"श्तिपा निर्देशो घेटो निवृत्त्यर्थः। तीत्यनुवृत्तेर्यङ्लुकि तु 'दाधितः'। अत्रापि प्रसादकृता श्तिपा निर्देशस्य यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थत्वाद् दाधीत इति घुमास्थेतीत्त्वमुदाहृतं तत्पूर्ववदेव हेयम्।" (प्रौढम० उ० पृष्ठ ७३७)

प्रौढमनोरमानुगामी ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने भी तत्त्वबोधिनी में इन्हीं शब्दों को दोहराया है—

'श्तिपा निर्देशो घेटो निवृत्त्यर्थः। तीत्यनुवृत्तेर्यङ्लुकि न—दाधितः। अत्रापि प्रसादकृता श्तिपा निर्देशस्य यङ्लुग्निवृत्त्यर्थत्वाद् दाधीत इति घुमास्थेतीत्त्वमुदाहृतं तत्पूर्ववदेव हेयम्।' (तत्त्व० उ० पृष्ठ ४३६)

परन्तु हरदत्तमिश्र के अनुगामियों के पास इस का कोई उत्तर नहीं है कि यदि सूत्र में केवल घेट् की निवृत्ति ही अभीष्ट होती तो पाणिनि 'धाञो हिः' सूत्र ही बना सकते थे जैसाकि चान्द्रव्याकरण (६.२.६४) में बनाया गया है, पुनः इस के लिये 'दधातेर्हिः' इतना लम्बा सूत्र क्यों बनाया गया? इस से यही सिद्ध होता है कि आचार्य यङ्लुक् में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं चाहते अतः तत्सामर्थ्य से यङ्लुक् में यहां इट् का आगम भी नहीं होगा। यही बात पाल्यकीर्त्ति तथा हेमचन्द्रसूरि ने **अनित्यमागमशासनम्** द्वारा प्रतिपादित की है। बृ० शब्देन्दुशेखर के यहां के एक पाठान्तर में भी यही युक्ति न्यासपक्ष के समर्थन में प्रस्तुत की गई है।[1] अतः यहां न्यासकार का पक्ष किसी भी प्रकार मिश्र तथा तदनुगामी दीक्षित आदियों के मत से निर्बल प्रतीत नहीं होता।

[३.१०] दो दद् घोः (७.४.४६) सूत्र पर महाभाष्य और काशिका में एक कारिका पढ़ी गई है—

'अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते॥'

---

१. 'दोसोमास्थेति सिद्धे श्तिन्निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः। तत्सामर्थ्याच्च तत्र इडभावोऽपि' इति टिप्पणीस्थपाठानन्तरम् 'दधातेरिति। श्तिपा निर्देशः प्राग्वत्' इति टिप्पणीस्थः पाठः। (बृ० श० शे० पृष्ठ २०६०)

परन्तु इस कारिका की व्याख्या न तो महाभाष्य और न ही काशिका में की गई है। काशिका में केवल इतना कहा गया है—

'अच उपसर्गात्त इति प्राप्ते निपात्यन्ते। अनुपसर्गा वा एते अवादयः क्रियान्तर-विषया वेदितव्याः।'

इस कारिका की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"अवदत्तमित्यादि। आदिकर्मणि क्रियाप्रारम्भे। आदिभूतक्रियाक्षण इत्यर्थः। अत्र अच उपसर्गात्तः इति तकारादेशे प्राप्ते एतेऽवदत्तादयो निपात्यन्ते। 'आदिकर्मणि' इति च सर्वेषां विशेषणम्, न तु प्रदत्तमित्यस्यैव। आदिकर्मणोऽन्यत्र अच उपसर्गात्तः इति तकारादेशो भवति, न तु दद्भावः—अवत्तम्, वीत्तम्, सूत्तम्, अनूत्तमिति।"

(न्यास ७.४.४६)

न्यासकार के इस लेख से दो बातें स्पष्ट होती हैं—

(क) न्यासकार इन सब शब्दों का 'आदिकर्मणि' निपातन मान रहे हैं—'आदिकर्मणि इति च सर्वेषां विशेषणं न तु प्रदत्तमित्यस्यैव'।

(ख) न्यासकार इस निपातन को वैकल्पिक नहीं मान रहे अपितु नित्य मान रहे हैं, तभी तो वे कहते हैं—'आदिकर्मणोऽन्यत्र अच उपसर्गात्तः इति तकारादेशो भवति।'

न्यासकार के इस मत का खण्डन हमें सब से प्रथम अभिनवशाकटायनव्याकरण में उपलब्ध होता है। आचार्य पाल्यकीर्त्ति ने अपने व्याकरण में इस कारिका के लिये दो सूत्र बनाये हैं—

प्राद् दास्ते वाऽऽरम्भे। (शाकटायन० ४.२.११४)

नि-वि-स्वन्ववात्। (शाकटायन० ४.२.११५)

यहां प्रथम सूत्र द्वारा पाल्यकीर्त्ति ने आदिकर्म में प्रत्तम् और प्रदत्तम् दो रूप बनाये हैं। आरम्भसामर्थ्य से दूसरे सूत्र में 'आरम्भे' पद का अनुवर्त्तन नहीं होता। अतः इस सूत्र से नीत्तम्, निदत्तम्,[1] वीत्तम्, विदत्तम्, सूत्तम्, सुदत्तम्, अनूत्तम्, अनुदत्तम्, अवत्तम्, अवदत्तम्—ये दो दो रूप बनते हैं।

इस तरह पाल्यकीर्त्ति ने न्यास की पूर्वोक्त दोनों बातों का खण्डन किया है। न्यासकार 'आदिकर्मणि' का सम्बन्ध 'प्रदत्तम्' आदि सब के साथ करते हैं परन्तु पाल्यकीर्त्ति केवल 'प्रदत्तम्' के साथ। न्यासकार को विकल्प अभीष्ट नहीं पर पाल्यकीर्त्ति विकल्प का आश्रय लेकर दो दो रूप बनाते हैं। पाल्यकीर्त्ति ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति अमोघा में न्यास के मत का किंचिद् उल्लेख अवश्य किया है—'केषाञ्चिद् इहारम्भ एव विकल्पः। तेषां योगविभागो वैचित्र्यार्थः।' (अमोघा० पृष्ठ ३६४)

पाल्यकीर्त्ति के बाद पाणिनीय वैयाकरणों में भी इस मत की प्रतिष्ठा होने

---

१. अमोघावृत्ति में यहां अशुद्ध रूप मुद्रित हुए हैं। अतः शाकटायनव्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति का अवलम्बन कर पाठसंशोधन किया गया है।

लगी। इस मत की ओर पाणिनीयों का झुकाव हमें सब से पहले कैयट के प्रदीप में ही उपलब्ध होता है—

'अवदत्तमिति। आदिकर्मग्रहणं प्रदत्तशब्दस्यैव सम्भवाद् विशेषणम्। अवदत्तादिसिध्यर्थत्वाद् वचनस्य अवदत्तादयोऽपि भवन्ति। तथा च—अच उपसर्गात्तः इत्यस्यावकाशः प्रत्तम् अवत्तम्—इति वक्ष्यते। तस्माद् निदत्तमिति चेष्यते इति चशब्देन अवदत्तादयोऽपीष्यन्त इति सूच्यते।' (प्रदीप ७.४.४६)

हरदत्तमिश्र भी कैयट का अनुसरण करते हुए लिखते हैं—

'आदिकर्मणीत्येतत् प्रदत्तमित्येतस्य विशेषणम्, नेतरेषामसम्भवात्। इति चेष्यत इति। चकाराद् यथाप्राप्तं च, तेन अवत्तम्, वीत्तम्, प्रत्तमित्याद्यपि भवति।' (पदमञ्जरी ७.४.४६)

इन दोनों उद्धरणों का आशय यह है कि 'आदिकर्मणि' केवल 'प्रदत्तम्' का ही विशेषण है क्योंकि उस में 'प्र' पढ़ा गया है जो आदिकर्म को द्योतित करता है। अन्यों के साथ असम्भव होने से 'आदिकर्मणि' का सम्बन्ध नहीं होता। इस के अतिरिक्त कारिका में 'च' के पुनः पुनः पढ़े जाने तथा अन्त में 'चेष्यते' के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि ये शब्द तकारादेश का निषेध नहीं करते वरन् उस के साथ साथ ये भी अभीष्ट हैं। अर्थात् अवदत्तम् और अवत्तम्, विदत्तम् और वीत्तम्, प्रदत्तम् और प्रत्तम् (केवल आदिकर्म में ही), सुदत्तम् और सूत्तम्, अनुदत्तम् और अनूत्तम्, निदत्तम् और नीत्तम्—इस प्रकार दो दो रूप बनते हैं।

पाल्यकीर्त्ति के बाद पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर दोनों प्रकार के वैयाकरणों ने पाल्यकीर्त्ति का ही अनुसरण किया है। न्यासकार का अनुगामी कोई नहीं रहा। निदर्शनार्थ यथा—

(१) सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने इस कारिका के लिये दो सूत्र बनाये हैं—

उपसर्गादचस्तः। (सरस्वती० ७.२.९७)

सुविन्यवानुभ्यः क्ते वा। (सरस्वती० ७.२.९८)

प्राद् आदिकर्मणि। (सरस्वती० ७.२.९९)

यह सूत्ररचना पाल्यकीर्त्ति से भी स्पष्टतर है क्योंकि 'आदिकर्मणि' का सम्बन्ध यहां 'सुविन्यवानुभ्यः क्ते वा' में हो ही नहीं सकता।

(२) आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी अपने शब्दानुशासन में पाल्यकीर्त्ति के ही समर्थक हैं—

प्राद् दागस्त आरम्भे क्ते। (हैम० ४.४.७)

नि-वि-स्वन्ववात्। (हैम० ४.४.८)

(३) माधवीयधातुवृत्ति में सायण भी इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं—

'अवदत्तं विदत्तं च—। इतिवचनाद् अवदत्तादौ तो न भवति। अत्रैव वार्त्तिके चकाराद् अवदत्तादीनामबाधः। तत्रादिकर्मणीति अर्थात् प्रदत्तविशेषणम्।'

(मा० धा० वृ० पृष्ठ १७६)

(४) भट्टोजिदीक्षित सि० कौ० के कृदन्तप्रकरण में—

'अवदत्तं विदत्तं च—। चशब्दात् यथाप्राप्तम्।' (सि० कौ० उ० पृष्ठ ४१४)

इसी स्थल पर प्रौढमनोरमा में—

'अवदत्तमित्यादि। आदिकर्मणीत्येतत् प्रदत्तमित्यस्यैव विशेषणम्।' (पृष्ठ ७३८)

(५) नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में यही कहते हैं—

"अवदत्तमित्यादि। आदिकर्मणीत्येतत् प्रदत्तस्यैव विशेषणम् इति कैयटः। चादिति। अत एव प्रकृतसूत्रस्थं 'प्रत्तम्' 'अवत्तम्' इत्यवकाश इति भाष्यम्, दस्तीति सूत्रस्थं नीत्ता वीत्तेत्युदाहरणपरं च भाष्यं संगच्छते।" (बृ० श० शे० पृष्ठ २०६१)

भाष्य पर उद्योत में भी—

'अच उपसर्गात्त इति तत्वे प्राप्ते एतत्सिद्धिवोधनार्थमेवेदं न तु तन्निवृत्त्यर्थमिति भावः। अत एव वचने चकारबाहुल्यम्। तैश्च तस्यापि संग्रह इत्याहुः।'

(६) ओरम्भट्ट व्याकरणदीपिका में यही भाव व्यक्त करते हैं—

'सुदत्तं विदत्तं च—। आदिकर्मणीत्येतत् प्रदत्तमित्यस्यैव सम्भवाद् विशेषणम्। चशब्दाद् यथाप्राप्तम्।' (व्या० दी० ७.४.४७)

इन के अतिरिक्त स्वामिदयानन्दसरस्वती ने अपने आख्यातिक पृष्ठ (५४०) तथा चारुदेव शास्त्री ने अपने व्याकरणचन्द्रोदय द्वितीय भाग के पृष्ठ (८४) पर इसी मत का अनुसरण किया है।

[३.११] दो दद् घोः (७.४.४६) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'आदिकर्मणोऽन्यत्र अच उपसर्गात्त इति तकारादेशो भवति, न दद्भावः—अवत्तम्, वीत्तम्, सूत्तम्, अनूत्तम् इति।'

यहां पर न्यासकार का दिया 'सूत्तम्' उदाहरण कसौटी पर ठीक नहीं उतरता, क्योंकि महाभाष्य में गतिश्च (१.४.६०) सूत्र पर एक वार्त्तिक पढ़ा गया है—

'सुदुरोः प्रतिषेधो नुम्विधि-तत्व-षत्व-णत्वेषु।'

इस वार्त्तिक के अनुसार तत्वविधि में सु के उपसर्गत्व का निषेध कहा गया है। जब 'सु' उपसर्ग ही नहीं रहा तो पुनः अच उपसर्गात्तः- (७.४.४७) से तकारादेश कैसे हो सकेगा ? अतः केवल 'सुदत्तम्' रूप ही बनेगा, 'सूत्तम्' नहीं।

सम्भवतः इसी बात को मन में रखते हुए पाल्यकीर्त्ति अमोघावृत्ति में लिखते हैं—

'सुदत्तमित्येवैके।' (शाकटायन० अमोघा० ४.२.११५)

लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही लिखते हैं—

'सूत्तम् इति त्वपपाठः। गतिश्चेति सूत्रे भाष्ये सोस्तत्वे उपसर्गत्वप्रतिषेधात्।' (ल० श० शे० पृष्ठ ४४१)

बृ० शब्देन्दुशेखर में भी यही भाव व्यक्त किये गये हैं—

'सुपूर्वस्य तु न। गतिश्चेत्यत्र भाष्ये सोस्तत्वे उपसर्गत्वप्रतिषेधादित्याहुः। नीत्तमित्युत्तरं वीत्तमित्येव पाठः। सूत्तमिति त्वपपाठः।' (बृ० श० शे पृष्ठ २०६१)

व्याकरणदीपिका में ओरम्भट्ट भी यही कहते हैं—

'सूत्तमिति तु न प्राप्नोति। गतिश्चेत्यत्र भाष्ये सोस्तत्वे उपसर्गत्वप्रतिषेधादित्याहुः।' (व्या० दी० पृष्ठ ८६०)

श्रीसिद्धप्रभाव्याकरण में भी लिखा है—

'सोर्नेति।' (पृष्ठ १७१)

यहां यह बात विशेष विचारणीय है कि यदि तत्वविधि में 'सु' की उपसर्गता का निषेध है तो **अच उपसर्गात्तः** (७.४.४७) की प्रवृत्ति न होने से 'सूत्तम्' रूप तो बनेगा नहीं, **दो दद् घोः** (७.४.४६) से 'सुदत्तम्' रूप ही बनेगा। तो पुनः इस 'सुदत्तम्' रूप की सिद्धि के लिये इस का कारिका में[1] उल्लेख क्यों किया गया है? इस से तो यही सिद्ध होता है कि तत्वविधि में भी सु की उपसर्गता क्वचित् मानी जाती है, उस दशा में केवल तकारादेश वाला रूप (सूत्तम्) ही न वन जाये बल्कि उस के साथ 'सुदत्तम्' रूप भी बने—इसलिये कारिका में उस का उल्लेख किया गया प्रतीत होता है। सम्भवतः काशिकाकार भी इसी मत के अनुयायी थे, क्योंकि उन्हों ने सम्पूर्ण काशिका में कहीं उपर्युक्त वार्त्तिक का उल्लेख नहीं किया। भट्टोजिदीक्षित ने भी सि० कौ० में इस का उल्लेख नहीं किया। पाणिनीयेतर वैयाकरणों ने भी इस का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रतीत होता है कि न्यासकार भी इसी मत के अनुयायी थे। अतः भाष्यनिर्दिष्ट वार्त्तिक को क्वाचित्क मानना ही युक्त प्रतीत होता है।

[३.१२] **भवतेरः** (७.४.७३) सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—'श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः—बोभावेति।' (न्यास ७.४.७३)

हरदत्तमिश्र भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

'श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः।' (पदमञ्जरी ७.४.७३)

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल भी यही कहते हैं—

'श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्तये—बोभाव।'[2] (प्रक्रिया० कौ० उ० पृष्ठ ३७)

परन्तु यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यङ्लुक् में 'कास्यनेकाच इति वक्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम्' (वा० ३.१.३५) से आम् प्रत्यय हो जाने से सर्वत्र आम् का व्यवधान पड़ेगा तब साक्षात् लिट् परे न होने से भवतेरः द्वारा अत्व की प्रवृत्ति स्वतः

१. अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते॥ (महाभाष्य ७.४.४३)

२. 'बोभावः' इति मुद्रितः पाठोऽपपाठः।

ही न होगी पुनः उस के परिहार के लिये यह यत्न कैसा ? यह शङ्का जैनेन्द्रव्याकरण के व्याख्याता आचार्य अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति में उठाई है। तथाहि—

"तिपा निर्देशो यङ्बन्तनिवृत्त्यर्थः—बोभवाञ्चकार। नैतदस्ति, 'कास्यने-काच्त्याल्लिटचाम्' (२.१.३१) इति आमा व्यवहिते लिटि कथं प्राप्तिः ? 'इक्स्तिपौ धुनिर्देशे' इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि।" (जैनेन्द्रमहा० ५.२.१७३)

यहां जैनेन्द्र के महावृत्तिकार ने 'भवतेः' (जैनेन्द्र० ५.२.१७३) में तिप् के निर्देश से 'इक्स्तिपौ धुनिर्देशे' इस का ज्ञापन माना है जो अत्यन्त समुचित है क्योंकि जैनेन्द्रव्याकरण में पाणिनीयव्याकरण के 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' की तरह कोई सूत्र एवं वार्त्तिक पढ़ा नहीं गया है। परन्तु पाणिनीयव्याकरण में इस का निर्वाह कैसे हो ? यह शङ्का पुनः पूर्ववत् बनी रहती है।

न्यासकार पर हुए इस आक्षेप का समाधान आचार्य सायण माधवीयधातुवृत्ति में इस प्रकार करते हैं—

'तस्य तु प्रयोजनं यङ्लुकि मन्त्रविषये आमभावे लिट्परत्वे सति अत्वनिवृत्तिः।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १६)

सायण का समाधान अतीव समुचित है पर वर्त्तमान उपलब्ध वैदिक मन्त्र-संहिताओं में ऐसा प्रयोग कहीं देखा नहीं जाता। यदि कभी किसी लुप्तसंहिता में ऐसा प्रयोग मिल भी गया तो वहां जैसे आम् की छान्दसनिवृत्ति मानेंगे वैसे अत्व की निवृत्ति भी मान लेंगे अतः उस के लिए श्तिपा निर्देश की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि दीक्षित आदि उत्तरवर्त्ती वैयाकरण इस श्तिपा निर्देश के प्रयोजन बताने में मौन हैं। अत एव चान्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्र आदि प्रायः सब उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने श्तिप् से यहां निर्देश नहीं किया। तद्यथा—

चन्द्र	— भुवोऽत्।	(चान्द्र० ६.२.१२६)
शाकटायन	— भूव्यथोऽदित्।	(शाकटायन० ४.१.१०७)
भोजराज	— भुवोऽत्।	(सरस्वती० ७.२.१३०)
हेमचन्द्र	— भूस्वपोरदुतौ।	(हैम० ४.१.७०)
बोपदेव	— भुवोऽड् टचाम्।	(मुग्ध० सूत्र ५६०)
क्रमदीश्वर	— भुवो वुद्विरुदच्च।	(संक्षिप्त० सूत्र ७९७)

नोट—वस्तुतः यहां न्यासकार के सामने कोई वैदिक प्रयोग लक्ष्यरूप में विद्यमान न था, इसीलिए उन्हों ने सायण की तरह यहां कोई चर्चा भी नहीं की। वे इन्धिभवतिभ्यां च (१.२.६) में 'भवति' के श्तिपा निर्देश के कारण यङ्लुक् में सूत्र की अप्रवृत्ति होने से 'भूधातु से यङ्लुक् में लिट् कित् न हो' ऐसा ज्ञापन मानते थे। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब यङ्लुक् में भूधातु से लिट् परे होने से आम् न किया जाये अन्यथा आम् के बीच में आ जाने से लिट् का कित्त्वाभाव तो स्वतः ही सिद्ध होगा पुनः उस के लिए निषेध कैसा ? यही सोच कर उन्हों ने यङ्लुक् के लिट्

में आम् का अभाव कर 'बोभाव' आदि रूप सिद्ध किये हैं। अत एव (१.२.६) सूत्र की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

'भवतेरिह श्तिपा निर्देशो यङ्लुग्निवृत्त्यर्थः—यङ्लुगन्ताल्लिटः कित्त्वं मा भूदिति—बोभाव। तथा चोक्तम्—श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च। यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि। इति।' (न्यास १.२.६)

हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में इसी तरह के विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'अथेदानीं यङ्लुक्यप्यनेनैव लिटः कित्त्वं कस्मान्न भवति ? श्तिपा निर्देशात्।' (पदमञ्जरी १.२.६)

धर्मकीर्त्ति ने भी रूपावतार में यही मत अभिव्यक्त किया है—

'इन्धिभवतिभ्यां च इत्यत्र भवतिग्रहणसामर्थ्याद् आम् अनित्य इति ज्ञाप्यते, भवतीति श्तिपा निर्देशाद् यङ्लुकि कित्त्वाभावः, तेन—बोभाव, बोभूवतुः, बोभूवुः।' (रूपावतार, द्वितीयभाग, पृष्ठ २०८)

इसी न्यासोक्त मत को अभिव्यक्त करते हुए रामचन्द्र प्रक्रियाकौमुदी में लिखते हैं—

'कैश्चिद् आम् नेष्यते।' (प्रक्रियाकौ० उ० पृष्ठ ३६१)

इसी पर व्याख्या करते हुए विट्ठल लिखते हैं—

'कैश्चिदामिति। तथा च न्यासकृता पदमञ्जरीकृता च बोभाव, बोभूवतुरित्याद्युदाहृतम्।' पुनः आगे लिखते हैं—

'बोभावेति। अचो ञ्णितीति वृद्धिः। ननु चात्र 'इन्धिभवतिभ्यां च' इति कित्त्वं स्यात्। ततश्च वृद्धिर्न स्यात्। मैवम्, श्तिपा निर्देशात् तस्य यङ्लुकि प्राप्तिरेव नास्ति।' (प्रक्रियाकौ० उ० पृष्ठ ३६२)

परन्तु न्यासकार का यह मत किसी प्राचीन व्याख्या एवं वृत्ति पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि महाभाष्य में तो इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात् ताभ्यां लिटः किद्वचनानर्थक्यम् इस कात्यायनवचन के अनुसार इस समग्र सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है।[1] न्यासकार ने यह विचार निश्चय ही किसी ऐसी प्राचीन वृत्ति के आशय को लेकर ही व्यक्त किया होगा जो वार्त्तिककार कात्यायन के वचनों की अपेक्षा सूत्रकार के वचनों को अधिक महत्त्व देती होगी।

---

१. जब इन्धिभवतिभ्यां च इस समग्र सूत्र का ही प्रत्याख्यान हो गया तो न्यासोक्त 'भवति' में श्तिप् के निर्देश से ज्ञाप्यमान मत का सम्पूर्ण भवन ही ढह जाता है। इसलिये 'उत्तरोत्तरं मुनीनाम्प्रामाण्यम्' को मानने वाले दीक्षित आदि वैयाकरण 'बोभवांचकार' आदि रूपों को ही मानते हैं न्यासोक्त 'बोभाव' आदि रूपों को नहीं।

[३.१३] नाद् घस्य (८.२.१७) सूत्र पर काशिका में यह वार्त्तिक पढ़ा गया है—

'ईद्रथिनः । रथिन इकारादेशो घपरतः । रथीतरः ।'

यहां पर 'रथीतरः' उदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'रथिन् इत्येतस्माद् मत्वर्थीयेनिप्रत्ययान्तात् तरप्, नकारस्य लोपः, ईकारः । अथवा—नकारस्यैवेकारः, सवर्णदीर्घत्वम् ।' (न्यास ८.२.१७)

न्यासकार ने यहां दो प्रकार से 'रथीतरः' की सिद्धि दर्शाई है—

(१) रथिन्+तरप् । नकार का लोप होकर थकारोत्तर इकार को ईकार आदेश करने से—रथीतरः ।

(२) रथिन्+तरप् । नकार को ईकारादेश कर सवर्णदीर्घ करने से—रथीतरः ।

न्यासोक्त इन दो प्रक्रियाओं में से उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने प्रथम प्रक्रिया को ही अपनाया है, दूसरी प्रक्रिया को दोषपूर्ण समझते हुए उन्हों ने ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया है । तद्यथा—

(क) कैयट उपाध्याय महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'नुडपवाद ईकारो विधीयते, स च नलोपे कृते इकारस्य[1] विधेयः । यदि तु नलोपापवादो नकारस्य स्थाने विधीयेत तदा तस्याऽसिद्धत्वादेकादेशाभावाद् रूपं न सिध्येत् ।' (प्रदीप ८.२.१७)

(ख) इसी का आश्रय लेकर हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'रथशब्दान्मत्वर्थीय इनिः, तदन्तात् तरप्, नलोपे कृते इकारस्य[2] ईकारः । यदि तु नकारलोपापवादो नकारस्य स्थाने विधीयेत, तदा तस्याऽसिद्धत्वादेकादेशो न स्यात् ।' (पदमञ्जरी ८.२.१७)

(ग) भट्टोजिदीक्षित इन्हीं शब्दोंद्वारा प्रौढमनोरमा में न्यास का खण्डन करते हैं—

'रथशब्दान्मत्वर्थीय इनिः, तदन्तात् तरप् । नकारलोपे कृते ईकारः । यदि तु नलोपापवादो नकारस्य स्थान ईद् विधीयते तदा तस्याऽसिद्धत्वात् सवर्णदीर्घो न लभ्येत । एतेन नकारस्य ईकारादेशे[3] सति सवर्णदीर्घत्वम् इति न्यासग्रन्थः प्रत्युक्तः ।' (प्रौढमनोरमा पृष्ठ ८५८)

(घ) बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी इसी का अनुसरण करते हैं—

'रथशब्दान्मत्वर्थे इनिः । तदन्तात् तरप् । नलोपे कृते इकारस्य ईकारः । यदि तु नलोपापवादो नकारस्य स्थान ईद् विधीयते, तदा तस्याऽसिद्धत्वात् सवर्णदीर्घो न स्यात् ।' (बृ० श० शे० पृ० २१९५)

(ङ) ओरम्भट्ट भी व्याकरणदीपिका में यही कहते हैं—

१. 'ईकारस्य' इति मुद्रितः पाठोऽपपाठोऽवसेयः ।
२. 'दकारस्य' इति उपलभ्यमानो मुद्रितः पाठो लेखकप्रमादजो बोध्यः ।
३. 'इकारादेशे' इति मुद्रितः पाठोऽनवधानजः प्रतिभाति ।

'रथिनां नुडपवाद ईकारो विधीयते, स च नलोपे कृते इकारस्य विधेयः। यदि तु नलोपापवादो नकारस्य स्थाने विधीयेत तदा तस्याऽसिद्धत्वादेकादेशो न स्यात्।'

(व्या० दी० पृष्ठ ९१२)

(च) सिद्धान्तकौमुदी के सुबोधिनीव्याख्याकार भी यही कहते हैं—

'रथशब्दात् अत इनिठनौ इति मत्वर्थीय इनिः। तदन्तात् तरप्। नकारलोपे कृते इकारस्य ईकारादेशः। यदि तु नकारलोपापवादो नकारस्थान ईकारो विधीयते तदा तस्याऽसिद्धत्वादेकादेशो न स्यात्।' (सुबोधिनी पृष्ठ ६१४)

(छ) ल० शब्देन्दुशेखर की भैरवीटीका में भैरवमिश्र भी यही कहते हैं—

'ईद्रथिनः। रथिन्शब्दस्य ईदादेशः स्यात्। रथीतर इत्यत्र नलोपापवाद ईकारादेश इति केचित्। तन्न। सवर्णदीर्घे कर्त्तव्ये ईकारादेशस्यासिद्धत्वात्। सवर्णदीर्घत्वाभावेन रूपासिद्धिप्रसङ्गात्। (पृष्ठ ८९०)

(ज) सि० कौ० के सुप्रसिद्ध आङ्गलव्याख्याकार श्रीशचन्द्रवसु भी यही भाव व्यक्त करते हैं—

'If the long ई were substituted for the final न् of रथिन् as रथिई+तर, then this long ई being asiddha, it could not be compounded by ekadesa with the preceding इ into ई and the form would always remain रथिईतरः. (Sidhanta Kaumudi Vadic Rules, page 74)

(झ) न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती भी न्यासगत द्वितीयप्रक्रिया पर टिप्पण करते हुए लिखते हैं—

'एतत्तु चिन्त्यम्। ईकारस्याऽसिद्धत्वेन सवर्णदीर्घत्वस्याऽप्रवृत्तेः।'

(न्यास राजशाही संस्करण उ० पृ० ९७४)

इन सब उद्धरणों का एक ही अभिप्राय है कि यदि 'रथिन्+तर' में नकार को ईकारादेश कर देंगे तो इस ईकार के त्रिपाद्यसिद्ध होने से थकारोत्तर इकार और इस ईकार का सवर्णदीर्घ एकादेश न हो सकेगा। यदि कहें कि 'छान्दसत्वात्' सवर्णदीर्घ हो जायेगा तो यह भी ठीक नहीं। जब प्रक्रियामार्ग सीधा सम्भव हो सकता हो तो छान्दसत्वात् की कल्पना करना नितान्त अन्याय्य तथा प्रतिपत्तिगौरवदोषयुक्त ही है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि गत एक सहस्र से भी अधिक वर्षों से चले आ रहे एतद्विषयक सर्वसम्मत खण्डन की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान न देते हुए कलकत्ता के कुमुद्रञ्जनराय सिद्धान्तकौमुदी की अपनी आंगलसंस्कृतव्याख्या में निःसार कल्पना करते हैं—

"ईद्रथिनः (Varttika)—It has to be said that the aug. ईत् (ई) is prefixed to घ (तर or तम) when coming after the base रथिन्।"

संस्कृतव्याख्या में भी—

'रथिन्शब्दाद् ईत् (ई) इत्यागमो वाच्य इति शेषः, न तु नुट्। रथीतरः, रथीतम इति।'

इसी प्रकार रांचीविश्वविद्यालय के संस्कृतविभागाध्यक्ष प्रो० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि' भी कुमुदरञ्जनराय का अनुकरण करते हुए चौखम्बा-प्रकाशित सि० कौ० की वैदिकीप्रक्रिया की हिन्दी-व्याख्या में लिखते हैं—

'रथिन् शब्द के बाद घ को ईत् का आगम होता है—रथिन्+तरप्, नलोप, ई का आगम—रथि+ईतर=रथीतर।' (वैदिकी प्रक्रिया पृष्ठ १४२)

इन आगम मानने वालों की प्रक्रिया में भी वही दोष प्रसक्त होगा जिस के लिये पूर्वज सुधीजन न्यासकार को कोसा करते हैं।[1]

[३.१४] **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** (८.३.१७) सूत्र पर 'अशि' ग्रहण का प्रयोजन बतलाते हुए काशिकाकार लिखते हैं—

'तर्हि अश्ग्रहणमुत्तरार्थम्। हलि सर्वेषाम् इत्ययं लोपोऽशि हलि यथा स्यादिह मा भूद्—वृक्षं वृश्चतीति वृक्षवृट्, तमाचष्टे यः स वृक्षवयति, वृक्षवयतेरप्रत्ययः, वृक्षव् करोति।' (काशिका ८.३.१७)

यहां 'वृक्षव् करोति' में 'वृक्षव्' पद की व्याख्या करते हुए न्यासकार इस प्रकार प्रक्रिया दर्शाते हैं—

"ओव्रश्चू छेदने, क्विप्, ग्रह्यादिना सम्प्रसारणम्, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारलोपः, चकारस्य व्रश्चादिना षकारः, तस्य जश्त्वेन डकारः, तस्यापि चर्त्वं टकारः—वृक्षवृट्। तमाचष्ट इति णिच्, 'णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य' इतीष्ठवद्भावः, 'टेः' इति टिलोपः। वृक्षवयतेर्ण्यन्तात् क्विप्, णेरनिटि इति णिलोपः। वृक्षव् करोतीति। अत्राश्ग्रहणाद् वकारस्य ककारे परतो लोपो न भवति।" (न्यास ८.३.१७)

यहां पर 'वृक्षवि' इस ण्यन्त नामधातु के बनने तक की प्रक्रिया सर्वसम्मत है, इस पर कोई आपत्ति नहीं, परन्तु आगे की प्रक्रिया में न्यासकार ने 'वृक्षवि' धातु से

---

१. 'ईद्रथिनः' वार्त्तिक **नाद् घस्य** (८.२.१७) सूत्र पर पढ़ा गया है, इस सूत्र में घ (तरप्, तमप्) को नुट् का आगम विधान किया गया है। इसी प्रकार सूत्र पर पढ़े गए एक अन्य वार्त्तिक 'भूरिदाव्नस्तुड् वाच्यः' में भी घ को तुट् का आगम कहा गया है। इस तरह आगम के प्रकरण में पठित होने से 'ईद्रथिनः' इस वार्त्तिक द्वारा भी ईकार को आदेश न मानकर आगम क्यों न स्वीकार किया जाये—ऐसी शङ्का भी निर्मूल है। क्योंकि पाणिनिव्याकरण में जहां जहां आगम अभीष्ट होता है वहां वहां उसे **आद्यन्तौ टकितौ** (१.१.४६) की व्यवस्थानुसार टित् या कित् किया जाता है। यहां पर 'ईद्रथिनः' में केवल 'ईत्' कहा गया है इसे टित् या कित् नहीं किया गया, इस से स्पष्ट है कि यह आगम नहीं है। अत एव काशिकाकार ने इस वार्त्तिक का 'रथिन ईकारादेशो घपरतः' ऐसा अर्थ किया है ताकि इसे भूल से आगम न समझा जाये, अन्यथा काशिकाकार वार्त्तिकों का अर्थ नहीं लिखा करते, वे प्रकरण से ही अवगत हो जाते हैं।

जो क्विप् प्रत्यय का विधान किया है उस पर एक सहस्राब्दों से भी अधिक काल से आपत्तियां की जा रही हैं। इस पर सर्वप्रथम आपत्ति हमें कैयट की महाभाष्यव्याख्या प्रदीप में उपलब्ध होती है। प्रदीपकार लिखते हैं—

"तत्र वृक्षं वृश्चतीति क्विपि कृते वृक्षवृश्चमाचष्ट इति णिचि टिलोपे च कृते वृक्षवयतेर्विचि कृते 'वृक्षव्' इति भवति। क्विपि तु क्वौ लुप्तं क्वौ विधिं प्रति च न स्थानिवदिति निषेधात् सम्प्रसारणप्रसङ्गो लोपो व्योर्वलीति वलोपप्रसङ्गश्च। विचि तु स्थानिवद्भावाद् वल्निमित्तो लोपो न भवति।" (प्रदीप० 'लण्' सूत्र पर)

इसी प्रकार अन्यत्र भी—

"वृक्षं वृश्चतीति क्विप्, सम्प्रसारणे कृते वृक्षवृश्चमाचष्ट इति णिचि टिलोपे च विच्प्रत्ययः क्रियते। क्विपि तु सत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् वृश्चतिग्रहणेन ग्रहणाद् वकारस्य सम्प्रसारणं स्यात्, लोपो व्योर्वलीति लोपो वा। न च णिलोपस्य स्थानिवद्-भावः, 'क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम्' इति प्रतिषेधात्। विचि तु णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाद् वलोपो नास्ति। 'हलि सर्वेषाम्' इत्यनेन तु वलोपे कर्त्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वनिषेधाद् वलोपः स्याद् इति हल्विशेषणार्थमश्-ग्रहणं क्रियते।" (प्रदीप० ८.३.१७)

हरदत्तमिश्र भी प्रदीपगत वाक्यावली का प्रयोग करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'वृक्षवयतेरप्रत्यय इति। स पुनर्विच् न क्विप्। क्विपि हि एकदेशविकृत-स्यानन्यत्वाद् वृश्चति-ग्रहणेन[1] ग्रहणाद् वकारस्य सम्प्रसारणं स्याद् लोपो व्योर्वलीति वलोपः। स्थानिवत्त्वं च णेरत्र क्वौ लुप्तत्वान्न विद्यते। विचि तु णिलोपस्य स्थानिवद्-भावाद् वलोपो नास्ति सम्प्रसारणस्य त्वप्रसङ्ग एव। 'हलि सर्वेषाम्' इत्यनेन तु लोपे कर्त्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वनिषेधाद् वलोपः स्यादिति विशेष्यते।' (पदमञ्जरी ८.३.१७)

कैयट तथा हरदत्तमिश्र के आक्षेपों को हम दो भागों में बांट सकते हैं—

(क) 'वृक्षव्' बनाने के लिए 'वृक्षवि' धातु से विच् प्रत्यय करना चाहिये, क्विप् नहीं। यदि क्विप् करेंगे तो णिच् का लोप होकर 'वृक्षव्' इस स्थिति में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के अनुसार 'व्' को 'व्रश्च्' समझ कर ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६.१.१६) सूत्र से सम्प्रसारण प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। यदि कहें कि णिलोप को स्थानिवत् मान कर उसका वारण कर लेंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्विप् परे होने पर 'क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम्' (१.१.५७ पर वा०) इस से स्थानिवद्भाव का निषेध कहा गया है। परन्तु विच् प्रत्यय करने पर ऐसी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

(ख) क्विप् में णिलोप के स्थानिवद्भाव के निषेध के कारण प्रत्ययलक्षण

---

१. मुद्रितायां पदमञ्जर्याम् 'वयतिग्रहणेन' इत्यपपाठः।

द्वारा क्विप् के परे रहते **लोपो व्योर्वलि** (६.१.६६) से वकार का लोप प्राप्त होता है जो किसी भी तरह रोका नहीं जा सकता। परन्तु विच् में स्थानिवद्भाव का निषेध न होने से यह दोष प्राप्त नहीं होता।

कैयट तथा हरदत्त के आक्षेपों के बाद प्रायः सब उत्तरवर्त्ती वैयाकरण यहां सावधान हो गये, वे यहां क्विप् प्रत्यय न कर विच् प्रत्यय का ही विधान करने लगे। निदर्शनार्थं यथा—

(क) हेमचन्द्र—'वृक्षं वृश्चति क्विप्, वृक्षवृश्चमाचष्टे इति णावन्त्यस्वरादिलोपे वृक्षवयतीति विचि सिद्धं वृक्षव्।'

(हैम० बृहद्वृत्ति १.३.२३)

(ख) पुरुषोत्तमदेव—'वृक्षं वृश्चतीति वृक्षवृट्। तमाचष्टे णिच्। ततो विच्—वृक्षव्। वृक्ष गच्छति। अशीत्येव—वृक्षव् करोति।'

(भाषावृत्ति ८.३.२२)

(ग) विट्ठल—'वृक्षं वृश्चतीति वृक्षवृट्। तमाचष्टे णिच्। टिलोपः। वृक्षवयति। ततो विच्।' (प्रक्रियाकौ० प्रसाद, पृष्ठ १०८)

(घ) भट्टोजिदीक्षित—'वृक्षव्, विच्, न तु क्विप् ऊठ्-प्रसङ्गात्, क्वौ विधिं प्रति स्थानिवत्त्वनिषेधात्।' (शब्दकौस्तुभ, प्रथम भाग, पृष्ठ ६४)

(ङ) नागेशभट्ट—'वृक्षं वेतीति वृक्षवीः, क्विप्, तमाचष्ट इति ण्यन्ताद्विच्—वृक्षव् करोति। क्विपि तूठ् स्याद्।' (लोपः शाकल्यस्य पर ल० श० शे०)

परन्तु यदि गम्भीरता से सोचा जाये तो उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का समाधान दुष्कर नहीं है। तथाहि—

प्रथम आक्षेप में क्विप् परे रहते एकदेशविकृतन्याय से ग्रहिज्या० द्वारा जो सम्प्रसारण की प्रसक्ति दिखाई गई है वह सारहीन है, क्योंकि व्रश्च् धातु का यहां केवल 'व्' मात्र शेष रहता है, उस 'व्' को एकदेशविकृत कह कर 'व्रश्च्' नहीं समझा जा सकता। एकदेशविकृतन्याय एक लौकिकन्याय है, वह वहां पर प्रवृत्त होता है जहां आधे से कम हिस्सा विकृत हो। यदि आधा या उससे अधिक भाग विकृत हो जाये तो वह पहचान में नहीं आ सकता अतः वहां इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती।[1] इसीलिये नागेशभट्ट यहां पर लिखते हैं—

'णौ परतस्तत्प्रकृतिभूतप्रातिपदिकस्य लोपविधानेन वृश्चतेः स्थानित्त्वे मानाभावाद् वकारे वृश्चतित्वस्य दुर्लभत्वात् सम्प्रसारणाऽप्राप्तिः। न च छिन्नपुच्छन्यायेन वृश्चतित्वम्, बह्ववयवापगमेन वृश्चतित्वाऽप्रत्यभिज्ञानात्।' (उद्योत ८.३.१७)

'चिन्त्यमिदम्। णौ परतस्तत्प्रकृतिभूतप्रातिपदिकस्य टिलोपविधानेन वृश्चतेः स्थानित्त्वे मानाऽभावेन वकारे एकदेशविकृतन्यायेन वृश्चतित्वस्य दुर्लभत्वात्। अर्धाधिकविकारेण प्रत्यभिज्ञानाभावाच्च। अत एव राजकीयमित्यादौ अल्लोपो न।'

('लण्' सूत्र पर उद्योत)

१. 'अर्धविकारे तु तदप्रवृत्तिः, किमु वक्तव्यं तदधिकविकार इति।' (छाया 'लण्' पर)

किंच क्विप् में यदि एकदेशविकृतन्याय का आग्रह ही हो तो तुल्यन्याय के कारण विच् में भी दोष प्रसक्त होगा। वहां भी एकदेशविकृतन्याय से व् को व्रश्च् समझ कर **व्रश्चभ्रस्ज०** (८.२.३६) सूत्र से षत्व की आपत्ति होगी।[1] अतः ऐसे स्थलों में इस न्याय का आश्रय नहीं किया जा सकता।

दूसरा आक्षेप भी सारहीन है, क्योंकि प्रथम तो **लोपो व्योर्वलि** (६.१.६६) की प्राप्ति ही नहीं, उसका **छ्वोः शूडनुनासिके च** (६.४.१९) से ऊठ् बाधक होगा। ऊठ् का परिहार 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' द्वारा अथवा (८.३.१७) पर भाष्योद्-धृतोदाहरणप्रामाण्य से किया जा सकता है।

क्विप् और विच् प्रत्ययों के विवाद के अतिरिक्त इस 'वृक्षव्' की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वान् एकमत नहीं है। वृत्तिकार, न्यासकार आदि प्राचीन वैयाकरण जहां इसे व्रश्च् धातु से व्युत्पन्न मानते हैं वहां जैनेन्द्रमहावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी इसे वम् धातु से निष्पन्न करते हैं।[2] भट्टोजिदीक्षित इसे 'वी' या 'वा' धातु से व्युत्पन्न करने की सलाह देते हैं।[3] कुछ अन्य वैयाकरण इस प्रकार के प्रयोगों का अनभिधान के ब्रह्मास्त्र से वारण करते हैं।[4] इस तरह 'वृक्षव्' वैयाकरणनिकाय में एक विवादास्पद प्रयोग बना हुआ है।

[३.१५] काशिकाकार तथा न्यासकार दोनों ने **भोभगोअघोअपूर्वस्य०** (८.३.१७) सूत्र में अश्ग्रहण का प्रयोजन 'वृक्षव् करोति' में वकार के लोप का वारण करना माना है। यही प्रयोजन भाष्यकार ने भी महाभाष्य में स्वीकार किया है। तथाहि—

'उत्तरार्थं तर्ह्यश्ग्रहणं कर्त्तव्यम्। **हलि सर्वेषाम्** हल्यशि यथा स्यात्, इह मा भूत्—वृक्षवयतेरप्रत्ययः, वृक्षव् करोतीति।' (महाभाष्य ८.३.१७)

परन्तु कैयट इस प्रयोजन का खण्डन करते हुए प्रदीप में लिखते हैं—

"अश्ग्रहणानुरोधेन चैतद् भाष्यकारेणोदाहृतम्। तथा हि लण् इत्यत्रोक्तम्—'न पदान्ता हलोऽणः सन्ति' इति।" (प्रदीप ८.३.१७)

---

१. 'इदं त्विह वक्तव्यम्। विच्पक्षेऽप्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वेन व्रश्चतिग्रहणेन ग्रहणाद् व्रश्चभ्रस्ज० इति षत्वं दुर्वारम्।' (शब्दकौस्तुभ नवाह्निक पृष्ठ ६३)

२. "वृक्षं वनतीति वृक्षवन्, वृक्षवनमाचष्टे णिच्। वृक्षवयतेः पुनः क्विप्। 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति णेः स्थानिवद्भावो नास्ति।" (जैनेन्द्रमहा० ५.४.६)

३. 'तस्मान्नायं वृश्चतिरपि तु वेतिर्वातिर्वा, वृक्षं वेतीति वृक्षवीः, वृक्षं वातीति वृक्षवाः। वृक्षव्यं वृक्षवां वाऽऽचष्टे वृक्षव्, विच्, न तु क्विप्, ऊठ्प्रसङ्गात्, क्वौ विधिं प्रति स्थानिवत्त्वनिषेधात्।' (शब्दकौस्तुभ, नवाह्निक पृष्ठ ६४)

४. 'ननु 'वृक्षव् हसति' इत्यादौ सम्भवति ? न सम्भवति, अनभिधानात्, न ह्येवं-विधमभिधानमस्ति। तथा च 'लण्' इत्यत्र भाष्यकार आह—'न पदान्ता हलोऽणः सन्ति' इति। एवञ्च वृक्षव् करोतीति अयमपि प्रयोगश्चिन्त्यः।' (पदमञ्जरी ८.३.२२)

हरदत्तमिश्र कैयट का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

"वकारस्तु भोभगोअघोपूर्वो न सम्भवति, अवर्णपूर्वस्तु सम्भवति—वृक्षव् करोतीति। तस्य तु लोपो न भवति, अशि हलीति विशेषणाद् इत्युक्तम्। तस्माद् यकारस्येत्युक्तम्। ननु वृक्षव् हसतीत्यादौ सम्भवति ? न सम्भवति, अनभिधानात्, न ह्येवंविधमभिधानमस्ति। तथा च लणित्यत्र भाष्यकार आह—'न पदान्ता हलोऽणः सन्ति' इति। एवं च 'वृक्षव् करोति' इत्ययमपि प्रयोगश्चिन्त्यः।" (पदमञ्जरी ८.३.२२)

बड़े आश्चर्य का विषय है कि जिस उदाहरण को भाष्यकार स्वमुख से साक्षात् कह रहे हैं उस का ये व्याख्याकार अनभिधानद्वारा प्रत्याख्यान कर रहे हैं। इस से भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि जिस भाष्यवचन को आधार मानकर इस प्रयोग का अनभिधानत्व सिद्ध किया जा रहा है वह वचन महाभाष्य में वैसा पढ़ा ही नहीं गया। भाष्य में केवल इतना कहा गया है—

'न हि पदान्ताः परेऽणः सन्ति।' (लण् सूत्र पर)

भाष्य के इस पाठ को 'न हि पदान्ता हलोऽणः सन्ति' इस प्रकार मनमाना बना लिया गया है। यदि भाष्य में उन का अभिमत पाठ होता तो भाष्य का अगला वचन 'ननु चायमस्ति कर्तृ हर्तृ इति' यह उपपन्न न हो सकता। अतः भाष्यप्रामाण्य से अनभिधानत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस विषय पर शब्दकौस्तुभ में आलोचना करते हुए भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं—

"यत्तु हलि सर्वेषाम् इति सूत्रे हरदत्तेनोक्तम्—'वृक्षव् करोति' इत्येवंरूपः प्रयोगो नास्त्येव, अनभिधानात्। लण्सूत्रे 'न पदान्ता हलोऽणः सन्ति' इति भाष्यकारोक्तेश्चाऽनभिधानं निश्चीयत इति, तच्चिन्त्यम्। लण्सूत्रभाष्ये 'न पदान्ताः परेऽणः सन्ति' इतिपाठाद् अप्रगृह्यस्येति पर्युदासाश्रयणेन अचामेव कार्यभाक्त्वादितरे कार्यभाजो न सन्तीत्येवंपरतया कैयटेन तद्विवरणाच्च, 'ननु चायमस्ति कर्तृ हर्तृ' इत्युत्तरभाष्येणास्य दूषितत्वाच्च, त्वदुदाहृतपाठे उत्तरभाष्यस्योक्तिसम्भवाऽलाभाच्च। अत एव भोभगो॰ इति सूत्रे भाष्यकारवृत्तिकारादिभिः सर्वैरपि 'वृक्षव्' इत्युदाहृतम्। स्वयमपि तथैवोदाहृतमिति पूर्वापरस्वग्रन्थविरोधो भाष्य-वृत्ति-कैयटादिसकलमहाग्रन्थविरोधो[1] मूलयुक्त्यभावश्चेति तिष्ठतु तावद्।" (शब्दकौस्तुभ, नवाह्निक, पृष्ठ ६४)

लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या विषमपदविवृति में राघवेन्द्राचार्य ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं—

'परे तु भोभगो॰ इतिसूत्रे भाष्ये 'वृक्षव् करोति' प्रयोगस्य कण्ठत एव पठितत्वेनानभिधानोक्तिः साहसादेव।' (ल॰ श॰ शे॰, प्रथम भाग, पृ॰ ६४)

हमारे विचार में हरदत्तमिश्र का अनभिधानपरक व्याख्यान काशिका के

---

१. यहां कैयट का निर्देश करना उचित नहीं, क्योंकि हरदत्तमिश्र ने यहां कैयट की (८.३.१७) सूत्रस्थ प्रदीप का ही अनुसरण किया है (देखिये यहां की उद्योत-टीका)।

विशृंखलित वचनों की संगति लगाने का प्रयासमात्र ही है। इस में उन को दोष देना अनुचित है। काशिकाकार स्वयं एक तरफ तो 'भोभगो॰' सूत्र पर 'अशि' ग्रहण की वकालत करते हुए कहते हैं कि यदि यहां 'अशि' ग्रहण न किया गया तो 'वृक्षव्+करोति' में **हलि सर्वेषाम्** (८.३.२२) द्वारा वकार का लोप प्रसक्त होगा जो अनिष्ट है, वहां वे दूसरी तरफ **हलि सर्वेषाम्** के अर्थ में वकार का उल्लेख तक नहीं करते, केवल यकार के लोप का ही विधान करते हैं। यदि यह कहा जाये कि 'वृक्षव् करोति' में निषेध का वर्णन वे पहले **भोभगो॰** (८.३.१७) सूत्र में कर चुके हैं और इस के अतिरिक्त वकार का अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता अतः अर्थनिर्देश में वकार के लोप का निर्देश नहीं किया[1]—तो यह भी असंगत है। वृक्षव्+हसति, वृक्षव्+याति आदि अनेक उदाहरण सम्भव हैं। यही बात पदमञ्जरी में हरदत्तमिश्र ने उठाई है (ननु वृक्षव् हसतीत्यादौ सम्भवति)। अतः वृत्तिकार यदि यहां वकार का अनुवर्त्तन नहीं करते तो वृत्तिग्रन्थ की संगति बिठाने के लिये इस के सिवाय क्या कहा जा सकता है कि वे 'वृक्षव् हसति' आदि का अनभिधान मानते हैं। जब 'वृक्षव् हसति' का अनभिधान है तो 'वृक्षव् करोति' का अभिधान रहे यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'हसति, करोति' आदि का अनभिधान तो है नहीं, वह होगा तो 'वृक्षव्' का ही होगा अतः तुल्यन्याय से उन्हों ने दोनों का अनभिधान मानना ही उचित समझा।

शब्दकौस्तुभ में हरदत्तमिश्र पर कटु आक्षेप करने वाले भट्टोजिदीक्षित भी स्वयं इसी दोष से ग्रस्त हैं। उन्हों ने भी **हलि सर्वेषाम्** (८.३.२२) सूत्र के अर्थनिर्देश में वृत्तिकार की तरह वकार के लोप का कोई उल्लेख नहीं किया।[2] प्रौढमनोरमा में अपनी सफाई प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

'वकारस्तु नानुवर्त्तते। भोभगोअघोपूर्वस्याऽसम्भवात्। अपूर्वस्तु यद्यपि संभवति वृक्षव् करोतीति, तथापि तत्र न लोपप्रसङ्गः। अशीत्यनुवर्त्याशा हलो विशेषणात्। वृक्षव् हसतीत्यादि तु अनभिधानाद् असाध्वित्याहुः।'

(प्रौढम॰ प्रथम भाग पृष्ठ १६८)

यहां पर शब्दरत्नकार 'इत्याहुः' की 'हरदत्तादयः' व्याख्या करते हैं। अब भट्टोजिदीक्षित और हरदत्तमिश्र में क्या अन्तर रह गया? दीक्षित 'वृक्षव् करोति' का तो अभिधान स्वीकार करते हैं पर 'वृक्षव्+हसति' आदि का नहीं, हरदत्तमिश्र तुल्यन्याय से दोनों का अनभिधान कह रहे हैं।

वस्तुतः **हलि सर्वेषाम्** (८.३.२२) में केवल यकार की ही नहीं अपितु वकार

---

१. न्यासकार ऐसा ही समझते हैं—
'अवर्णपूर्वस्तु वकारः सम्भवति, तस्य तु पूर्वमेव **हलि सर्वेषाम्** इत्यनेन लोपो न भवतीति दर्शितम्। तेनेह यकारस्यैव ग्रहणं न वकारस्य।' (न्यास ८.३.२२)

२. भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद्धलि सर्वेषां मतेन—
(सि॰ कौ॰ सूत्र १७१)

की भी अनुवृत्ति आती है। यहां यदि वकार की अनुवृत्ति न आती तो भाष्यकार 'अशि' का अनुवर्त्तन कर उसे 'हलि' का विशेषण बना 'वृक्षव् करोति' में वकार के लोप के वारण का यत्न क्यों करते, तब वे सीधा क्यों न कह देते कि यहां वकार का अनुवर्त्तन ही नहीं होता? उन का ऐसा न करना यह प्रमाणित करता है कि यहां वकार की भी अनुवृत्ति होती है। इस स्थिति में 'वृक्षव्+हसति' आदि में 'अशि हलि' के परे रहते वकार का लोप होकर 'वृक्ष हसति' आदि प्रयोग बनेंगे ही[1]। जैसाकि पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति में किया है—

'भोभगोअघोअवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्व्योर्हलि परे लोपः स्यात् सर्वसम्मतः। भो हसि। भगो ददाति। अघो यासि। विप्रा हसन्ति। वकारस्य—वृक्षं वृश्चतीति वृक्षवृट्। तमाचष्टे णिच्। ततो विच् वृक्षव्। वृक्ष गच्छति। अशीत्येव—वृक्षव् करोति।'

(भाषावृत्ति, राजशाहीसंस्करण, पृष्ठ ५४५)

सभापतिशर्मोपाध्याय ने सि० कौ० की अपनी लक्ष्मीव्याख्या में यहां बहुत सुन्दर लिखा है—

'किं च भोभगोरिति सूत्रे 'वृक्षव् करोति' इत्यस्य कण्ठतो भाष्य उक्तत्वेनानभिधाने मानाभावात्। 'वृक्षव्+हसति' इत्यादौ तु लोपस्येष्टत्वमेव, अश्रूपे हलि लोपस्य भाष्योक्तेः। एवं च वकाराऽननुवृत्तौ भाष्यानुग्रहश्चिन्त्यः। अत एव 'वृक्षव् करोति' इत्यत्र अशा हलो विशेषणाद् भाष्ये लोपो वारितः, न तु वकाराऽननुवृत्तेः।'

(लक्ष्मी० प्रथम भाग, पृष्ठ २३३)

महामहोपाध्याय शिवदत्त दाधिमथ ने सिद्धान्तकौमुदी की अपनी एक टिप्पणी में भी यही कहा है—

"यविधौ अश्ग्रहणं व्यर्थम् इत्युपपाद्य भाष्यकृता 'उत्तरार्थं तर्हि अश्ग्रहणं कर्त्तव्यम्, हलि सर्वेषाम् हलि अशि यथा स्याद्, इह मा भूद्—वृक्षवयतेरप्रत्ययः, वृक्षव्

---

१. यही भाव सि० कौमुदी की रत्नाकरव्याख्या में रामकृष्ण ने व्यक्त किया है—

'मूलं हरदत्तानुरोधेन, वस्तुतो वकारस्याप्यनुवृत्तिः। वृक्षव् हसतीत्यत्र लोपे इष्टापत्तेरनभिधाने मानाभावात्। अत एव वृक्षव् करोतीत्यत्रातिप्रसङ्गवारणाय अशि हलीति व्याख्यानं भगवतः संगच्छते।'

(ल० श० शेखरस्थ चिदस्थिमाला पृष्ठ ४२२ से उद्धृत)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

"ये तु भोसादिसाहचर्येणावर्णपूर्वस्यापि यस्यैव, धात्वनवयवस्यैव वा लोप इत्याहुस्तन्मतेनाह—यस्येति। परे तु वकारमनुवर्त्य वस्यापि लोपमाहुः। अत एव वृक्षव् करोतीत्यादावतिप्रसङ्गवारणाय अशा हलो विशेषणं भाष्यकृतां संगच्छते। एवं च वृक्षव् हसतीत्यादौ लोपो भवत्येव। यत्तु एषामनभिधानमिति हरदत्तः। तन्न। मानाभावात्। 'न पदान्ताः परेऽणः सन्ती'ति भाष्यं त्वन्यतात्पर्यकमिति कमलशब्दे वक्ष्यते।"

(बृ० श० शे० मूल तथा टिप्पण पृष्ठ ३१४)

करोति' इति प्रयोजनमुक्तम्, इति विभाव्यते तर्हि प्रकृतसूत्रेऽपि 'व्योः' इति समुदितस्यैवानुवृत्तिः करणीया, 'अशि' इत्यस्य च।—अशि परतस्तु 'वृक्षव्' इति वलोपस्येष्टत्वमेव 'हलि अशि यथा स्याद्' इत्युक्तभाष्यात् किं न कल्पयेत।"

(सि० कौ० शिवदत्तटिप्पण पृष्ठ २२)

दाधिमथद्वारा सम्पादित जयपुर से प्रकाशित अष्टाध्यायीवृत्ति के सूत्रार्थ में भी वकार का अनुवर्त्तन दर्शाया गया है—

'हलि परे भोभगोअघोअपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपः स्यात् सर्वेषां मतेन।'

(अष्टाध्यायीवृत्ति पृष्ठ ३४५)

पाणिनीयेतर वैयाकरण भी यहां वकारलोप के उदाहरण देते हैं। तद्यथा—

(क) जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दी—

'अशि तु हलि खं भवत्येव—वृक्ष हसति।' (जैनेन्द्रमहा० ४.५.६)

(ख) हैमशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र—

'वृक्षं वृश्चति क्विप्, वृक्षवृश्चमाचष्ट इति णावन्त्यस्वरादिलोपे वृक्षवयतीति विचि सिद्धं वृक्षव्, वृक्ष गच्छति। एवं माला हसति, अव्य गच्छति। घोषवतीत्येव—वृक्षव् करोति, अव्यय् करोति। अवर्णादित्येव—तरुव् गच्छति। पदान्त इत्येव— भव्यम्, जय्यम्।' (हैम० बृहद्वृत्ति १.३.२३)

(ग) शाकटायनव्याकरणकार आचार्य पाल्यकीर्त्ति—

'व्योऽव्याघोभोभगोः।१।१।५३।। अवर्णान्ताद् अघो-भो-भगो इत्येतेभ्यश्च परस्य पदान्ते वर्त्तमानस्य वकारस्य यकारस्य चाषि परे ग्लुग्भवति। वृक्ष हसति। वृक्षवृश्चमाचक्षाणो वृक्षव्। देवा यान्ति।—अषीति किम्? वृक्षव् करोति।'

(शाकटायन० अमोघा १.१.५३)

[३.१६] भाष्य, काशिका तथा न्यास आदियों में **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** (८.३.१७) सूत्रगत 'अशि' ग्रहण का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि **हलि सर्वेषाम्** (८.३.२२) सूत्र में 'अशि' की अनुवृत्ति जा कर 'अशि-हलि' अर्थात् अश्प्रत्याहारान्तर्गत हल् (हश्) में ही उस की प्रवृत्ति हो अन्य हल् वर्णों में नहीं। इस से 'वृक्षव् करोति' आदि में हश् परे न रहने से **हलि सर्वेषाम्** (८.३.२२) द्वारा वकार का लोप नहीं होता। परन्तु यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ककार-वल् के परे रहते **लोपो व्योर्वलि** (६.१.६६) से वकार का लोप क्यों न हो? इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अत एव अश्ग्रहणाद् लोपो व्योर्वलीति लोपो न भवत्येव, अन्यथाऽश्ग्रहणमनर्थकं स्यात्।' (न्यास ८.३.१७)

न्यासकार का यह उत्तर युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि अश्ग्रहणसामर्थ्य से इस की प्रवृत्ति रोकी नहीं जा सकती। अश् का ग्रहण 'वृक्षव्+हसति=वृक्ष हसति, वृक्षव्+याति=वृक्ष याति' इत्यादियों में जहां वल् परे न होने से **लोपो व्योर्वलि** की

प्रवृत्ति नहीं हो सकती—सावकाश हो जायेगा, सावकाश होने से पुनः उस में सामर्थ्य नहीं रहेगा, अतः 'वृक्षव्+करोति' में वलिलोप का वह वारण नहीं कर सकेगा। इस प्रकार न्यासकार का 'अश्ग्रहणसामर्थ्यात्' यह हेतु खण्डित हो जाता है। इसीलिये आचार्य कैयट इस का आश्रय न कर प्रदीप में प्रकारान्तर से समाधान प्रस्तुत करते हैं—

'अथ ककारे परतो लोपो व्योर्वलीति लोपः कस्मान्न भवति ? न च णिलोपस्य स्थानिवद्भावोऽस्ति, पदान्तविधौ तन्निषेधात्। नैष दोषः, पदान्ते विधीयमाने स्थानिवत्त्वनिषेधः, न च लोपः पदान्तः, तस्याभावरूपत्वात्।' (प्रदीप ८.३.१७)

इसी का आश्रय लेकर हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'अथ ककारे परतः लोपो व्योः० इति वलोपः कस्मान्न भवति, णिलोपस्य स्थानिवद्भावो नास्ति, पदान्तविधौ प्रतिषेधात्, वकारस्य पदान्तत्वात् ? नैष दोषः, भावसाधनस्त्वत्र विधिशब्दः, ततश्च पदान्ते विधीयमाने स्थानिवत्त्वनिषेधः, न च लोपः पदान्तः, तस्याभावरूपत्वात्।' (पदमञ्जरी ८.३.१७)

कैयट और हरदत्तमिश्र का अभिप्राय यह है कि यहां लोपो व्योर्वलि की प्रवृत्ति में णेरनिटि (६.४.५१) द्वारा किया गया णिच् का लोप स्थानिवत् हो जायेगा इस से वल् परे न रहने के कारण वलिलोप की प्रवृत्ति न होगी।[1] यह समाधान सुसंगत तथा व्याकरणशास्त्र के अनुरूप है। यही कारण है कि उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने इसी का अनुसरण किया है न्यासोक्त समाधान का नहीं। तथाहि अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में—

(क) "अशीति हलो विशेषणं किम् ? वृक्षव् करोतीत्यत्र मा भूत्। वृक्षं वनतीति वृक्षवन्। वृक्षवनमाचष्टे णिच्। वृक्षवयतेः पुनः क्विप्। 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति णेः स्थानिवद्भावो नास्ति। अशि तु हलि खं भवत्येव—वृक्ष हसति।" (जैनेन्द्रमहा० ५.४.६)

(ख) श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति में हेमचन्द्रसूरि—

'कथं वृक्षवयतीति वृक्षव्, णिलुकः स्थानिवत्त्वाद्भविष्यति।' (हैम० बृहद्वृत्ति, ४.४.१२२)

(ग) श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन की आनन्दबोधिनी में—

"स्वरस्य परे प्राग्विधौ (७.४.११०) इति णिलुकः स्थानिवत्त्वेन 'य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक्' (४.४.१२१) इति न वस्य लुक्।" (आनन्दबोधिनी पृष्ठ ४७)

१. ध्यान रहे कि यह समाधान हलि सर्वेषाम् (८.३.२२) की प्रवृत्ति को रोकने में काम नहीं दे सकता, उस में पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् बाधक होगा। अत एव कैयट ने लिखा है—'हलि सर्वेषाम् इत्यनेन तु वलोपे कर्त्तव्ये पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवद् इति स्थानिवत्त्वनिषेधाद् वलोपः स्यादिति हल्विशेषणार्थम् अश्ग्रहणं क्रियते' (प्रदीप ८.३.१७)। पदमञ्जरीकार ने भी यही लिखा है—"हलि सर्वेषाम् इत्यनेन तु लोपे कर्त्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वनिषेधाद् वलोपः स्यादिति विशेष्यते।" (पदमञ्जरी ८.३.१७)

(घ) विट्ठल प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादव्याख्या में—

"अत्र णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाद् 'लोपो व्योर्वलि' इति लोपो न। 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इति 'हलि सर्वेषाम्' इति स्यादेव।" (प्रक्रियाकौ० प्रसाद, पूर्वार्ध, पृष्ठ १०८)

(ङ) भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ में—

"न चैवमपि 'लोपो व्यो:०' इत्यस्य प्रसङ्गः स्थानिवत्त्वात्। न च पदान्त-विधित्वम्, पदान्तश्चेद् विधीयत इत्यर्थात्, लोपश्चाऽनवयवत्वात्, विभावितं चेदं 'भो-भगो०' इति सूत्रे कैयटेनेति दिक्।" (शब्दकौस्तुभ नवाह्निक पृ० ६४)

यहां पर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। 'वृक्षव्' बनने से पूर्व 'वृक्षवि' इस ण्यन्त नामधातु से विच् (न्यासमते क्विप्) प्रत्यय करने पर णिच् का लोप होकर प्रत्ययलक्षण द्वारा विच् को मान कर **लोपो व्योर्वलि** (६.१.६६) से जो वकार का लोप प्राप्त होता है उस का वारण भी णिलोप को स्थानिवत् मान कर ही किया जाता है।[1] न्यासकार का ध्यान इस ओर नहीं गया, उन्हों ने यहां कुछ नहीं लिखा।[2] यदि उन का ध्यान इस ओर चला जाता तो वे निश्चितरूपेण णिलोप के स्थानिवत्त्व से ही उस का परिहार करते दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। तब वे 'वृक्षव्+करोति' में भी उसे पुनः दोहराते 'अश्ग्रहणात्' वाली बात न करते। इस प्रकार प्रक्रियासम्बन्धी एक बड़ी अशुद्धि से बच जाते।

[३.१७] **यवलपरे यवला वा** (वा० ८.३.२६) इस वार्त्तिक के उदाहरणों में अद्यत्वे प्रायः सब वैयाकरण अनुनासिक यँ, वँ, लँ आदेशों का ही प्रयोग करते हैं। परन्तु वार्त्तिक, महाभाष्य या काशिकावृत्ति में यहां पर ऐसा कोई निर्देश नहीं दिया गया जिस से यह सिद्ध हो कि यहां सानुनासिक आदेश होते हैं। चान्द्रव्याकरण तथा उस की स्वोपज्ञवृत्ति में भी ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। यहां पर अनुनासिक यँ, वँ, लँ करने की प्रथा कब से चली, यह कहना बहुत कठिन है, पर वर्त्तमान उपलब्ध व्या-करणवाङ्मय में सब से पहला न्यास ही ऐसा ग्रन्थ है जिस में इस की चर्चा व विधान स्पष्ट पाया जाता है। इस वार्त्तिक पर न्यासकार लिखते हैं—

'यवलाश्चैते भवन्त आन्तरतम्यात् सानुनासिका एव भवन्ति।' (न्यास ८.३.२६)

हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में इसी का अनुसरण किया है—

'यवलाश्चैते भवन्त आन्तरतम्यात्सानुनासिका एव भवन्ति।'

(पदमञ्जरी ८.३.२६)

शाकटायन (पाल्यकीर्त्ति),[3] हेमचन्द्रसूरि[4] आदि ने भी अनुनासिक का ही विधान स्वीकार किया है।

---

१. 'विचि तु स्थानिवद्भावाद्वल्निमित्तको लोपो न भवति।' (प्रदीप 'लण्' पर)
२. देखें (८.३.१७) सूत्र पर न्यास।
३. शाकटायन० (१.१.११२)।
४. श्रीसिद्धहेम० (१.३.१५)।

माधवीयधातुवृत्ति में सायण इसी का अनुगमन करते हैं—

"किवँ् ह्वलयति इत्यत्र 'यवलपरे यवला वा' इति यवलपरे हकारे परे मकारस्य पक्षे यवलविधानात् सानुनासिको वकार उदाहार्यः।" (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १६७)

भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव भी यही कहते हैं—

'यवलपरे यवला वा। सानुनासिका एते स्युः।' (भाषावृत्ति ८.३.२६)

प्रसादकार विट्ठल भी यही कहते हैं—

'यवलाश्चान्तरतम्यान्मकारस्य सानुनासिका एव भवन्ति।'

(प्रक्रियाकौ० पूर्वार्ध, पृष्ठ ९३)

प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट भी इसी का अनुसरण करते हैं—

'यवलपरे हे सानुनासिका यवला वा वाच्याः।'

(प्रक्रियास० प्रथमखण्ड, पृष्ठ ५५)

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित, तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित यहां पर मौन हैं, इन्हों ने सानुनासिक विधान की कोई चर्चा नहीं की। पर इन के ग्रन्थों में सर्वत्र अनुनासिक चिह्न लगे हुए हैं।

इस प्रकार न्यास का अनुकरण प्रायः सब वैयाकरण करते चले आ रहे हैं। परन्तु यदि विचार किया जाये तो न्यासकार का यह कथन कि 'आन्तरतम्यात् सानुनासिका एव भवन्ति' अविचारितरमणीय है। यद्यपि यह सत्य है कि य्, व्, ल् सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों प्रकार के आकर-ग्रन्थों में माने गये हैं और साहित्य में भूयोभूयः प्रयुक्त भी हैं, परन्तु यहां पर ये विधीयमान हैं, विधीयमान अण् **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (१.१.६९) के नियमानुसार अपने सवर्णों के ग्राहक नहीं हो सकते। अतः ये भी अपने सवर्णों के ग्राहक न होंगे। जैसे 'धन+मतुप्=धनवान्' आदि में **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (८.२.९) द्वारा मकार के स्थान पर होने वाला वकारादेश विधीयमान अण् होने के कारण सवर्णग्राहक न होकर केवल स्वरूप का ही ग्रहण कराता है वैसे यहां पर भी विशुद्ध य्, व्, ल् आदेश होने चाहियें। पाणिनि के **तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः** (४.४.१२५) आदि निर्देश भी इस की पुष्टि करते हैं।

इन अनुनासिक आदेशों के विरुद्ध आपत्ति करने वाले सर्वप्रथम वैयाकरण नागेशभट्ट हैं। उन्हों ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत तथा लघुशब्देन्दुशेखर दोनों ग्रन्थों में इन का विरोध किया है। तद्यथा—

'वार्त्तिकेन यवला निरनुनासिका एव विधीयमानत्वात्। उदाहरणेषु सानुनासिकलेखस्तु लेखकप्रमादादित्याहुः।' (महाभाष्यप्रदीपोद्योत ८.३.२६)

'एते यवला निरनुनासिका एव, विधीयमानत्वेन सवर्णाऽग्राहकत्वात्। जातिग्रहणप्राप्तस्येव गुणाभेदकत्वप्राप्तस्यापि 'अप्रत्ययः' इत्यनेन निषेधाच्च। एवं 'मय उञः०' इत्यत्रापि। अत एव मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः, अन्यथा तद्वानासाम्० इत्यादौ नित्यानुनासिकापत्त्या तन्निर्देशासङ्गत्यापत्तिरित्याहुः।' (ल० श० शे० पृष्ठ १७७)

अत एव महामहोपाध्याय शिवदत्त दाधिमथ भी यहां पर एक टिप्पण में लिखते हैं—

'अत्र विधीयमानेषु अनुनासिकचिह्नदानं भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति परिभाषां विस्मृत्यैवेति तत्त्वम् ।' (सि० कौ० शिवदत्तटिप्पणी पृष्ठ १७)

[३.१८] ङः सि धुट् (८.३.२९) सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार अपना एक सुझाव देते हैं कि यदि यहां 'धुट्' के स्थान पर 'तुट्' का आगम विधान कर दिया जाये तो प्रक्रिया में लाघव हो जायेगा चर्त्व करना नहीं पड़ेगा । तथाहि—

'प्रक्रियालाघवार्थं तु तुटि वक्तव्ये धुड्वचनमुत्तरार्थम् । नश्च इत्यत्र धुड् यथा स्यात् तुड् मा भूदिति । यदि हि स्यात्तर्हि किम् ? भवान्त्साय इत्यत्र नश्छव्यप्रशान् इति रुः प्रसज्येत ? नैतदस्ति, अम्पर इत्यत्रानुवर्त्तते, न चेहाम्परस्तकारोऽस्ति । अथेहापि भूतपूर्वेण उकारेणाम्परः स्यात् ? एवमप्यसिद्धत्वात्तुटो रुत्वं न भविष्यति । तस्मात् तुडेव वक्तव्यः । एवं तर्हि वैचित्र्यार्थं धुड्वचनम् ।' (न्यास ८.३.२९)

न्यास का अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र इसी बात को पदमञ्जरी में दोहराते हैं—

'प्रक्रियालाघवार्थं तुडिति वक्तव्ये धुड्ग्रहणमुत्तरार्थम्—नश्च इति धुड् यथा स्यात् तुण्मा भूत् ? किञ्च स्यात् ? भवान्त्साय इत्यत्र 'नश्छव्यप्रशान्' इति रुत्वं प्रसज्येत । नैतदस्ति, अम्पर इति तत्रानुवर्त्तते, किं च तुटोऽसिद्धत्वादपि रोरप्रसङ्गः । तस्मात् तुडेव वक्तव्यः ।' (पदमञ्जरी ८.३.२९)

इस से स्पष्ट है कि हरदत्तमिश्र इस विषय में न्यासकार से पूर्णतया सहमत हैं । परन्तु यदि कुछ ध्यान दिया जाये तो न्यासकार का मत भ्रान्त प्रतीत होता है । हरदत्तमिश्र ने यहां गहरा विचार नहीं किया । धुट् की बजाय यदि तुट् का आगम विधान करेंगे तो 'षट्त्सन्तः' आदि में 'चयो द्वितीयाः०' (वा० ८.४.४८) से तकार को थकारादेश प्रसक्त होगा जो अनिष्ट है । परन्तु धुट् करने पर चर्त्व (८.४.५५) हो जाता है जो 'चयो द्वितीयाः०' (८.४.४८) वार्त्तिक की दृष्टि में असिद्ध है अतः कोई दोष नहीं आता । इसीलिए भट्टोजिदीक्षित न्यास के मत का खण्डन करते हुए प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

"यत्त्वाहुः—एवमपि प्रक्रियालाघवार्थं तुडेव कर्त्तुमुचित इति, तन्न । 'चयो द्वितीयाः—' इति पक्षे थकारापत्तेः ।" (प्रौढम० 'ङः सि धुट्' पर)

यही बात बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट कहते हैं—

"चर्त्वस्याऽसिद्धत्वाच्चयो द्वितीया इति न । अत एव 'ङः सि तुड्' इति नाऽसूत्रि ।" (बृ० श० शे० पृष्ठ २६२)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी तत्त्वबोधिनी में यही भाव व्यक्त करते हैं—

"धुटश्चर्त्वेन तकारः । चयो द्वितीयाः—इति तस्य थो न, चर्त्वस्याऽसिद्धत्वात् । अत एव धुडभावे 'षट्सन्तः' इत्यत्र टस्य ठो न भवति ।" (तत्त्व० पृष्ठ ६९)

रूपावतार के लेखक बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्ति यहां भ्रान्त हो गये हैं। वे रूपावतार प्रथम भाग के पृष्ठ (२०) पर लिखते हैं—

"खरि च इति चर्त्वे कृते 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः' इति चयो द्वितीया भवन्ति शरि परतः पौष्करसादेराचार्यस्य मतेन। भवान्थ्सुनोति, तान्थ्सूते। अन्यस्मिन् पक्षे—भवान्त्सुनोति, तान्त्सूते।"

[३.१६] 'परमदण्डिनौ' में अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति को मानकर 'दण्डिन्' यह 'ह्रस्वात् परो यो ङम्, तदन्तं पदम्' वन जाता है। अब इस से परे 'औ' विभक्ति को ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (८.३.३२) सूत्र द्वारा ङमुट् (नुट्) का आगम प्राप्त होता है जो नितान्त अनभीष्ट है। इस के वारणार्थ काशिकाकार ने दो समाधान प्रस्तुत किये हैं—

(क) 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधाद् उत्तरपदस्य पदत्वं नास्तीति ङमुण्न भवति।'

(ख) 'अथवा—उञि च पदे इत्यतः सप्तम्यन्तम् 'पदे' इत्यनुवर्त्तते, तेन अजादौ पदे ङमुड् भवति।' (काशिका ८.३.३२)

न्यासकार ने यहां प्रथम समाधान को कात्यायनानुसारी तथा दूसरे समाधान को सूत्रकारानुसारी कहा है। तथाहि—

'एवं तावत् कात्यायनमतेन परीहार उक्तः। यस्तु सूत्रकारमतेन तं दर्शयितुमाह—अथवेति।' (न्यास ८.३.३२)

हरदत्तमिश्र भी न्यास का अनुकरण करते हुए यही कहते हैं—

'एतद्वार्त्तिककारमतेनोक्तम्। सूत्रकारमतेनाप्याह—अथवेति।' (पदमञ्जरी ८.३.३२)

परन्तु भट्टोजिदीक्षित यहां पर प्राचीन वैयाकरणों की आलोचना करते हुए प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

"ननु परमदण्डिनावित्यादौ अन्तर्वर्त्तिविभक्त्या पदत्वान्नुट् स्यादिति चेन्न, 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात्। अत एव 'परमवाचौ, परमगोदुहौ, परमलिहौ' इत्यादौ कुत्व-घत्व-ढत्वादीनि न। यत्तु प्राचा उञि च पदे इत्यनुवर्त्य 'अजादेः पदस्य' इति व्याख्यानाद् ङमुड् नेत्युक्तं तदनेन प्रत्युक्तम्। इहैव नलोपं वारयितुमुक्तरीतेरेवाऽनुसर्त्तव्यात्।" (प्रौढम० ङमो ह्रस्वादचि० सूत्र पर)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने भी अपनी तत्त्वबोधिनी में अक्षरशः इसी शब्दावली का प्रयोग किया है।

दीक्षित का अभिप्राय यह है कि काशिकोक्त उपर्युक्त दोनों समाधानों को 'अथवा' द्वारा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पहला समाधान तो आवश्यक है ही, उसके बिना केवल दूसरे समाधान से काम नहीं चल सकता। तथाहि—यदि दूसरे समाधानानुसार उञि च पदे सूत्र से 'पदे' का अनुवर्त्तन कर तदादिविधि से 'अजादि पद को ङमुट् का आगम हो' इस प्रकार के अर्थ से 'औ' को नुट् का वारण कर भी लिया जाये

तो भी 'परमदण्डिन्' में अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति को मान कर 'दण्डिन्' के पदत्व के कारण नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८.२.७) द्वारा प्राप्त नकार के लोप का वारण करने के लिये पुनः पहले समाधान 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' का आश्रय लेना ही पड़ेगा। इससे अच्छा यही है कि दूसरे समाधान का क्लेश ही न किया जाये, प्रथम समाधान से ही ङमुट् आगम की निवृत्ति तथा नलोप की निवृत्ति दोनों सिद्ध हो जायेंगे।

दीक्षित की युक्ति में पर्याप्त वल है। 'अथवा' कह कर द्वितीय समाधान की ओर अनुधावन व्यर्थ है जवकि उसका आश्रय लेने पर भी पूरी तरह काम नहीं चल सकता और पुनः प्रथम समाधान की ओर अवश्य भागना पड़ता है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित की प्राच्यों पर व्यंग्योक्ति (Satire) तब तक सम्भव है जव तक नागेशभट्ट 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। नागेश की व्याख्या के पारिप्रेक्ष्य में दीक्षित की युक्तियों का सारा भवन ही ढह जाता है। नागेश का कथन है कि 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' के 'अपदादिविधौ' में पर्युदासप्रतिषेध है अतः पदादिविधि से भिन्न तत्सदृश अर्थात् पदान्तविधि में ही वार्तिक द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध होगा। महाभाष्य (१.१.६३) पर इस वार्तिक के 'परमवाचा' आदि उदाहरण भी इसी वात को द्योतित करते हैं। अतः इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि जहां उत्तरपद के अन्त में कार्य करना हो वहीं पर इस वार्तिकद्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध होता है। 'परमदण्डिनौ' में ङमुट् का आगम उत्तरपद के अन्त को नहीं वल्कि उससे परे 'औ' को करना है अतः 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' की प्रवृत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हां ! नकार का लोप उत्तरपद के स्थान पर होने वाला कार्य है अतः उसकी प्रवृत्ति में इस वार्तिक से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है और तव पदत्व न रहने के कारण नकार का अनिष्ट लोप नहीं होता। इत्थम् 'परमदण्डिनौ' में औकार को ङमुट् का वारण करने के लिए काशिकाकार का दूसरा समाधान अत्यन्त आवश्यक है उसे व्यर्थ समझ कर छोड़ा नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि काशिकोक्त द्वितीय समाधान से ही नुट् का वारण हो सकता है प्रथम समाधान से नहीं।

एतद्विषयक तत्त्ववोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती का एक टिप्पण भी अत्यन्त मनोरंजक है। पदव्यवायेऽपि (८.४.३८) सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदीस्थ 'माषकुम्भवापेन' उदाहरण की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

'किं चोत्तरपदत्व इति वचनस्य पदान्तविधौ कर्त्तव्ये प्रतिषेध इत्यर्थाभ्युपगमे परमदण्डिनाविति ङमो ह्रस्वादचीतिसूत्रस्थमनोरमाग्रन्थेन विरोध इत्यलमियता।'

(तत्त्व० पू० पृ० ५६७)

अर्थात् यदि 'अपदादिविधौ' का तात्पर्य 'पदान्तविधौ' समझा जाये तो भट्टोजिदीक्षित के ङमुट्सूत्रस्थ मनोरमाग्रन्थ के साथ इस का विरोध पड़ेगा। परन्तु ज्ञानेन्द्रसरस्वती का यह तर्क कोई तर्क नहीं है। दीक्षित यदि ङमुट्सूत्र की मनोरमा में भ्रान्ति से कुछ अशुद्ध लिख गये तो क्या उस में सुधार नहीं किया जाना चाहिये ? क्या उस अशुद्धि के साथ तालमेल वैठाने के लिये अन्यत्र भी अशुद्धि कर देनी चाहिये ?

यदि ऐसा है तो दीक्षित के 'चतुरङ्गयोगेनेति, चत्वार्यङ्गान्यस्य तेन योगः'[1] इस मनोरमाग्रन्थ से भी उस का विरोध पड़ता है, परन्तु यहां तो ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने उसे 'तदयुक्तम्'[2] कहा है। ऐसा भेद क्यों?

[३.२०] सहेः साडः सः (८.३.५६) सूत्र पर 'जलाषाट्' रूप की सिद्धि करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'जलं सहत इति भजो ण्विः इत्यनुवर्त्तमाने छन्दसि सहः इति ण्विः। अत उपधायाः इति वृद्धिः, हो ढः इति ढत्वम्, तस्य जश्त्वम्—डकारः, अन्येषामपि दृश्यते इति दीर्घः। सकारस्योष्मणोऽघोषवत आन्तरतम्यात् तादृश एव षकारः।' (न्यास ८.३.५६)

यहां पर 'सकारस्योष्मणोऽघोषवत आन्तरतम्यात् तादृश एव षकारः' यह वचन विशेष ध्यातव्य है। 'ऊष्म सकार अघोष प्रयत्न वाला है इसलिए आन्तरतम्य से उसे वैसा षकार हो जायेगा' यह बात आपत्तिजनक है क्योंकि अघोषवान् मूर्धन्य 'खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च' के अनुसार टकार ठकार भी हो सकते हैं। अत एव 'उष्मणः' यह धर्मप्रधान निर्देश है। 'उष्मणः=उष्मत्ववतः'। उष्मत्वधर्म का अभिप्राय 'विवृतमूष्मणां स्वराणां च' के अनुसार विवृतधर्मत्व से ही है। इसीलिये तो प्रक्रिया-प्रकाशकार तथा प्रसादकार दोनों ने यहां 'उष्मणः' शब्द को बदल कर 'सोष्मणोऽघोष-स्यान्तरतमः ष एव मूर्धन्यः' इस प्रकार लिखा है। उष्मत्व धर्म अर्थात् विवृतत्व जिस मूर्धन्य अघोष में है वह षकार ही हो सकता है अन्य नहीं। भट्टोजिदीक्षित प्रक्रिया-प्रकाशकार के 'सोष्मणः' शब्द को अन्यार्थपरक (महाप्राणपरक) मानते हुए प्रौढ-मनोरमा में इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

'यत्तु वदन्ति—सकारस्य सोष्मणोऽघोषस्यान्तरतमः ष एव मूर्धन्य इति तन्न्यूनम्। ठकारेऽतिप्रसङ्गात्। तथा च प्रातिशाख्यम्—वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ युग्मौ सोष्माणावनुनासिकोऽन्त्य इति।' (प्रौढम० 'आदेशप्रत्यययोः' पर)

वस्तुतः भट्टोजिदीक्षित का खण्डन 'सोष्मन्' शब्द को अन्यार्थपरक मान कर खण्डनैकपरबुद्धि के कारण ही किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि वक्ता का 'सोष्मणः' से अभिप्राय है 'उष्मत्वधर्मवतः' अर्थात् 'विवृतधर्मवतः' से था 'महाप्राणवतः' से नहीं। अत एव दीक्षित के लेख की आलोचना करते हुए चक्रपाणिदत्त ने यहां अत्यन्त समुचित लिखा है—

'अत्र सस्य सोष्मणोऽघोषस्य तादृश एव ष इति प्रकाशः। तत्र सोष्मण इत्यस्योष्मत्वाश्रयस्योष्मण इत्यर्थः, न तु वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ युग्मौ सोष्माणाविति प्रातिशाख्योक्तस्य सोष्मणः। अनेन विवृतमूष्मणां स्वराणां चेति वचनोक्तं विवृतत्वं

---

१. देखें पदव्यवायेऽपि (८.४.३८) सूत्र पर प्रौढमनोरमा।
२. देखें पदव्यवायेऽपि (८.४.३८) सूत्र पर तत्त्वबोधिनी।

सूच्यते। तावन्मात्रं च ऋकारेऽतिप्रसक्तमिति तद्व्यावृत्तयेऽघोषस्येतीति भावः। एतेन ठकारेऽतिप्रसङ्गादिदं न्यूनमिति केषाञ्चिदुक्तिः परास्ता।'
(प्रौढमनोरमाखण्डन पृष्ठ ६६)

[३.२१] नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि (८.३.५८) सूत्र पर नुम्व्यवाय के विषय में न्यासकार लिखते हैं—

'नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकस्यानुस्वारस्योपलक्षणं द्रष्टव्यम्। न हि नुमा क्वचिद् व्यवायोऽस्ति, सर्वत्र नश्चाऽपदान्तस्य झलि इत्यनुस्वारविधानात्।' (न्यास ८.३.५८)

इसी का अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणम्, नुमा व्यवायाऽसम्भवात्, नश्चाऽपदान्तस्य झलि इत्यनुस्वारस्य विधानात्। अनुस्वारग्रहणमेव तु न कृतम्, नुम्स्थानिकेनैवानुस्वारेण व्यवधाने यथा स्यात्, इह मा भूत्—पुंस्विति। पुम्स्शब्दात् सुपि संयोगान्तस्य लोपः, मकारस्यानुस्वारः।' (पदमञ्जरी ८.३.५८)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी इसी का अनुसरण करते हुए श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन के 'आम्यन्तस्था-कवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिट्नान्तरेऽपि' (हैम० २.३.१५) सूत्र की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—

'नकारस्याऽवश्यमनुस्वारभवनात् शिट्ग्रहणेनैव सिद्धे नकारोपादानं नकारस्थानेनैवानुस्वारेण यथा स्यादित्येवमर्थम्, तेन मकारानुस्वारेण न भवति—पुंसु।'

परन्तु भट्टोजिदीक्षित 'नुम् से नुम्स्थानिक अनुस्वार का ग्रहण करना चाहिये' इस विचार से तो सहमत हैं क्योंकि यह हयवरट् सूत्रस्थ भाष्य से अनुमोदित है।[1] किन्तु प्राच्य वैयाकरणों के 'नकार को अवश्य सर्वत्र अनुस्वार हो जाता है अतः नुम् का उदाहरण मिलना असम्भव है' इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे इसी सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थम्, व्याख्यानात्। तेनेह न—सुहिन्सु, पुंसु। अत एव न शर्ग्रहणेन गतार्थता।' (सि० कौ० पू० पृष्ठ २२४)

दीक्षित का तात्पर्य यह है कि सुपूर्वक 'हिसि हिंसायाम्' धातु से क्विप्, इदित्वान्नुम्, सप्तमीबहुवचन में 'सुहिन्स्+सु' इस स्थिति में प्रथमसकार का संयोगान्तलोप होकर 'सुहिन्सु'। अब यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१.४.१७) द्वारा पदत्व के कारण नश्चाऽपदान्तस्य झलि (८.३.२४) से नकार को अनुस्वार नहीं हो सकता। इस प्रकार 'सुहिन्सु' में नुम् के व्यवधान का उदाहरण सम्भव है। अतः प्राच्यों का यह

---

१. "नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथं सर्पींषि धनूंषि? अनुस्वारे कृते 'शर्व्यवाये' इत्येव सिद्धम्। अवश्यं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम्। अनुस्वारविशेषणं नुम्ग्रहणम्, नुमो योऽनुस्वारस्तत्र यथा स्याद् इह मा भूत्—पुंस्विति।"
(महाभाष्य 'हयवरट्' पर)

कथन कि नुम् का उदाहरण असम्भव है नितान्त अशुद्ध है। इसीलिए यहां पर प्रौढ-मनोरमा में वे लिखते हैं—

"असम्भवादिति हरदत्तोक्तिर्नादर्त्तव्या, 'सुहिन्सु' इत्यत्र सम्भवादिति भावः।"
(प्रौढम० पृ० ३८१)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही विचार व्यक्त करते हैं—

"असम्भवादिति हरदत्तोक्तिर्नादर्तव्या। 'सुहिन्सु' इत्यादौ सम्भवादिति भावः।"
(बृ० श० शे० पृष्ठ ६६५)

परन्तु नागेश ने प्रौढावस्था में अपने ये विचार बदल लिये। अत एव महाभाष्य-प्रदीपोद्योतटीका में वे इसके विपरीत विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"यद्यपि इण्कवर्गाभ्यामुत्तरो नुमा व्यवहितः सकारः 'सुहिन्सु' इत्यादौ सम्भवति, तथापि तदनभिधानमिति भावः।" (उद्योत 'हयवरट्' पर)

यदि नागेश की बात मान ली जाये तो न्यासकार आदियों का कथन पुनः प्रतिष्ठित हो सकता है परन्तु उन के 'अनभिधान' में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

[३.२२] **वनं पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-सारिका-कोटराग्रेभ्यः** (८.४.४) सूत्र में 'अग्रे' शब्द के ग्रहण के कारण 'अग्रेवणम्' रूप बनता है। यहां पर काशिकाकार लिखते हैं—'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, एतेभ्य एव परस्य वननकारस्य णकारादेशो भवति, नान्येभ्य इति'। इस से प्रतीत होता है कि काशिकाकार 'अग्रेवणम्' में भी सञ्ज्ञात्वेन पूर्वसूत्र **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) द्वारा णत्व प्राप्त मानते हैं। न्यासकार को भी यही अभिमत प्रतीत होता है, अत एव वे 'अग्रेवणम्' की प्रक्रिया दर्शाते हुए लिखते हैं—

'अग्रेवणमिति। षष्ठीसमासः। तस्मिन् कृते राजदन्तादित्वाद् वनशब्दस्य पर-निपातः। **हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्** (६.३.७) इति सप्तम्या अलुक्'।

यहां पर **हलदन्तात्०** से सप्तमी का अलुक् करना इस बात को प्रमाणित करता है कि न्यासकार इसे संज्ञा समझते हैं।

परन्तु न्यासकार के बाद अनेक वैयाकरणों ने इस पर गहन विचार किया और वे इस परिणाम पर पहुंचे कि 'अग्रेवणम्' कोई संज्ञा नहीं है, यह तो साधारण षष्ठी-तत्पुरुषसमास है। राजदन्तादियों में निपातन के कारण इस में सप्तमी का अलुक् तथा पूर्वनिपातन हुआ है। सम्भवतः सब से प्रथम आचार्य पाल्यकीर्ति ने इसे संज्ञानिष्पादक सूत्र से हटा कर अपने अनुशासन के अगले सामान्य सूत्र में सम्मिलित कर दिया। तथाहि—

पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-शारिका-कोटराद् वनम्। (शाकटायन० २.२.१६०)
प्राग्ग्रेऽन्तर्निश्शराम्रखदिरकार्ष्यपीयुक्षेक्षुप्लक्षात्। (शाकटायन० २.२.१६१)

दूसरे सूत्र की स्वोपज्ञ अमोघावृत्ति में वे लिखते भी हैं—

"योगविभागान्नाम्नीति निवृत्तम्। तेन सामान्येनेदं विधानम्।"
(अमोघा २.२.१६१)

भट्टिकाव्य में इस का बिना संज्ञा के प्रयोग भी मिलता है—

बहुधा भिन्नमर्माणो भीमाः खरणसावयः।
अग्रेवणं वर्त्तमाने प्रतीच्यां चन्द्रमण्डले ॥ (भट्टि० ६.६३)

यहां पर जयमङ्गलाकार ने—'प्रतीच्यां दिशि यद्वनं तस्य वनस्याग्रे उपरि वर्त्तमाने चन्द्रमण्डले प्रभातसन्ध्यायामित्यर्थः' इस प्रकार व्याख्या की है।

सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज ने भी इसे संज्ञा नहीं माना—

पुरगा-मिश्रका-सिध्रका-शारिका- कोटराम्यो वनस्य। (सरस्वती० ७.४.१११)
प्रनिरन्तरग्रेशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्श्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि।
(वही ७.४.११२)

दूसरे सूत्र में भोजराज ने स्पष्टतः 'असञ्ज्ञायामपि' कह दिया है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी अपने अनुशासन में पाल्यकीर्त्ति का ही अनुसरण किया है—

निष्प्राग्रेऽन्तःखदिरकार्श्याम्रशरेक्षुप्लक्षपीयूक्षाभ्यो वनस्य। (हैम० २.३.६६)
कोटर-मिश्रक-सिध्र-पुरग-सारिकस्य वणे। (वही ३.२.७६)

प्रथम सूत्र के 'निर्वणम्, प्रवणम्, अग्रेवणम्' आदि उदाहरण संज्ञाऽभाव के द्योतक हैं[1] (देखें हैमप्रकाश पूर्वार्ध पृष्ठ ३२२)।

गणरत्नमहोदधि में वर्धमान ने भी इसे संज्ञा नहीं माना।[2]

पाणिनीय वैयाकरणों में सब से पहले सम्भवतः हरदत्तमिश्र ने इस ओर दबी आवाज में ध्यान दिलाया है। वे पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'अग्रेवणमिति षष्ठीसमासे राजदन्तादित्वाद् वनशब्दस्य परनिपातः। हलदन्तात्० इति सप्तम्या अलुक्। अथ न संज्ञा ततो राजदन्तादिषु निपातनादलुक्। सिद्धे सतीत्यादि पुरगादिष्वेतदुच्यते, अग्रेशब्दे तु असञ्ज्ञायां विध्यर्थमित्याहुः।'
(पदमञ्जरी ८.४.४)

भट्टोजिदीक्षित सि० कौ० में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'इह कोटरान्ताः पञ्च दीर्घविधौ कोटरादयो बोध्याः। तेषां कृतदीर्घाणां णत्वविधौ निर्देशो नियमार्थः। अग्रेशब्दस्य तु विध्यर्थः। वनस्याग्रे अग्रेवणम्। राजदन्तादिषु निपातनात् सप्तम्या अलुक्। प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा।'
(सि० कौ० पृ० ५६१)

---

१. ध्यान रहे कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि 'अग्रेवणम्' में 'पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा' (हैम० ३.१.३०) सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास स्वीकार करते हैं। कुछ पाणिनीय वैयाकरणों ने भी इसे अव्ययीभावसमास माना है। (देखें प्रक्रियासर्वस्व भाग ४, पृष्ठ ७८)।

२. 'वनस्याग्रे—अग्रेवनम्। अत एव पाठात् सप्तम्या अलुक्। अम्भावश्च अव्ययीभावत्वात्। बहुधा भिन्न—। वनस्याग्रम् अग्रेवणमित्येके। निपातनाण्णत्वम्। अत्र षष्ठीसूत्रेण।' (गणरत्न० पृ० १२०)

यहां पर तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं—

'विध्यर्थं इति । असञ्ज्ञात्वेन पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामित्यस्याप्रवृत्तेरिति भावः ।'

शेखरकार भी लिखते हैं—

'विध्यर्थं इति । अग्रेवणशब्दस्याऽसञ्ज्ञत्वादिति भावः ।'

(ल० श० शे० पृ० ५६२)

'विध्यर्थं इति । असञ्ज्ञात्वादिति भावः । असञ्ज्ञात्वाद् हलदन्तात्० इत्यस्याप्राप्तेराह निपातनादिति ।' (बृ० श० शे० पृ० १२११)

इस प्रकार आधुनिक पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर वैयाकरणों में कोई भी वैयाकरण ऐसा नहीं है जो 'अग्रेवणम्' को संज्ञा कहता हो । परन्तु यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि न्यासकार तक सब वैयाकरण इसे संज्ञा ही लिखते व मानते रहे ।[1] यदि उन के आगे कुछ लक्ष्य थे भी तो वे अब कालकवलित हो चुके हैं, अतः निश्चितरूपेण कुछ कहा नहीं जा सकता । हां इतना सत्य है कि वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृतवाङ्मय में 'अग्रेवणम्' नाम की कोई संज्ञा उपलब्ध नहीं है ।

[३.२३] प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसञ्ज्ञायामपि (८.४.५) सूत्र पर न्यासकार की अनेक भ्रान्तियां हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में विस्पष्ट की हैं। तथाहि—

(क) न्यासकार का इस सूत्र पर यह कहना कि 'ग्रेऽत्रौषधिवनस्पतिशब्दा न भवन्ति प्रादयस्तेभ्यः सञ्ज्ञायाम्—यदि पूर्वसूत्रं नियमार्थमथापि विध्यर्थम् उभयथाऽप्यप्राप्तणत्वमनेन विधीयते' नितान्त अविचारित है। क्योंकि न्यासकार का यहां पूर्वसूत्र से अभिप्राय **वनं पुरगा०** (८.४.४) से नहीं अपितु **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** (८.४.३) से ही है। **वनं पुरगा०** सूत्र तो नियमार्थ ही है विध्यर्थक नहीं—ऐसा सर्वसम्मत है। अब **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** सूत्र यदि नियमार्थ है तो उस से 'प्रवणम्, निर्वणम्, अन्तर्वणम्' में संज्ञावस्था में कैसे णत्व अप्राप्त होगा ? बल्कि उस से तो प्राप्त ही होगा क्योंकि संज्ञा है। इसी प्रकार यदि वह विध्यर्थक है तो भी उस की प्राप्ति निर्बाध होगी । अतः न्यासकार का 'उभयथाऽप्यप्राप्तं णत्वम्' कहना भ्रान्त है। वस्तुतः न्यासकार को यहां यह लिखना चाहिये था कि संज्ञावस्था में **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** से तो नियम या विधि दोनों पक्षों में णत्व की प्राप्ति होती थी किन्तु **वनं पुरगा०** नियम के कारण वह प्राप्ति रुक गई थी अतः णत्व के अप्राप्त होने पर प्रकृतसूत्र से पुनः उस का प्रतिप्रसव किया जाता है। यही बात यहां हरदत्तमिश्र ने अत्यन्त समुचित शब्दों में कही है—

'सञ्ज्ञायां तावत्—**पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्०** इत्येतद् यद्यपि नियमार्थमथापि विध्यर्थम् उभयथापि अवश्यम् **वनं पुरगा०** इत्यादिसूत्रं नियमार्थम् पुरगादिष्वेव वननकारस्येति, ततश्च प्रादिष्वप्राप्तिः ।' (पदमञ्जरी ८.४.५)

---

१. न्यासकार से प्राचीन चान्द्र० (६.४.१०४) तथा जैनेन्द्र० (५.४.८८) व्याकरणों में भी इसे सञ्ज्ञा माना गया है ।

(ख) इसी प्रकार न्यासकार का 'एवमसञ्ज्ञायामपि विधिपक्षे। नियमपक्षे तु असञ्ज्ञायां निष्प्रयोजनोऽस्यारम्भः, असंज्ञायां नियमाभावात्, आद्याभ्यामेव सूत्राभ्यां यथायोगं णत्वस्य सिद्धत्वात् ।' यह लेख भी अशुद्ध है। असंज्ञावस्था में पूर्वपदात्संज्ञायामगः के नियमपक्ष में यहां णत्व का विधान निष्प्रयोजन कैसे हो सकता है ? नियम तो कहता है कि यदि पूर्वपद से परे उत्तरपद में णत्व हो तो संज्ञा में ही हो इस से असंज्ञा में तो णत्व निषिद्ध हो जायेगा पुनः आद्य सूत्रद्वय (रषाभ्यां नो णः समानपदे, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८.४.१-२) से कैसे प्राप्त हो सकेगा ? अतः असंज्ञावस्था में भी नियमसूत्र से णत्व अप्राप्त था इसलिए प्रकृतसूत्र में इस का विधान निष्प्रयोजन नहीं अपितु सार्थक है। अत एव हरदत्तमिश्र यहां ठीक कहते हैं—

'असञ्ज्ञायामपि नियमे तावदप्राप्तिः,। संज्ञायामेवेति नियमात् ।'

(पदमञ्जरी ८.४.५)

(ग) इस सूत्र पर 'असंज्ञायामपि' का प्रयोजन बतलाते हुए न्यासकार लिखते हैं—'असंज्ञायामपीत्यपिशब्दस्य व्यापारं दर्शयति। असत्यपिशब्दे संज्ञाधिकारादसंज्ञायां न स्यात् ।' भाव यह है कि सूत्र में यदि 'अपि' शब्द न हो अर्थात् 'प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसञ्ज्ञायाम्' इतना मात्र सूत्र हो तो असंज्ञा में प्रसक्ति न होगी। न्यासकार की यह बात समझ से परे है क्योंकि सूत्र में 'अपि' शब्द के न रहने पर भी 'असंज्ञायाम्' तो रहेगा ही, पुनः असंज्ञा में प्रसक्ति क्यों न होगी ? असंज्ञा में प्रसक्ति का अभाव तो तभी होगा जब सम्पूर्णतः 'असंज्ञायामपि' का ग्रहण नहीं किया जायेगा। केवल 'अपि' के ग्रहण न करने से न्यासोक्त बात उपपन्न हो नहीं सकती। अतः हरदत्तमिश्र का कथन अतीव युक्त है—

"असंज्ञायामपि इत्यनुच्यमाने 'संज्ञायाम्' इत्यधिकारात् तत्रैव स्यात् ।"

(पदमञ्जरी ८.४.५)

(घ) आगे चल कर इसी सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'अथ तु संज्ञाधिकारं निवर्त्य सामान्येन विधिरुच्यते तदा शक्यते सञ्ज्ञाग्रहणमकर्तुम्। तत्क्रियते विस्पष्टार्थम्।' इस का अभिप्राय यह है कि यदि पीछे से आ रही 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति न आये तो यहां 'असंज्ञायामपि' कहने की आवश्यकता न होगी। तब इस सूत्र की प्रवृत्ति संज्ञा असंज्ञा दोनों अवस्थाओं में निर्बाध हो जायेगी। इस प्रकार यहां 'असंज्ञायामपि' का कथन स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए ही समझना चाहिये। परन्तु यदि तनिक विचार करें तो न्यासकार का यह कथन भ्रमपूर्ण सिद्ध होता है, क्योंकि यदि पीछे से 'संज्ञायाम्' का अनुवर्त्तन नहीं होगा और यहां पर भी 'असंज्ञायामपि' नहीं कहेंगे तो यह सूत्र असंज्ञा में तो प्रवृत्त होकर सावकाश हो जायेगा किन्तु संज्ञा में वनं पुरगा० (८.४.४) का नियम इस का बाध कर लेगा। अतः पीछे से 'संज्ञायाम्' की निवृत्ति होने पर भी 'असंज्ञायामपि' का ग्रहण आवश्यक है, इसलिये इसे स्पष्टप्रतित्त्यर्थं मानना भूल है। अतः पदमञ्जरी में यहां ठीक ही कहा गया है—

"असंज्ञायामपि इत्यनुच्यमाने 'संज्ञायाम्' इत्यधिकारात् तत्रैव स्यात्। निव-

र्तिष्यते संज्ञायामिति ? यदि निवर्त्तते, संज्ञायां न प्राप्नोति, पुरगादिभ्य एव वन-नकारस्येति नियमात्, अयं तु विधिरसंज्ञायां सावकाशः। संज्ञायामपि परत्वादयमेव विधिर्भविष्यति ? पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधः। तस्माद् असंज्ञायामपीति वक्तव्यम्।"
(पदमञ्जरी ८.४.५)

[३.२४] अह्नोऽदन्तात् (८.४.७) सूत्रगत 'अदन्तात्' पद में अन्तग्रहण को अनावश्यक समझते हुए चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में 'अह्नोऽतः' (चान्द्र० ६.४.१०६) सूत्र का निर्माण किया। इसी प्रकार आचार्य देवनन्दी ने भी अपने जैनेन्द्रव्याकरण में 'अतोऽह्नः' (जैनेन्द्र० ५.४.९१) सूत्र बनाया। इन से प्रेरणा पाकर न्यासकार यहां पर पाणिनीयसूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'अन्तग्रहणं विस्पष्टार्थम्। तपरेणाकारेण पूर्वपदे विशेष्यमाणे तदन्तविधिर्भविष्यतीति विनाऽप्यन्तग्रहणं तदन्तता लभ्यत इति।' (न्यास ८.४.७)

न्यासकार से अर्वाचीन आचार्य भी इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर प्रायः अन्तग्रहण की उपेक्षा करते रहे। तद्यथा—

शाकटायन०—अतोऽह्नः। (शाकटायन० २.२.१६८)
हैम० —अतोऽह्नस्य। (श्रीसिद्धहेम० २.३.७३)
मुग्धबोध० —प्राग्वद् नो णो तोऽह्नस्य। (मुग्ध० सूत्र ३५५)

परन्तु पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र यहां पर न्यासकार के मत का खण्डन करते हुए अन्तग्रहण का प्रयोजन बतलाते हैं—

'अन्तग्रहणं ज्ञापकम्—अत्र प्रकरणे न यत्नमन्तरेण वर्णेनापि तदन्तविधिर्भवतीति। तेन रषाभ्यामित्यत्र तदन्तविधिर्न भवति।' (पदमञ्जरी ८.४.७)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने बिना अपनी सम्मति दिये हरदत्तमिश्र का मत उद्धृत किया है—

'अत इति पूर्वपदविशेषणतया सामानाधिकरण्येनान्वयेऽदन्तपूर्वपदेत्यर्थेनोपपत्तावन्तग्रहणमत्र प्रकरणे वर्णग्रहणेऽपि तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम्। अत एव रषाभ्यां न तदन्तविधिरिति हरदत्तः।' (बृ० श० शे० पृ० १०६६)

परन्तु प्रौढावस्था में नागेशभट्ट के विचारों में परिपक्वता आ गई अब वे हरदत्तमतानुगामी न रहे। अब वे ल० शब्देन्दुशेखर में इसे न्यासकार की तरह स्पष्टार्थक मानने लगे। तद्यथा—

'अत इत्येव पूर्वपदविशेषणतया सामानाधिकरण्येनान्वयेऽदन्तपूर्वपदेत्यर्थलाभेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्।' (ल० श० शे० पृ० ४६७)

यहां पर भैरवमिश्र नागेश के सूक्ष्म भाव को व्यक्त करते हुए भैरवीव्याख्या में लिखते हैं—

'वर्णग्रहणं च सर्वत्रेति तदन्तविधिरत्र प्रकरणे नेत्यर्थस्य प्रतिपत्त्यर्थः। अतु एव

रषाभ्यामित्यत्र न तदन्तविधिः । वस्तुतोऽत्र तदन्तविध्यभावः सरूपाणामिति निर्देशेनैव सिद्ध इति बोध्यम् ।'

इस प्रकार न्यासोक्त स्पष्टीकरण का पुनः उद्घोष हुआ है ।

[३.२५] **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (८.४.१४) सूत्र पर 'असमासेऽपीति किम् ? पूर्वपदाधिकारात् समास एव स्यादिति तदधिकारनिवृत्तिद्योतनार्थम्' इस काशिकावचन की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"पूर्वपदस्य निवृत्तिं द्योतयितुम् 'असमासेऽपि' इत्युच्यते । द्योतनग्रहणेनैतदाचष्टे—नानेन तस्य निवृत्तिः क्रियते, किं तर्हि ? अस्वरितत्वादविद्यमानतैव केवलं प्रकाश्यत इति । तदेतदुक्तम्भवति—मन्दबुद्धिर्य एवं प्रतिपत्तुमसमर्थस्तं प्रति विस्पष्टीकरणार्थम् अयमसमासेऽपीत्युच्यत इति ।" (न्यास ८.४.१४)

यहां पर न्यासकार ने 'असमासेऽपि' को विस्पष्टार्थक माना है क्योंकि 'पूर्वपदात्' अधिकार की निवृत्ति अस्वरितत्व के कारण सुतरां हो सकती थी । परन्तु हरदत्तमिश्र इस से सहमत नहीं, वे पदमञ्जरी में इस का खण्डन करते हुए लिखते हैं—

"तदधिकारनिवृत्तिद्योतनार्थमिति । नाऽनेन विस्पष्टार्थम् असमासेऽपिग्रहणमित्युच्यते । तथाहि—यद्यप्यस्वरितत्वात् 'पूर्वपदात्' इति निवर्त्तते तथाप्यसमासेऽपिग्रहणं कर्त्तव्यम्, अन्यथा सञ्ज्ञायां समासे न स्यात्, पूर्वपदात्सञ्ज्ञामेवेति नियमादस्य च विधेरसमासे चरितार्थत्वात् । तस्मात् पूर्वपदाधिकारनिवृत्तिद्योतनमुखेन समासाऽसमासयोर्द्वयोरपि यथा स्यादित्यसमासेऽपिग्रहणम् इत्ययमर्थो द्रष्टव्यः ।—यदा तु **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्०** इतिसूत्रं नियमार्थमिति पक्षः, तदैतदुच्यते । यदा तु विध्यर्थं तदा नैतदुपपद्यते ।" (पदमञ्जरी ८.४.१४)

हरदत्तमिश्र की युक्तियों में बल है । उन का अभिप्राय यह है कि जब यह सूत्र असमास में चरितार्थ हो जायेगा तो समास में **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) के नियमानुसार केवल वहीं इस की प्रवृत्ति होगी जहां सञ्ज्ञा होगी, समास की असंज्ञावस्था में इस की प्रवृत्ति न हो सकेगी, वह नियम विरोध करेगा । परन्तु अत्र 'असमासेऽपि' कह देने से 'पूर्वपदात्' अधिकार की निवृत्ति का द्योतन हो जाता है, इस से यह सूत्र समास असमास सब जगह सामान्यभाव से प्रवृत्त हो जाता है कहीं बाधा उपस्थित नहीं होती । किन्तु यह सब **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) सूत्र के नियमपक्ष में ही सम्भव है, यदि उसे नियमार्थक न मानकर विध्यर्थक ही मानें तो 'असमासेऽपि' की कोई आवश्यकता नहीं रहती, न्यासोक्तप्रकारेण वह विस्पष्टार्थक ही होगा । काशिकाकार ने **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) सूत्र को नियमार्थक और विध्यर्थक दोनों प्रकार का दर्शाया है[1] अतः नियमपक्ष में हरदत्तमिश्र का समाधान अवश्य ध्यातव्य है ।

---

१. 'केचिदेतन्नियमार्थं वर्णयन्ति—पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामेव णत्वं नान्यत्रेति ।—अपरे तु—पूर्वसूत्रे 'समानमेवं यन्नित्यं पदं तत्समानपदम्' इत्याश्रयन्ति, समानग्रहणात् । तेषामप्राप्तमेव णत्वमनेन विधीयते ।" (काशिका ८.४.३)

मिश्र का यह समाधान स्वकल्पित नहीं किन्तु भाष्य और प्रदीपमूलक है[1]। नागेशभट्ट **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** (८.४.३) सूत्र को केवल विध्यर्थक ही मानते हैं नियमार्थक नहीं अतः उन्हों ने हरदत्त के मत की ल० शब्देन्दुशेखर में आलोचना की है और 'असमासेऽपि' को न्यासकारवत् विस्पष्टार्थक ही माना है।[2]

[३.२६] **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (८.४.१४) सूत्र पर 'असमासेऽपि' का प्रयोजन बतलाते हुए काशिकाकार लिखते हैं —

'असमासेऽपीति किम्? पूर्वपदाधिकारात् समास एव स्यादिति तदधिकारनिवृत्तिद्योतनार्थम्।' (काशिका ८.४.१४)

इस स्थल की न्यासकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

"पूर्वपदादिति वर्त्तते। समासे भवति पूर्वपदत्वम्।[3] रूढिशब्दो हि पूर्वपदशब्दः पूर्वमाश्रितः, स एव चेहानुवर्त्तते, स च समास एव सम्भवति। ततश्च समासेऽपीत्युच्यमाने समास एव स्यादिति। इतिकरणो हेतौ। यस्मादसति तस्मिन् एप दोषस्तस्मात् तस्य पूर्वपदस्य निवृत्तिं द्योतयितुम् 'असमासेऽपि' इत्युच्यते।" (न्यास ८.४.१४)

तात्पर्य यह है कि अनुवर्त्तमान 'पूर्वपदात्' के कारण 'समासे' पद यहां उपलब्ध था, परन्तु सूत्रकार समास असमास दोनों अवस्थाओं में णत्व करना चाहते थे। यदि वे यहां कुछ न कहते तो इस सूत्र की समास में ही प्रवृत्ति होती असमास में नहीं, और यदि केवल 'असमासे' कहते तो असमास में ही प्रवृत्ति होती समास में नहीं, अब

---

१. 'यदि तर्हि समासे चाऽसमासे चेष्यते नार्थोऽसमासेऽपिग्रहणेन। निवृत्तं पूर्वपदादिति। अविशेषेण उपसर्गाण्णत्वं वक्ष्यामि। समासे नियमान्न प्राप्नोति।' (महाभाष्य ८.४.१३) इस पर कैयट व्याख्या करते हुए प्रदीप में लिखते हैं—

'समासे नियमादिति। यदा **पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः** इति सूत्रं नियमार्थमिति पक्षस्तदैतदुच्यते। समासपदे हि समाने निमित्तनिमित्तिनोर्भावात् सिद्धं णत्वं नियम्यते। यदा तु समानग्रहणात् समानमेव यन्नित्यं पदं तदाश्रीयते तदा पूर्वपदादित्यस्य विध्यर्थत्वाद् असमासेऽपिग्रहणस्य ज्ञापकत्वानुपपत्तिः।'

२. "**पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्०** इत्यतः पूर्वपदाद् इत्यनुवृत्तौ तदाक्षिप्तसमास एव स्यादतः 'असमासेऽपी'ति। ननु पूर्वपदाधिकारस्यात्र निवृत्तेर्व्याख्यानत एव सिद्धाविदं व्यर्थम्। न चाऽसञ्ज्ञायां पूर्वपदाद्० इति नियमव्यावर्तितणत्वप्रतिप्रसवाय समासाऽसमासयोर्विशिष्य विधानार्थम्। पूर्वपदादिति दृष्टया **उपसर्गादसमासे०** इत्यस्यासिद्धया नियमेन व्यावृत्तेः कर्त्तुमशक्यत्वात्। न चैतत् 'प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं न तु सूत्रे सूत्रम्' इत्यर्थज्ञापकमिति वाच्यम्। रषाभ्यामित्यत्र समानपद इत्यस्याखण्डपद इत्यर्थेन पूर्वपदादित्यस्य विध्यर्थत्वेन ज्ञापकासम्भवादिति चेन्न, स्पष्टार्थत्वात्।" (ल० श० शे० पृ० ६१)

३. मुद्रित न्यास में यहां का पाठ भ्रष्ट है, देखें (५.६१)।

'असमासेऽपि' कहने से समास असमास दोनों स्थानों पर निर्बाध प्रवृत्ति हो जाती है।

यहां पर तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती 'पूर्वपदात्' के अनुवर्त्तनसामर्थ्य से 'समासे' की उपलब्धि न मान कर **समासेऽङ्गुलेः सङ्गः** (८.३.८०) इस पिछले दूरस्थ सूत्र से इस का अनुवर्त्तन मानते हैं। तथाहि—

'**समासेऽङ्गुलेः सङ्ग** इत्यतः समास इत्यनुवृत्तेरसमासे न स्यादित्यसमासग्रहणम्। तथासति 'प्रणाम' इत्यादौ समासे न स्यादित्यपिग्रहणम्। तदाह—समासेऽसमासेऽपीति।'

(तत्त्व० उ० पृ० ६०)

बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित भी इसी का अनुसरण करते हैं—

'**समासेऽङ्गुलेः सङ्ग** इत्यतः समास इत्यनुवृत्तेरसमासे न स्यादित्यसमासग्रहणम्। तथासति 'प्रणाम' इत्यादौ समासे न स्यादित्यपिग्रहणम्। तदाह—समासेऽसमासेऽपीति।'

(बालमनो० उ० पृ० ६०)

यहां पर ५४ सूत्र पूर्व पिछले पादस्थ **समासेऽङ्गुलेः सङ्गः** (८.३.८०) सूत्र से मण्डूकप्लुतिद्वारा 'समासे' की अनुवृत्ति लाना कहां की बुद्धिमत्ता है जबकि प्रकृत 'पूर्वपदात्' से आक्षिप्त होकर वह सुतरां प्राप्त है। अत एव तत्त्वबोधिनीकार के वचनों की उपेक्षा करते हुए नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में न्यासकारवत् 'समासे' की उपलब्धि 'पूर्वपदात्' से ही मानते हुए लिखते हैं—

"पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामित्यतः 'पूर्वपदाद्' इत्यनुवृत्तौ, तदाक्षिप्तसमास एव स्यादतस्तन्निवृत्तये—असमासेऽपीति।"

(बृ० श० शे० पृ० १६६२)

लघुशब्देन्दुशेखर में भी वे यही भाव व्यक्त करते हैं—

"पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामित्यतः पूर्वपदादित्यनुवृत्तौ तदाऽऽक्षिप्तसमास एव स्यादतः 'असमासेऽपी'ति।"

(ल० श० शे० पृष्ठ ६०)

न्यासकार की उपर्युक्त व्याख्या स्वोपज्ञ नहीं बल्कि महाभाष्य पर आश्रित है। इसी सूत्र पर महाभाष्य में कहा गया है—

'असमासग्रहणं किमर्थम्? समास इति वर्त्तते, असमासेऽपि यथा स्यात्—प्रणमति, परिणमति। क्व पुनः समासग्रहणं प्रकृतम्? पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामग इति। कथं पुनस्तेन समासग्रहणं शक्यं विज्ञातुम्? पूर्वपदग्रहणसामर्थ्यात्। समास एवैतद् भवति पूर्वपदमुत्तरपदमिति।'

(महाभाष्य ८.४.१४)

अतः तत्त्वबोधिनीकार तथा बालमनोरमाकार का कथन न केवल युक्तिविरुद्ध है बल्कि भाष्यविरुद्ध भी है।

[३.२७] **पदव्यवायेऽपि** (८.४.३८) सूत्र पर काशिका में 'माषकुम्भवापेन' उदाहरण दिया गया है। इस उदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तं वपतीति **कर्मण्यण्** तदन्तात् तृतीयैकवचनम्। अत्र प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च इति प्राप्तिः। कुम्भशब्देन व्यवायः।'

(न्यास ८.४.३८)

न्यासोक्त इस प्रक्रिया का खण्डन करते हुए कैयट महाभाष्यप्रदीप में लिखते हैं—

'केचित्त्वाहुः—यदा माषाणां कुम्भो माषकुम्भस्तस्य वाप इति प्रक्रिया तदोत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधाविति प्रत्ययलक्षणनिषेधात् पदत्वाऽभावान्निषेधाऽप्रवृत्तिः। कुम्भस्य वापः कुम्भवापो माषाणां कुम्भवापो माषकुम्भवाप इत्यस्यां तु प्रक्रियायां णत्वप्रतिषेध इति।' (प्रदीप० ८.४.१३)

कैयट का अनुकरण करते हुए हरदत्तमिश्र अपनी पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'अत्र केचिदाहुः—यदा माषाणां कुम्भो माषकुम्भः, तस्य वाप इति प्रक्रिया तदा 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् पदत्वाऽभावान्निषेधाप्रवृत्तेर्भवितव्यमेव णत्वेन, तस्मात् कुम्भस्य वापः कुम्भवापः, माषाणां कुम्भवापो माषकुम्भवाप इति प्रक्रियाऽऽश्रयेणोदाहरणमिति। अत्र **कुमति च** इति प्राप्तिः।' (पदमञ्जरी ८.४.३८)

तात्पर्य यह है कि न्यासोक्तप्रक्रिया में 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' (वा० १.१.६३ पर) वार्त्तिक द्वारा प्रत्ययलक्षण के प्रतिषेध के कारण 'कुम्भ' का पदत्व नहीं रहता, यदि वह पद ही न रहे तो उसके व्यवधान में **पदव्यवायेऽपि** (८.४.३८) द्वारा णत्व का निषेध कैसा ?[1] इसके समाधान में न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती ने यहां पर मैत्रेयरक्षित के तन्त्रप्रदीप से एक उद्धरण दिया है—

'माषकुम्भवापेनेत्यादावुत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधाविति वचनादुत्तरस्य पदत्वे कर्त्तव्ये प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। कथं कुम्भादेः पदत्वं यतो पदव्यवाये प्रतिषेधो भवेत् ? उच्यते, उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधावित्यत्राऽपदादिविधिशब्दः पदादिशब्दमारभ्य ये विषयास्तदुपलक्षणम्। तेन **सात्पदाद्योः** (८.३.१११) इत्येतदारभ्य कार्येष्वपदादिविधाविति वचनादुत्तरस्य पदत्वं भवत्येव। अत्र च ज्ञापकं **षात् पदान्तात्** (८.४.३५) इत्यत्र पदे परभूतेऽन्तः पदान्त इति। एवमर्थम् अन्तस्योपादानम्, न हि तदन्यथा सम्भवति।'[2] (न्यास राजशाही० ८.४.३८ पर टिप्पण)

मैत्रेयरक्षित के इस उद्धरण का अभिप्राय यह है कि 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' में जो 'अपदादिविधौ' कहा गया है उसमें 'पदादिविधि' उपलक्षणार्थ है, **सात्पदाद्योः** (८.३.१११) सूत्र से लेकर आगे की सारी विधियां इसके अन्तर्गत समझनी चाहियें। इस प्रकार **पदव्यवायेऽपि** द्वारा प्रतिपादित णत्वनिषेध भी पदविधि ठहरता

---

१. भट्टोजिदीक्षित ने भी प्रौढमनोरमा में **पदव्यवायेऽपि** (८.४.३८) सूत्र के उदाहरण 'चतुरङ्गयोगेन' पर न्यासवत् प्रक्रिया दर्शाई है, अतः तत्त्वबोधिनी में उस की आलोचना करते हुए ज्ञानेन्द्रसरस्वती लिखते हैं—

"चत्वार्यङ्गानि अस्य, तेन योग इति मनोरमायां विगृहीतं तदयुक्तम्। 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधादङ्गशब्दस्याऽपदत्वात्। तस्मादङ्गानां योगोऽङ्गयोगश्चतुर्णामङ्गयोग इत्येव विग्रहीतव्यम्।" (**पदव्यवायेऽपि** पर तत्त्व०)

२. मैत्रेयरक्षित के तन्त्रप्रदीपगत इस सन्दर्भ का उल्लेख सीरदेव ने अपनी परिभाषावृत्ति में भी किया है। देखें परिभाषा-संग्रह पृष्ठ २५५, पूना संस्करण।

है, पदादिविधि में प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता अतः यहाँ प्रत्ययलक्षण के कारण पदसंज्ञा हो जाने से 'माषकुम्भवापेन' में णत्वनिषेध निर्बाध प्रवृत्त हो जाता है कोई दोष नहीं आता।

परन्तु 'पदादिविधि' शब्द से इस प्रकार की कल्पना करना क्लिष्ट कल्पना ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने इस ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई।

भाष्ये कृतभूरिपरिश्रम नागेशभट्ट ने यहां पर एक सुन्दर समाधान प्रस्तुत कर वैयाकरणजगत् को चमत्कृत कर दिया है। इसी सूत्र पर वे लघुशब्देन्दुशेखर में लिखते हैं—

"न च माषकुम्भस्य वापः, चत्वार्यङ्गानि यस्य तेन योग इति विग्रहे 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' इति निषेधादङ्गकुम्भयोः पदत्वं दुर्लभमिति वाच्यम्। प्रत्यासत्त्या उत्तरपदस्य कार्यित्व एव तत्प्रवृत्तेः, अपदादिविधाविति पर्युदासेन पदान्तविधावेव तत्प्रवृत्तेश्च।" (ल० श० शे० पृष्ठ ५६७)

नागेश का अभिप्राय यह है कि 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' के 'अपदादिविधौ' में पर्युदासप्रतिषेध है, इस प्रतिषेध में 'पर्युदासः सदृग्ग्राही' के अनुसार सदृश का ग्रहण होता है अतः पदादिविधि से भिन्न तत्सदृश अर्थात् पदान्तविधि में ही वार्त्तिक द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध होगा। महाभाष्य (१.१.६३) में इस वार्त्तिक पर दिये गये 'परमवाचा' आदि उदाहरणों से भी यही ध्वनित होता है कि जहां उत्तरपद के अन्त में कार्य करना हो वहीं पर इस वार्त्तिक द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध होता है। 'माष-कुम्भवापेन' पर न्यासोक्तप्रक्रियानुसार उत्तरपद के अन्त में कोई कार्य प्राप्त नहीं है अतः प्रत्ययलक्षण का निषेध न होने से 'कुम्भ' का पदत्व अक्षुण्ण रहता है इस से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। नागेश के मत से वैयाकरणों में पर्याप्त हलचल हुई है। इस की विस्तरेण ऊहापोह प्रौढमनोरमा (ङमुट्सूत्र तथा 'पदव्यवायेऽपि' सूत्र पर) के टीकाटिप्पणों तथा लघुशब्देन्दुशेखर के तत्तत्स्थलों पर देखी जा सकती है। बालमनोरमा-कार वासुदेवदीक्षित ने नागेश के आशय का अवलम्बन करते हुए यहां अत्यन्त सरल शब्दों में सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है—

'माषकुम्भवापेनेति। माषाणां कुम्भो माषकुम्भः, तस्य वाप इति षष्ठीसमासः। अत्र निमित्तकार्यिणोः षकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानान्न णत्वम्। चतुरङ्गयोगेनेति। चत्वारि अङ्गानि रथ-गज-तुरग-पदातिरूपाणि यस्य तत् चतुरङ्गं सैन्यम्, तेन योग इति विग्रहः। अत्र निमित्तकार्यिणोरङ्गपदेन व्यवधानान्न णत्वम्। उभयत्रापि कुम्भशब्दस्य अङ्गशब्दस्य च प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वम् बोध्यम्। 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ प्रतिषेधः' इति निषेधस्तु नात्र प्रवर्त्तते, उत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वे सत्येव तत्प्रवृत्तेः। अत एव न लुमताङ्गस्य इत्यत्र परमवाचेत्येव तस्याः परिभाषाया उदाहरणमुक्तं भाष्ये। अत्र हि वाक्छब्दस्य उत्तरपदस्य कुत्वरूपकार्यभाक्त्वमस्तीति तस्य अन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिम् आश्रित्य पदत्वाभावात् कुत्वं न भवति। अत एव च क्षुमति च इति सूत्रे भाष्ये

माषाणां कुम्भो माषकुम्भ:, माषकुम्भस्य वापो माषकुम्भवाप:, तेन माषकुम्भवापेनेत्यत्र **पदव्यवायेऽपि** इति निषेधप्रवृत्तये **'प्रातिपदिकान्ते'**ति णत्वप्रवृत्तिरुपन्यस्ता संगच्छते। न चैवं सति 'रम्यविणा' इत्यत्र 'वि' इत्युत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वाभावाद् 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' इति प्रत्ययलक्षणस्याऽप्रवृत्तौ अन्तर्वर्त्तिविभक्त्याश्रयेण **पदव्यवायेऽपि** इति णत्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'पदे परे यत्पदं तेन व्यवाये णत्वं न' इत्यर्थस्यैव भाष्यसम्मतत्वात्। तच्चानुपदमेव स्पष्टीभविष्यति। रम्यविणेत्यत्र च विशब्दस्य अन्तर्वर्त्तिविभक्त्या पदत्वेऽपि तस्य पदपरकत्वाभावान्न णत्वनिषेधः। एतेन पुनर्भूणामित्यत्रापि णत्वं निर्बाधम्।' (सि० कौ० **पदव्यवायेऽपि** पर बालमनो०)

इस प्रकार यहां की न्यासोक्तप्रक्रिया 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' के शेखर-व्याख्यान के परिप्रेक्ष्य में अब अदुष्ट मानी जाने लगी है।

[३.२८] **स्तोः श्चुना श्चुः** (८.४.४०) सूत्र पर 'मज्जति, भृज्जति' रूपों की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'टुमस्जो शुद्धौ, **झलां जश्झशि** इति सकारस्य दकारः, तस्यानेन जकारः। श्चुत्वे कर्तव्ये जश्त्वस्याऽसिद्धत्वं नाऽऽशङ्कनीयम्, **मस्जिनशोर्झलि** इत्यत्र मज्जेः कृतचुत्वनिर्देशात्। असिद्धत्वे ह्ययं निर्देशो नोपपद्यते।' (न्यास ८.४.४०)

इस प्रकार की प्रक्रिया न्यासकार ने अन्यत्र भी दर्शाई है। तद्यथा—

'मज्जनमिति। ल्युट्, **झलां जश् झशि** इति जश्त्वं सकारस्य दकारः, तस्य श्चुत्वं जकारः।' (न्यास ७.१.६०)

'भ्रज्जनमिति। सकारस्य जश्त्वम्—दकारः, तस्यापि श्चुत्वम्—जकारः।' (न्यास ६.४.४७)

हरदत्तमिश्र न केवल न्यासकारवत् प्रक्रिया दर्शाते हैं बल्कि प्रकारान्तर से उस का समर्थन भी करते हैं—

'**झलां जश्झशि** इति सकारस्य दकारे कृते तस्य चुत्वं जकारः, असिद्धत्वं तु जश्त्वस्य न भवति। **न मुने** इत्यत्र नेति योगविभागात्। तथा च 'भृज्जतीनां ङिति' इति निर्देश उपपद्यते।' (पदमञ्जरी ८.४.४०)

इसी प्रकार अन्यत्र भी—

'भ्रज्जनमिति। ल्युटि सकारस्य जश्त्वम्—दकारः, तस्य चुत्वम्— जकारः।' (पदमञ्जरी ६.४.४७)

न्यासकार की इसी प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में लिखते हैं—

'मस्जिनशोर्झलि (५.१.३९) इति निर्देशात् मज्जति भृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वं नाऽसिद्धम्।' (जैनेन्द्रमहा० ५.४.११९)

इसी तरह अन्यत्र भी—

'मस्जेः 'झलां जश्झशि' इति सकारस्य दत्वम् । दस्य च चुत्वं जकारः ।'
(जैनेन्द्रमहा० ५.१.३९)

इसी प्रकार रूपमाला में धर्मकीर्त्ति भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

'टुमस्जो शुद्धौ, अनुबन्धलोपः, झलां जश्झशि इति जश्त्वेन सस्य दः, तस्य श्चुत्वेन जकारः—मज्जति ।' (रूपमाला, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३८)

इसी प्रकार अन्यत्र भी—

'ग्रहि—इति सम्प्रसारणम्, झलां जश्झशि इति सकारस्य दकारः, स्तोः श्चुना श्चुः इति दकारस्य जकारः । शिष्टोच्चारणम्[1]—भृज्जति ।'
(रूपमाला, द्वितीयभाग, पृ० ३६)

प्रक्रियाकौमुदी में रामचन्द्राचार्य भी न्यास का अनुसरण करते हैं—

'सस्य जश्त्वेन दः, चुत्वम्—भृज्जति ।' (प्रक्रियाकौ० उ० पृ० २५८)

'भृट्-ड् । झलां जश् झशि इति सस्य दत्वे चुत्वम् । भृज्जौ । भृज्जः । इत्यादि ।
(प्रक्रिया कौ० पू० पृष्ठ २४२)

इस स्थल की व्याख्या करते हुए विट्ठल अपनी प्रसादटीका में न्यासवत् प्रक्रिया का समर्थन करते हैं—

"भृस्ज्+औ इति स्थिते झलामिति जशि कार्ये स्थानेऽन्तरतमः इति स्थानत आन्तर्यात् सस्य दत्वे कृते पश्चात् स्तोः श्चुना श्चुः इति चुत्वं जकार इत्यर्थः । असिद्धत्वं जश्त्वस्य न स्यात् । न मु ने इत्यत्र 'न' इति योगविभागात् । तथा च 'भृज्जतीनां ङिति च' इति निर्देश उपपद्यते ।" (प्रसाद, पू० पृ० २४२)

इस प्रकार काफी लम्बे समय तक वैयाकरण न्यासप्रदर्शित प्रक्रिया का अनुसरण करते रहे । परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में प्रक्रियामार्ग के सुधारक भट्टोजिदीक्षित को यह प्रक्रिया नितान्त अटपटी और अशुद्ध प्रतीत हुई। उन के विचार में यह आया कि असिद्ध कार्य जश्त्व को पहले कर बाद में श्चुत्व करते समय उस के सिद्धत्व में प्रमाण ढूंढना कहां की बुद्धिमत्ता है ? इस से तो यही ठीक है कि पहले श्चुत्व कर लिया जाये जो जश्त्व की अपेक्षा त्रिपादी में पूर्व होने से सिद्ध है और बाद में जश्त्व किया जाये, इस से कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता और प्रक्रिया का मार्ग भी शास्त्राविरुद्ध रहता है। वे 'भृज्जति' की प्रक्रिया दर्शाते हुए सि० कौ० के तुदादिगण में लिखते हैं—

'सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः—भृज्जति ।'

इसी प्रकार सि० कौ० के हलन्तपुंलिङ्ग में भी—

'सस्य श्चुत्वेन शः, तस्य जश्त्वेन जः—भृज्जौ ।'

वे अपने विचारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए इसी स्थल पर प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

---

१. 'शिष्टोच्चारणम्' इत्यस्यायमभिप्रायो यत् शिष्टप्रयोगवशात् श्चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वस्यासिद्धत्वं न भवतीति ।

'जश्त्वस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वं श्चुत्वमित्यर्थः। एतेन प्राचो विपरीतोक्तिः प्रत्युक्ता।'
(प्रौढम० पृष्ठ ३६३)

यहां की भैरवीटीका में लिखा है—

'मूले प्राचो विपरीतोक्तिरिति। सस्य दत्वं श्चुत्वमिति प्रसादोक्तिरित्यर्थः। यत्तु न मुने इति योगविभागान्न जश्त्वाऽसिद्धत्वमिति तन्न। योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनात्।'

भट्टोजिदीक्षित की बात संगत तथा युक्तियुक्त है। 'मस्+जति' में जश्त्व (८.४.५३) और श्चुत्व (८.४.४०) दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों त्रिपादीस्थ हैं। त्रिपादियों में पूर्व के प्रति परशास्त्र असिद्ध होता है अतः श्चुत्व की दृष्टि में जश्त्व असिद्ध है, इस लिये पहले श्चुत्वेन सकार को शकार कर बाद में जश्त्वेन शकार को जकार आदेश करने से 'मज्जति' रूप निर्बाध सिद्ध हो जायेगा कोई दोष प्रसक्त न होगा। न्यास के अनुसार पहले जश्त्व कर लेने पर पुनः श्चुत्वविधि में उस को सिद्ध मानने के लिये ज्ञापकों या निर्देशों का अनुसन्धान वृथा आयास-मात्र है।

परन्तु सदियों से चली आ रही इस प्रक्रियाभ्रान्ति के इदम्प्रथमतया निवारक भट्टोजिदीक्षित ही नहीं हैं। दीक्षित से शताब्दियों पूर्व हरदत्तमिश्र ने जहां कई स्थानों पर इस विषय में न्यास का अनुसरण एवं समर्थन किया है वहां कुछ स्थानों पर न्यासकार से विपरीत दीक्षितवत् विचार भी प्रकट किये हैं। यथा 'मज्जनम्' की प्रक्रिया दर्शाते हुए वे पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'मज्जनमिति। जकारे परतः सकारस्य श्चुत्वे जश्त्वे च प्राप्ते जश्त्वस्याऽसिद्धत्वात् श्चुत्वम्। शकारस्य जश्त्वम्—जकारः।' (पदमञ्जरी ७.४.४०)

शकाब्द १०६५ (सन् ११७२) में निर्मित शरणदेवप्रणीत दुर्घटवृत्ति[1] में 'मज्जति, लज्जते' प्रयोगों की प्रक्रियापरिचर्चा में 'भाषावृत्ति' का निम्नस्थ समाधानपरक उद्धरण उद्धृत किया गया है—

'यद्वा झशि जश्त्वस्याऽसिद्धत्वात् श्चुत्वेन संयुक्तः शकारः। तस्य जश्त्वे जकार इति भाषावृत्तिः।' (दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १४३)

यह उद्धरण पुरुषोत्तमदेवविरचित भाषावृत्ति में आज भी (८.४.४०) सूत्र पर अविकल विद्यमान है।

माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य सायण ने भी हरदत्तमिश्र की तरह दोनों प्रक्रियामार्ग दर्शाए हैं—

'भृज्जति—। शस्य सार्वधातुकमपित् इति ङित्त्वाद् ग्रहिज्येत्यादिना सम्प्रसारणे पररूपत्वम्। झलां जश्झशि इति सकारस्य दकारः, तस्य चुत्वं जकारः। न च श्चुत्वे

1. दुर्घटवृत्ति का काल उस के आदि में पठित निम्नस्थ श्लोक से निश्चित है—

शाकमहीपतिवत्सरमाने एक-नभो-नव-पञ्चविताने।
दुर्घटवृत्तिरकारि मुदे वः कण्ठविभूषणहारलतेव॥ (पृष्ठ १)

दत्वमसिद्धम्, भृज्जतीनामितिनिर्देशाद् इति व्याख्यातारः। यद्वा जश्त्वस्याऽसिद्धत्वात् सकारस्यैव श्चुत्वे शकारः, तस्य झलां जश्झशि इति जश्त्वेन जकारेऽपि रूपं सेत्स्यति।' (मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ४६०)

इन कतिपय प्रमाणों से सुस्पष्ट हो जाता है कि दीक्षित से भी शताब्दियों पूर्व वैयाकरणों ने न्यासप्रक्रिया की इस स्थल पर असारता खूब समझ रखी थी। दीक्षित द्वारा किया गया खण्डन कोई अपूर्व बात न थी किन्तु मथित का मन्थनमात्र था।

अब हमारे सामने एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि न्यासकार ने सीधा मार्ग न अपना कर किस लिये यह उल्टा मार्ग अपनाया है। इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर यद्यपि इस समय विदित नहीं हो सकता तथापि चान्द्रव्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति को देखने से इस की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चान्द्र-व्याकरण के 'स्तोः श्चुष्टुभ्यां तौ' (चान्द्र० ६.४.१३६) सूत्र पर स्वोपज्ञवृत्ति में यह पाठ पाया जाता है —

'मस्जेर्मज्जति, जश्त्वेन सकारस्य दकारः, चुत्वेन जकारः।'

चान्द्रवृत्ति, काशिका तथा न्यास दोनों से बहुत प्राचीन है। यद्यपि इस में भी असिद्धप्रकरण है तथापि इस में उपर्युक्तप्रक्रिया से कोई दोष नहीं आता। इस का कारण यह है कि चान्द्रव्याकरण में जश्त्वविधायक 'झलां जश्' (चान्द्र० ६.३.६७) सूत्र[1] पहले और श्चुत्वविधायक 'स्तोः श्चुष्टुभ्यां तौ' (चान्द्र० ६.४.१३६) सूत्र पीछे पढ़ा गया है अतः वहां पहले जश्त्व और बाद में श्चुत्व करना समुचित ही है दोषावह नहीं। परन्तु अन्तर तो पाणिनीयव्याकरण की प्रक्रिया में पड़ता है जहां श्चुत्व पहले और जश्त्व बाद में पढ़ा गया है। इस चान्द्रप्रक्रिया को देखते हुए यह सम्भव प्रतीत होता है कि न्यासकार पर चान्द्र का प्रभाव पड़ा हो। लोक में चान्द्रव्याकरण के सुप्रचलित हो जाने से सम्भवतः न्यासकार को भी प्रक्रिया में चान्द्र का अनुसरण करना पड़ा हो और बाद में उसे पाणिनीयतन्त्र के अनुकूल बनाने के लिये निर्देश एवं ज्ञापक ढूंढने पड़े हों।[2] इस विषय पर और अधिक प्रकाश और अधिक प्राचीन सामग्री के उपलब्ध होने पर ही डाला जा सकेगा, इस समय इतनामात्र ही कहा जा सकता है।

---

१. चान्द्रव्याकरण का यह सूत्र पाणिनि के झलां जशोऽन्ते (८.२.३९) तथा झलां जश् झशि (८.३.५३) दोनों सूत्रों का काम करता है—यह चान्द्रवृत्ति पर दिये गये 'लब्धा' और 'त्रिष्टुवत्र' उदाहरणों से स्पष्ट है। चान्द्रव्याकरण के जर्मन् सम्पादक Bruno Liebich तथा भारतीय सम्पादक क्षितीशचन्द्र चटर्जी दोनों यहां भ्रान्त हैं। वे इसे केवल झलां जशोऽन्ते विषयक मान रहे हैं (देखें जर्मन् संस्करण पृष्ठ १२९, तथा भारतीय पूना संस्करण द्वितीय भाग पृष्ठ ३४१)।

२. यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि काशिकाकार ने स्तोः श्चुना श्चुः (८.४.४०) सूत्र पर 'मज्जति, भृज्जति' आदि उदाहरण 'तस्य (तवर्गस्य) चवर्गेण—' इस शीर्षक के अन्तर्गत लिखे हैं। यदि यहां पहले श्चुत्व और बाद में जश्त्व करते हैं तो उपर्युक्त काशिकोक्त शीर्षक उपपन्न नहीं हो सकता। इस से

[३.२९] नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य (८.४.४८) सूत्र के पदच्छेद के विषय में वैयाकरणों में तीव्र मतभेद है। इस विषय में न्यासकार का मत इस प्रकार है—

'आदिनीति परसप्तमीयम्। अत आह—आदिनि परत इति[1]।'
(न्यास ८.४.४८)

इस से प्रतीत होता है कि न्यासकार सूत्र का पदच्छेद 'न+आदिनि+आक्रोशे' इस प्रकार मानते हैं। 'आदिनि' यह आदिन् शब्द का सप्तम्येकवचनान्त रूप है। अब सूत्र का अर्थ होता है—'आदिन् शब्द परे होने पर पुत्र के यर्-तकार को द्वित्व न हो'। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा द्वारा 'आदिन्' से 'आदिनी' का भी ग्रहण होकर 'पुत्रादिनी त्वमसि पापे!' आदि में द्वित्व का निषेध उपपन्न हो जाता है।[2]

परन्तु पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र इस सूत्र में 'आदिनि' के स्थान पर 'आदिनी' इस प्रकार पदच्छेद मानते हुए प्रतीत होते हैं। यह उन की अत्रत्य 'तत्परे चेति वक्तव्यम्' वार्त्तिक की व्याख्या से परिलक्षित होता है। वे लिखते हैं—

'तत्परे चेति। स आदिनीशब्दो यस्मात्परस्तत्रापि परतः पुत्रशब्दस्य द्विर्वचनं न भवति।'
(इसी सूत्र पर पदमञ्जरी)

माधव भी माधवीय-धातुवृत्ति में इसी मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। अद् धातु के प्रकरण में वे लिखते हैं—

'अत्र पुत्रतकारस्य प्राप्तम् **अनचि च** इति द्वित्वं **नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य** इत्यादिनी-शब्दे उत्तरपदे आक्रोशे गम्यमाने नेति निषिध्यते।' (मा० धा० वृत्ति पृ० ३१०)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में विट्ठल इसी का समर्थन करते हैं—

'अचः परस्य पुत्रयरोऽनचि न द्वे स्त आदिन्यां परत आक्रोशे। पुत्रादिनी भव।'
(प्रसाद, पू० पृ० ५१)

नागेशभट्ट ल० शब्देन्दुशेखर में 'आदिनी' पदच्छेद का प्रबल समर्थन करते हुए लिखते हैं—

यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं काशिकाकार भी न्यासोक्तप्रक्रिया के अनुगामी थे अतः दूसरे शब्दों में वे भी चान्द्रप्रभाव से प्रभावित थे ऐसा कहा जा सकता है। सम्भवतः यही कारण होगा कि हरदत्तमिश्र खुल कर इस का विरोध नहीं कर सके। वे कहीं इस प्रक्रिया का खण्डन करते हैं और कहीं मण्डन जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

१. काशिका के लाजरेस प्रेस और चौखम्बा संस्करणों में यहां पर 'आदिनीपरतः' ऐसा अशुद्ध पाठ मुद्रित हुआ है। सौभाग्य से प्राच्यसंस्करण तथा उस्मानिया-संस्करणों में इसे शुद्ध कर दिया गया है।

२. न्यास में 'तत्परे चेति वक्तव्यम्' वार्त्तिक पर 'स आदिनिशब्दः परो यस्मात्' ऐसा जो पाठ मुद्रित हुआ है वह नितान्त अशुद्ध है। वहां पर न्यासोक्त उपर्युक्त वचनों के पारिप्रेक्ष्य में 'स आदिन्शब्दः परो यस्मात्' ऐसा पाठ चाहिये (देखें ५.९८)।

'सूत्र आदिनीति ङ्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तमीकम् ।[1] अत एव तत्परे चेत्यस्यादिनीशब्दो यस्मात् परस्तत्र पर इत्यर्थं हरदत्तो व्याख्यत् । अद्धातौ माधवोऽप्येवम्, ईदृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनाच्च ।' (ल० श० शे०, गु० प्र० सं० पृ० २५६)

बृ० शब्देन्दुशेखर में भी—

"आक्रोशो निन्द्यकर्माऽऽरोपः । इदं च सूत्रं स्त्रियामेव प्रवर्त्तते । ईदृशाऽऽक्रोशस्य प्रायः स्त्रीष्वेव दर्शनात् । भाष्ये तथैवोदाहरणाच्च । तद्ध्वनयन्नाह—पुत्रादिनीति । केचित्तु आदिनीति ङ्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तमीकमित्याहुः । अत एव तत्परे चेत्यस्याऽऽदिनीशब्दो यस्मात्परस्तत्र पर इति हरदत्तो व्याख्यानमकृत । अद्धातौ माधवस्वरसोऽप्येवम् । अत्र मूलेऽपि क्वचिद् 'आदिनीशब्दे परे' इत्येव पाठो दृश्यते ।"

(बृ० श० शे० पृ० १७०)

शेखरकार के इस प्रकार प्रबल समर्थन करने पर भी जब हम यहां पर पाणिन्युत्तरवर्त्ती पाणिनीयेत्तर वैयाकरणों (जो प्रायः पाणिनि का अनुसरण किया करते हैं) का अनुशीलन करते हैं तो वे सब के सब न्यासकारवत् 'आदिनि' पाठ के ही समर्थक प्रतीत होते है । तथाहि—

(क) चान्द्रव्याकरण—

'नाऽऽक्रोशे पुत्रस्यादिनि तत्परे च (६.४.१४५) । आक्रोशे गम्यमाने पुत्रस्य आदिनि तत्परे च परतो द्वित्वं न भवति । पुत्रादिनी, पुत्रपुत्रादिनी ।' (चान्द्र० उत्तरार्ध पृष्ठ ३६०)

(ख) पाल्यकीर्त्ति का शाकटायन-व्याकरण—

'पुत्रस्यादि-पुत्रादिन्याक्रोशे (१.१.१२०) । पुत्रशब्दस्य आदिन्शब्दे परे पुत्रादिन्शब्दे च परे आक्रोशे विषये द्वे रूपे न भवतः । पुत्रादिनी त्वमसि हा पापे । पुत्रपुत्रादिनी भव ।' (शाकटायन० अमोघा पृष्ठ २१)

(ग) भोजराजप्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण—

'न पुत्रस्य दि (७.४.१६१) ।
पुत्रादिनोराक्रोशे (७.४.१६२) ।'

वस्तुतः यहां दोनों सूत्रों को मिला कर एक सूत्र पढ़ना चाहिये[2]—

---

१. ल० शब्देन्दुशेखर की वरवर्णिनीटिप्पणीकार का कथन है कि यदि यहां 'आदिनी' इस प्रकार लुप्तसप्तमीक पद मानेंगे तो उस से परे 'आक्रोशे' पद के आने पर यण् न हो सकेगा, ईदूतौ च सप्तम्यर्थे (१.१.१९) से प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । अतः यहां पर सुपां सुलुक्० (७.१.३९) सूत्र द्वारा सप्तमी के स्थान पर आकारादेश मान कर 'आदिन्या' ऐसा पदच्छेद करना चाहिये । अब 'आदिन्या+आक्रोशे' में सवर्णदीर्घ करते हुए प्रगृह्यता का भय नहीं रहेगा ।

२. सरस्वतीकण्ठाभरण (सम्पादक T.R. Chintamani) में इस स्थल का पाठ भ्रष्ट है । ये दोनों सूत्र पृथक् पृथक् नहीं हो सकते । पृथक् होने की दशा

'न पुत्रस्यादिपुत्रादिनोराक्रोशे'। इस प्रकार इस में शाकटायनव्याकरण-वत् आदिन् और पुत्रादिन् का स्पष्ट उल्लेख है।

(घ) जैनेन्द्र-शब्दार्णव-चन्द्रिका—

'पुत्रस्यादिन्पुत्रादिन्याक्रोशे (५.४.१५३)।

आदिनि पुत्रादिनि च परे पुत्रस्याक्रोशे द्वे न स्तः, आक्रोशविषये। पुत्रा-दिनि। पुत्रपुत्रादिनि त्वमसि पापे।' इस प्रकार इस में भी शाकटायन-वत् आदिन् और पुत्रादिन् का स्पष्ट उल्लेख है।

(ङ) श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन—

'पुत्रस्यादिन्पुत्रादिन्याक्रोशे (१.६.३८)।

आदिन्शब्दे पुत्रादिन्शब्दे च परे पुत्रशब्दसम्बन्धिनस्तकारस्याऽऽक्रोशविषये द्वे रूपे न भवतः। पुत्रादिनि त्वमसि पापे, पुत्रपुत्रादिनी भव।'

(श्रीसिद्धहेम० बृहद्वृत्ति पृष्ठ २४)

इस की व्याख्या करते हुए चन्द्रसागरगणीन्द्र आनन्दबोधिनीव्याख्या में लिखते हैं—

'स्त्रीषु आक्रोशः प्रायेण प्रवर्त्तत इति स्त्रीलिङ्गमुदाहरति।—सूत्रे आदिन्पुत्रादिनित्युपादानेऽपि 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम्' इति न्यायात् स्त्रियामुदाहृतम्। स्त्रीवत् पुंसोऽपि पुत्रादनेन आक्रोशसम्भवे तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव—पुत्रादी भवेति।'[1]

(आनन्दबोधिनी पृ० ५३)

हेमचन्द्रसूरि ने अपने सूत्र में 'आदिन्' शब्द के नकार का लोप नहीं

में प्रथमसूत्र में न तो 'आक्रोशे' की अनुवृत्ति आयेगी और न ही उसका कोई अर्थ हो सकेगा। इसी तरह दूसरे सूत्र में 'पुत्रादिनोः' यह द्विवचनान्त प्रयोग भी निरर्थक रहेगा। पाठभ्रंश के विषय में सम्पादक ने भी यहां एक टिप्पण दी है—

"This and the following ten sutras along with the commentary are missing."

ध्यान रहे कि प्रथमसूत्र का पाठ भी अशुद्ध मुद्रित हुआ है। यहां का शुद्ध पाठ 'न पुत्रस्यादि' होना चाहिये। इस मुद्रणदोष का परिमार्जन चान्द्रवृत्ति के सम्पादक क्षितीशचन्द्रचक्रवर्त्ती ने चान्द्रवृत्ति के ६.४.१४५ सूत्र के टिप्पण में किया है (देखें—चान्द्रवृत्ति, द्वितीय भाग, पृ० ३९०)।

१. आनन्दबोधिनीकार ने ये वचन आचार्य हेमचन्द्रसूरि के शब्दमहार्णवन्यास से उद्धृत किये हैं। देखें—(शब्दमहार्णवन्यास, प्रथम भाग, पृ० २१९)। न्याससारसमुद्धार (लघुन्यास) में मनीषिकनकप्रभ भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं—स्त्रीवत् पुंसोऽपि पुत्रादनाक्रोशे तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव—पुत्रादी भवेति।

(पूर्वोक्त पृ० २१९)।

किया जबकि शाकटायन और सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने उस का लोप दर्शाया है। इस पर आनन्दबोधिनीकार लिखते हैं—

'नकारान्तताऽभिव्यक्त्यर्थं नलोपो भगवता वृत्तिकृता न कृतः।'

(आनन्दबोधिनी पृष्ठ ५३)

(च) क्रमदीश्वरप्रणीत संक्षिप्तसार—

'पुत्रादिनः पुत्रपुत्रादिनश्च तोऽनाक्रोशे।'

(संक्षिप्त० सन्धिपाद सूत्र २१६)

इन सब प्रमाणों से यही द्योतित होता है कि पाणिनीयव्याकरण के प्राचीन और मध्यकालीन व्याख्याता यहां पर 'आदिनि' छेद ही किया करते थे, जिन को देख कर इन नूतन आचार्यों ने भी स्वस्वसूत्रों का वैसा निर्माण किया। न्यासकार ने निश्चय ही प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखा है।

'आदिनि' और 'आदिनी' पाठ के कारण होने वाला अन्तर—

यदि 'आदिनि' (आदिन् शब्द परे होने पर) कहेंगे तो पुंलिङ्ग में तो द्वित्व-निषेध होगा ही, स्त्रीलिङ्ग में भी लिङ्गविशिष्टपरिभाषा के कारण द्वित्व-निषेध हो जायेगा। 'आदिनी' पाठ मानने से केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्ति होगी पुंलिङ्ग में नहीं। इसी तरह 'तत्परे चेति वक्तव्यम्' वार्त्तिक के उदाहरणों पर भी प्रभाव पड़ेगा। 'वा हतजग्धपर इति वक्तव्यम्' इस वार्त्तिक के पुंलिङ्गनिर्देश भी इस बात को ज्ञापित करते हैं कि इस सूत्र में 'आदिनि' इस प्रकार का पुंलिङ्गनिर्देश ही मुनि ने किया था। महाभाष्य के स्त्रीलिङ्गी उदाहरण केवल स्त्रियों में आक्रोशबहुलता दर्शाने के लिये ही दिये गये हैं न कि पुंलिङ्ग में इस सूत्र द्वारा निषेध की प्रवृत्ति को रोकने के लिये (देखें आनन्दबोधिनी का पूर्वोक्त उद्धरण)।

भट्टोजिदीक्षित का मत—

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में इस समय सर्वत्र इस सूत्र की वृत्ति में 'आदिनीशब्दे परे' ऐसा पाठ मुद्रित मिलता है। परन्तु दीक्षित ने प्राचीनों के विरुद्ध यदि यहां ऐसा अर्थ किया होता तो वे अपनी प्रौढमनोरमा में अवश्य ही कुछ लिखते, पर उन्होंने इस विषय पर न तो यहां और न ही अन्यत्र कुछ लिखा है। इस से सन्देह होता है कि सिद्धान्तकौमुदी की यहां कीं वृत्ति आधुनिक विद्वानों ने नागेशभट्ट के अनुरोध से बदल ली है। हमारे इस सन्देह की पुष्टि निम्नस्थ चार कारणों से भी होती है—

(१) ज्ञानेन्द्रसरस्वती सि० कौ० की तत्त्वबोधिनीटीका में यहां दीक्षित का 'आदिनि शब्दे परे' ऐसा पाठ ही मानते हैं। तद्यथा—

'स्त्रीष्वाक्रोशः प्रायेण प्रवर्त्तत इति स्त्रीलिङ्गमुदाहरति—पुत्रादिनीति। इह सुप्यजातौ० इति णिनिः। तत्परे चेति। आदिनि यः पुत्रशब्दः तस्मिन् परेऽपि पुत्र-शब्दस्य न द्वे स्त इत्यर्थः।'

(तत्त्व० पृ० ३७)

कुमुद्रञ्जनराय इसी स्थल पर अपनी सि० कौ० की व्याख्या में लिखते हैं—

'तत्त्वबोधिन्यां तु 'न+आदिनि+आक्रोशे' इतिच्छेदः । स्त्रीषु आक्रोशः प्रायेण प्रवर्त्तत इति स्त्रियामुदाहरणम् । अयमेव ज्यायान् पक्षः ।' (पृष्ठ ५५)

(२) ओरम्भट्टप्रणीत व्याकरणदीपिका जो भट्टोजिदीक्षित के वचनों का अष्टाध्यायीक्रम से संग्रहमात्र है—यहां पर 'आदिनि शब्दे परे' इस प्रकार के पाठ की ओर संकेत करती है।

(३) नागेशभट्ट भी 'आदिनीशब्दे परे' ऐसे पाठ को क्वाचित्क पाठ ही बतलाते हैं—"अत्र मूलेऽपि क्वचिद् 'आदिनीशब्दे परे' इत्येव पाठो दृश्यते ।"

(बृ० श० शे० पृ० १७०)

(४) प्राचीनमुद्रित सि० कौ० के संस्करणों में 'आदिनि शब्दे परे' ऐसा पाठ मुद्रित भी देखा जाता है (यथा—तारानाथतर्कवाचस्पतिकृतसरलाव्याख्योपेत सि० कौ० प्रथम भाग पृष्ठ ३७, सन् १८८४ संस्करण)।

[३.३०] दीर्घादाचार्याणाम् (८.४.५२) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'नित्यार्थोऽयमारम्भः । अत्रारम्भसामर्थ्यादेव सिद्धे आचार्यग्रहणं पूजार्थम् । दात्रमित्यादौ अनचि च इति प्राप्तिः' ।

इस प्रकार न्यासकार ने इस सूत्र को नित्य निषेध करने वाला माना है। उन का अभिप्राय यह है कि यदि 'आचार्याणाम्' पद का ग्रहण न कर केवल 'दीर्घात्' मात्र सूत्र बनाते तो भी आरम्भसामर्थ्य से वह नित्यार्थक होता अतः 'आचार्याणाम्' पद पूजार्थक है विकल्पार्थक नहीं।[1] न्यासकार का यह व्याख्यान अपूर्व नहीं है। न्यास से पूर्ववर्त्ती तथा तदुत्तरवर्त्ती सब के सब आचार्य इस स्थल का ऐसा ही व्याख्यान करते रहे हैं। पाणिनीयेतर तन्त्रों के आचार्यों ने भी इसी का अनुसरण किया है। सब मे पहले चन्द्राचार्य को लीजिये—

'दीर्घात् (६.४.१४७) । दीर्घात् परस्य न द्वे भवतः । दात्रम् । सूत्रम् ।'

(चान्द्र० द्वितीय भाग, पृष्ठ ३९१)

यहां पर स्पष्टतः चन्द्राचार्य पूजार्थक पद 'आचार्याणाम्' को छोड़ कर सूत्र को नित्यार्थक मान रहे हैं। निश्चय ही उन्हों ने यह सूत्र पाणिनीयव्याकरण की प्राचीन

---

१. 'आचार्याणाम्' में बहुवचन इसलिये है कि यह निषेध सब आचार्यों को अभीष्ट है। अतः विकल्प का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसे पूजार्थक न मान कर भी सूत्र का अर्थ होगा—सब आचार्यों के मत में दीर्घ से परे यर् को द्वित्व न हो। तब भी यह नित्यार्थक ही रहेगा। कुछ लोगों का कथन है कि यहां 'आचार्याणाम्' से पाणिनि ने अपने गुरु का मत उद्धृत किया है, बहुवचन आदरातिशय के द्योतनार्थ है। पर यह सब प्रमाणशून्य होने से विश्वसनीय नहीं। चान्द्र आदि के मतों को देखने से यही विदित होता है कि सम्भवतः पाणिनि से पूर्ववर्त्ती सब आचार्य इस में एकमत थे कि दीर्घ से परे यर् को द्वित्व न हो।

वृत्तियों के आधार पर ही रचा होगा। चन्द्राचार्य, न्यासकार और काशिकाकार दोनों से पर्याप्त प्राचीन हैं अतः कहा जा सकता है कि न्यासकार ने इस सूत्र की व्याख्या पूर्व वृत्तिकारों के पारिप्रेक्ष्य में ही की होगी।

पाल्यकीर्त्ति अपने शाकटायनव्याकरण में इस स्थल का निर्देश इस प्रकार करते हैं—

'अदीर्घात् ॥१।१।१८॥

अदीर्घादचः परस्याह्लचः[1] स्थाने द्वे रूपे भवतो वा। दद्ध्यत्र, दध्यत्र।— अदीर्घ इत्युक्तेरिह न भवति—सुपात्रं भवान्।' (अमोघा० १.१.१८)

यहां पर पाल्यकीर्त्ति ने स्पष्टतः यरों को वैकल्पिक द्वित्व करते समय 'अदीर्घात्' यह पर्युदास कर दिया है अतः दीर्घ से परे द्वित्वनिषेध नित्य रहेगा।

जैनेन्द्रव्याकरण की अभयनन्दिविरचित महावृत्ति में एतद्विषयक एक वार्त्तिक पढ़ा गया है—

'द्विमात्रात् परस्यापि (नेष्यते)—पात्रम्। सूत्रम्।'

(जैनेन्द्रमहा० पृष्ठ ४१७)

सरस्वतीकण्ठाभरण में भोजराज भी 'अदीर्घात्' को अपने द्वित्वविधायकसूत्र में पढ़ते हैं—

'एकहलवसानयोरदीर्घात्।[2]

(एकहलि=असंयुक्ते हलि अवसाने च अदीर्घात् परस्य यरो द्वे वा स्तः)।'

(सरस्वती० पृष्ठ २५१)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी अपने अनुशासन में द्वित्वविधान करते समय 'अदी-र्घात्' का पर्युदास करना आवश्यक माना है—

'अदीर्घाद् विरामैकवचने (१.३.३२)'।

आचार्य क्रमदीश्वर ने भी अपने संक्षिप्तसार-व्याकरण में इसी का अनुसरण किया है—

'अजादिहलन्तोऽदीर्घात्।' (संक्षिप्तसार सन्धिपाद सूत्र २०८)

इस प्रकार दीर्घ परे यर् के द्वित्व का नित्य निषेध सर्वसम्मत चला आ रहा था। परन्तु सत्रहवीं शती में भट्टोजिदीक्षित ने इस मत की कटु आलोचना की। वे इस निषेध को वैकल्पिक मानने लगे। अत एव उन्हों ने सिद्धान्तकौमुदी में 'धात्रंशः' में अनचि च (८.४.३७) द्वारा द्वित्व की वैकल्पिक प्रवृत्ति दर्शाई है। प्रौढमनोरमा में वे अपने पक्ष की पुष्टि में निम्न हेतु प्रस्तुत करते हैं—

"यत्तु दीर्घादाचार्याणाम् इति सूत्र आचार्यग्रहणं पूजार्थमित्यभिप्रेत्य 'वाक्,

---

१. अह्लचः—हकारं रेफम् अचं च वर्जयित्वाऽन्यस्य वर्णस्य यर इत्यर्थः।

२. T.R. Chintamani सम्पादित सरस्वतीकण्ठाभरण में सम्पादक की असाव-धानता से 'एकाहलवसानयोरदीर्घात्' यह अपपाठ प्रकाशित हुआ है।

वाक्क्' इति भाष्योदाहृते विकल्पे उपपत्तिचिन्तार्थं क्लिश्यन्ते, तन्मुधैव, पूजार्थतायाः प्रामाणिकैरनुक्तेः। त्रिप्रभृतिषु० इति सूत्रे शाकटायनग्रहणस्यापि तथात्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, संस्स्कर्त्तेति त्रिसकारपरकैयटहरदत्तादिग्रन्थविरोधात्, स्वग्रन्थविरोधाच्च। अत एव प्रातिशाख्यभाष्येऽपि 'आ त्वा रथम्' इति मन्त्रे तकारस्य द्वित्वविकल्प उदाहृतः। माधवेन च 'आस्ते' इत्यत्र सकारस्य द्वित्वविकल्प उक्तः। एवं च धात्वंश इत्यत्र तकारस्य द्वित्वमसद् इत्युक्तिरेवासतीति दिक्।"

(प्रौढम० पृ० ६३)

दीक्षित ने यह आलोचना यद्यपि प्रकाशकृत् (प्रक्रियाकौमुदी की प्रकाश-व्याख्या के निर्माता शेषकृष्ण) को लक्ष्य में रख कर लिखी है तथापि अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उन्हों ने जो हेतु दिये हैं वे न्यासकार आदि को भी लक्षित करते हैं। इन हेतुओं का हम इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं—

(क) यदि **दीर्घादाचार्याणाम्** (८.४.५२) सूत्र को नित्यनिषेधक मानें तो महाभाष्यकार के 'अवसाने च यरो द्वे भवत-इति वक्तव्यम्' (८.४.४७) वार्त्तिक पर दिये 'वाक्क्, वाक्' ये उदाहरण उपपन्न न हो सकेंगे, क्योंकि वार्त्तिक तो 'षट्ट्' 'षट्' आदियों में भी सार्थक हो सकता है। अतः इस से यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार **दीर्घादाचार्याणाम्** के निषेध को वैकल्पिक मानते हैं।

(ख) यदि **दीर्घादाचार्याणाम्** में 'आचार्याणाम्' को पूजार्थक मान कर द्वित्व का नित्य निषेध मानेंगे तो हमें इस प्रकार **त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य** (८.४.५०) सूत्र में 'शाकटायनस्य' को भी पूजार्थक मानना पड़ेगा। तब वहां भी नित्य निषेध प्रसक्त होगा। इस से कैयट, हरदत्तमिश्र आदियों का 'संस्स्कर्ता' में **अनचि च** (८.४.४७) को प्रवृत्त कराना सम्भव न हो सकेगा क्योंकि वहां तीन संयुक्त हल् परे विद्यमान हैं।

(ग) माधव ने 'आस्' (अदा० १४, पृष्ट ३३०) धातु पर 'आस्ते' प्रयोग में **अनचि च** (८.४.४७) सूत्र की प्रवृत्ति दर्शाई है, परन्तु यह **दीर्घादाचार्याणाम्** द्वारा द्वित्वनिषेध के नित्य होने पर उपपन्न नहीं हो सकता, अतः इस से सिद्ध होता है कि वे इस निषेध को वैकल्पिक ही मानते थे।[1]

(घ) प्रातिशाख्य में 'आ त्वा रथम्' में दीर्घ से परे द्वित्व का वैकल्पिक विधान पाया जाता है अतः इस से यही सिद्ध होता है कि द्वित्वनिषेध नित्य न होकर वैकल्पिक ही है।

(ङ) **दीर्घादाचार्याणाम्** सूत्र में 'आचार्याणाम्' पूजार्थक है—ऐसा किसी प्रामाणिक आचार्य ने नहीं कहा। अतः इसे वैकल्पिक निषेध मानना ही उचित है।

---

१. 'आस्ते—अत्र **अनचि च** इति द्वित्वपक्षे द्वौ सकारौ, अन्यदा त्वेकः। न च द्वित्वे **स्कोः०** इति सलोपप्रसङ्गः, द्वित्वस्यासिद्धत्वात्। आस्से—इत्यत्र द्वित्वपक्षे त्रयः सकाराः। न च **झरो झरीति** लोपाद् द्वावेवेति मन्तव्यम्, तस्यापि विकल्पितत्वात्। आध्वे—**धि च** इति सलोपे धकारस्य द्वित्वे जश्त्वम्।'

(मा० धा० वृत्ति पृ० ३३०-३१)

आपाततः देखने से दीक्षित के हेतु बड़े प्रबल प्रतीत होते हैं परन्तु यदि कुछ ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि इन हेतुओं में सार नहीं है। तथाहि—

(क) प्रथम हेतु से निषेध की वैकल्पिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। भाष्यकार के 'वाक्क्, वाक्' प्रयोगों से अधिक से अधिक इतना द्योतित हो सकता है कि इस निषेध की प्रवृत्ति अवसान में नहीं होती। इस से अधिक की कल्पना प्रमाणशून्य है।[1]

(ख) यह हेतु भी निस्सार है, क्योंकि यहां पर भी 'शाकटायनस्य' का ग्रहण पूजार्थक ही माना गया है जैसाकि न्यासकार यहां पर लिखते हैं—'शाकटायनग्रहणं पूजार्थं नित्य एवायं निषेधः, अन्यथोत्तरसूत्रेणैव सिद्धत्वाद् अस्यारम्भो निरर्थकः स्यात्।' इस तथा इस से अगले **सर्वत्र शाकल्यस्य** सूत्र की वैकल्पिकता इस प्रकार सिद्ध की जाती है—'विधिरपि योगद्वयेनोच्यते प्रतिषेधोऽपि। सामर्थ्यादेव विकल्पो भविष्यति। अन्यथा विधेरनवकाशः स्यात्' (न्यास ८.४.५१)[2]।

(ग) 'आस्ते' आदियों में माधव भ्रान्त हैं, उन की भ्रान्ति के कारण **दीर्घादाचार्याणाम्** द्वारा प्रस्तुत निषेध को वैकल्पिक नहीं माना जा सकता।[3]

(घ) वैदिक प्रयोगों को बीच में लाकर **दीर्घादाचार्याणाम्** की नित्यनिषेधता विहत नहीं की जा सकती। वेद में दृष्टानुविधान होने से तत्तत्प्रातिशाख्यों के अनुसार ही व्यवस्था कल्पित की जाती है।

---

१. प्रक्रियाकौमुदीप्रकाशकार शेषकृष्ण ने इस के समाधानार्थं इस सूत्र में **अनचि च** से 'अनचि' की अनुवृत्ति ला कर उस पर्युदास के कारण हल् परे होने पर ही **दीर्घादाचार्याणाम्** के निषेध की प्रवृत्ति मानी है। भट्टोजिदीक्षित ने उपरिनिर्दिष्ट सन्दर्भ में इन की ओर इंगित करते हुए इसे 'मुधा क्लिश्यन्ते' कहा है। 'वाक्क्, वाक् इत्यत्र भाष्योदाहृतद्वित्वनिर्वाहश्च दीर्घादाचार्याणामित्यत्रानचीत्यस्य हलीत्यर्थकस्यानुवृत्तेरित्यादिप्रक्रियाकौमुदीप्रकाशादवसेयम्'—(चक्रपाणिकृतप्रौढमनोरमाखण्डन, पृ० १९)।

२. वस्तुतः **त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य** (८.४.५०) सूत्र पर न्यासकार का यह कहना कि 'नित्य एवायं निषेधः, अन्यथोत्तरसूत्रेणैव सिद्धत्वाद् अस्याऽऽरम्भो निरर्थकः स्यात्' ठीक नहीं है। क्योंकि यदि यह सूत्र न होता तो 'राष्ट्रम्' आदि में **दीर्घादाचार्याणाम्** (८.४.५२) द्वारा नित्य निषेध प्रसक्त होता। उस से बचने के लिये ही **त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य** सूत्र का निर्माण किया गया है। अत एव हरदत्तमिश्र यहां पर लिखते हैं—**दीर्घादाचार्याणाम्** इत्यस्यासिद्धत्वाद् त्रिप्रभृतिष्वयं प्रतिषेधो भवतीति मन्यते (पदमञ्जरी ८.४.५०)।

अतः इस त्रिप्रभृतिषु० निषेध को भी यदि नित्यनिषेध माना जाये तो इस निषेधसूत्र का कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसलिये यहां आचार्यग्रहण पूजार्थक न होकर विकल्पार्थक ही समझना चाहिये।

३. न चास्ते इत्यत्र माधवेन द्वित्वकरणात् कथमिदमिति वाच्यम् तस्य माधवग्रन्थस्यात एव प्रकाशे दूषितत्वात्—(चक्रपाणिकृतप्रौढमनोरमाखण्डन, पृष्ठ १९)।

(ङ) यह हेतु चन्द्र, पाल्यकीर्ति (शाकटायन), भोजराज, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर आदि आचार्यों के प्रामाण्य से पहले ही खण्डित हो चुका है।

[३.३१] **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) और **वाऽवसाने** (८.४.५६) दोनों त्रिपादीस्थ सूत्र हैं। यद्यपि **पूर्वत्रासिद्धम्** (८.२.१) के अनुसार प्रथम की दृष्टि में दूसरा सूत्र असिद्ध है तथापि 'येन नाऽप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यापवादः' परिभाषा के अनुसार **वाऽवसाने** (८.४.५६) सूत्र **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) सूत्र का अपवाद ठहरता है। यही न्यासकार को अभिमत है। तथाहि—

'**झलां जशोऽन्ते** इति नित्ये जश्त्वे प्राप्तेऽवसाने वा चरो विधीयन्ते। वावचनात् पक्षे जश्त्वमपि भवत्येव।' (न्यास ८.४.५६)

यही बात हरदत्तमिश्र से लेकर भट्टोजिदीक्षित तक सब वैयाकरण मानते आ रहे हैं। तद्यथा—

'**झलां जशोऽन्ते** इति नित्ये जश्त्वे प्राप्ते चर्त्वं विधीयते, वावचनात् पक्षे सोऽपि भवति।' (पदमञ्जरी ८.४.५६)

'जश्त्वं प्रति अवसाने चर्त्वस्यापवादत्वात्।' (प्रौढम० पृ० १३९)

ऐसी स्थिति में प्रक्रियावस्था में प्रथम चर्त्व करना चाहिये और तदनन्तर चर्त्वाभाव में जश्त्व। यथा—त्रिष्टुभ् शब्द के प्रथमैकवचन में—त्रिष्टुभ्+सु=त्रिष्टुभ्, यहां प्रथम चर्त्वेन भकार को पकार होकर 'त्रिष्टुप्' और पक्ष में जश्त्वेन बकार करने से 'त्रिष्टुब्'। परन्तु इस तरह करने से प्रक्रिया में कई स्थानों पर दोष प्रसक्त होता है। यथा—'रत्नमुष्' शब्द में सुलोप कर यदि पहले चर्त्व करते हैं तो षकार के स्थान पर आन्तरतम्यात् षकार ही चर्त्व होकर 'रत्नमुष्' और तदभावपक्ष में जश्त्वेन डकार करने पर 'रत्नमुड्'। इस प्रकार 'रत्नमुष्, रत्नमुड्' ये दो रूप बनेंगे, 'रत्नमुट्' यह अभीष्ट रूप न बन सकेगा।[1] इसी प्रकार 'षष्' शब्द के 'षष्, षड्' ये दो रूप बनेंगे 'षट्' रूप न बन सकेगा। तब पाणिनि के **ष्णान्ता षट्** (१.१.२४), **जक्षित्यादयः षट्** (६.१.६) आदि निर्देश भी उपपन्न न हो सकेंगे।

इस संकट से बचने के लिये न्यासकार सर्वत्र अपनी प्रक्रियाओं में पहले जश्त्व कर बाद में चर्त्व करते हैं, इससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता। उनकी प्रक्रियाओं के कुछ नमूने यथा—

(१) 'जलाषाड्' की सिद्धि दर्शाते हुए—

'ढकारस्य जश्त्वं डकारः, तस्य चर्त्वं टकारः, सहेः साडः स इति मूर्धन्यः।' (न्यास ८.२.३१)

---

१. "अपवादत्वाज्जश्त्वं प्रबाध्य षस्य महाप्राणप्रयत्नसाम्येन चर्त्वेन षकारे एव कृते तस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे जश्त्वेन डकारे च कृते 'रत्नमुष्, रत्नमुड्' इत्येवं रूपद्वयं स्यान्न तु 'रत्नमुट्' इति तदाशयो विषम्यां स्पष्टः।"
(ल० श० शे० गु० प्र० सं०, टिप्पण १, पृ० १२०)

(२) 'काष्ठधगिति । क्विबन्तमेतत् । **एकाचो बशो भष्०** इत्यादिना दकारस्य भष् धकारः, घकारस्य जश्त्वं गकारः, तस्य चर्त्वं ककारः ।'

(न्यास ८.२.३१)

(३) 'घृतस्पृगिति । अत्र शकारस्य विवृतकरणस्य श्वासानुप्रदानस्याघोषस्य तादृश एव खकारः, तस्य जश्त्वं गकारः । गकारस्यापि चर्त्वं ककारः ।'

(न्यास ८.२.६२)

(४) 'सम्राडिति । सम्पूर्वाद्राजतेः **सत्सूद्विष०** इत्यादिना क्विप्, व्रश्चादिना षत्वम्, षकारस्य जश्त्वं डकारः, तस्य चर्त्वं टकारः ।' (न्यास ८.३.२५)

प्रायः सर्वत्र प्रक्रियामार्ग में उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने भी न्यास का ही अनुसरण किया है । निदर्शनार्थ यथा—

(क) 'मूलवृट्, धानामृडिति । ग्रहिज्यादिना सम्प्रसारणम्, **स्कोः०** इति सलोपः, षकारस्य जश्त्वं डकारः, **वावसाने** इति पक्षे टकारः ।'

(पदमञ्जरी ८.२.३६)

(ख) 'अत्र व्रश्चादिषत्वे प्राप्ते कुत्वम्—जस्य गः, शस्य खः, तस्यापि जश्त्वम्, वाऽवसाने इति चर्त्वं ककारः ।' (पदमञ्जरी ८.२.३६)

(ग) 'न्यमार्डिति । मृजू शुद्धौ, अदादिः, तिपो हल्ङ्यादिलोपः, मृजेर्वृद्धिः, व्रश्चादिना षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे ।' (पदमञ्जरी ८.२.२४)

(घ) 'अभवद् । पदान्ते **झलां जशोऽन्ते** इत्यान्तरतम्यात्तकारस्य दकारे, **वाऽवसाने झलां वा चर्** इत्यान्तरतम्याद् दकारस्य वा तकारः ।'

(मा० धा० वृत्ति पृष्ठ १७)

(ङ) 'अधोक्—तिप्सिपोर्हल्ङ्यादिलोपे पदान्तत्वाद् **दादेः०** इति हकारस्य घकारः, **एकाचो बशो०** इति दकारस्य धकारः, जश्त्वचर्त्वे ।'

(मा० धा० वृत्ति पृष्ठ ३२२)

(च) 'विश्ववाह्+सु' इति स्थिते हकारस्य ढत्वे जश्त्वे च कृते चर्त्वं वा भवति ।' (रूपमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ८६)

(छ) **हल्ङ्याब्भ्यः** इति सुलोपः, जश्त्वचर्त्वे—लिट्, लिड् ।'

(प्रक्रियाकौ० पूर्वार्ध, पृष्ठ २०८)

(ज) 'जश्त्वम्, वा चर्त्वं च सर्वहलन्तेषूह्यम्—मधुलिट्, मधुलिड् ।'

(प्रक्रियास० प्रथम भाग, पृष्ठ १५६)

(झ) 'पुनः पदान्ते घत्व-भष्त्व-जश्त्व-चर्त्वानि—दिधक् ।' (वही, पृ० १७५)

भट्टोजिदीक्षित भी सिद्धान्तकौमुदी में न्यास का अनुसरण करते हुए पहले जश्त्व और बाद में चर्त्व दर्शाते हैं । तद्यथा—

(१) 'जश्त्वम् । **वाऽवसाने** (८.४.५६) अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्, रामाद् ।' (सि० कौ० पृ० २४)

(२) 'पदान्तत्वाद् हस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे—लिट्, लिड्।'
(सि० कौ० पृ० ४५)
(३) जश्त्वचर्त्वे—धुक्, धुग्।' (सि० कौ० पृ० ४५)
(४) 'व्रश्चेति षत्वम्। जश्त्वचर्त्वे—राट्, राड्।' (सि० कौ० पृ० ५२)
(५) 'भष्भावः। जश्त्वचर्त्वे—भुत्, भुद्।' (वही, पृ० ५२)
(६) 'व्रश्चेति षत्वम्। जश्त्वचर्त्वे—विट्, विड्।' (वही, पृ० ६०)
(७) 'कुत्वेन हस्य घः। जश्त्वचर्त्वे—उष्णिक्, उष्णिग्।' (वही, पृ० ६३)

परन्तु एक तरफ चर्त्व को जश्त्व का अपवाद स्वीकार करना और दूसरी तरफ जश्त्व करने के बाद उस की प्रवृत्ति मानना—ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं, इन में कोई सामञ्जस्य नहीं। आश्चर्य है कि इस समस्या पर न तो न्यासकार ने कोई विचार प्रकट किया है और न ही तदुत्तरवर्त्ती हरदत्तमिश्र, धर्मकीर्त्ति, सायण, रामचन्द्र आदियों ने। भट्टोजिदीक्षित भी पूर्व वैयाकरणों का अन्धानुकरण करते चले गये पर इस विषय पर उन्हों ने भी कोई विचार व्यक्त नहीं किया। एतद्विषयक सबसे पहला विचार हमें ज्ञानेन्द्रसरस्वती की तत्त्वबोधिनी में प्राप्त होता है। वे लिखते हैं—

'जश्त्वं वाऽवसान इति। अत्राहुः—जश्त्वे कृतेऽवसाने चर्त्वमिति न मन्तव्यम्। किंतु येन नाऽप्राप्तिन्यायेन अवसाने चर्त्वस्य जश्त्वाऽपवादत्वाच्चर्त्वाऽभावपक्षे जश्त्वम् इति योज्यम्। (तत्त्व० पृ० १०२)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती के बाद नागेशभट्ट आते हैं। वे 'जश्त्वम्। वाऽवसाने (८,४.५६) अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात्, रामाद्।' इस सिद्धान्तकौमुदी के प्रघट्ट को लेकर ज्ञानेन्द्रसरस्वती की बात का खींचातानी से समर्थन करते हुए लघुशब्देन्दुशेखर में लिखते हैं—

'जश्त्वमिति। बाधित्वेति शेषः। अवसाने चर्त्वस्य पदान्तजश्त्वापवादत्वात्।'
(ल० श० शे० पृ० ११९)

सिद्धान्तकौमुदी में 'जश्त्वम्' के बाद 'बाधित्वा' के अध्याहार का सुझाव नागेशभट्ट का प्रौढिमात्र ही कहा जा सकेगा। जब सैंकड़ों वर्षों से न्यासकार की परम्परा भट्टोजिदीक्षित तक अक्षुण्ण आ रही है और दीक्षित भी दर्जनों स्थानों पर उस का अनुसरण कर रहे हैं तो यहां उन का अन्यथा अभिप्राय प्रकट करना बेतुकी बात कही जायेगी। अत एव इस स्थल पर शेखर के व्याख्याकारों ने भी नागेश की बात को 'चिन्त्यमेतत्' कहा है।[1]

---

१. 'चिन्त्यमेतत्, रत्नमुडित्यादौ आन्तरतम्यात् षकारस्य चर्त्वेन षकार एव प्राप्नोति, न टकारोऽल्पप्राणतया प्रयत्नभेदात्। अतोऽसिद्धत्वाद् जश्त्वे चर्त्वमिति यथाश्रुतमेव सम्यक्।' (ल० श० शे० ज्योत्स्ना, गु० प्र० सं० पृ० १२१)

कुछ व्याख्याकार दीक्षित के 'जश्त्वचर्त्वे' पद का छेद 'जश् तु अचर्त्वे' इस प्रकार कर नागेश के पक्ष का समर्थन करना चाहते हैं। पर वे भी दीक्षित के 'व्रश्चेति

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती और नागेशभट्ट भी पूर्वोक्त समस्या का समाधान करने में असमर्थ रहे, उन्हों ने कोई ठोस सुझाव नहीं दिया। अतः न्यास के काल में जो समस्या थी वह नागेश के काल तक वैसी की वैसी असमाहित बनी रही, उस का कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिल सका। परन्तु नागेशभट्ट के बाद के टीकाकारों ने इसे सुलझाने का भूरि भूरि प्रयास किया। अन्ततोगत्वा वे इसे सुलझाने में पूरी तरह समर्थ हो सके। उन्हों ने यहां मुख्यतया दो समाधान प्रस्तुत किये हैं—

(१) यद्यपि चर्त्व, जश्त्व का अपवाद है तथापि 'रत्नमुट्, रत्नमुड्' आदि में, जहां पहले जश्त्व करने से परिनिष्ठितरूप में अन्तर पड़ता है, वहां **ष्णान्ता षट्** (१.१.२४), **जक्षित्यादयः षट्** (६.१.६) आदि निर्देशों से उन में बाध्यबाधकभाव नहीं समझना चाहिये। इस से षट्, षड्, रत्नमुट्, रत्नमुड् आदि की प्रक्रिया में चर्त्व के असिद्ध होने से पहले जश्त्व और बाद में चर्त्व प्रवृत्त होगा।[1]

(२) दूसरे लोग यह कहते हैं कि उपर्युक्त वैविध्यपूर्ण आयास से क्या लाभ? **ष्णान्ता षट्** आदि निर्देशों से सीधा यही मान लेना चाहिये कि जश्त्व और चर्त्व में बाध्यबाधक भाव ही नहीं होता अतः सर्वत्र पहले जश्त्व करके बाद में **वाऽवसाने** से चर्त्व करना चाहिये, इस से कहीं भी दोष प्रसक्त नहीं होता।[2]

षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे—राट्, राड्' इत्यादि स्थानों की संगति नहीं लगा सकते। दूसरी बात यह भी है कि इस 'जश्त्वचर्त्वे' पद का प्रयोग हरदत्तादि वैयाकरण सैंकड़ों वर्षों से जिस अर्थ में करते चले आ रहे हैं उस का अन्यथा प्रयोग यदि दीक्षित को अभीष्ट होता तो कहीं तो वे इस का उल्लेख करते। उन्हों ने ऐसा कहीं नहीं किया अतः यही परिलक्षित होता है कि वे भी पूर्ववैयाकरणों के प्रयोग का ठीक उसी अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं।

१. "यत्र पूर्वं जश्त्वप्रवृत्तौ परिनिष्ठिते रूपे विशेषस्तत्र जश्त्वं प्राक् प्रवर्त्तते न बाध्यबाधकभावः, तेन रत्नमुडादौ न दोषः, अन्यथाऽऽन्तरतम्याच्चर्त्वेन षस्य ष एव स्यात्। **जक्षित्यादयः षट्** इत्यादिनिर्देशाश्चेह लिङ्गम्।"

(ल० श० शे० सदाशिवभट्टीयव्याख्या, पृष्ठ ११९)

रत्नमुट् इत्यादिसिद्धिस्तु **जक्षित्यादयः षट्** इति न्यासेन षकारस्य स्थाने जश्त्वात् पूर्वं चर्त्वशास्त्राऽप्रवृत्तिकल्पनमिति भविष्यति।'

(ल० श० शे० भैरवमिश्रकृतचन्द्रकला, पृष्ठ २७२)

२. 'अन्ये तु **ष्णान्ता षट्** इति निर्देशेन जश्त्वचर्त्वयोरुत्सर्गापवादभाव एव नेति, अन्यथा जश्त्वं बाधित्वा चर्त्वे षकारस्य तदभावपक्षे डकारस्य श्रवणापत्तौ टान्तनिर्देशाऽनुपपत्तिः।'

(ल० श० शे० विषमपदविवृति, पृ० १२०)

"परन्त्विदं मनोरमाकाराशयवर्णनमात्रम्, वस्तुतः 'षट्' इति निर्देशेन अबाधकत्वज्ञापनमेव लघ्विति दिक्।'

(ल० श० शे० सदाशिवभट्टीयव्याख्या, पृष्ठ ११९)

अधिकांश विद्वान् दूसरे समाधान के पक्ष में हैं क्योंकि यह समाधान बहुत सरल, युक्तिसंगत तथा उलझनों से रहित है। इस प्रकार न्यासकाल से चली आ रही समस्या अब पूरी तरह हल हो चुकी है और विद्वानों ने न्यासोक्त प्रक्रिया को ही पूर्णतया मान्यता दे दी है। इस से **सहेः साडः सः** (८.३.५६) द्वारा सह् के साड्रूप में षत्व होकर बाद में पाक्षिक चर्त्व करने से 'तुराषाट्, तुराषाड्' दोनों अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं किसी प्रकार का कोई दोष नहीं आता। अन्यथा प्रथम चर्त्व कर लें तो तुरासाह् = तुरासाढ् = तुरासाट् यहां पर साड्रूप न होने से षत्व न होगा और जश्त्वपक्ष में साड्रूप बन जाने से षत्व हो जायेगा। इस प्रकार 'तुरासाट्, तुराषाड्' ये दो रूप बनेंगे जिनमें प्रथम अनिष्ट होगा।

[३.३२] **उदः स्थास्तम्भोः०** (८.४.६१) सूत्र पर 'उत्थाता' की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'उत्थातेति। **आदेः परस्य** इति सकारस्य महाप्राणस्याऽघोषस्य तादृश एव पूर्वसवर्णस्थकारः, **खरि च** इति थकारस्य तकारः। **अनचि च** इति पूर्वतकारस्य द्विर्वचनम्, **झरो झरीति** पक्षे एकस्य लोपः।' (न्यास ८.४.६१)

न्यासप्रदर्शित इस प्रक्रिया की हरदत्तमिश्र से लेकर भट्टोजिदीक्षित तक लगभग एक सहस्र वर्ष तक अनेक वैयाकरणों ने खूब आलोचना की है। परन्तु अठारहवीं शती के नागेशभट्ट ने इस आलोचना की दिशा ही मोड़ दी। उन्हों ने न्यासोक्तप्रक्रिया का न केवल जम कर समर्थन किया अपितु इस प्रक्रिया के आलोचकों की भी कड़ी आलोचना की।

सर्वप्रथम न्यासोक्तप्रक्रिया का खण्डन करते हुए हरदत्तमिश्र अपनी पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'उत्थातेति। सकारस्य पूर्वसवर्णस्तकारः। अन्ये तु बाह्यप्रयत्नसाम्यात् थकारमिच्छन्ति। तत्र थकारद्वयस्य श्रवणम्। न च पूर्वस्य चर्त्वम्, तत्र कर्त्तव्येऽस्य पूर्वसवर्णस्याऽसिद्धत्वात्।' (पदमञ्जरी ८.१.६१)

इसी प्रकार की आलोचना विट्ठलाचार्य प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में व्यक्त करते हैं—

'उदः परस्य सकारस्य पूर्वसवर्णस्तकारः। केचिदघोषस्य महाप्राणस्य तादृश एव पूर्वसवर्णस्थकारः। तस्य **खरि च** इति चर्त्वे तकारे क्रियमाणेऽसिद्धत्वात् तन्मते थकारद्वयश्रवणम्। पूर्वस्य चर्त्वं तकारः। तस्य **अनचि च** इति द्वित्वम्। **झरो झरि सवर्णे** इति लोपः।' (प्रक्रियाकौ० प्रसाद, पूर्वार्धं पृष्ठ ८९)

भट्टोजिदीक्षित भी इसी का अनुसरण करते हुए सिद्धान्तकौमुदी के हल्सन्धिप्रकरण में लिखते हैं—

'अत्राऽघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृश एव थकारः। तस्य **झरो झरीति** पाक्षिको

लोपः। लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणं न तु खरि चेति चर्त्वम्, चर्त्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात्।' (सि० कौ० पृष्ठ १४)

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती भी यहां पर अपनी एक टिप्पणी में लिखते हैं—

'इदमपि चिन्त्यम्। थकारस्याऽसिद्धत्वात्। थकारस्यैवात्र श्रवणम्। न तु तस्य चर्त्वेन तकारः स्यात्। तेन झरो झरीति लोपाभावपक्षे उत्थ्थातेति।'

(न्यास राजशाही० उ० पृष्ठ ११३६)

तात्पर्य यह है कि **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** (८.४.६१) सूत्र से सकार को पूर्वसवर्ण थकार होकर 'उद्+थ्+थाता' इस स्थिति में **खरि च** (८.४.५५) सूत्र से प्रथम थकार के स्थान पर चर्त्व-तकार न हो सकेगा क्योंकि चर्त्व (८.४.५५) की दृष्टि में पूर्वसवर्ण (८.४.६१) त्रिपादीस्थपर होने से असिद्ध है। अब वैकल्पिक झरोझरिलोप करने से 'उत्थाता, उत्थ्थाता' ये दो रूप बनेंगे न्यासोक्त कृतचर्त्व 'उत्स्थाता' नहीं।

इस प्रकार 'उत्थ्थाता, उत्थ्थानम्, उत्थ्तम्भनम्, उत्थ्थाय, उत्थ्थितः' आदि प्रयोगों की सिद्धि न होने के लिये न्यासकार की आलोचना की जाती है। परन्तु यहां पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इस प्रकार के प्रयोग कहीं प्रयुक्त भी हुए हैं जिन के लिये न्यासकार की आलोचना की जाती है? लोक में तो ऐसे प्रयोग कहीं देखे नहीं जाते। किसी शिष्ट ने इन रूपों का प्रयोग नहीं किया। शेष बात रही वेद की। वैदिक-वाङ्मय में प्रातिशाख्यों के अनुसार व्यवस्था मानी जाती है। परन्तु किसी प्रातिशाख्य में इस प्रकार की रूपसिद्धि उपलब्ध नहीं होती। इस विषय में **वैदिकव्याकरण** के प्रथमभाग में डा० रामगोपाल लिखते हैं—

"प्रातिशाख्यों के अनुसार उद् उपसर्ग से परे आने वाले स्था और स्तम्भ् धातुओं के आदि स् का लोप हो जाता है,[1] यथा—मा+घोषाः+उत्+स्थुः=मा घोषा उत्थुः (अ० ७.५२.२), उत्+स्तभान=उत्तभान (वा० सं० १७,७२), उत्+स्थिताय=उत्थिताय (तै० सं० ७, १, १६, ३), उत्+स्थितम्=उत्थितम् (ऋ० १०,१४६,२)। परन्तु ऋग्वेद के पदपाठ में उद् उपसर्ग तथा स्थितम् के बीच अवग्रह नहीं दिलाया गया है। और केवल 'उत्थितम्' रूप दिखलाया गया है। इसी प्रकार उत्तभिता (उत्+स्तभिता ऋ० १०.८५.१) में भी उपसर्ग तथा धातु के मध्य अवग्रह नहीं दिखलाया गया है और पदपाठ में संहितारूप ज्यों का त्यों दिखलाया गया है। ऋ० प्रा० में भी इस सन्धि का विधान नहीं है। प्रातिशाख्यों के सिद्धान्त से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, पाणिनि स्था और स्तम्भ् धातुओं के आदि स् का लोप न करके इसे उद् उपसर्ग के द् का सवर्ण अर्थात् थ् बनाता है और पुनः इस थ् का वैकल्पिक

---

१. अ० प्रा० २.१८ —लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य।
वा० प्रा० ४.९८ —उदस्तभाने लोपम्।
तै० प्रा० ५.१४ —उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जनपरः।

लोप करता है। परन्तु संहिताओं में इस प्रकार के आदि सकार का सर्वत्र लोप मिलता है।"

(वैदिकव्याकरण, प्रथम भाग, पृष्ठ ११३)

व्याकरण लोकाश्रित होता है, अर्थात् शिष्टजन जिन जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं व्याकरणशास्त्र उन उन का अन्वाख्यान तथा साधुत्व प्रतिपादन करता है। नये नये शब्द घड़ना व्याकरण का काम नहीं। यही भाव महाभाष्य में इस प्रकार वर्णित किया गया है—

'तद्यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाऽऽह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति।' (महाभाष्य पस्पशा० पृष्ठ ५०)

इस प्रकार न्यासकार के आगे यह समस्या थी कि वह लोकवेदविरुद्ध रूप कैसे बनाये ? अतः उन्हों ने असिद्धता की चिन्ता न करते हुए भी खरि च (८.४.५५) की प्रवृत्ति स्वीकार कर ली। उन का ऐसा करना निर्मूल भी न था। उन के आगे सब से बड़ा प्रमाण भाष्यकार का स्वयं ऐसा करना था। जैसाकि (८.४.६१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

'उदः पूर्वत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसङ्ख्यानम्। उदः पूर्वत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। अघ्न्ये दूरमुत्कन्द। रोगे चेति वक्तव्यम्। उत्कन्दको रोगः।"

(महाभाष्य ८.४.६१)

अब यहां पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि भाष्यकार ने 'उत्कन्दकः' उदाहरण कैसे दिया ? 'उद्+स्कन्दकः' में स्कन्द् के सकार को यदि पूर्वसवर्ण थकार कर दें तो झरोझरिलोप हो नहीं सकेगा, सवर्ण झर् परे नहीं है अतः 'उत्थ्कन्दकः' रूप चाहिये था। इस से स्पष्ट हो जाता है कि वे यहां खरि च (८.४.५५) से चर्त्व करने की अनुमति दे रहे हैं। हां ! यहां 'उत्त्कन्दकः' इस प्रकार द्वितकारघटित रूप होना चाहिये था। नागेशभट्ट यहां वैसा ही पाठ मानते हैं।[1] परन्तु यदि लेखकों ने एकतकारघटित रूप लिख भी दिया, तो वह भाष्यकार के 'न हि व्यञ्जनपरस्यैकस्याऽनेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति, (महाभाष्य ७.१.७२ तथा ६.४.२२) इस वचन से उपपन्न हो जाता है। इस तरह इस से सुतरां सिद्ध हो जाता है कि भाष्यकार यहां चर्त्व करने के पक्षपाती हैं। भाष्यकार ही नहीं वरन् काशिकाकार भी चर्त्व चाहते हैं तभी तो वे यहां 'कन्दतेर्वा धात्वन्तरस्यैतद् रूपम्' लिखते हैं। अन्यथा वे 'उत्थ्कन्दकः' रूप को कन्द धातु से कैसे सिद्ध कर सकते हैं।

महाभाष्यप्रदीप के रचयिता कैयट उपाध्याय भी यहां चर्त्व करने के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। वे **परेश्च घाङ्कयोः** (८.२.२२) सूत्र पर लिखते हैं—

'दृषत्स्थानमिति। उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्येति पूर्वसवर्णविधानात् सिचोऽन्यस्य

---

१. देखें ल० श० शे०, गु० प्र० सं० पृ० ३५७।

सकारस्य झलो झलीति लोपो न भवतीति ज्ञापकमाहुः । अन्यथा सलोपेनैवोत्थानमित्यादेः सिद्धत्वात् पूर्वसवर्णविधानमनर्थकं स्यात् ।' (प्रदीप ८.२.२२)

कैयट का यह कहना कि स्था और स्तम्भ् के सकार का लोप करने से ही काम चल सकता है पूर्वसवर्णविधान की आवश्यकता नहीं—इस बात को स्पष्ट द्योतित करता है कि वे भी चर्त्वपक्ष के पक्षपाती थे क्योंकि चर्त्व किये विना तो 'उत्थ्थानम्' रूप बनता जो सकारलोप से कभी भी सम्भव नहीं हो सकता ।

नागेशभट्ट ने इस पक्ष को पुष्ट करते हुए उपर्युक्त भाष्यप्रामाण्य के अतिरिक्त एक नया विचार भी उपस्थित किया है । वे लघुशब्देन्दुशेखर में लिखते हैं—

'हलो यमाम्० इतिसूत्रोक्तभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठे तु थस्याऽसिद्धत्वाऽभावेन चर्त्वं भवत्येव । अत एव उत्पूर्वस्कन्दे रोगे उपसंख्यानम्—उत्कन्दको रोग इति भाष्यं संगच्छते ।' (ल० श० शे० उदः स्था० सूत्र पर)

इस भाष्यसम्मताष्टाध्यायीसूत्रपाठ का विवेचन उन्हों ने **हलो यमां यमि लोपः** सूत्रस्थ शेखर में इस प्रकार किया है—

'दीर्घादाचार्याणामित्युत्तरम्—'अनुस्वारस्य ययि०', 'वा पदान्तस्य', 'तोर्लि', 'उदः स्था०', 'झयो हो०', 'शश्छोऽटि' इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं 'झलां जश्झशि', 'अभ्यासे चर्च', 'खरि च', 'वाऽवसाने', 'अणोऽप्रगृह्यस्या०' इति पञ्चसूत्र्याः पाठ इति भाष्य-सम्मताष्टाध्यायीपाठः ।'

उन का अभिप्राय यह है कि महाभाष्य में **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** और **शश्छोऽटि** सूत्रों के भाष्य के बाद **अभ्यासे चर्च** सूत्र का भाष्य पाया जाता है जो वर्त्तमान उपलब्ध अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ के नितान्त विरुद्ध है[1] । आधुनिक अष्टाध्यायी में यह स्थल इस प्रकार पढ़ा गया है—

	दीर्घादाचार्याणाम्	। ८ । ४ । ५२ ॥
(क)	झलां जश्झशि	। ८ । ४ । ५३ ॥
	अभ्यासे चर्च	। ८ । ४ । ५४ ॥
	खरि च	। ८ । ४ । ५५ ॥
	वाऽवसाने	। ८ । ४ । ५६ ॥
	अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः	। ८ । ४ । ५७ ॥

१. देवीदत्तशर्मा संशोधित ताराप्रेस बनारस से मुद्रित महाभाष्य तथा गुरुप्रसादशास्त्रि-सम्पादित महाभाष्य के संस्करणों का पाठ नागेशसम्मत है । डा० कीलहार्न ने नागेश की उपेक्षा कर भाष्य के पाठ को अष्टाध्यायीक्रम से रखा है । काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर ने अपने मराठी अनुवाद में कीलहार्न के पाठ को ही अपनाया है । गुरुकुल झज्झर के महाभाष्य में भी अष्टाध्यायीक्रमानुसार भाष्य का पाठ छापा गया है परन्तु उद्योतटीका नागेशसम्मत क्रम से छपी है । मोतीलाल बनारसी-दास द्वारा मुद्रित महाभाष्य का अष्टमाध्याय गु० झज्झरसंस्करण की फोटोकापी है।

(ख)	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः	। ८ । ४ । ५८ ॥
	वा पदान्तस्य	। ८ । ४ । ५६ ॥
	तोर्लि	। ८ । ४ । ६० ॥
	उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य	। ८ । ४ । ६१ ॥
	झयो होऽन्यतरस्याम्	। ८ । ४ । ६२ ॥
	शश्छोऽटि	। ८ । ४ । ६३ ॥
	हलो यमां यमि लोपः	। ८ । ४ । ६४ ॥
	झरो झरि सवर्णे	। ८ । ४ । ६५ ॥
	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः	। ८ । ४ । ६६ ॥
	नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्	। ८ । ४ । ६७ ॥
	अ अ	। ८ । ४ । ६८ ॥

अतः भाष्यकार के अन्यथापाठ पर व्याख्यान से ही प्रतीत होता है कि वे (क) विभाग वाले सूत्रों का (ख) विभाग के बाद पाठ मानते हैं[1]। इस प्रकार भाष्य-सम्मत अष्टाध्यायी का इस स्थल का सूत्रक्रम इस तरह होगा—

	दीर्घादाचार्याणाम्	। ८ । ४ । ५२ ॥
(ख)	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः	। ८ । ४ । ५३ ॥
	वा पदान्तस्य	। ८ । ४ । ५४ ॥
	तोर्लि	। ८ । ४ । ५५ ॥
	उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य	। ८ । ४ । ५६ ॥
	झयो होऽन्यतरस्याम्	। ८ । ४ । ५७ ॥
	शश्छोऽटि	। ८ । ४ । ५८ ॥
(क)	झलां जश्झशि	। ८ । ४ । ५६ ॥
	अभ्यासे चर्च	। ८ । ४ । ६० ॥
	खरि च	। ८ । ४ । ६१ ॥
	वाऽवसाने	। ८ । ४ । ६२ ॥
	अणोऽप्रगृह्यस्याऽनुनासिकः	। ८ । ४ । ६३ ॥
	हलो यमां यमि लोपः	। ८ । ४ । ६४ ॥
	झरो झरि सवर्णे	। ८ । ४ । ६५ ॥
	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः	। ८ । ४ । ६६ ॥
	नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्	। ८ । ४ । ६७ ॥
	अ अ	। ८ । ४ । ६८ ॥

---

१. विभागीकरण इसलिये किया गया है क्योंकि ये सूत्र अनुवृत्तिसम्बन्ध से परस्पर-ग्रथित हैं, इन का पृथक् पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता। अतः क्रमव्यत्यास सारे विभाग का ही होगा केवल एक सूत्र का नहीं। ध्यान रहे कि भाष्य में ये

इस क्रम के अनुसार पूर्वसवर्णविधान (८.४.५६) पहले तथा चर्त्वविधान (८.४.६१) तदनन्तर आता है अतः चर्त्व की दृष्टि में पूर्वसवर्णविधान असिद्ध नहीं होता, इस से चर्त्व की प्रवृत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती वह निर्बाध प्रवृत्त हो जाता है।[1]

परन्तु हमारे विचार में नागेशप्रतिपादित सूत्रपाठ में कुछ औचित्य नहीं है। यदि महाभाष्य में **अभ्यासे चर्च** सूत्र का दो-पंक्ति भाष्य[2] किसी असावधान प्रतिलिपिकर्त्ता के दृष्टिदोष से पहले लिखे जाने की बजाय **शश्छोऽटि** सूत्र के बाद लिख दिया गया है तो इस से अष्टाध्यायी के परम्परीण पाठ का परित्याग नहीं किया जा सकता। अष्टाध्यायी का एतत्स्थलीय सूत्रपाठ अत्यन्त प्राचीनकाल से अद्ययावत् एक सा चला आ रहा है, यहां सूत्रव्युत्क्रम का किसी ने उल्लेख तक नहीं किया। किंच चान्द्रसूत्रपाठ तथा जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जो प्रायः अष्टाध्यायीसूत्रक्रम के अनुसार चला करते हैं—को देखने से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अष्टाध्यायी का एतत्स्थलीय वर्त्तमान उपलब्ध पाठ ही प्राचीन पाठ है। इस में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हुआ। भोजराजप्रणीत सरस्वती-कण्ठाभरण का सूत्रपाठ भी इस का साक्षी है। इस सब के तुलनात्मक अध्ययन के लिये अग्रिम पृष्ठ पर चारों व्याकरणों के सूत्रपाठों का एक कोष्ठक दे रहे हैं—

सब सूत्र व्याख्यात नहीं हैं। दोनों वर्गों के तीन सूत्र ही केवल भाष्य में व्याख्यात हैं। उनका क्रम यह है—उदः स्था०, शश्छोऽटि, अभ्यासे चर्च।

१. 'उत्कन्दक इति। न च सस्याऽऽन्तरतम्यात् थकारे तस्याऽसिद्धत्वात् चर्त्वं दुर्लभम्, भाष्येऽभ्यासे चर्चेत्यस्य परत्र पाठेन चर्त्वस्यैव परत्वेन तं प्रत्यस्याऽसिद्धत्वाऽभावा-दित्याहुः। वृत्युक्तः पाठस्तु चिन्त्य एव।' (उद्योत ८.४.५६)

२. "अभ्यासे चर्चं। प्रकृतिचरां प्रकृतिचरो भवन्ति। चिचीषति। प्रकृतिजशां प्रकृति-जशश्च भवन्ति। जिजनिषति। बुबुधे। ददौ।"

नोट—भाष्य का यह स्थल अनेक हस्तलेखों में प्राप्त नहीं है, देखें (महाभाष्य गु० प्र० सं० ८.४.५४)। डा० कीलहार्न ने अपने महाभाष्य के संस्करण में इसे स्थान नहीं दिया। किञ्च कैयट का भी व्याख्यान यहां उपलब्ध नहीं है।

पाणिनि०	चान्द्र०	जैनेन्द्र०	सरस्वतीकण्ठाभरण०
झलां जश्झशि (८.४.५३)	[1]	झलां जश्झशि (५.४.१२८)	झलां जश्झशि (७.४.१६४)
अभ्यासे चर्च (८.४.५४)	[2]	चे चर्त्वम् (५.४.१२९)	[3]
खरि च (८.४.५५)	खरि चर्झल: (६.४.१४८)	खरि (५.४.१३०)	चर्खरि (७.४.१६५)
वाऽवसाने (८.४.५६)	वा विरामे (६.४.१४९)	विरामे वा (५.४.१३१)	वाऽवसाने (७.४.१६६)
अणोऽप्रगृह्यस्या० (८.४.५७)	अणोऽनुनासिक: (६.४.१५०)	[4]	अणोऽप्रगृह्यस्या० (७.४.१६७)
अनुस्वारस्य ययि० (८.४.५८)	अनुस्वारस्य ययि यम् (६.४.१५१)	यय्यनुस्वारस्य परस्वम् (५.४.१३२)	अनुस्वारस्य ययि यम् (७.४.१६८)
वा पदान्तस्य (८.४.५९)	पदादौ वा (६.४.१५२)	वा पदान्तस्य (५.४.१३३)	पदान्ताभ्यासयोर्वा (७.४.१६९)
तोर्लि (८.४.६०)	तोर्लि (६.४.१५३)	तोर्लि (५.४.१३४)	तोर्लि (७.४.१७०)
उद: स्थास्तम्भो:० (८.४.६१)	उद:स्थास्तम्भोस्त: (६.४.१५४)	स्थास्तम्भो: पूर्वस्योद: (५.४.१३५)	उद: स्थास्तम्भोर्लोप: (७.४.१७१)
झयो होऽन्य० (८.४.६२)	झयो हो झय् (६.४.१५६)	झयो ह: (५.४.१३६)	जशो हो झष् (७.४.१७५)
शश्छोऽटि (८.४.६३)	शश्छोऽमि (६.४.१५७)	शश्छोऽटि (५.४.१३७)	चयश्शश्छोऽमि (७.४.१७६)

यहां के टिप्पण अगले पृष्ठ पर देखें ।

इस से सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि नागेश के भाष्यसम्मत सूत्रक्रम के व्यत्यास की बात में कुछ औचित्य नहीं। अतः न्यासोक्त चर्त्व की पुष्टि पूर्वोक्त प्रमाणों से ही करनी चाहिये।

खण्डनं न्यासकारस्य सुधीभिरुत्तरैर्बहु।
यत्कृतं तद्विविच्यैव दिङ्मात्रमिह दर्शितम्॥

१. चान्द्रव्याकरण में यहां के लिये नया सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है, चन्द्राचार्य ने 'झलो जश्' (चान्द्र० ६.३.६७) सूत्र पाणिनि के दोनों ('झलां जशोऽन्ते' तथा 'झलां जश्झशि') सूत्रों के लिये पहले ही पढ़ दिया है। एतद्विषयक एक टिप्पण पीछे पृ० २८० पर भी लिखा जा चुका है।

२. एतद्विषयक सूत्र चान्द्रव्याकरण के पीछे अभ्यासविकारप्रकरण में आ चुके हैं—चर् (चान्द्र० ६.२.११४), झषो जश् (चान्द्र० ६.२.११५)।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण में एतद्विषयक दो सूत्र अभ्यासविकारप्रकरण में पीछे आ चुके हैं—खयि खरः (सरस्वती० ७.२.११७), खयां चरः (सरस्वती० ७.२.११८)।

४. जैनेन्द्रव्याकरण नितान्त लौकिकव्याकरण है। इस के प्रणेता पूज्यपाद देवनन्दी ने सम्भवतः लोक में अवसान में अप्रगृह्य अणों के अनुनासिक प्रयोग को प्रायः व्यवहारबाह्य समझ कर इन का अपने सूत्रपाठ में समावेश नहीं किया।

चतुर्थ अध्याय

[न्यास की सहायता से काशिका का पाठ-संशोधन]

न्यासीयवच आलम्ब्य काशिका-पाठ-शोधने।
यत्नः फलेग्रहिर्नूनं चतुर्थेऽयं निरूपितः॥

[४.०] काशिकावृत्ति पाणिनीयव्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ है। पाणिनीयव्याकरण पर इस से अधिक प्राचीनवृत्ति इस समय तक दूसरी कोई उपलब्ध नहीं हुई। वार्त्तिक, भाष्य और वाक्यपदीय को छोड़कर उत्तरवर्त्ती प्रायः सारा व्याकरण-वाङ्मय इस का ऋणी है। आज जो देश-विदेश के विद्वान् पाणिनि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं, उन की प्रशंसा का आधार केवल एकमात्र काशिकावृत्ति ही है। ✗ काशिका के विना केवल प्रक्रियामार्गानुयायी ग्रन्थों से पाणिनि के महत्त्व पर ठीक प्रकार से प्रकाश कदापि नहीं डाला जा सकता। परन्तु यह ग्रन्थ जितना महत्त्वपूर्ण है दुर्भाग्य से इस की उतनी ही चिरकाल से उपेक्षा होती चली आ रही है। गत तीन-चार शताब्दियों से प्रक्रियामार्ग का बोलबाला होने तथा सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों के पठनपाठन में आ जाने से तो इस की दुरवस्था और भी बढ़ गई है। इस का अनुमान इतने से ही लगाया जा सकता है कि किसी भी दो स्थानों की मुद्रित काशिकावृत्तियों का पाठ परस्पर नहीं मिलता। निदर्शनार्थ **भवतेरः** (७.४.७३) सूत्र पर काशिका के विभिन्न संस्करणों के पाठों की तुलना कीजिये—

'भवतेरिति कर्तृनिर्देशादिह न भवति—अनुबभूवे कम्बलो देवदत्तेन।'

(बालशास्त्रिसंस्करण)

'भवतेरिति धातुनिर्देशादिहापि भवति—अनुबभूवे कम्बलो देवदत्तेन।'

(प्राच्यभारती संस्करण)

'भवतेरिति विकरणनिर्देशादिह न भवति—अनुबभूवे कम्बलो देवदत्तेन।'

(उस्मानिया संस्करण)

इस प्रकार के अन्य भी अनेक स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परन्तु इतना होने पर भी यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि यदि सूत्रक्रम के मर्मज्ञ कुछ विद्वान् इस की प्राचीन दो व्याख्याओं न्यास और पदमञ्जरी का आश्रय लेकर काशिका के संशोधन में जुट जायें तो निश्चय ही इस के अधिकांश पाठ अब भी शुद्ध किये जा सकते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये ही यह प्रस्तुत अध्याय लिखा गया है। इस अध्याय में काशिका के अनेक भ्रष्ट पाठों को उपन्यस्त कर उन्हें न्यास के आलोक में शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इस से सुधीजनों के हृदयपटल पर न्यास की उपयोगिता इस क्षेत्र में भी भली भांति अंकित हो सकेगी।

[४.१] काशिका के अद्ययावत् मुद्रित समस्त संस्करणों में **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१.१.९) सूत्र पर निम्नस्थ पाठ मुद्रित होता चला आ रहा है—

'प्रयत्नग्रहणं किम्? इचुयशानां तुल्यस्थानानां भिन्नप्रयत्नानां मा भूत्। किंच स्यात्? अरुश्च्योततीत्यत्र झरो झरि सवर्णे इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात्।'

(काशिका १.१.९)

यहां पर काशिकोक्त बात 'अरुश्च्योतति' पाठ में घटित नहीं हो सकती। क्योंकि **झरो झरि सवर्णे** (८.४.६५) सूत्र में 'हलः' का अनुवर्त्तन होता है,[1] अतः हल् से परे झर् का सवर्ण झर् परे होने पर लोप विधान किया जाता है। 'अरुश्च्योतति' में यदि शकार को हल् मानें तो चकार को झर् मानना पड़ेगा इस तरह इस से परे दूसरा झर् कोई नहीं रहेगा, यकार तो झर्प्रत्याहारान्तर्गत है नहीं। इस अवस्था में 'अत्र झरो झरि सवर्णे इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात्' यह काशिकावचन उपपन्न नहीं हो सकता। अब देखिये न्यासकार की व्याख्या जो वे यहां पर लिखते हैं—

"अरुश्च्योततीति[2]। 'श्च्युतिर् क्षरणे' इत्यस्य लटि रूपम्। तत्र परत्रावस्थितेऽरुस्शब्दस्य सकारस्य रुत्वम्। तस्य विसर्जनीयः। तस्यापि 'वा शरि' इति सकारः। तस्यापि श्चुत्वं शकारः।" (न्यास १.१.९)

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि न्यासकार यहां काशिका में 'अरुश्श्च्योतति' पाठ मान रहे हैं। अरुस् के विसर्जनीय से वना शकार—हल् है उस से परे 'श्च्योतति' का शकार-झर् है, इस झर् का चकार-झर् परे होने पर भी लोप नहीं होता क्योंकि चकार और शकार की प्रयत्न-भेद के कारण सवर्णता नहीं। इस तरह काशिका का उपर्युक्त वचन सुसंगत हो जाता है।

पदमञ्जरी में भी द्विशकारघटित प्रतीक दिया गया है—

'अरुश्श्च्योततीति। श्च्युतिर् क्षरणे। अरुःशब्दस्य रुत्वविसर्जनीययोः वा शरि इति सकारः, तस्यापि श्चुत्वे शकारः।' (पदमञ्जरी १.१.९)

पाणिनीयेतर वैयाकरण इस उदाहरण का प्रायः शुद्ध पाठ ही लिखा करते हैं। तथाहि—

जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी—

"क्रियाग्रहणं किम्? इचुयशानां समानस्थानानां भिन्न-क्रियाणां मा भूत्। तत्र को दोषः? अरुश्श्च्योततीत्यत्र 'झरो झरि स्वे' इति शकारस्य चकारे खं प्रसज्येत।" (जैनेन्द्रमहा० १.१.२)

बृहद्वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्रसूरि—

"आस्यप्रयत्नग्रहणं किम्? चवर्गयशानां तुल्यस्थानानामपि भिन्नास्यप्रयत्नानां मा भूत्। किं च स्यात्? अरुश् श्च्योततीत्यत्र 'धुटो धुटि स्वे वा' इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात्।" (हैम० बृहद्वृत्ति १.१.१७)

सम्भवतः इस रूप के बार बार अशुद्ध लिखे जाने के कारण भट्टोजिदीक्षित ने

---

१. हल इति वर्त्तते (काशिका ८.४.६५)।

२. न्यास का यह प्रतीक पाठ लिपिकरों के प्रमाद के कारण अशुद्ध लिखा जाता रहा है। न्यास के अग्रिमव्याख्यान से स्पष्ट है कि वे यहां 'अरुश्श्च्योततीति' पाठ मानते हैं।

इस के स्थान पर 'वाक् श्च्योतति' या 'वाक् श्चोतति' नया उदाहरण घड़ा होगा।[1]

कुछ वैयाकरण इस अशुद्धि से बचने के लिये 'अरुः श्च्योतति' इस प्रकार विसर्ग-घटित रूप लिखा करते हैं। यथा—अमोघावृत्ति (पृष्ठ ३), प्रसादव्याख्या (पृष्ठ २७) आदि में मिलता है।

[४.२] सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४) सूत्र पर काशिका में 'ब्राह्मणाः पचन्ति' उदाहरण मुद्रित हुआ है। परन्तु न्यास को देखने से प्रतीत होता है कि यहां पर 'ब्राह्मणाः पठन्ति' पाठ है। प्रक्रिया में यद्यपि कुछ अन्तर नहीं आता तथापि 'ब्राह्मणाः पचन्ति' की अपेक्षा 'ब्राह्मणाः पठन्ति' उदाहरण ही उचित है। हरदत्तमिश्र ने यहां कुछ नहीं लिखा। सौभाग्य से उस्मानियासंस्करण में यह पाठ शुद्ध कर दिया गया है।

[४.३] अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) सूत्र पर काशिका में निम्नस्थ वार्तिक मुद्रित मिलते हैं—

१. अव्ययानां च बहुव्रीहिर्वक्तव्यः।
२. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः।
३. समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम्।
४. प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः।
५. नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः।
६. सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनां बहुव्रीहिर्वक्तव्यः।

इन वार्त्तिकों की व्याख्या करते हुए न्यासकार ने प्रथम वार्त्तिक पर 'बहुव्रीहिर्भवतीति सम्बन्धनीयम्', तीसरे और चौथे वार्तिक पर 'उत्तरपदलोपश्चेत्यनुवर्त्तते' तथा षष्ठ वार्तिक की व्याख्या में 'अस्तिक्षीरादेः समास उच्यते=प्रतिपाद्यते येन तदस्तिक्षीरादेर्वचनम्। व्याख्यानं कर्तव्यमित्यर्थः।' ऐसा लिखा है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुद्रितकाशिका के संस्करणों में जिस प्रकार का इदानीं वार्त्तिकपाठ है वैसा न्यासकार के काल में न था। इस प्रकार की व्याख्या तभी सम्भव हो सकती है जब वार्त्तिकों का पाठ निम्नप्रकारेण हो—

१. अव्ययानाञ्च।
२. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च।
३. समुदायविकारषष्ठ्याश्च।
४. प्रादिभ्यो धातुजस्य वा।
५. नञोऽस्त्यर्थानां च।
६. सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादिवचनम्।

---

१. दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ (१.१.६) में 'वाक् श्च्योतति' तथा प्रौढमनोरमा (पृ० ३२) में 'वाक् श्चोतति' प्रत्युदाहरण दिया है।

वार्त्तिकों का यह पाठ महाभाष्य में अद्ययावत् सुरक्षित है। अतः इससे स्पष्ट है कि काशिका में भी यहां महाभाष्य के समान वार्त्तिकपाठ था जो बाद में भ्रष्ट हो गया। हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी से भी इसी पाठ की पुष्टि होती है (देखें पदमञ्जरी पर पांचवें वार्त्तिक का पाठ)।

[४.४] राजदन्तादिषु परम् (२.२.३१) सूत्रस्थ काशिका के गणपाठ में 'दृषदुपलम्' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। इस पर टिप्पणी करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'दृषदुपलमिति। प्रमादाच्चायं पाठो लक्ष्यते। अल्पाच्तरत्वाद् दृषच्छब्दस्य पूर्वनिपातः सिद्धः।' (न्यास २.२.३१)

न्यासकार का कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि 'दृषदुपलम्' में अल्पाच्तरम् (२.२.३४) से ही 'दृषद्' का पूर्वनिपात सुतरां सिद्ध है अतः इस के लिये इसे राजदन्तादियों में पढ़ने की आवश्यकता नहीं। अत एव हरदत्तमिश्र ने भी इसी का अनुसरण करते हुए लिखा है—

'दृषदुपलमिति प्रमादपाठः, अल्पाच्तरत्वात्।' (पदमञ्जरी २.२.३१)

इतना होने पर भी काशिका का यह पाठ शोधन की अपेक्षा नहीं रखता, केवल टिप्पणमात्र की अपेक्षा रखता है। कारण कि न्यासकार ने इसे लेखनदोष स्वीकार नहीं किया। वे इसे प्रमादपाठ कहते हैं। प्रमाद मूललेखक (वृत्तिकार) का भी हो सकता है और लिपिकर का भी। सम्भवतः उन का निर्देश वृत्तिकार के प्रमाद की ओर ही है, लेखनप्रमाद को प्रायः वे तथात्वेन व्यपदिष्ट किया करते हैं।[1]

न्यासकार के इस टिप्पण से परवर्त्ती सब वैयाकरण सचेत हो गये। अतः गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान के सिवाय अन्य किसी न्यासोत्तरवर्त्ती पाणिनीय या पाणिनीयेतर वैयाकरण ने पुनः इस का यहां (राजदन्तादियों में) पाठ नहीं किया। वर्धमान ने निस्सन्देह स्वकीय कारिका और स्वोपज्ञवृत्ति दोनों में इस का उल्लेख किया है।[2] परन्तु उस ने गणरत्नमहोदधि में किस व्याकरण का आश्रय लिया है—यह अद्यावधि अज्ञात है। अतः इस के अभाव में उस के लिये कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

१. निदर्शनार्थं यथा—

'अन्ये तूत्तरसूत्रे कणिता श्वो रणिता श्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्। इह तु दुर्विन्यस्तकाकुपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति।' (न्यास १.१.५)

'औष्टकारः सुडिति प्रत्याहारग्रहणार्थः। वृत्तौ त्वेष ग्रन्थो नास्ति, भवितव्यं त्वनेन। लेखकप्रमाददोषाद् इदानीमन्तर्हितः।' (न्यास ४.१.२)

'ससंग्रहमित्येतदुदाहरणं प्रमादादिदानीन्तनैः कुलेखकैर्लिखितम्।' (न्यास ६.३.७९)

२. 'दृषदुपलं पुत्रपशू पूलासकुरण्ड-गाजवाजानि।
प्रारद्वाय-निचान्धनि-सिञ्जास्थोशीरबीजानि ॥ ८३ ॥'

[४.५] चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (२.३.६२) सूत्र पर काशिका में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'बहुलग्रहणं किम् ? कृष्णो राश्र्यै । हिमवतो हस्ती ।'

यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

'अत्र बहुलग्रहणात् सप्तम्यर्थे[1] चतुर्थी भवति ।'

इससे प्रतीत होता है कि 'हिमवतः' के स्थान पर काशिका का पाठ 'हिमवते' है । अब यह पाठ संगत भी हो जाता है । ध्यान रहे कि वाजसनेयसंहिता के २४.३५ पर 'हिमवंते हस्ती' पाठ उपलब्ध है ।

[४.६] वाचि यमो व्रते (३.२.४०) तथा स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते (४.२.१५) सूत्रों पर काशिका में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'व्रत इति शास्त्रतो नियम उच्यते ।'

यह पाठ नितान्त अशुद्ध है । न्यासकार ने यहां पर शुद्ध पाठ 'शास्त्रितः' दिया हुआ है । तथाहि—

'शास्त्रित इति । शास्त्रे कृत इति विगृह्य शास्त्रशब्दात् प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे णिच्, तदन्ताद् व्रते विहिते शास्त्रित इति । शास्त्रविहित इत्यर्थः । अथवा—शास्त्रिण इतः शास्त्रितः,[2] शास्त्रविद इतः—जातः प्रवृत्तः । अथवा शास्त्रशब्दः तारकादिषु द्रष्टव्यः । शास्त्रमस्य सञ्जातम् इति शास्त्रितः ।' (न्यास ३.२.४०)

हरदत्तमिश्र भी इसी पाठ को स्वीकार करते हैं—

'शास्त्रित इति । शास्त्रशब्दाद्विधाने धात्वर्थे णिच्, तदन्तात् कर्मणि क्तः । शास्त्रे विहितः शास्त्रेण वा शास्त्रितो नियम इति । सङ्कल्पविशेषः ।'

(पदमञ्जरी ३.२.४०)

'शास्त्रित इति । सञ्जातशास्त्र इत्यर्थः । यद्वा—तृतीयासमर्थाद् विधानेऽर्थे 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इति णिच्, कर्मणि क्तः, शास्त्रेण विहित इत्यर्थः ।'

(पदमञ्जरी ४.२.१५)

स्वोपज्ञवृत्तिः—'दृषच्चोपलं च दृषदुपलम् । अजाद्यदद्वारेण ।'

(गणरत्न० पृष्ठ १२३)

१. न्यासकार का यहां 'सप्तम्यर्थे' कहना युक्त नहीं है। इस के लिये देखें (५.१०)।

२. यहां पर 'शास्त्रिण इतः—शास्त्रितः' यह न्यासकार का वचन सम्यक्प्रकारेण बुद्धिगम्य नहीं होता । यह पाठ प्राच्यसंस्करण का है, सम्भव है कुछ भ्रष्ट हो गया होगा । राजशाहीसंस्करण में 'शास्त्रिण इति शास्त्रितः' ऐसा पाठ दिया गया है । यह पाठ सुसंगत और सुग्राह्य है । न्यासकार का इससे अगला वचन 'शास्त्रविद इतः—जातः—प्रवृत्तः' इसी का विवेचन समझना चाहिये । यदि 'इतः' के साथ ही समास का आग्रह हो तो 'शास्तुरितः—शास्त्रितः' इस प्रकार हैमलघुन्यासकारवत् विग्रह रखना चाहिये ।

हेमचन्द्रसूरि भी काशिका का अनुसरण करते हुए अपने शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ-बृहद्वृत्ति में यही पाठ स्वीकार करते हैं—

'व्रतं शास्त्रितो नियमः'। (हैमबृहद्वृत्ति ५.१.११५)

हैमलघुन्यासकार इसी पाठ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'शास्त्रं सञ्जातमस्योपदेशकतया, शास्तुः सकाशादितः प्राप्तो वा, यद्वा शास्तारं कर्मतापन्नमितः प्राप्तः।'

(शब्दमहार्णवन्यासानुसन्धान में उद्धृत ५.१.११५)

सौभाग्य से काशिका का यह भ्रष्ट पाठ प्राच्य और उस्मानिया संस्करणों में शुद्ध कर दिया गया है।

[४.७] 'अलंकृञो मण्डनार्थाद्युचः पूर्वविप्रतिषेधेनेष्णुज्वक्तव्यः' यह वार्त्तिक इस समय काशिका के (३.२.१३६) सूत्र पर मुद्रित उपलब्ध होता है। इस का महाभाष्य में कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। परन्तु न्यास को देखने से सुतरां प्रतीत होता है कि न्यासकार के आशय को किसी ने यहां काशिका में वार्त्तिकरूपेण प्रक्षिप्त कर दिया है। यहां पर न्यासकार का लेख इस प्रकार है—

'यदा तु अलम्पूर्वः करोतिर्मण्डने वर्त्तते, तदा **क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च** (३.२.१५१) इति युच् प्राप्नोति, पूर्वविप्रतिषेधश्च वक्तव्यः, अन्यथा मण्डनादन्यत्र सावकाशमिष्णुचं परत्वाद् बाधते।' (न्यास ३.२.१३६)

इस लेख से यह सुस्पष्ट झलकता है कि न्यासकार इसे वार्त्तिक समझ कर व्याख्यान नहीं कर रहे बल्कि अपनी ओर से एक सुझाव दे रहे हैं। यही कारण है कि वे इसका सूत्रपाठ में कही मूलनिर्देश नहीं करते अन्यथा वे किसी भी वार्त्तिक के मूलनिर्देश करने से कभी नहीं चूकते। किंच यदि यह वार्त्तिक होता तो हरदत्तमिश्र यहां पर कुछ टिप्पण करते क्योंकि भाष्यानुक्त बात पर वे कहीं भी टिप्पण किये बिना नहीं रहते, परन्तु उन्होंने भी यहां कुछ नहीं लिखा। इसके अतिरिक्त मूल काशिका के कई संस्करणों में फुटनोट भी दिया गया है—

१. 'इदं बहुषु पुस्तकेषु नोपलभ्यते' (वालशास्त्रिसंस्करण पृ० २०६)

२. 'इदं प्रायः क्वचिदेवोपलभ्यते वार्त्तिकम्' (अनन्तशास्त्रिसं० चौखम्बा पृ० १३६)

३. 'वाक्यमिदं नास्ति अ.ब.क.ड.फ.' (उस्मानियासं० पृ० २४१)

अतः मूलकाशिका में यह पाठ निस्सन्देह प्रक्षिप्त समझना चाहिये।

[४.८] **शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्** (३.२.१४१) सूत्र में स्पष्टतः 'अष्टाभ्यः' कहा गया है, अतः शमादि आठों धातुओं से ही घिनुण् प्रत्यय का विधान होता है। परन्तु अद्ययावत् मुद्रित काशिका के सब संस्करणों में सात धातुओं के ही उदाहरण

मिलते हैं, आठवीं धातु के उदाहरण का कहीं पता नहीं चलता।[1] यहां न्यासकार ने स्फुटतया आठ धातुओं का निर्देश किया है, इसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'क्षमू सहने'[2] का उदाहरण 'क्षमी' काशिका से प्रतिलिपिकरों के दोष से छूट गया है। अतः काशिका में इसे भी सम्मिलित कर लेना चाहिये। सम्भवतः काशिका की इस त्रुटि को दृष्टि में रखते हुए प्रक्रियासर्वस्वकार ने इन उदाहरणों को श्लोकबद्ध बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया होगा। वे कृत्खण्ड में इस सूत्र पर लिखते हैं—

'मान्ते नोदात्तोपदेशेत्यवृद्धित्वं शमी तमी।
दमी क्षमी श्रमी वृद्धौ मादी चापि भ्रमी क्लमी॥' (प्रक्रियास० पृ० ५७)

[४.९] वर्त्तमान मुद्रित काशिका में अष्टाध्यायी-सूत्र का यह पाठ पाया जाता है—

निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाश-परिक्षिप-परिरट-परिवादि-व्याभाषाऽसूयो वुञ्। (३.२.१४६)

आधुनिक वैयाकरण इस सूत्र में प्रयुक्त 'विनाश' को विपूर्वक णश अदर्शने धातु का णिजन्त रूप मानते हैं तथा कहते हैं कि भाविणिलोप का निर्देश कर इस में उच्चारणार्थक अकार जोड़ा गया है। तथाहि—

(क) 'णश अदर्शने, ण्यन्तः, भाविना णिलोपेन निर्देशः, अकारस्त्वागन्तुकः।' (पदमञ्जरी ३.२.१४६)

(ख) 'अत्र नश्यतेर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन निर्देशः, अकारस्तूच्चारणार्थः।' (शब्दकौस्तुभ ३.२.१४६)

---

१. किसी भी संस्करण में इस भूल के परिमार्जित न होने का यही कारण सम्भव हो सकता है कि काशिका में सात धातुओं के आठ उदाहरण दिये गये हैं ('मदी हर्षे' धातु के 'प्रमादी' और 'उन्मादी' दो उदाहरण हैं। दूसरा उदाहरण इष्णुच् के साथ वाऽसरूपविधि द्वारा घिनुण् विधान समझाने के लिये दिया गया है) अतः मान्य सम्पादकों ने इधर धातुओं की आठ संख्या और उधर आठ उदाहरणों का उल्लेख देख कर मन में सन्तोष कर लिया होगा कि उदाहरणों की संख्या पूरी है।

२. मुद्रित न्यास के दोनों संस्करणों में इस सूत्र तथा शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७.३.७४) सूत्र पर 'क्षमु सहने' ऐसा ह्रस्वघटित पाठ मिलता है जो नितान्त अशुद्ध है। 'क्षमू सहने' इस प्रकार दीर्घघटित पाठ ही होना चाहिये। न्यास के व्याख्याकार मैत्रेयरक्षित ने भी अपने धातुप्रदीप में इसे दीर्घघटित ही माना है (पृष्ठ ९८)। यह अशुद्धि लिपिकरजन्य प्रतीत होती है। भ्रमु आदि धातुओं के अन्त में ह्रस्व उकार को देख कर 'क्षमू' को भी 'क्षमु' लिखा जाता रहा है। बालमनोरमा (उ० पृष्ठ १९५) और तत्त्वबोधिनी (उ० पृष्ठ १९५) आदि में भी आज तक यही अशुद्धि चली आ रही है।

(ग) 'इह सूत्रे विनाशेति विपूर्वस्य नशेर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन निर्देशः। अकारस्त्वागन्तुकः।' (प्रौढम० पृष्ठ ७४३)

(घ) 'इह सूत्रे विनाशेति विपूर्वस्य नशेर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन निर्देशः। अकारस्त्वागन्तुकः।' (तत्त्व० उ० ४५०)

(ङ) 'विनाशेति विपूर्वनशेर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन निर्देशः। अकार उच्चारणार्थः।' (बृ० श० शे० पृ० २०७२)

(च) 'विनाशेति—विपूर्वस्य नशेर्ण्यन्तस्य भाविना णिलोपेन निर्देशः। शकारादकार उच्चारणार्थः।' (बालमनो० पृ० ४५०)

परन्तु यहां यह विचारणीय है कि ऐसा किस तरह हो सकता है? जबकि इसी सूत्र में 'परिवादि' भी दूसरा णिजन्त पढ़ा गया है। उस में भाविणिलोप आदि कुछ नहीं किया गया। एक णिजन्त के ग्रहण का निर्देश 'णिलोप+आगन्तुक अकार' द्वारा तथा दूसरे णिजन्त का निर्देश इस तरह की प्रक्रिया के विना—यह भेदभाव कैसा? इस का उत्तर किसी वैयाकरण ने अपने ग्रन्थ में नहीं दिया।[1] किन्तु यहां का न्यास देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर भी काशिका के सूत्रपाठ में 'परिवादि' की तरह 'विनाशि' पाठ ही था, न कि 'विनाश'। यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

'णश अदर्शने, विपूर्वः, हेतुमण्णिजन्तः।' (न्यास ३.२.१४६)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि न्यासकार की दृष्टि में यहां 'विनाशि' ही पाठ था। काशिकाकार भी यही पाठ मानते प्रतीत होते हैं तभी तो उन्हों ने सूत्रव्याख्या में आधुनिक वैयाकरणों की तरह कुछ नहीं लिखा। यदि वे 'विनाश' पाठ मानते तो वे भी इस की व्याख्या किये विना न रहते।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि किसी पाणिनीयेतर वैयाकरण ने यहां 'विनाश' पाठ नहीं माना, सब स्वस्वसूत्रपाठों में 'विनाशि' ही पढ़ते हैं। तथाहि—

जैनेन्द्रव्याकरण —निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि-व्याभाषाऽसूयो वुञ् (जैनेन्द्र० २.२.१२७)[2]

---

१. सम्भवतः यही कारण है कि 'विनाश' पाठ मानते हुए भी आधुनिक वैयाकरण 'विनाशि' को पाठान्तर स्वीकार करते हैं। तद्यथा—
'केचित्तु विनाशीति ण्यन्तमेव पठन्ति'। (पदमञ्जरी ३.२.१४६)
'केचित्तु विनाशीति ण्यन्तमेव पठन्ति'। (शब्दकौस्तुभ ३.२.१४६)
'केचित्तु विनाशीति ण्यन्तमेव पठन्ति'। (प्रौढम० पृ० ७४३)
'केचित्तु विनाशीति ण्यन्तमेव पठन्ति'। (तत्त्व० उ० पृ० ४५०)
'केचित्तु विनाशीति ण्यन्तमेव पठन्ति'। (बालमनो० उ० पृ० ४५०)
'केचित्तु विनाशीति ण्यन्तमेव पठन्ति'। (बृ० श० शे० पृ० २०७२)
'विनाशीत्येव पठन्ति केचित्'। (व्या० सि० सु० पृष्ठ १३८७)

२. जैनेन्द्र सूत्रपाठ में जो 'विनाश' पाठ छपा मिलता है वह आधुनिक पाणिनीयसूत्रपाठ की देखादेखि अशुद्ध छपा मानना चाहिये। महावृत्तिकार अभयनन्दी यहां

कातन्त्र० —निन्द-हिंस-क्लिश-खादानेकस्वर-विनाशि-व्याभाषाऽसूयां वुञ् (कातन्त्र कृद्वृत्ति सूत्र २७३)

शाकटायन० —निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि-व्याभाषाऽसूयात् (शाकटायन० ४.३.२५३)

सरस्वतीकण्ठाभरण —निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि-व्याभाषाऽसूय्यने-काज्भ्यो वुञ् (सरस्वती० १.४.२१७)

हैमशब्दानुशासन —निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि-व्याभाषाऽसूयाऽनेकस्व-रात् (हैम० ५.२.६८)

[४.१०] प्रे स्त्रोऽयज्ञे (३.३.३२) सूत्र पर लाज्रसप्रेस तथा चौखम्बा आदि द्वारा प्रकाशित काशिका में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'स्तृञ् आच्छादने। अस्माद्धातोर्विशब्द उपपदे घञ्प्रत्ययो भवति न चेद् यज्ञ-विषयः प्रयोगो भवति। शङ्खप्रस्तारः।'

इस स्थल की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'बर्हिष्प्रस्तर इति। इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्येति विसर्जनीयस्य षत्वम्।' (न्यास ३.३.३२)

मूल में कोई प्रत्युदाहरण नहीं दिया गया परन्तु न्यासकार प्रत्युदाहरण की व्याख्या कर रहे हैं। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां काशिका का पाठ भ्रष्ट है।[1] इस के अनुसार काशिका में—'अयज्ञ इति किम्? बर्हिष्प्रस्तरः' ऐसा पाठ होना चाहिये।

हरदत्तमिश्र भी यहां पर इसी प्रत्युदाहरण की व्याख्या करते हैं—

'बर्हिष्प्रस्तर इति। प्रस्तरः=मुष्टिविशेषः। बर्हिर्विकारः प्रस्तरो बर्हिष्प्रस्तरः, ऋदोरप् इत्यप्, इदुदुपधस्य चेति षत्वम्'। (पदमञ्जरी ३.३.३२)

इस से भी काशिका के पाठ की भ्रष्टता प्रमाणित होती है। सौभाग्य से यह प्रत्युदाहरण काशिका के प्राच्यसंस्करण में मूल में छाप दिया गया है। वहां पर सम्पादक ने टिप्पणी भी दी है—'प्रत्युदाहरणमिदं मुद्रितकाशिकायामनुपलब्धमपि न्यासपदमञ्जरी-सम्मतम्।' अब यह प्रत्युदाहरण काशिका के उस्मानियासंस्करण में भी छप चुका है। इस प्रकार काशिका के पाठ-संशोधन में न्यास का योगदान स्पष्ट है।

'विनाशि' पाठ ही मानते हैं—'विनाशेर्ण्यन्तस्य विनाशकः'। जैनेन्द्रशब्दार्णव-चन्द्रिका में भी यहां 'विनाशि' पाठ ही दिया हुआ है।

१. न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिभट्टाचार्य भी इस में सहमत हैं। वे अपने एक टिप्पण में लिखते हैं—

In the printed काशिका, there is some omission in this Rule, viz:—the प्रत्युदाहरण is not given. The wanting portion is अयज्ञ

[४.११] यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् (३.३.९०) सूत्र पर नङ्प्रत्यय के ङित्करण का प्रयोजन बताते हुए काशिका के सब संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'ङकारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः ।'

यहां पर नङ् का ङित्करण वृद्धिप्रतिषेध के लिये कैसे है ? यह बुद्धिगम्य नहीं। सब वैयाकरण 'विश्नः' में गुणनिषेध के लिये ही ङित्करण स्वीकार करते हैं, वृद्धि-प्रतिषेध का प्रसङ्ग ही नहीं।

परन्तु न्यास को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि काशिका का यहां का पाठ ही भ्रष्ट है। न्यासकार यहां पर लिखते हैं—

'ङकारो गुणप्रतिषेधार्थ इति । विच्छेर्लघूपधगुणो मा भूदित्यर्थः'।

(न्यास ३.३.९०)

इस से काशिका का शुद्ध पाठ 'ङकारो गुणप्रतिषेधार्थः' ही है— इस में कुछ सन्देह नहीं रहता।

हरदत्तमिश्र भी यहां न्यासोक्त पाठ का समर्थन करते हैं—

'नङो ङकारो विच्छेर्गुणप्रतिषेधार्थः ।' (पदमञ्जरी ३.३.९०)

काशिका और न्यास का प्रायः अनुकरण करने वाले जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी भी यही कहते हैं—

'नङो ङित्करणमेप्प्रतिषेधार्थम्'[१] । (जैनेन्द्रमहा० २.३.७२)

भट्टोजिदीक्षित भी सिद्धान्तकौमुदी में यही कहते हैं—

'ङित्त्वं तु विश्न इत्यत्र गुणनिषेधाय ।' (सि० कौ० उ० पृ० ५६०)

सौभाग्य से काशिका का यह भ्रष्ट पाठ उस्मानियासंस्करण में शुद्ध कर दिया गया है।

[४.१२] षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३.३.१०४) सूत्र पर भिदादिगण के अन्तर्गत 'सृजा' ऐसा पाठ काशिका के सब मुद्रित संस्करणों में पाया जाता है। परन्तु न्यास को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह पाठ नितान्त अशुद्ध है। न्यासकार ने इस गण के प्रत्येक शब्द के लिये पृथक्-पृथक् धातु गिनाया है, यहां पर उन्हों ने सृज् धातु का उल्लेख न कर 'मृजूष् शुद्धौ' धातु का ही उल्लेख किया है। इस से सिद्ध होता है कि काशिका में यहां 'सृजा' के स्थान पर 'मृजा' पाठ ही है। हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में यहां इसी धातु का ही निर्देश करते हैं। अतः वे भी यहां 'मृजा' पाठ को ही स्वीकार करते हैं। काशिका के कई हस्तलेखों में भी यहां 'मृजा' पाठ ही उपलब्ध होता है।[२]

इति किम् ? वर्हिष्प्रस्तरः । Both the न्यास and the पदमञ्जरी quote and comment on वर्हिष्प्रस्तरः । (न्यास, राजशाही सं० पृ० ६९२)

१. जैनेन्द्र० (१.१.१६) में पाणिनीय 'गुण' को 'एप्' कहते हैं।

२. The Kasika, belonging to the B. O. R. I. Poona, complete; pages 392; 18th century ; No. 234/1895-98.

क्षीरतरङ्गिणीकार क्षीरस्वामी,[१] माधवीय-धातुवृत्तिकार सायण,[२] प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्र,[३] सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित,[४] प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट,[५] व्याकरणमिताक्षराकार अन्नम्भट्ट,[६] व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार विश्वेश्वरसूरि,[७] धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित,[८] रूपावतारकार धर्मकीर्त्ति,[९] भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव[१०] आदि पाणिनीयवैयाकरणों में से कोई भी यहां 'सृजा' पाठ नहीं मानता। पाणिनीयेतर वैयाकरणों ने भी यहां 'मृजा' पाठ ही माना है 'सृजा' नहीं। यथा—

(क) चान्द्रव्याकरण १.३.८६ की स्वोपज्ञवृत्ति;
(ख) जैनेन्द्रव्याकरण २.३.८६ पर महावृत्ति;
(ग) शाकटायनव्याकरण ४.४.८४ पर अमोघावृत्ति;
(घ) सरस्वतीकण्ठाभरण २.४.१४१ पर हृदयहारिणी;
(ङ) गणरत्नमहोदधि पर श्लोक ४५२;
(च) हैमशब्दानुशासन ५.३.१०८ पर स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति;
(छ) संक्षिप्तसार कृदन्तपाद सूत्र ३६१ पर गोयीचन्द्रव्याख्या;
(ज) श्रीसिद्धप्रभाव्याकरण पृष्ठ १८०; आदि।

कोशग्रन्थों में भी कहीं 'सृजा' शब्द पढ़ा नहीं गया, 'मृजा' शब्द बहुत्र आता है।[११]

The Kasika belonging to the Orient Manuscript Library; Palm-leaf; pages 203; first six Adhyayas. No. 73/6613.

A copy of Kasika with variant readings noted by Liebich in his own handwriting supplied by Dr. S. M. Katre to the Osmania University Hyderabad.

(See Kasika part-I. Osmania University, page 273).

१. क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १८४।
२. माधवीयधातुवृत्ति, पृष्ठ ३७३।
३. प्रक्रियाकौमुदी, उत्तरार्ध पृष्ठ ६६९।
४. सिद्धान्तकौमुदी, उत्तरार्ध पृष्ठ ५६४।
५. प्रक्रियासर्वस्व, कृत्खण्ड पृष्ठ १०७।
६. व्याकरणमिताक्षरा, प्रथम भाग पृष्ठ २८२।
७. व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि, पृष्ठ १४२९।
८. धातुप्रदीप, पृष्ठ ८३।
९. रूपावतार, पृष्ठ २९५।
१०. भाषावृत्ति, पृष्ठ १७७।
११. 'स्यान्मार्ष्टिर्मार्जना मृजा' (अमरकोष काण्ड २, श्लोक १२१), 'मार्ष्टिः स्याद् मार्जना मृजा' (अभिधानचिन्तामणि ३.३००), 'स्त्रियां मृजा स्यात्' (कल्पद्रुकोष पृष्ठ ६०, श्लोक ३६५)।

साहित्य में भी 'सृजा' का प्रयोग कहीं पाया नहीं जाता, 'मृजा' बहुप्रयुक्त है।[1]

[४.१३] लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३.३.१३९) सूत्र पर काशिका के प्राच्य-संस्करण में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'दक्षिणेन चेदायास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्। यदि कमलकम्[2] आह्वास्यद् दक्षिणेन मार्गेण न शकटं पर्याभविष्यत्।' (काशिका प्राच्य० ३.३.१३९)

यहां दूसरे उदाहरण में 'दक्षिणेन मार्गेण' पाठ अक्षरयोजकों के प्रमाद से अधिक छप गया है। इस उदाहरण को कम्पोज़ करते समय उन का ध्यान प्रथम उदाहरण में चला गया प्रतीत होता है। न्यास और पदमञ्जरी की व्याख्याओं में इस का कहीं उल्लेख नहीं। किंच काशिका के किसी अन्य मुद्रित व अमुद्रित संस्करण में भी ऐसा पाठ नहीं पाया जाता। अतः यहां का शुद्ध पाठ—'यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्' इस प्रकार समझना चाहिये।

इसी प्रकार इस सूत्र के तृतीय उदाहरण में सर्वसंस्करणों में मुद्रित 'अभोक्ष्यत भावन् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत्' इस पाठ में भी 'आगमिष्यत्' के स्थान पर 'पर्यासिष्यत' पाठ न्याससम्मत है।[3]

[४.१४] ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः (३.४.८४) सूत्र का अर्थ करते समय यह सन्देह उत्पन्न होता है कि सूत्रकार ने तो केवल ब्रू से परे लडादेश आद्य पांच परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर णलादि करने को कहा है परन्तु णलादियों के साथ 'पञ्च' और 'आदि' विशेषण नहीं लगाया, तो क्या तिबादि पांच के स्थान पर सब णलादि प्रत्यय होंगे या केवल पांच ही? और यदि पांच ही होने हैं तो कौन से पांच? पहले के, पीछे के, या कोई से पांच? इस स्वाभाविक एवं महत्त्वपूर्ण शङ्का का समाधान इदानींयावत् मुद्रित काशिका के किसी संस्करण में भी नहीं मिलता। परन्तु न्यास को देखने से प्रतीत होता है कि काशिकाकार ने यहां पर इस शङ्का के समाधान के लिये 'स्थानिसम्बन्धादादेशेष्वपि पञ्चत्वमादित्वं च विज्ञायते' यह पंक्ति लिखी थी। न्यासकार का वह व्याख्यान इस प्रकार है—

'ननु च नेह द्वितीयं पञ्चग्रहणम्, नाप्यादिग्रहणमादेशविशेषणम्, तत्र पञ्चानामाद्यानां स्थाने सर्वैरेव णलादिभिः पर्यायेण भवितव्यम्, तत्कथं पञ्चैव णलादय आदेशा भवन्तीत्येषोऽर्थो लभ्यते? इत्यत आह—स्थानिसम्बन्धादित्यादि। इह हि स्थानिनः

१. 'परया मृजया हीनां कृष्णपक्षे निशामिव'—(रामायण सुन्दर० १९.१६); 'मृजान्वया स्नेहमिव स्रवन्तीः'—(भट्टि० २.१३); 'अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः। धातूनां पुष्टिजननो मृजा-वर्ण-बलप्रदः।' (सुश्रुतचिकित्सित० २४)

२. कमलकः कश्चित्पुरुष इति पदमञ्जरी।

३. पर्यासिष्यतेति। आस उपवेशने। अनुदात्तेत्। (न्यास ३.३.१३९)

पञ्चैवाद्या निर्दिष्टाः, तेषां च स्थानेऽन्तरतमः इति परिभाषया पञ्चभिरेवाद्यैः सम्बन्धः सम्भवति, नेतरैश्च। तथाहि—पञ्चानामेवाद्यानाम् आन्तरतम्यमस्ति तुल्यार्थत्वात्। नाऽन्येषां विपर्ययात्। तस्मात् स्थानिसम्बन्धादादेशेष्वपि पञ्चत्वम् आदित्वं च विज्ञायत इति युक्तं पञ्चैव णलादय आदेशा भवन्तीति।' (न्यास ३.४.८४)

केवल न्यास में ही नहीं, अपितु हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी में भी इस पंक्ति की व्याख्या उपलब्ध होती है। तथाहि—

'आदेशा अपि पञ्चैव, तत्राप्यादितो णलादयः पञ्च, न पुनरिच्छातः पञ्चेत्यर्थः। कथं पुनर्द्वितीयं पञ्चग्रहणमादिग्रहणं चान्तरेण आदेशेष्वयं विशेषो लभ्यते, ननु सर्वैरेव णलादिभिः पञ्चानां स्थाने युक्तम्भवितुम्? उच्यते, पूर्वसूत्रे तावद्यथासंख्यं प्रवर्त्तते, ततश्च तत्रैव निर्ज्ञातः स्थानिविशेषेण णलादीनां सम्बन्धः, त एवेहानुवर्त्तन्त इत्यत्रापि तथैव भविष्यति, ततश्च स्थानिसम्बन्धादिति पूर्वसूत्रे स्थानिविशेषेण सम्बन्धस्य निर्ज्ञातत्वादित्यर्थः।' (पदमञ्जरी ३.४.८४)

प्रक्रियाकौमुदी पर विट्ठलाचार्यनिर्मित प्रसादटीका में भी यह पंक्ति पाई जाती है[1]। विट्ठल प्रायः काशिका के वचन ही अपनी टीका में उद्धृत करते हैं, इस से अनुमान होता है कि यह पंक्ति उन्हों ने काशिका से ही ली होगी।

इस के अतिरिक्त काशिका के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में भी यह पंक्ति अविकल उपलब्ध होती है। (देखें काशिका का उस्मानियासंस्करण पृष्ठ ३११, टिप्पण ३)।

[४.१५] गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे (५.२.१८) सूत्र पर काशिका के मुद्रित संस्करणों में निम्नस्थ पाठ पाया जाता है—

'गोष्ठशब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकात् स्वार्थे खः प्रत्ययो भवति। गोष्ठो भूतपूर्वः—गौष्ठीनो देशः।' (काशिका ५.२.१८)

सूत्र में 'खञ्' प्रत्यय कहा गया है परन्तु यहां काशिकोक्त अर्थ में 'ख' प्रत्यय बताया गया है। लिपिकर-प्रमाद से विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। यदि 'खञ्' के स्थान पर 'ख' प्रत्यय का विधान करेंगे तो आदिवृद्धि सम्भव न हो सकेगी अतः काशिका में 'ख' के स्थान पर 'खञ्' पाठ ही उचित है। न्यासकार तो यहां स्पष्टतः कह ही रहे हैं—

'भूतपूर्वे चरट् इति प्राप्ते खञ् विधीयते।' (न्यास ५.२.१८)

अतः यह पाठ तुरन्त शोधनार्ह है। हर्ष का विषय है कि अब यह पाठ उस्मानियासंस्करण में शुद्ध कर दिया गया है।

[४.१६] तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६.१.७) सूत्र पर मुद्रितकाशिका के सब संस्करणों में उपान्त्य उदाहरण 'दाधार' दिया गया मिलता है जो अपपाठ है, क्योंकि इस

१. 'स्थानिषु लडादेशेषु तिबादिषु पञ्चानामादित इति सम्बन्धादादेशेष्वपि णलादिषु पञ्चत्वमादित्वं च स्यादित्यभिप्रेत्याह—णलादिपञ्चादेशा इति।' (प्रसाद, उ० पृ० २२३)

का उल्लेख तो पूर्वप्रदत्त 'अनड्वान् दाधार' (अथर्व० ४.११.१) उदाहरण में ही हो चुका है। न्यास को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां 'दाधान' यह कानच्प्रत्ययान्त उदाहरण होना चाहिये। किंच उदाहरणों का वर्तमान क्रम भी न्यासानुकूल नहीं। 'दाधान' उदाहरण को कानच्प्रत्ययान्तों के साथ रखने के लिये तीसरे स्थान पर ही पढ़ना चाहिये। 'अनड्वान् दाधार' आदि तीन वाक्य उद्धृत किये गये हैं—इन के बीच में 'दाधान' का पाठ युक्त भी नहीं है। हरदत्त ने इन उदाहरणों की पदमञ्जरी में व्याख्या नहीं की।

[४.१७] काशिका के मुद्रित संस्करणों में धात्वादेः षः सः (६.१.६४) सूत्र पर निम्नस्थ पाठ मिलता है—

'धातुग्रहणं किम् ? षोडश। षडिकः। षण्डः।'

न्यासकार इस की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"षोडश इति। षट् वा दश वास्येति 'संख्ययाव्यय०' इत्यादिना बहुव्रीहिः। 'संख्येये डज्' इत्यादिना समासान्तो डच्। षोडन्निति। षट् दन्ता अस्येति बहुव्रीहिः, 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दन्तशब्दस्य दत्रादेशः। 'षष उत्त्वं दतृ-दशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' इति षष उत्त्वम्, उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्—डकारः।" (न्यास ६.१.६४)

बड़े आश्चर्य की बात है कि न्यासकार जिस 'षोडन्' रूप की प्रक्रिया दर्शा रहे हैं मुद्रित काशिका में उस का नाम तक नहीं है। यही स्थिति पदमञ्जरी की है। पदमञ्जरीकार भी यहां इसी रूप की साधनप्रक्रिया निरूपण करते हुए लिखते हैं—

"षोडन्निति षड् दन्ता यस्येति बहुव्रीहौ 'वयसि दन्तस्य दतृ' 'षष उत्त्वं दतृ-दशधासु' इति षष उत्त्वम् उत्तरपदादेष्टुत्वं च। 'उगिदचाम्' इति नुम्, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ। क्वचित्तु षोड इति पठ्यते, तत्तु षोडन्तमाचष्ट इति णिचि कृते टिलोपे पचाद्यचि रूपम्।" (पदमञ्जरी ६.१.६४)

इस से यही सिद्ध होता है कि यहां काशिका में 'षोडन्' उदाहरण भी दिया गया था जो लिपिकरप्रमाद से छूट गया है। प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने यहां इतना भी ध्यान नहीं दिया कि दोनों टीकाएं (न्यास और पदमञ्जरी) जिस रूप की व्याख्या कर रही हैं वह मूल में है भी या नहीं ?

सौभाग्य से यह पाठ अब उस्मानियासंस्करण में शुद्ध कर दिया गया है।

[४.१८] णो नः (६.१.६५) सूत्र पर काशिका के मुद्रित संस्करणों में विभिन्न पाठ पाये जाते हैं। तद्यथा—

बालशास्त्रिसंस्करण। —'सर्वे णादयो णोपदेशाः। नृनन्दिनर्दिनक्कनाटिनाथृनाधृवर्जम्।'

चौखम्बासंस्करण —'सर्वे णादयो णोपदेशाः। नृनन्दिनर्दिनक्कनाटिनाथृनाधृवर्जम्।'

प्राच्यसंस्करण —'सर्वे णादयो णोपदेशाः। नृतीनन्दिर्नदिनक्कनाटि-नाथृनाधृवर्जम्।'

उस्मानियासंस्करण —'सर्वे णादयो णोपदेशाः। नृती-नन्दि-र्नदि-नक्क-नाटि-नाथृ-नाधृवर्जम्।'

ये सब पाठ भ्रष्ट हैं। सर्वत्र 'नादयो णोपदेशाः' पाठ चाहिये। इस के अतिरिक्त धातुओं का जो क्रम न्यास में दिया गया है[1] तदनुसार काशिका का यह पाठ होना चाहिये—

'सर्वे नादयो णोपदेशाः, नृति-नन्दि-नक्क-नर्दि-नाटि-नाथृ-नाधृ-नॄवर्जम्।'

यह पाठ महाभाष्यसम्मत भी है।[2]

ध्यान रहे कि **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (८.४.१४) सूत्र पर न्यास का पाठ भ्रष्ट है, देखें (५.६०)।

[४.१६] **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (६.२.१) तथा **चतुर्थी तदर्थे** (६.२.४३) सूत्र पर काशिका में निम्नस्थ पाठ मुद्रित है—

'यूपशब्द उणादिषु 'कुसुयुभ्यश्च' इति पप्रत्ययान्तः। तत्र च दीर्घं इति निद् इति च वर्त्तते, तेनाद्युदात्तः।' (काशिका ६.२.१)

काशिकाकार ने यहां जिस 'कुसुयुभ्यश्च' सूत्र का उल्लेख किया है वह केवल दशपादी उणादिवृत्ति (७.५) में ही मिलता है, परन्तु वहां पर इस सूत्र से पूर्व कहीं पर भी 'नित्' का प्रतिपादन नहीं है, अतः काशिका का पाठ यहां असंगत होने से भ्रष्ट प्रतीत होता है।

हरदत्तमिश्र अपनी पदमञ्जरी में यहां कुछ नहीं लिखते, परन्तु न्यासकार यहां पर एक महत्वपूर्ण टिप्पण करते हुए लिखते हैं—

"कुयुभ्यामित्यादि। 'पा-नी-विषिभ्यः पः' इत्यतः 'पः' इत्यनुवर्त्तमाने 'कुयुभ्यां च' इति यूपशब्दः पप्रत्ययान्तो व्युत्पाद्यते। तत्र 'सुशृभ्यां निच्च' इत्यतो निदिति वर्त्तते। तेनाद्युदात्तो भवति।" (न्यास ६.२.४३)

न्यास के इस ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर काशिका में उद्धृत उणादि-

---

१. न्यास में क्रम—
नृती गात्रविक्षेपे; टुनदि समृद्धौ; नर्द गर्द शब्दे; नक्क वक्क नाशने; नट अवस्यन्दने; चुरादिणिजन्तः; नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु; नॄ नये। (न्यास ६.१.६५)

२ 'के पुनर्णोपदेशा धातवः पठितव्याः। कोऽत्र भवतः पुरुषकारः। यद्यन्तरेण पाठं किञ्चिच्छक्यते वक्तुं तदुच्यताम्। अन्तरेणापि पाठं किञ्चिच्छक्यते वक्तुम्। कथम्। सर्वे नादयो णोपदेशा नृति-नन्दि-नर्दि-नक्कि-नाटि-नाथृ-नाधृ-नॄवर्जम्।' (महाभाष्य ६.१.६५)

सूत्र का पाठ 'कुसुयुभ्यश्च' न होकर 'कुयुभ्यां च' है। यह पाठ पञ्चपादी उणादिवृत्ति में अद्ययावत् उपलब्ध है। वहां पर न्यासोक्तप्रकारेण 'नित्' का अनुवर्त्तन भी सुतरां सुलभ है।

पञ्चपादी की व्याख्या करते हुए उज्ज्वलदत्त का यहां पर एक साक्ष्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं—

'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् इत्यत्र वृत्तौ निद्ग्रहणं दीर्घग्रहणं चानुवर्त्यं यूपशब्दो व्युत्पादितः।' (उणादिपञ्चपादी ३.१७, पृ० १०८)

इस से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर काशिकाकार ने 'कुयुभ्यां च' पाठ ही उद्धृत किया था न कि 'कुसुयुभ्यश्च'।

सिद्धान्तकौमुदी के **चतुर्थी तदर्थे** (६.२.४३) सूत्र पर 'यूपदारु' उदाहरण की व्याख्या करते हुए नागेशभट्ट भी लघुशब्देन्दुशेखर मे इसी पाठ को उद्धृत करते हैं—

'यूप आद्युदात्तः। कुयुभ्यां चेत्यत्र निदित्यनुवृत्तेः।'

सुबोधिनीटीका में जयकृष्णमौनी भी यही कहते हैं—

"निदिति दीर्घश्चेत्यनुवर्त्तमाने 'कुयुभ्यां च' इति पः। नित्त्वादाद्युदात्तो यूपशब्दः।" (सुबोधिनी पृ० ६६७)

स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका में श्रीनिवासयज्वा भी इसी मत के समर्थक हैं—

"यूपशब्द आद्युदात्तः। 'कुयुभ्याम्' इत्यत्र 'नित्' इत्यनुवृत्तेः।' (पृष्ठ २२४)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में विट्ठल ने भी यही कहा है—

'यूपशब्द आद्युदात्तः। 'कुयुभ्यां च' इति पप्रत्ययान्तः। तत्र निदित्यनुवर्त्तते।' (प्रसाद, उ०, पृ० ७६६)

प्रौढमनोरमा में भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

'यूपशब्द आद्युदात्तः। कुयुभ्यां चेत्यत्र निदित्यनुवृत्तेः।' (प्रौढम० पृ० ७८४)

खेद है कि काशिका के Critical उस्मानियासंस्करण में भी यही अशुद्ध पाठ मुद्रित हुआ है, सम्पादकमण्डल ने इस ओर उचित ध्यान नहीं दिया।

[४.२०] कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूत० (६.२.४२) सूत्र पर काशिका के मुद्रितसंस्करणों में 'चन्द्रमस्' शब्द का प्रकृति-प्रत्यय दर्शाते हुए 'चन्द्रे मोऽसिः' इत्यसिप्रत्ययान्तोऽयम् ऐसा पढ़ा गया है। यह उणादिसूत्र न तो पञ्चपादी में उपलब्ध है और न ही दशपादी में। परन्तु न्यास को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काशिका में यहां 'चन्द्रे माङो डित्' पाठ है। जैसाकि न्यास में कहा गया है—

"चन्द्रे माङो डित् इत्यसिप्रत्ययान्तोऽयम्। 'मिथुनेऽसिः पूर्ववच्च सर्वम्' इत्यतोऽसिप्रत्ययस्यानुवृत्तेः।" (न्यास ६.२.४२)

अद्यत्वे पञ्चपादी और दशपादी दोनों उणादिकोषों में 'चन्द्रे मो डित्' (पञ्चपादी ४.२३३; दशपादी ६.८८) सूत्र उपलब्ध होता है। हरदत्तमिश्र ने यहां

पर 'चन्द्रे माङो डिच्च' इस प्रकार पाठ माना हैं ।[1] उस्मानियासंस्करण में विना किसी फुटनोट व टिप्पण के मुद्रितपाठ को पलट कर वर्त्तमान उणादिसूत्रानुकूल पाठ कर दिया गया है जो सम्पादकमण्डल की अनधिकार चेष्टा कही जा सकती है ।

[४.२१] ग्रन्थान्ताधिके च (६.३.७९) सूत्र पर काशिका के अद्ययावत् मुद्रित संस्करणों में यह पाठ उपलब्ध होता है—

'ग्रन्थान्ते, अधिके च वर्त्तमानस्य सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति । सकलं ज्यौतिषमधीते। समुहूर्त्तम् । ससङ्ग्रहं व्याकरणमधीयते । कलान्तं मुहूर्त्तान्तं सङ्ग्रहान्तमिति अन्तवचने इत्यव्ययीभावसमासः । तत्र '**अव्ययीभावे चाऽकाले**' इति कालवाचिन्युत्तरपदे सभावो[2] न प्राप्नोतीत्ययमारम्भः ।'

इस पाठ में 'ससङ्ग्रहं व्याकरणमधीयते' उदाहरण आपत्तिजनक है। क्योंकि काशिकाकार स्वयं कह रहे हैं कि 'कालवाचिन्युत्तरपदे सभावो न प्राप्नोतीत्ययमारम्भः' । इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि कालवाची उत्तरपद के परे होने पर ही यहां उदाहरण दिये जाने चाहियें । 'ससंग्रहं व्याकरणमधीयते' उदाहरण में संग्रहशब्द कालवाची नहीं अतः यहां उदाहर्त्तव्य नहीं । इस में सभाव तो **अव्ययीभावे चाऽकाले** (६.३.८१) से ही सिद्ध है । इसी आशय को लेकर न्यासकार लिखते हैं—

'ससंग्रहमित्येतदुदाहरणं प्रमादाद् इदानीन्तनैः कुलेखकैर्लिखितम् । तत्र हि **अव्ययीभावे चाऽकाले** (६.३.८१) इत्येव सिद्धः सभावः ।' (न्यास ६.३.७९)

इस का अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र भी लिखते हैं—

'एतत्तु प्रमादाल्लिखितम् । अत्र हि **अव्ययीभावे चाऽकाले** इति वक्ष्यमाणेनैव सिद्धः सभावः ।' (पदमञ्जरी ६.३.७९)

न्यास और पदमञ्जरी में इतना स्पष्ट लिखा होने पर भी काशिका के उस्मानियासंस्करण में इस उदाहरण पर कुछ भी टिप्पण नहीं दी गई । टिप्पण देना तो एक तरफ़ उल्टा शुद्ध पाठ को भी भ्रष्ट कर दिया गया है ।

[४.२२] वर्त्तमान मुद्रित काशिका के सब संस्करणों में **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (६.४.३७) सूत्र का अर्थ इस प्रकार पाया जाता है—

'अनुदात्तोपदेशानामङ्गानां वनतेस्तनोत्यादीनां चाऽनुनासिकलोपो भवति झलादौ क्ङिति प्रत्यये परतः ।'

---

१. "चन्द्रे माङो डिच्च इति, 'मिथुनेऽसिः पूर्ववच्च सर्वम्' इत्यसिप्रत्ययः प्रकृतः"— (पदमञ्जरी ६.२.४२)

२. उस्मानियासंस्करण में 'सभावो' इस शुद्ध पाठ को सम्भवतः अशुद्ध समझ कर किसी व्याकरणशास्त्रानभिज्ञ शोधक ने 'समासो' कर दिया है।



परन्तु सूत्र का इस प्रकार अर्थ करने से 'मुक्तः' आदि में भी मकार का अनिष्ट लोप प्रसक्त होता है क्योंकि मुच् धातु भी अनुदात्तोपदेश है और इस से परे झलादि कित् क्त प्रत्यय भी विद्यमान है।[1] अतः इस दोष से बचने के लिये न्यासकार ने सूत्रगत 'अनुनासिक' पद को लुप्तषठ्यन्त पृथक् पद मानकर तदन्तविधि द्वारा 'अनुनासिकान्तानामनुदात्तोपदेशानाम्' अर्थ किया है। अब इस से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता क्योंकि मुच् धातु अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश नहीं। न्यासकार का वह कथन इस प्रकार है—

'अनुनासिक इति षष्ठ्या बहुवचनस्य लुकं कृत्वाऽविभक्तिकोऽयं निर्देशः। अत एवाह—अनुनासिकान्तानामिति।'

न्यासकार के इस लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काशिका का उपर्युक्त अर्थनिर्देशक पाठ भ्रष्ट है। काशिकाकार ने यहां पर अर्थनिर्देश करते हुए 'अनुदात्तोपदेशानाम्' के आगे 'अनुनासिकान्तानाम्' पद भी लिखा था जो अब भ्रष्ट हो गया है। अत एव हरदत्तमिश्र भी न्यासकार की तरह इस की पुष्टि करते हैं—

'अनुनासिकेति पृथक्पदं लुप्तषष्ठीकमनुदात्तोपदेशानां विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः।' (पदमञ्जरी ६.४.३७)

काशिकाकार के 'अनुदात्तोपदेशा अनुनासिकान्ता यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयः' इस अग्रिम स्वकीय लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उन के द्वारा निर्दिष्ट अर्थ में 'अनुनासिकान्तानाम्' पद का भी संनिवेश था।

इस प्रकार न्यास की सहायता से काशिकामुद्रित इस भ्रष्ट अर्थ को शुद्ध कर लेना चाहिये।[2]

[४.२३] आडजादीनाम् (६.४.७२) सूत्र पर काशिका के सब मुद्रित संस्करणों में यह पाठ पाया जाता है—

"इह ऐज्यत, औप्यत, औह्यतेति लङि कृते लावस्थायाम् अडागमाद् अन्तरङ्गत्वाल्लादेशः क्रियते, तत्र कृते विकरणो नित्यत्वाद् अडागमं बाधते। शब्दान्तरप्राप्तेरडागमस्यानित्यत्वम्, कृते हि विकरणान्तस्याङ्गस्य तेन भवितव्यम्, अकृते तु धातुमात्रस्य शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति। ननु शब्दान्तरादिति विकरणोऽनित्यः? विकरणे कृते सम्प्रसारणम् अडागमान्नित्यत्वादेव भवति, सम्प्रसारणे च कृतेऽजाद्यङ्गं जातमिति आडजादीनाम् इत्याडागमः।"

१. यद्यत्र 'एतेषामनुनासिकस्य लोपः' इति व्याख्यायेत, तदा मन्यतेर्नम्-नह्-मिह्-मुच् मस्जादीनां चाऽनन्त्यस्यापि लोपः स्यात्, तथा च 'मतः, नतः, नद्धः, मीढः, मुक्तः, मग्नः' इत्यादि न सिध्येत्। (तत्त्व० इसी सूत्र पर)

२. भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में इसी शुद्ध अर्थ का अनुसरण किया है—
'अनुनासिकेति लुप्तषष्ठीकं वनतीतरेषां विशेषणम्। अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ क्ङिति परे'—सि० कौ०।

काशिकाकार का अभिप्राय यह है कि कर्मवाच्य में यज्, वप् और वह् धातुओं से लङ् लाने पर लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६.४.७१) द्वारा अट् आगम तथा तिप्तस्झि० (३.४.७८) द्वारा लकार के स्थान पर त आदि आदेश युगपत् प्राप्त होने पर अन्तरङ्ग होने के कारण प्रथम त आदि आदेश हो जाते हैं—यज्+त, वप्+त, वह्+त। अब अडागम और यक् विकरण युगपत् प्राप्त होते हैं। विकरण नित्य तथा अडागम अनित्य है अतः नित्य विकरण अनित्य अडागम का बाध कर लेता है। अडागम की अनित्यता 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' इस परिभाषा द्वारा सिद्ध होती है। तथाहि यदि यक्-विकरण प्रथम कर लिया जाये तो अट् का आगम अङ्ग को विहित होने से विकरणविशिष्ट का अवयव होगा और यदि यक्-विकरण पहले न किया जाये तो अडागम केवल धातुमात्र का अवयव बनेगा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थिति में भिन्न-भिन्न शब्दों का अवयव होने से अडागम अनित्य है। यद्यपि यक्-विकरण के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि यदि अडागम कर लिया जाये तो विकरण अड्विशिष्ट धातु से और यदि अडागम न किया जाये तो वह अड्रहित धातु से होगा, इस प्रकार विकरण भी भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न शब्दों से परे प्राप्त होता है—तथापि परिभाषा में 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्' का उल्लेख है न कि 'शब्दान्तरात् प्राप्नुवन्' का, अतः अडागम अनित्य रहेगा विकरण नहीं। इस प्रकार विकरण के प्रथम कर दिये जाने पर —'यज्+य+त, वप्+य+त, वह्+य+त' हुआ। अब इस स्थिति में अडागम तथा वचिस्वपियजादीनां किति (६.१.१५) से सम्प्रसारण युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु अट् का आगम अनित्य तथा सम्प्रसारण नित्य होने से प्रथम सम्प्रसारण हो जायेगा[1]—इज्य+त, उप्य+त, उह्य+त। अब अङ्ग के अजादि हो जाने से अट् का आगम न होकर आडजादीनाम् (६.४.७२) से आट् का आगम होकर—'ऐज्यत, औप्यत, औह्यत' रूप सिद्ध होंगे।

परन्तु काशिका के उपर्युक्त पाठ में 'ननु शब्दान्तरादिति विकरणोऽनित्यः' यह पाठ किसी भी प्रकार अन्वित तथा सुसंगत नहीं बैठता। यदि इसे पूर्वपक्षी की शङ्का या प्रश्न मानें जैसाकि काशिका के सब सम्पादकों ने प्रश्नवाचक चिह्न लगा कर मान रखा है तो यहां यह विचारणीय होगा कि काशिकाकार द्वारा पुनः इस शङ्का का समाधान कहां उपस्थित किया गया है? क्या काशिकाकार पूर्वपक्षी की शङ्का का उत्थानमात्र दिखा कर उस का उत्तर दिये विना ही 'विकरणे कृते सम्प्रसारणम्—' कहते हुए आगे चल सकते हैं? नहीं, पुरातन विवरणकारों की ऐसी शैली नहीं। किंच, इस वाक्य से पूर्व 'शब्दान्तरप्राप्तेरडागमस्य अनित्यत्वम्, कृते हि विकरणान्तस्याङ्गस्य तेन

१. यदि अट् का आगम हो या न हो सम्प्रसारण तो होगा ही, परन्तु यदि सम्प्रसारण हो जाये तो अङ्ग के अजादि हो जाने से अट् का आगम प्राप्त ही न होगा आट् उस का बाध कर लेगा अतः कृताकृतप्रसङ्गी होने से सम्प्रसारण नित्य तथा अडागम अनित्य ठहरता है।

भवितव्यम्, अकृते तु धातुमात्रस्य' यहां तक बात पूरी हो जाती है पुनः इस में 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' इस परिभाषावचन की घुसपैठ असंगत तथा अनन्वित लगती है। इस से इस पाठ की भ्रष्टता सुस्पष्ट हो जाती है।

न्यासकार इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"शब्दान्तरप्राप्तेरित्यादि। कथम्पुनः शब्दान्तरप्राप्तिः? इत्यत आह—कृते हीत्यादि। अङ्गस्याडागमो विधीयते, कृते तु विकरणे तदादिग्रहणस्य स्यादिनुमर्थत्वाद् विकरणान्तमङ्गम्भवति[1] अकृते तु धातुमात्रम्। अन्यच्च विकरणान्तादङ्गाद् धातुमात्रमङ्गम्, अतोऽन्यस्य कृते प्राप्नोति, अकृते तु अन्यस्येति स्फुटैव शब्दान्तरप्राप्तिः, तत्रैतत् स्यात्। विकरणस्यापि शब्दान्तरप्राप्तेरेवानित्यत्वम्, तथाहि—तेनापि कृते सत्यडागमे तदादेर्धातोर्भवितव्यम्, अकृते धातुमात्रादित्यत आह—शब्दान्तरस्य चेत्यादि। यद्यप्यटः कृताऽकृतयोरेवाऽवस्थयोर्विकरणः शब्दान्तरात् प्राप्नोति, तथापि न तस्याऽनित्यत्वमुपपद्यते, यस्मात् 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति' इत्येषा हि शास्त्रव्यवस्था, न तु 'शब्दान्तरात् प्राप्नुवन् विधिरनित्य' इत्येषा। न च विकरणः कस्यचिच्छब्दस्य आगम आदेशो वा विधीयते, यतः शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः स्यात्। तथाहि—सार्वधातुके परे धातोः परः प्रत्ययो विधीयते, न तु तस्यागम आदेशो वेति कुतो विकरणस्याऽनित्यत्वम्।" (न्यास ६.४.७२)

इस व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि काशिकाकार ने तो यहां कोई शङ्का या प्रश्न ही नहीं उठाया। उन्हों ने तो केवल 'शब्दान्तरप्राप्तेरडागमस्याऽनित्यत्वम्' इस स्ववचन को 'कृते हि विकरणान्तस्याङ्गस्य तेन भवितव्यम्, अकृते तु धातुमात्रस्य' इस तरह स्पष्ट करने के बाद दूसरी ओर अडागम के साथ इस की तुलना करते हुए कहा है कि—'शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति न तु शब्दान्तरादिति विकरणो नित्यः।' उन का अभिप्राय यह है कि विधि की अनित्यता में 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्' हेतु दिया गया है न कि 'शब्दान्तरात् प्राप्नुवन्' अतः विकरण नित्य है अडागम नहीं। किसी अनक्षर लेखक ने काशिका के 'न तु' पाठ के स्थान पर 'ननु' लिख दिया। परन्तु उस की चेष्टा पर इतना आश्चर्य नहीं, जितना उन आधुनिक सम्पादकों पर है जिन्हों ने 'ननु' को शङ्कारम्भ में प्रयुक्त मान कर वाक्य के अन्त में प्रश्नचिह्न (?) लगा दिया तथा इसे पूर्वपक्षी की शङ्का समझते हुए 'विकरणो नित्यः' में पूर्वरूपद्योतक अवग्रहचिह्न लगा कर 'विकरणोऽनित्यः' बना डाला। इस प्रकार काशिका का यह अशुद्ध पाठ गत एक शताब्दी से भी अधिक काल से चला आ रहा है जो अध्येता तथा अध्यापक दोनों के लिये व्यामोहक रहा है।

हरदत्तमिश्र को भी न्याससम्मत ही अभिमत है। तभी तो उन का यह कथन संगत होता है—

'अत आह—शब्दान्तरस्येति। षष्ठीनिर्दिष्टस्य यद्विधीयत आगम आदेशो वा तत्रैषा परिभाषा न पञ्चमीनिर्देश इत्यर्थः।' (पदमञ्जरी ६.४.७२)

---

१. यहां पर न्यास का पाठ भ्रष्ट मुद्रित हुआ है। इस के लिये देखें (५.५१)।

सौभाग्य से उपर्युक्त पाठ की शुद्धता को प्रमाणित करने वाला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वाह्य साक्ष्य भी उपलब्ध हुआ है। व्याकरणदीपिका में ओरम्भट्ट काशिका के इस पाठ को इसी सूत्र पर नामनिर्देश के विना उद्धृत करते हैं। इस से उपर्युक्त-प्रकारेण पाठ की शुद्धता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। वे लिखते हैं—

"लङि कृते लावस्थायामेव अडागमादन्तरङ्गत्वाल्लादेशः। तत्र कृते विकरणो नित्यत्वादडागमं वाधते। शब्दान्तरप्राप्तेरडागमस्याऽनित्यत्वम्। कृते हि विकरणे विकरणान्तस्याङ्गस्य तेन भवितव्यम्, अकृते तु धातुमात्रस्य। शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति न तु शब्दान्तरादिति विकरणो नाऽनित्यः। विकरणे कृते सम्प्रसारणम् अडागमान्नित्यत्वादेव भवति। सम्प्रसारणे कृते त्वजाद्यङ्गं भवतीत्याडजादीनामित्याडागमः।" (व्या० दी० ६.४.७२)

[४.२४] यः सौ (७.२.११०) सूत्र पर काशिका के अद्ययावत् मुद्रित सब संस्करणों में यह पाठ बराबर मुद्रित होता चला आ रहा है—

'इदमो मकारस्य यकारादेशो भवति सौ परतः। इयम्।'

समझ में नहीं आता कि पिछले सूत्र में दश्च (७.२.१०९) इस प्रकार स्पष्ट निर्देश होने के वावजूद भी यहां मकार के स्थान पर किस तरह यकार का विधान किया गया है? क्या इस तरह कभी 'इयम्' रूप बन सकेगा? पिछले सूत्र में काशिका तथा न्यास में स्पष्ट 'दकार के स्थान पर' आदेश का प्रकरण चलाया गया है अतः यहां पर भी 'मकारस्य' के स्थान पर 'दकारस्य' पाठ ही उचित है। गत एक शताब्दी से भी अधिक काल से काशिका के कितने ही संस्करण निकल चुके हैं परन्तु किसी सम्पादक का ध्यान इस अशुद्धि की ओर नहीं गया—यह बड़े आश्चर्य का विषय है। उस्मानिया-संस्करण में भी यह पाठ अशुद्ध ही छपा है।

[४.२५] वो विधूनने जुक् (७.३.३८) सूत्र पर काशिका के सब संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

"वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे वर्त्तमानस्य जुगागमो भवति णौ परतः। पक्षेणोपवाजयति। विधूनन इति किम्? आवापयति केशान्। [किमर्थं सूत्रम्, 'वज गतौ' ण्यन्तस्य सिद्धत्वात्? वातेः पुग्मा भूदित्येवमर्थम्।] पै ओवै शोषणे इत्येतस्यैतद्रूपम्।"

यहां पर कोष्ठकान्तर्गत पाठ काशिका में प्रक्षिप्त है। कारण यह है कि यदि यह पाठ मूल में होता तो न्यासकार अपनी व्याख्या में यह न लिखते—

"ननु 'वज व्रज गतौ' इत्यस्य धातोर्ण्यन्तस्योपवाजयतीति सिद्धम्, तत्किमर्थमेतत्? वातेः पुग्मा भूदित्येवमर्थं जुको विधानम्।" (न्यास ७.३.३८)

इसी प्रकार हरदत्तमिश्र का निम्नस्थ उल्लेख भी उपर्युक्त मत को पुष्ट करता है—

'वज व्रज गतौ इत्यस्य णिचि रूपे वाजयतीति सिद्धे वातेः पुग्निवृत्त्यर्थं जुको विधानम् ।' (पदमञ्जरी ७.३.३८)

इस के अतिरिक्त काशिका का 'पै ओवै शोषणे इत्येतस्यैतद्रूपम्' यह पाठ भी 'आवापयति केशान्' के साथ सम्बद्ध होने के कारण इस बात का ज्ञापक है कि इन के मध्य का पाठ प्रक्षिप्त है।[1]

[४.२६] काशिका के सब मुद्रितसंस्करणों में न्यङ्क्वादीनां च (७.३.५३) सूत्र पर यह पाठ पाया जाता है—

"न्यङ्कुः—'नावञ्चतेः' इत्युप्रत्ययः ।"

परन्तु 'नावञ्चतेः' यह सूत्रपाठ पञ्चपादी एवं दशपादी उणादियों में कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता। वहां पर 'नावञ्चेः' (पञ्चपादी १.१७; दशपादी १.१०२) पाठ ही पाया जाता है। न्यासकार भी इस स्थान पर इसी पाठ का ही प्रतीक देते हैं—

'नावञ्चेरित्युप्रत्ययः' । (न्यास ७.३.५३)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि काशिका का यहां का पाठ भ्रष्ट है। अतः 'नावञ्चेरित्युप्रत्ययः' ऐसा शुद्ध पाठ चाहिये।

सौभाग्य से काशिका के उस्मानियासंस्करण में यह पाठ न्यास के अनुसार शुद्ध कर दिया गया है।

[४.२७] यजयाचरुचप्रवचर्चश्च (७.३.६६) सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—

'त्यजिपूज्योश्चेति काशिका। तत्र पूजेर्ग्रहणं चिन्त्यं भाष्यानुक्तत्वात्। ण्यत्प्रकरणे त्यजेरुपसंख्यानमिति हि भाष्यम् ।' (सि० कौ० उ० पृ० ४११)

१. तुलना करें—

(क) अभयनन्दी की महावृत्ति से—

'विधूनन इति किम् ? आवापयति केशान्, ओवै शोषण इत्यस्येदं रूपम् ।' (जैनेन्द्रमहा० ५.२.४३)

(ख) हेमचन्द्रसूरि की बृहद्वृत्ति से—

'विधूनन इति किम् ? ओवै, केशान् आवापयति। शोषयतीत्यर्थः। वजिनैव सिद्धे वाते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् ।' (हैम० बृहद्वृत्ति ४.२.१९)

(ग) मलयगिरि के शब्दानुशासन से—

'विधूनन इति किम् ? ओवै शोषणे—केशान् आवापयति।' (पृ० २३९)

(घ) अन्नम्भट्ट की व्याकरणमिताक्षरा से—

'कम्पन इति किम् ? वापयति केशान्। ओवै शोषण इत्यस्यैव ग्रहणम् ।' (७.३.३८)

दीक्षित का अभिप्राय व्यक्त करते हुए नागेशभट्ट बृ० शब्देन्दुशेखर में लिखते हैं—

'पूज्यमिति तु ण्यन्तस्य पूजेर्यति वोध्यम् । पूजेर्नित्यण्यन्तत्वात् तद्ग्रहे फलाऽभाव इत्यन्ये ।' (बृ० श० शे० पृ० २०२०)

इसी प्रकार लघुशब्देन्दुशेखर में भी—

'पूजेर्नित्यण्यन्तत्वेन (अचो यदिति यति) तद्ग्रहे फलाऽभाव इति भावः ।' (ल० श० शे० उ० पृ० ४११)

तात्पर्य यह है कि पूज् धातु चौरादिक होने के कारण नित्यण्यन्त है, अतः इस से ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) द्वारा ण्यत् प्राप्त ही नहीं हो सकता । तब अचो यत् (३.१.९७) से यत् प्रत्यय होकर णेरनिटि (६.४.५१) से इकार का लोप करने पर 'पूज्यम्' प्रयोग बन जायेगा । जब यहां ण्यत् ही नहीं हुआ तो चजोः कु घिण्ण्यतोः (७.३.५२) से कुत्वप्राप्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता, पुनः उस के निषेध के लिये 'त्यजिपूज्योश्च' वार्त्तिक में 'पूजि' का ग्रहण करना काशिकाकार के लिये उचित नहीं । दूसरी बात यह है कि इस वार्त्तिक में 'पूजि' का ग्रहण भाष्यविरुद्ध है क्योंकि भाष्य में तो केवल त्यज् का ही ग्रहण किया गया है ।

कैयट ने भी महाभाष्य में यही भाव व्यक्त किये हैं परन्तु काशिका का नाम नहीं लिया । तथाहि—'पूज्यमिति तु ण्यन्तस्य पूजे रूपम्' । (प्रदीप ७.३.६६)

परन्तु प्रदीप की व्याख्या करते हुए नागेशभट्ट उद्योत में 'वृत्ति' का नामग्रहण करते हुए लिखते हैं—

'एवं च पूजेश्चेति वृत्तिश्चिन्त्येति भावः ।' (उद्योत० ७.३.६६)

इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित स्पष्टतः 'काशिका' का नाम ले कर और नागेशभट्ट 'वृत्ति' कह कर काशिका पर दोषारोपण करते हैं । परन्तु काशिकावृत्ति के इदानींयावत् प्राप्त हस्तलेखों में या मुद्रितसंस्करणों में कहीं पर भी 'त्यजिपूज्योश्च' इस प्रकार के वार्त्तिक का या 'पूजेश्च' इस वचन का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता । इस के विपरीत काशिका में तो केवल 'ण्यति प्रतिषेधे त्यजेरुपसङ्ख्यानम्' इस वार्त्तिक का ही पाठ मिलता है जो महाभाष्यानुकूल है । इस वार्त्तिक पर न्यासकार का व्याख्यान इस प्रकार है—

"ण्यति प्रतिषेध इत्यादि । ण्यति प्रतिषेधेऽस्मिन् क्रियमाणे 'त्यज हानौ' इत्यस्योपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम् । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । तत्रेदम्प्रतिपादनम्—चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन त्यजेरपि प्रतिषेधो भविष्यतीति ।" (न्यास ७.३.६६)

इस से भी यही द्योतित होता है कि काशिकाकार ने 'पूजि' का यहां कोई उल्लेख नहीं किया । अतः इस बात की ही अधिक सम्भावना है कि दीक्षित को यहां भ्रान्ति हुई होगी । 'त्यजिपूज्योश्च' वार्त्तिक रामचन्द्राचार्य की प्रक्रियाकौमुदी में अद्यावत् उपलब्ध है।[1] दीक्षित ने त्वरावशात् उस के स्थान पर काशिका के नाम का उल्लेख

१. देखें—प्रक्रियाकौमुदी, उ० (पृ० ४८०) ।

कर दिया होगा। वे प्रायः खण्डन के आवेश में अन्यत्र भी ऐसी अशुद्धि कर दिया करते हैं।[1]

नागेशभट्ट ने यहां जिस वृत्ति का उल्लेख किया है, वह कौन सी वृत्ति है—यह अज्ञात है।

[४.२८] **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (७.३.७४) सूत्र पर काशिका के सब संस्करणों में निम्नस्थ पाठ पाया जाता है—

'शमादीनामष्टानां दीर्घो भवति श्यनि परतः। शम्—शाम्यति। तम्—ताम्यति। दम्—दाम्यति। भ्रम्—भ्राम्यति। क्षम्—क्षाम्यति। क्लम्—क्लाम्यति। मदी—माद्यति। अष्टानामिति किम्? अस्यति।'

सूत्र और वृत्ति में 'अष्टानाम्' इस कथन के बावजूद भी यहां सात धातु और उन के सात ही उदाहरण दर्शाए गये हैं। Critical कहे जाने वाले उस्मानिया-संस्करण में भी सात ही धातु और सात ही उदाहरण मुद्रित हुए हैं। परन्तु न्यास को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर आठवीं धातु 'श्रम्—श्राम्यति' थी जो लेखकप्रमाद से छूट गई है। हरदत्तमिश्र ने भी इस धातु का उल्लेख पदमञ्जरी में किया है।

[४.२९] **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** (७.४.१) सूत्र पर काशिका में यह पाठ पाया जाता है—

"अत्र द्विर्वचनोपधाह्रस्वत्वयोः प्राप्तयोः परत्वादुपधाह्रस्वत्वम्, तत्र कृते द्विर्वचनम्। इह तु 'मा भवान् अटिटत्' इति नित्यत्वाद् द्वितीयस्य द्विर्वचनं प्राप्नोति, तथा सति ह्रस्वभाविनोऽङ्गस्याकारस्योपधात्वं विहितम् इति ह्रस्वो न स्यात्? नैष दोषः, ओणेर्ऋदित्करणं ज्ञापकम्—नित्यमपि द्विर्वचनमुपधाह्रस्वत्वेन बाध्यत इति।"

यहां पर 'ह्रस्वभाविनोऽङ्गस्याकारस्योपधात्वं विहितमिति ह्रस्वो न स्यात्' यह पंक्ति समझ से परे है। 'उपधात्व किया गया है अतः ह्रस्व न होगा' यह तर्क बुद्धिगम्य नहीं। अब यहां न्यास का अवलोकन करने से गुत्थी सुलझ जाती है। यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

'एवं च द्विर्वचने हि सति तेन ह्रस्वभाविन आकारस्योपधात्वं विहतम् इति ह्रस्वो न स्यात्।' (न्यास ७.४.१)

इसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि काशिकाकार यह कहना चाहते हैं कि यदि

---

१. यथा—फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च (३.२.२६) सूत्र पर दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी में लिखते हैं—'चान्द्रास्तु आत्मोदरकुक्षिष्विति पेठुः।' परन्तु चान्द्रव्याकरण में ऐसा कोई सूत्र नहीं है। वहां पर 'फलेग्रहिरात्मम्भरिःकुक्षिम्भरिः (चान्द्र० १.२.१०) इस प्रकार का सूत्र है। सम्भवतः कातन्त्र के 'आत्मोदरकुक्षिषु भृञः खिः' (कातन्त्र कृद्वृत्ति सूत्र १७९) सूत्र को ही दीक्षित ने चान्द्र के नाम से उद्धृत कर दिया है।

पहले द्वित्व कर लेंगे तो 'आ' का उपधात्व विहत अर्थात् नष्ट हो जायेगा क्योंकि बीच में दूसरा 'टि' शब्द आ जायेगा। बात कितनी स्पष्ट और सुसंगत है। किसी कुलेखक ने काशिका के 'विहतम्' पाठ को 'विहितम्' कर दिया क्योंकि उस की दृष्टि में 'विहतम्' की अपेक्षा 'विहितम्' ही शुद्ध तथा सार्थक पद था। तब से लेकर आज तक काशिका में यह अशुद्ध पाठ बराबर चला आ रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि उस्मानिया-संस्करण के मूल में अशुद्ध पाठ तथा टिप्पण में शुद्ध पाठ दिया गया है।

[४.३०] **नाग्लोपिशास्वृदिताम्** (७.४.२) सूत्र पर काशिका के सब संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'अग्लोपिनां तावत्—मालामाख्यत्—अममालत्। मातरमाख्यत्—अममातरत्।'

यहां पर 'अममातरत्' पाठ आपत्तिजनक है। इसके स्थान पर 'अममातत्' पाठ चाहिये। क्योंकि न्यास प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार जब 'णाविष्ठवत् कार्यं प्रातिपदिकस्य' (वा०) द्वारा इष्ठवद्भाव के कारण 'मातृ' शब्द के टिभाग (ऋ) का लोप हो जायेगा तो 'अममातत्' ही बनेगा, 'अममातरत्' नहीं।

शाकटायन-अमोघा (४.१.२११), हैमबृहद्वृत्ति (४.२.३५), व्याकरण-मिताक्षरा (७.४.२) आदि में सर्वत्र 'अममातत्' रूप ही दिया हुआ है। माधवीय-धातुवृत्ति में आचार्य माधव भी इसी की ओर संकेत करते हैं अतः काशिका का यह पाठ तुरन्त शोधनीय है।

दुर्भाग्य से यह पाठ उस्मानियासंस्करण में भी शुद्ध नहीं हो सका।

[४.३१] **जहातेश्च क्त्वि** (७.४.४३) सूत्र पर काशिका के सब मुद्रित संस्करणों में निम्नस्थ पाठ उपलब्ध होता है—

'जहातेर्निर्देशाज्जिहीतेर्न भवति—हात्वा।'

यहां पर 'जहातेः' और 'जिहीतेः' दोनों पद क्रमशः 'जहाति' और 'जिहीति' प्रातिपदिकों के पञ्चमीविभक्त्यन्त रूप हैं। 'ओहाक्' और 'ओहाङ्' धातु से धातुनिर्देश में श्तिप् प्रत्यय करने पर 'जहाति' और 'जिहीति' शब्द बनाये गये हैं। परन्तु इनमें दूसरा 'जिहीति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, क्योंकि श्तिप्प्रत्यय शित्त्व के कारण सार्वधातुक होता हुआ भी पित्त्व के कारण **सार्वधातुकमपित्** (१.२.४) से ङिद्वत् नहीं होता, उसके ङित् न होने से **ई हल्यघोः** (६.४.११३) द्वारा क्ङिन्निबन्धन ईत्व नहीं हो सकता अतः 'जिहाति' प्रातिपदिक ही बनेगा और उसका पञ्चम्यन्त रूप 'जिहातेः' ही होगा न कि 'जिहीतेः'। इत्थं—

'जहातेर्निर्देशाज्जिहातेर्न भवति—हात्वा।'

ऐसा काशिका का शुद्ध पाठ समझना चाहिये। यह सब न्यासकार के अत्रत्य व्याख्यान से स्पष्टतः द्योतित होता है। वे यहां लिखते हैं—

"अथ किमर्थं जहातेरिति श्तिपा निर्देशः, न 'हं' एवोच्येत ? इत्यत आह—

जहातेरित्यादि । एतेन 'ओहाङ् गतौ' इत्यस्य निवृत्तये निर्देशः क्रियत इति दर्शयति । यदि हि 'हः' इति निर्देशः स्यात् तदा तस्य साधारणत्वाज्जिहातेरपि स्यात् । जहातेरिति श्तिपा निर्देशे तु न भवति । अनेन जहातिरेव निर्दिश्यते न जिहातिः । न हि तस्यैवंविधो निर्देश उपपद्यते; भृञामित् इत्यभ्यासस्येत्त्वविधानात् ।"

(न्यास ७.४.४३)

न्यासकार यहां बार-बार 'जिहाति' का ही प्रयोग करते हैं । जिहीति' का नहीं, इस से काशिकागत शुद्ध पाठ का अनुमान लगाया जा सकता है । अत एव हरदत्तमिश्र हश्च व्रीहिकालयोः (३.१.१४८) सूत्र पर अपने काल में उपलभ्यमान काशिका के 'जहातेजिहीतेश्च धातोर्ण्युट् प्रत्ययो भवति व्रीहौ काले च कर्त्तरि' इस पाठ पर टिप्पण करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'प्रायेण जिहीतेरिति पाठः, स त्वयुक्तः, तिपः पित्त्वादीत्त्वाभावात् ।'

(पदमञ्जरी ३.१.१४८)

ध्यान रहे कि न्यासकार ने यहां पर भी अपनी व्याख्या में शुद्ध पाठ का ही प्रयोग किया है । तथाहि—

'असति हि तस्मिन् यदीदमेकानुबन्धग्रहणम्, तदुपादाने द्व्यनुबन्धकस्य जिहातेर्न स्यात् । अथ द्व्यनुबन्धकस्य जहातेर्न स्यात् । ककारे तु सति द्वयोरपि सानुबन्धकत्वात् सामान्येन ग्रहणमुपपद्यते ।'

(न्यास ३.१.१४८)

अद्यत्वे हश्च व्रीहिकालयोः (३.१.१४८) पर काशिका में 'जिहातेः' ऐसा शुद्ध पाठ ही मिलता है अशुद्ध कहीं नहीं । सम्भवतः हरदत्तमिश्र की उपर्युक्त चेतावनी का ही यह प्रभाव है । परन्तु प्रकृतसूत्र पर काशिका में अब भी सर्वत्र अशुद्ध पाठ पाया जाता है जो शोधनार्ह है ।

[४.३२] जहातेश्च क्त्वि (७.४.४३) सूत्र पर न्यास के अवलोकन से प्रतीत होता है कि यहां काशिका में कुछ पाठ त्रुटित है क्योंकि न्यासकार 'जाहित्वेति' कह कर 'जाहित्वा' की सिद्धि दर्शाते हैं परन्तु इस रूप का उल्लेख वर्त्तमानमुद्रित काशिका के किसी भी संस्करण में कहीं नहीं पाया जाता । हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में इसी ओर संकेत करते हुए लिखते हैं—

'श्तिपा निर्देशस्य तु प्रयोजनं वृत्तावेव दर्शितम् ।" (पदमञ्जरी ७.४.४३)

लेकिन काशिका में इसका कुछ निर्देश नहीं है । इस प्रकार न्यास और पदमञ्जरी के आधार पर निश्चय किया जा सकता है कि यहां काशिका में इस प्रकार का पाठ होना चाहिये—'श्तिपा निर्देशे यङ्लुगन्तस्य न भवति—जाहित्वा' ।

[४.३३] रि च (७.४.५१) सूत्र पर काशिका में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'अस्तेर्लिटि—व्यतिरे ।'

परन्तु न्यास को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पाठ काशिका में प्रक्षिप्त है । तथाहि न्यासकार यहां पर लिखते हैं—

'अस्ते रेफादिप्रत्ययो न सम्भवतीति नास्त्युदाहरणम् ।'

पदमञ्जरीकार भी यही कहते हैं—

'अस्तेरुदाहरणं न प्रदर्शितम्, रेफादेरसम्भवात् ।' (पदमञ्जरी ७.४.५१)

सौभाग्य से उस्मानियासंस्करण में यह पाठ हटा दिया गया है।

[४.३४] शर्पूर्वाः खयः (७.४.६१) सूत्र पर न्यास के अनुसार काशिका में 'चुश्चोतिषति' उदाहरण दिया गया है। तथाहि—

'चुश्चोतिषतीति । श्चुतिर् क्षरणे, सन्, इट् ।' (न्यास ७.४.६३)

परन्तु हरदत्तमिश्र यहां पर 'चुश्च्योतिषति' उदाहरण मानते हैं—'चुश्च्योतिषतीति । श्च्युतिर् क्षरणे ।'

इन पाठों पर डा० प्रज्ञादेवी टिप्पण करती हुई अपने शोधप्रबन्ध में लिखती हैं—

'सर्वत्र मुद्रितेषु संस्करणेषु न्यासे च चुश्चोतिषतीति उदाहृतम् । परं श्च्युतिर्-धातोः धातुपाठे पठितत्वात् चुश्च्योतिषतीति भवितव्यम् । वसुसम्पादितकाशिकापद-मञ्जरीसम्मतश्चायं पाठः ।' पुनः टिप्पणी में भी—"अत्र न्यासप्रदर्शितः 'श्चुतिर् क्षरणे' धातुरपि पाणिनीयधातुपाठे काशकृत्स्ने क्षीरतरङ्गिण्यां च न विद्यते । 'श्च्युतिर् क्षरणे' इत्येव पठ्यते । मन्ये न्यासात् प्रागेवायं पाठः भ्रष्टः जातः । यस्य संशोधनं पदमञ्जर्यां विद्यते परं मुद्रितकाशिकायामयमेव भ्रष्टः पाठो मुद्रयते न केनापि संस्कृतः ।" ('काशिकायाः समीक्षात्मकमध्ययनम्' पृष्ठ ७३)

पता नहीं डा० प्रज्ञादेवी ने कौन सा पाणिनीयधातुपाठ देखा है जिसमें श्च्युतिर् का ही उल्लेख है श्चुतिर् का नहीं। हमें तो सर्वत्र दोनों धातु लिखे मिलते हैं। तथाहि—क्षीरतरङ्गिणी में 'श्च्युतिर् क्षरणे' धातु पर क्षीरस्वामी लिखते हैं—

'कौशिकस्तु श्चुतिम् अयोपधं मन्यते—श्चोतति ।' (क्षीर० पृ० २२)

धातुप्रदीप में मैत्रेयरक्षित भी यही कहते हैं—

'श्चुतिरित्यप्येके पठन्ति ।' (पृष्ठ १२)

शाकटायनधातुपाठ तथा हैमधातुपाठों में भी दोनों का उल्लेख है—

'चुतृ श्च्युतृ श्चुतृ क्षरणे' (शाकटायन धातुपाठ पृष्ठ ५)

'चुतृ स्चुतृ स्च्युतृ क्षरणे' (हैमप्रक्रिया पृष्ठ ५२२)

माधवीयधातुवृत्ति में सायण भी यही कहते हैं—

"अत्र श्चुतिरित्ययकारमपि पठन्ति । तथा च 'मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतम्, श्चोतन्ति ते वसोः' इत्यादौ भट्टभास्करः । अत्र मैत्रेयोऽपि—'श्चुतिरित्यप्येके पठन्ति' ।" (मा० धा० वृत्ति पृ० ६७)

सि० कौमुदी में भट्टोजिदीक्षित भी यही कहते हैं—

'श्च्युतिर् क्षरणे । यकाररहितोऽप्ययम्—श्चोतति ।' (सि० कौ० उ० पृ० ५५)

प्रौढमनोरमा में भी—

"यकाररहितोऽप्ययमिति। तथा च प्रयुज्यते—'मधुश्चुतङ् घृतमिव सुपूतम्' इति।" (प्रौढम० पृष्ठ ५५४)

न्यासकार भी इस धातु के दोनों प्रकार के पाठों से परिचित हैं। 'श्चुतिर्' पाठ का वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। 'श्च्युतिर्' का वर्णन भी न्यास में विद्यमान है—

"अरुश्श्च्योततीति। 'श्च्युतिर् क्षरणे' इत्यस्य लटि रूपम्।" (न्यास १.१.६)

[४.३५] कुहोश्चुः (७.४.६२) सूत्र पर काशिका के सब संस्करणों में निम्नस्थ पाठ उपलब्ध होता है—

'अभ्यासस्य कवर्गहकारयोश्चवर्गादेशो भवति। चकार। चखान। जगाम। जघान। हकारस्य—जहार। जिहीर्षति। जहौ।'

यहां पर 'हकारस्य—' से पूर्व कवर्ग के उदाहरणों में 'जघान' उदाहरण दिया गया है जो किसी भी प्रकार सुसंगत नहीं कहा जा सकता। परन्तु न्यास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'जघास' पाठ था जो लेखक-प्रमाद से 'जघान' हो गया है। हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में 'जघासेति। घकारस्य झकारः, तस्य जश्त्वम्—जकारः'। इस प्रकार लिखते हुए 'जघास' पाठ का ही समर्थन करते हैं।

[४.३६] भवतेरः (७.४.७३) सूत्र द्वारा लिट् परे होने पर भू धातु के अभ्यास को अकार आदेश किया जाता है। यथा—बभूव, बभूवे, अनुबभूवे। सूत्रगत 'भवतेः' पद 'भवति' प्रातिपदिक का षष्ठयन्त रूप है। यह शब्द भू धातु से 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' (वा०) द्वारा श्तिप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। 'भवति' शब्द का अर्थ होता है—भू धातु। परन्तु कुछ वैयाकरण 'भवति' में कर्तरि विधीयमान शप् प्रत्यय को देखकर यह मत व्यक्त करते हैं कि भवतेरः सूत्र से केवल कर्तृवाच्य में ही अत्व का विधान करना चाहिये भाववाच्य या कर्मवाच्य में नहीं।[1] अत एव उनके मत में 'बभूवे' के स्थान पर 'बुभूवे' तथा 'अनुबभूवे' के स्थान पर 'अनुबुभूवे' प्रयोग बनते हैं। इस मत के प्रमुख अनुयायी—क्षीरतरङ्गिणीकार क्षीरस्वामी, मुग्धबोधकार वोपदेव, प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्राचार्य, प्रसादव्याख्याकार विट्ठल आदि हैं। माधवीयधातुवृत्ति, प्रौढमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदि में कठोर शब्दों द्वारा इस मत की आलोचना की गई है। आलोचकों का कथन है कि जब श्तिप् प्रत्यय ही कर्त्रर्थक नहीं तो पुनः श्तिप् के शित्व के आश्रय से विधीयमान शप् भी यहां कैसे कर्त्रर्थक हो सकता है? अतः श्तिप् और शप् दोनों के कर्त्रर्थक न होने से भवतेरः सूत्र की प्रवृत्ति केवल कर्तृवाच्य में ही हो कर्म या भाव वाच्यों में नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि ऐसा मानने लगें

१. 'भवतेरिति कर्तृनिर्देशाद् भावकर्मणोर्नात्वम्।' (प्रक्रियाकौ० उ० पृ० ३७)

तो उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति० (८.३.६५) आदि की भी प्रवृत्ति केवल कर्तृवाच्य में ही माननी पड़ेगी अन्य वाच्यों में नहीं—जो सर्वसम्मत अनिष्ट है।

इतनी पूर्वपीठिका जान लेने के बाद अब देखिये इस सूत्र पर काशिका के विविध संस्करणों के पाठ—

१. बालशास्त्रिसम्पादित लाजरसप्रेसमुद्रित संस्करण का पाठ—
'भवतेरिति कर्तृनिर्देशादिह न भवति—अनुबुभूवे कम्बलो देवदत्तेन।'

२. अनन्तशास्त्रिसम्पादित चौखम्बा सं० का भी यही पाठ है।

३. प्राच्यसंस्करण का पाठ—
'भवतेरिति धातुनिर्देशादिहापि भवति—अनुबभूवे कम्बलो देवदत्तेन।'

४. उस्मानियासंस्करण का पाठ—
'भवतेरिति कृतविकरणनिर्देशादिह न भवति —अनुबभूवे[1] कम्बलो देवदत्तेन।'

परन्तु जब हम इन पाठभेदों पर विचार करते हैं तो निम्नलिखित कारणों से इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये सब पाठ बाद में मिलाये गये प्रक्षिप्तपाठ हैं—

(क) न्यास और पदमञ्जरी में इन वचनों पर कुछ भी व्याख्या उपलब्ध नहीं। ऐसे महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद विषय पर न्यासकार एवं पदमञ्जरीकार कुछ न लिखें यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन के आगे काशिका में इस प्रकार का कुछ उल्लेख न था।

(ख) इस मत के आलोचकों में प्रमुख—माधव, भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्र-सरस्वती, नागेशभट्ट आदि किसी ने इसे वृत्तिकार (काशिकाकार) का मत नहीं लिखा। भट्टोजिदीक्षित और ज्ञानेन्द्रसरस्वती की आलोचना तो स्पष्टतः प्रक्रियाकौमुदी और तत्कर्तृपौत्रविरचित प्रसादटीका की ओर लक्ष्य करती है। अतः इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पाठ प्रक्षिप्त है।

(ग) काशिका के कई प्राचीन हस्तलेखों में आज भी यह पाठ उपलब्ध नहीं होता। यथा पूनास्थित B.O.R.I. में अठारहवीं शती के काशिका के हस्तलेख संख्या २३४/१८९५-९८ में इस का बिल्कुल अभाव है।[2]

(घ) प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादव्याख्या के कर्त्ता विट्ठल लिखते हैं कि यह मत प्रक्रियाकौमुदी में मुग्धबोध के अनुरोध से लिया गया है। वे भी वृत्तिकार का नाम नहीं लेते। इस से भी स्पष्ट हो जाता है कि काशिका में यह पाठ प्रक्षिप्त है।[3]

---

१. यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि अपने संस्करण को Critical और शुद्ध घोषित करने वाले उस्मानिया के सम्पादक मण्डल ने यहां 'इह न भवति' पाठ देते हुए भी 'अनुबभूवे' यह कृतात्व पाठ कैसे दे दिया? यहाँ पर तदनुसार पाठ चाहिये था—'अनुबुभूवे कम्बलो देवदत्तेन'।

२. देखें—काशिका उस्मानियासंस्करण पृ० ८७५, टिप्पण (८-९)।

३. केचिदिति। तथोक्तं मुग्धबोधे—'भुवोऽङ् ठ्यां ढभावे तु वा' इति।
(प्रसाद, उ० पृ० ३७)

(ङ) इस मत की ऐतिहासिक ऊहापोह से भी यही प्रमाणित होता है कि यह मत काशिका के बाद उद्भूत होकर धीरे-धीरे वैयाकरणों में फैला। तथाहि—काशिका से पूर्ववर्त्ती महाभाष्य, जैनेन्द्र, कातन्त्र, चान्द्र आदि में इस का कहीं कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। काशिका के प्रायोऽनुगामी अभयनन्दी की जैनेन्द्रमहावृत्ति में भी यह कहीं उपलब्ध नहीं। इस का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पाल्यकीर्त्ति की अमोघावृत्ति में मिलता है।[1] इसके बाद भोजदेवकृत सरस्वतीकण्ठाभरण का समय आता है, परन्तु इस में इस सूत्र पर वृत्ति उपलब्ध न होने से कुछ नहीं कहा जा सकता। तदन्तर हेमचन्द्रसूरि और मलयगिरि के व्याकरणों में इस मत का उल्लेख 'केचित्' द्वारा पाया जाता है।[2] इस से प्रतीत होता है कि इस मत की प्रतिष्ठा कुछ कुछ वैयाकरणों में होने लगी थी। इन के बाद समन्वयवादी मुग्धबोधकार बोपदेव ने इस मत का आदर करते हुए अपने व्याकरण में विकल्प का विधान कर दिया।[3] प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्राचार्य ने भी मुग्धबोध का अनुसरण किया जैसाकि तत्पौत्रकृत प्रसादव्याख्या में स्पष्ट है।[4] तदनन्तर भट्टोजिदीक्षित आदियों का समय आता है जो इस मत के घोर विरोधी हैं।

इस सब से यही प्रमाणित होता है कि काशिकाकार से भी पर्याप्त समय बाद तक इस मत का नामोनिशान तक नहीं था। बाद में इस मत की उद्भूति होकर धीरे-धीरे प्रचार हुआ। मुग्धबोध तथा रामचन्द्राचार्य की प्रक्रियाकौमुदी में यह मत चरमसीमा तक पहुंचा हुआ पाया जाता है। बाद में भट्टोजिदीक्षित आदियों ने इस मत को पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया। इस से सुस्पष्ट हो जाता है कि काशिका में यह पाठ प्रक्षिप्त है।

(च) पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में इस मत का कोई उल्लेख नहीं किया, हालांकि उनकी प्रतिज्ञा है कि—

'काशिका-भागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः।
तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम ॥'

(भाषावृत्ति के अन्त में)

इस से यही प्रकट होता है कि यह मत काशिका में उन के समय में न था, यदि होता तो पुरुषोत्तमदेव इस मत का उल्लेख करने में न चूकते।

---

१. देखें अमोघा (४.१.१०७)।

२. 'केचित्तु कर्तर्येव भुवोऽकारमिच्छन्ति न भावकर्मणोः। तेन बुभूवे चैत्रेण, अनुबुभूवे कम्बलः साधुनेत्येव भवति।' (बृहद्वृत्ति ४.१.७०)
'केचिद् भवतेः भावकर्मणोः नेच्छन्ति—बुभूवे। अनुबुभूवे कम्बलः।'
(मलयगिरिशब्दानुशासन पृ० १८१)

३. भुवोऽङ् ठ्यां ढभावे तु वा—मुग्धबोध (सूत्र ५६०)।

४. पूर्वोक्त उद्धरण।

[४.३७] सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७.४.९३) सूत्र पर काशिका के सब मुद्रित संस्करणों में यह पाठ पाया जाता है—

'लघुनीति किम्? अततक्षत्, अररक्षत्। जागरयतेः—अजजागरत्। अत्र केचिद् गशब्दं लघुमाश्रित्य सन्वद्भावमिच्छन्ति। सर्वत्रैव लघोरानन्तर्यम् अभ्यासेन नास्तीति व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद् भवितव्यम्? तदसत्। येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यादित्येकेन व्यवधानमाश्रीयते न पुनरनेकेन।'

काशिका का यह पाठ किसी भी तरह बुद्धिगम्य नहीं है, क्योंकि 'सर्वत्रैव लघोरानन्तर्यमभ्यासेन नास्तीति—'यह पंक्ति समझ से परे है। परन्तु यहां पर न्यासकार की व्याख्या एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है—

'सर्वत्रैवेत्यादि। अचीकरदित्यादावपि ककारादिना वर्णेन व्यवधानाल्लघोरानन्तर्यमभ्यासे नास्ति, उच्यते चेदं वचनम् अतो वचनप्रामाण्याद् व्यवधान एव सन्वद्भावेन भवितव्यम्।' (न्यास ७.४.९३)

इस न्यासवचन से काशिका का अत्रत्य शुद्ध पाठ हस्तामलकवत् सामने आ जाता है। काशिका में 'अभ्यासेन नास्ति' के स्थान पर 'अभ्यासे नास्ति' यह पाठ होना चाहिये। यह पाठ सर्वथा बुद्धिगम्य तथा सुसंगत भी है। अत एव हरदत्तमिश्र ने भी पदमञ्जरी में यही भाव व्यक्त किये हैं—

'अचीकरदित्यादावपि ककारादिना व्यवधानाल्लघोरानन्तर्यं नास्ति, ततश्च वचनप्रामाण्याद्व्यवधाने एव सन्वद्भावेन भवितव्यमिति तेषामभिप्रायः।'

(पदमञ्जरी ७.४-९३)

काशिका के इसी पाठ को ओरम्भट्ट ने अपनी व्याकरणदीपिका में उद्धृत किया है, इस से भी उपर्युक्त पाठ की शुद्धता की पुष्टि होती है।[1]

इस के अतिरिक्त काशिका के अनेक हस्तलेखों में भी यही शुद्ध पाठ उपलब्ध होता है। बड़े खेद की बात है कि इतना होने पर भी Critical कहे जाने वाले काशिका के उस्मानियासंस्करण के मूल में शुद्ध पाठ न देकर अशुद्ध पाठ को ही रखा गया है।

[४.३८] काशिका के प्राच्यसंस्करण में तस्य परमाम्रेडितम् (८.१.२) सूत्र पर 'चौर चौर चौर वृषल वृषल वृषल दस्यो दस्यो दस्यो घातयिष्यामि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा' यह उदाहरण मुद्रित हुआ है। यहां पर 'चौर' 'वृषल' और 'दस्यो' शब्दों को तीन तीन बार लिखा गया है। व्याकरणशास्त्र में किसी आमन्त्रित पद का इस प्रकार तीन बार लिखा जाना अभूतपूर्व है। कोई समझ नहीं सकता कि इस का विधायक कौन सूत्र है और इसका क्या तात्पर्य है? अब न्यास में इसकी व्याख्या देखिये—

१. 'सर्वत्रैव लघोरानन्तर्यमभ्यासे नास्तीति येन नाव्यवधानं तेनैव व्यवहितेऽपीत्येकेन वर्णेन व्यवधाने वचनप्रामाण्याद्भवितव्यं न पुनरनेकवर्णसङ्घातेन।' (व्या० दी० ७.४.९३)

'चौर चौर इति। **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** इति सुलोपः। **वाक्यादेरामन्त्रितस्य०** इत्यादिना भर्त्सने द्विर्वचनम्, **आम्रेडितं भर्त्सने** इति प्लुतः। दस्यो दस्यो इति। **सम्बुद्धौ च** इति गुणः।' (न्यास ८.१.२)

इस से तुरन्त समझ में आ जाता है कि 'चौर', 'वृषल' और 'दस्यो' पदों को द्वित्व करके प्लुत किया गया है—चौर चौर ३, वृषल वृषल ३, दस्यो दस्यो ३। किसी ने सम्भवतः प्लुत का चिह्न '३' अंक देखकर इन पदों को तीन तीन बार छाप दिया जैसाकि हिन्दी में '२' का अंक लिखा होने पर शब्द का दो बार उच्चारण किया जाता है। सम्पादक महोदयों ने भी इस ओर तनिक ध्यान नहीं दिया। हालांकि यही उदाहरण इसी संस्करण में अन्यत्र दो स्थानों (८.१.८; ८.२.९५) पर शुद्ध छापा गया है।

[४.३९] अष्टाध्यायी में **तिङ्ङतिङः** (८.१.२८) द्वारा प्राप्त निघातस्वर के निषेध-प्रकरण में **छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम्** (८.१.३५) यह सूत्र पढ़ा गया है। वेद में जब दो साकाङ्क्ष तिङन्त 'हि' से युक्त होते हैं तो निघातस्वर का निषेध कभी दोनों तिङन्तों में या कभी एक तिङन्त में हो जाता है—ऐसा पाणिनि के सूत्र का आशय है। उदाहरणार्थ यथा—'अनृतं हि मत्तो वदति, पाप्मा एनं विपुनाति' यहां दो साकाङ्क्ष तिङन्त 'हि' से युक्त हैं अतः तिङ्ङतिङः से प्राप्त निघातस्वर का दोनों तिङन्तों ('वदति' और 'पुनाति') से निषेध होकर प्रथम धातुस्वर से आद्युदात्त तथा दूसरा नाप्रत्यय के स्वर से मध्योदात्त हो जाता है। सूत्र में 'अनेकमपि' कहा गया है। 'अपि' का अभिप्राय यह है कि क्वचित् 'हि' से युक्त दो साकाङ्क्ष तिङन्तों में एक तिङन्त में निघात का निषेध और दूसरे में निघातस्वर ही रह जाता है। इसी के उदाहरण के लिये काशिका में यह पाठ मुद्रित उपलब्ध होता है—

'एकं खल्वपि—अग्निर्हि अग्ने उदजयत्। तिङन्तद्वयमपि हियुक्तमेतत्। तत्रैक-मुदजयदित्यादिरुदात्तम्, अपरमनुदात्तम्।'[१]

यहां अध्येतृवर्ग ढूंढते रहते हैं कि इस उदाहरण में तो 'उदजयत्' यह एक ही तिङन्त दिया गया है दूसरा कहां गया जिसे काशिकाकार निघात कर रहे हैं? अब देखिये न्यासकार का व्याख्यान जिस से गुत्थी तुरन्त सुलझ जाती है—

'अग्निर्हीत्यादि। अत्रापि हेतुहेतुमद्भावात् साकाङ्क्षता। यस्मादग्निरग्रे पूर्वमुद-जयत् तस्मादग्निम् इन्द्रः अनु पश्चादुदजयत्। उदजयदिति। उत्पूर्वाज्जयतेर्लङि रूपम्। एकमुदजयदित्याद्युदात्तमिति। तद्भक्तस्याट उदात्तत्वात्। अपरमनुदात्तमिति। तत्र निघातप्रतिषेधस्याऽप्राप्तेः।' (न्यास ८.१.३५)

न्यास के इस व्याख्यान से सुस्पष्ट हो जाता है कि काशिका में 'अग्निर्हि अग्रे उदजयत् तमिन्द्रोऽनूदजयत्' यह पाठ था जो काठकसंहिता (१२.७) में आज भी

१. यह पाठ प्राच्यसंस्करण से लिया गया है। लाज्रेसप्रेस तथा अनन्तशास्त्रिसम्पादित चौखम्बासंस्करण में 'अपरमनुदात्तम्' पाठ नहीं है। इस के अतिरिक्त चौखम्बा-संस्करण का पाठ मुद्रणदोष से और भी भ्रष्ट है।

उपलब्ध है ।[1] इस पाठ में दो तिङन्त हैं जो परस्पर साकाङ्क्ष हैं और 'हि' से भी युक्त हैं । अब काशिका का पाठ भी समझ में आ जाता है कि इन में प्रथम तिङन्त 'उदजयत्' को निघात न होकर अट् के कारण आद्युदात्तस्वर हो गया और दूसरे 'अनूदजयत्' को निघातस्वर ।

दुर्भाग्य से यह पाठ उस्मानियासंस्करण में भी शुद्ध न हो सका और न ही उस के सम्पादकमण्डल को इस उद्धरण का वैदिकसाहित्य में पता मिल सका ।

अभी हाल में छपे 'Critical Studies on the Mahabhasya' में V.P. Limaye ने इस उद्धरण को न केवल वैदिकसाहित्य में खोज निकाला है बल्कि काशिका का भी उपर्युक्त शुद्ध पाठ उद्धृत किया है (देखें पृष्ठ ७०९) ।

[४.४०] कृपो रो लः (८.२.१८) सूत्र पर काशिका में यह वार्त्तिक मुद्रित मिलता है—

'वाल-मूल-लघ्वसुरालम्-अङ्गुलीनां वा रो लमापद्यते । वालः, वारः । मूलम्, मूरम् । लघु, रघु । असुरः, असुलः । अलम्, अरम् । अङ्गुलिः, अङ्गुरिः ।'

इस वार्त्तिक में 'असुर' शब्द का पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है । इस में निम्नस्थ छः हेतु दिये जा सकते हैं—

(क) हरदत्तमिश्र ने वाल आदि सब शब्दों के प्रकृति-प्रत्ययों का वर्णन किया है परन्तु 'असुर' शब्द पर कुछ नहीं लिखा । इस से प्रतीत होता है कि उनके सामने काशिका के वार्त्तिक में 'असुर' शब्द का पाठ न था ।

(ख) उत्तरवर्त्ती प्रायः सब पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर वैयाकरण लत्वविधि में 'असुर' का उल्लेख नहीं करते ।[2]

(ग) काशिका से पूर्ववर्त्ती चान्द्र आदि में भी इस का उल्लेख नहीं पाया जाता ।

(घ) वाल आदि सब शब्द लकारघटित हैं, इन में रेफघटित 'असुर' शब्द का समावेश असंगत प्रतीत होता है ।

(ङ) महाभाष्य में पठित वार्त्तिक में भी इस का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता ।[3] कैयट और नागेश ने भी इस की चर्चा नहीं की ।

---

१. काठक संहिता में 'अग्रे' के स्थान पर 'पूर्वम्' पाठ है । भाष्य में भी यही पाठ है । परन्तु न्यासकार 'अग्रे' पाठ को स्वीकार कर रहे हैं । काशिका में इसी न्याससम्मत पाठ के होने की ही सम्भावना है क्योंकि इदानीं काशिका में उपलब्ध 'अग्ने' पाठ इसी 'अग्रे' का ही विकृत रूप हो सकता है 'पूर्वम्' का नहीं ।

२. जैनेन्द्रमहावृत्ति (५.३.३९), संक्षिप्तसार (सूत्र २२७ तिङन्तपाद), तथा व्याकरणमिताक्षरा के सिवाय इस का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता अतः 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

३. 'वाल-मूल-लघ्वलम्-अङ्गुलीनां वा लो रमापद्यते ।' (महाभाष्य ८.२.१८)

(च) साहित्य में कहीं 'असुल' शब्द का प्रयोग अभी तक ज्ञात नहीं हुआ ।[1]

इस के अतिरिक्त इस वार्त्तिक में 'रो लमापद्यते' यह भी विपरीत पाठ समझना चाहिये क्योंकि जब वाल, मूल, लघु आदि शब्दों में रेफ ही नहीं तो उसे 'लमापद्यते' कहना युक्तिसंगत नहीं है। यहां पर तो 'लो रमापद्यते' ऐसा कहना चाहिये था। भाष्य में भी ऐसा पाठ है।

न्यास में काशिका के इस वार्त्तिक तथा इस से अगले वार्त्तिक[2] का व्याख्यान उपलब्ध नहीं है। सम्भव है कि इन वार्त्तिकों का समावेश काशिका में प्रक्षिप्त हो। पर इस में सन्देह नहीं कि यदि यह प्रक्षेप भी है तो हरदत्तमिश्र से पहले का है क्योंकि हरदत्त ने इन दोनों वार्त्तिकों पर अपनी व्याख्या लिखी है।

[४.४१] रात्सस्य (८.२.२४) सूत्र पर काशिका के सब संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'गोभिरक्षाः। प्रत्यञ्चम् अत्साः। क्षरतेः त्सरतेश्च लुङि सिचश्छान्दसत्वादीडभावः, बहुलं छन्दसि इति वचनात्। दीर्घे सति रूपमेतत्।'

यहां पर 'अक्षाः, अत्साः' रूपों की सिद्धि दर्शाते हुए जो अन्त में 'दीर्घे सति' कहा गया है वह नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि यहां पर किसी सूत्र से दीर्घ प्राप्त नहीं होता, अतो ल्रान्तस्य (७.२.२) से वृद्धि ही होती है। अतः यहां पर 'वृद्धौ सत्यां रूपमेतत्' ऐसा पाठ होना चाहिये। इस की पुष्टि न्यासप्रदर्शित प्रक्रिया द्वारा भी हो सकती है। यथा—

'अक्षाः, अत्सा इति। क्षर सञ्चलने, त्सर छद्मगतौ। लुङ्, अतो ल्रान्तस्य इति वृद्धिः। तिपो हल्ङ्यादिना लोपः, सिचः सकारस्याप्यनेन, अडागमः, रेफस्य विसर्जनीयः।'

(न्यास ८.२.२४)

शोक है कि उस्मानियासंस्करण में भी यह पाठ शुद्ध न हो सका।

[४.४२] दधस्तथोश्च (८.२.३८) सूत्र पर काशिका के सब संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'दध इति दधातिः कृतद्विर्वचनो निर्दिश्यते। तस्य झलन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथकारयोः परतः, चकारात् स्ध्वोश्च परतः।'

यहां पर 'झलन्तस्य' के स्थान पर 'झषन्तस्य' पाठ चाहिये, क्योंकि पिछले सूत्र एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८.२.३७) से 'झषन्तस्य' की ही अनुवृत्ति आती है। जैसाकि न्यासकार ने यहां कहा है—

---

१. यदि प्रयोग मिल भी जाये तो उस की सिद्धि कपिलादियों में पाठ मान कर द्वितीय वार्त्तिक से हो जायेगी। जैसाकि संक्षिप्तसार (तिङन्तप्रकरण सूत्र ७२७) में की गई है।

२. 'कपिलादीनां सञ्ज्ञा-छन्दसोर्वा रो लमापद्यते' (काशिका वा० ८.२.१८)।

'दधातेर्झषन्तस्य यो बश् तस्य भष् भवतीत्युच्यते ।' (न्यास ८.२.३८)

उत्तरवर्त्ती सब वैयाकरणों ने भी यहां 'झषन्तस्य' का ही अनुवर्त्तन माना है। उस्मानियासंस्करण में भी यही भ्रष्ट पाठ छपा है।

[४.४३] ढो ढे लोपः (८.३.१३) सूत्र पर काशिका के सब मुद्रित संस्करणों में यह पाठ पाया जाता है—

'श्वलिड् ढौकते—इत्यत्र तु जश्त्वे कृते कार्यं नास्तीति लोपाऽभावः। न च ढलोपो जश्त्वाऽपवादो विज्ञातुं शक्यते, तस्य हि लीढादिर्विषयः सम्भवति।'

यहां पर 'कार्यं नास्तीति लोपाभावः' अर्थात् कार्य नहीं है अतः लोप न होगा—यह पाठ सुष्ठुतया अन्वित न होने से बुद्धिगम्य नहीं होता। परन्तु न्यास को देखने से यह गुत्थी तुरन्त सुलझ जाती है। न्यासकार इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'श्वलिड् ढौकत इत्यादि। यद्यप्यत्र निमित्तं ढकारः सिद्धः, तथापि नैव ढलोप उपपद्यते, जश्त्वे कृते कार्यिणो ढकारस्याऽभावात्।' (न्यास ८.३.१३)

न्यासकार के इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि काशिका के 'कार्यं नास्तीति लोपाऽभावः' पाठ के स्थान पर 'कार्यी नास्तीति लोपाऽभावः' पाठ है जो अतीव सुसंगत तथा बुद्धिग्राह्य है। क्योंकि 'श्वलिढ्+ढौकते' में जब जश्त्व हो जायेगा तो ढकार के स्थान पर डकार के आ जाने से कार्यी (जिस के स्थान पर कार्य होना है) ढकार ही न रहेगा तो पुनः उस के लोप की बात कैसी?

हरदत्तमिश्र के व्याख्यान से भी यही पाठ ध्वनित होता है। तथाहि—

'यथा श्वलिड् ढौकत इत्यत्र जश्त्वे कृते कार्यिणोऽभावः—'

(पदमञ्जरी ८.३.१३)

आश्चर्य होता है कि काशिका के कई हस्तलेखों में शुद्ध पाठ को पा कर भी उस्मानियासंस्करण के सम्पादकमण्डल ने अशुद्ध पाठ को मूल नें दे कर शुद्ध पाठ को नीचे टिप्पण में दिया है।

[४.४४] ढो ढे लोपः (८.३.१३) सूत्र पर काशिका में इस समय 'लीढम्, उपगूढम्' ये दो उदाहरण मुद्रित मिलते हैं, परन्तु न्यास को देखने से प्रतीत होता है कि यहां पर तीसरा 'मीढम्' उदाहरण भी विद्यमान था। तथाहि—

'लिह आस्वादने, मिह सेचने, गुहू संवरणे—एभ्यः ष्टुना ष्टुः इति ष्टुत्वम्, ढलोपः, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः इति दीर्घः।' (न्यास ८.३.१३)

न्यासकार का यहां 'मिह सेचने' धातु का उल्लेख उपर्युक्त बात को प्रमाणित करता है।

[४.४५] रो रि (८.३.१४) सूत्र पदस्य (८.१.१६) अधिकार के अन्तर्गत पढ़ा गया है। यदि 'पदस्य' में स्थानषष्ठी मानें तो 'रः' से विशेषणत्वात् तदन्तविधि होकर रेफा-

न्तस्य पदस्य लोपः' इस प्रकार अर्थ बन कर पुनः वह लोप अलोऽन्त्यपरिभाषा से रेफान्त पद के अन्त्य अल्-रेफ के स्थान पर प्रवृत्त होगा। इस से 'अग्नी रथः, इन्दू रथः, नीरक्तम्, पुना रक्तं वासः' आदि तो सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि इन में पदान्त रेफ विद्यमान है परन्तु 'अजर्घाः, अपास्पाः' आदि जहां पदान्त रेफ नहीं सिद्ध न हो सकेंगे। हमें पदान्त अपदान्त दोनों स्थानों पर रेफ का लोप करना अभीष्ट है। अतः इस की सिद्धि के लिये काशिकाकार यहां पर अनुवर्त्तमान 'पदस्य' में स्थानषष्ठी न मान कर विशेषण-षष्ठी (सम्बन्धषष्ठी=अवयवावयविभावषष्ठी) मानते हैं। इस से 'पदस्य अवयवो यो रेफस्तस्य रेफे परतो लोपो भवति' इस प्रकार अर्थ हो जाने से पदान्त अपदान्त कहीं पर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। इतनी भूमिका जान लेने के बाद अब देखिये यहां पर पिछली पूरी एक शताब्दी से मुद्रित होता चला आ रहा काशिका का यह पाठ—

'पदस्य इत्यत्र विशेषणे षष्ठी, तेन पदान्तस्यापि रेफस्य लोपो भवति। जर्गृधेः—अजर्घाः, पास्पर्धेः—अपास्पा इति।' (काशिका ८.३.१४)

इस मुद्रित पाठ ने सारा मामला ही उलट दिया। काशिकाकार 'पदस्य' में विशेषणषष्ठी मान कर अपदान्त रेफ का भी लोप करना चाहते हैं और इस के लिए 'अजर्घाः' आदि उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं परन्तु मुद्रित पाठ में 'तेन पदान्तस्यापि रेफस्य लोपो भवति' यह विपरीत बात मिलती है। अध्यापक तथा अध्येतृवर्ग यहां खूब माथापच्ची करते हैं पाठ की संगति ही नहीं लगती, लगे भी कैसे जबकि पाठ ही अशुद्ध हो? अब देखिये यहां पर न्यास। न्यासकार इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'इह यदि पदस्येति स्थानषष्ठी स्यात्, ततः अलोऽन्त्यस्य इति पदान्तस्यैव रेफस्य लोपः स्याद् नीरक्तमित्यादौ, अजर्घा इत्यादौ त्वपदान्तस्य न स्यात्। विशेषणषष्ठ्यां त्वस्यामिहापि भवतीत्येतच्चेतसि कृत्वाह—पदस्येत्यादि। विशेषणषष्ठ्यां हि पदस्येत्यस्यैवमभिसम्बन्धः क्रियते—पदस्यावयवो यो रेफस्तस्य रेफे परतो लोपो भवतीति। तेनाऽपदान्तस्यापि भवति।' (न्यास राजशाही सं०[1] ८.३.१४)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि काशिका का अत्रत्य शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

'पदस्य इत्यत्र विशेषणे षष्ठी, तेनाऽपदान्तस्यापि रेफस्य लोपो भवति। जर्गृधेः—अजर्घाः, पास्पर्धेः—अपास्पा इति।'

इस प्रकार सन्दर्भशुद्धि हो जाने पर कुछ भी असंगति नहीं रहती।[2]

सौभाग्य से उस्मानिया सं० में अब यह पाठ शुद्ध कर दिया गया है।

---

१. यह पाठ न्यास के राजशाही संस्करण से लिया गया है, प्राच्यसंस्करण में यह पाठ अत्यन्त भ्रष्ट मुद्रित हुआ है। इस के लिये देखें (५.७४)।

२. उत्तरवर्ती वैयाकरण इस झंझट से बचने के लिये प्रायः 'पदस्य' का यहां सम्बन्ध ही नहीं किया करते। जैसाकि सृष्टिधर भाषावृत्ति की व्याख्या करते हुए केशववृत्ति का यहां एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

[४.४६] सहेः साडः सः (८.३.५६) सूत्र पर काशिका में यह पाठ पाया जाता है—

'साड्ग्रहणं किम् ? यत्रास्यैतद्रूपं तत्र यथा स्यादिह मा भूद्—जलासाहम्, तुरासाहम् ।'

यहां 'जलासाहम्' पाठ को अपपाठ मानते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"क्वचित् जलासाहमिति पाठः स त्वयुक्तः, इष्टत्वादिह षत्वस्य । तथा च वक्ष्यति—'सवनादिष्वश्वसनिग्रहणमनिणोऽपि षत्वं भवतीति ज्ञापनार्थम् । तेन जलाषाहम् अश्वषाहमित्येतत् सिद्धम्भवति' इति ।" (न्यास ८.३.५६)

न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम् (८.३.११०) सूत्र पर काशिका में यह पाठ अद्ययावत् विद्यमान है अतः न्यासकार का कथन युक्त प्रतीत होता है। हरदत्तमिश्र ने भी 'जलासाहम्' पाठ का यहां उल्लेख नहीं किया, केवल 'तुरासाहम्' का ही निर्देश किया है, अतः यहां पर 'जलासाहम्' पाठ प्रमादजन्य मानना ही युक्त है।

[४.४७] सहेः पृतनर्ताभ्यां च (८.३.१०७) सूत्र द्वारा 'पृतनाषाहम्' और 'ऋताषाहम्' रूपों में षत्व का विधान किया जाता है। परन्तु वेद में 'ऋतीषहम्' का प्रयोग बाहुल्येन उपलब्ध होता है।[1] इसमें षत्व की सिद्धि करते हुए काशिकाकार योगविभाग या अनुक्तसमुच्चयार्थ चकार का आश्रय लेते हुए लिखते हैं—

"केचित् 'सहेः' इति योगविभागं कुर्वन्ति । ऋतीषहमित्यत्रापि यथा स्यात् । ऋतिशब्दस्य पूर्वपदस्य संहितायामेतद् दीर्घत्वम्, षत्वं च । अवग्रहे तु ऋतिसहमित्येव भवति । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन ऋतीषहमिति सिद्धम् ।"

(काशिका ८.३.१०७)

तात्पर्य यह है कि 'ऋति+सहम्' में संहिता में इकार को दीर्घ तथा संहिता में ही सह् के सकार को षत्व हो जाता है। अतः वैदिकसंहितावस्था में 'ऋतीषहम्' और अवग्रह=संहिताऽभावदशा में 'ऋतिसहम्' रूप बनता है। यह विशेषता दीर्घ और षत्व दोनों विधियों में संहितायाम् (६.३.११४; ८.२.१०८) के अधिकार के कारण प्राप्त होती है। काशिकाकार का यह व्याख्यान वैदिकसंहिताओं के अत्यन्त

'अपास्याः पदमध्येऽपि न चैकस्मिन् पुना रविः ।
तस्माद्रोरीतिसूत्रेऽस्मिन् पदस्येति न बध्यते ॥'

(भाषावृत्ति राज० सं० पृ० ५४४)

अत एव भट्टोजिदीक्षित आदियों ने यहां 'पदस्य' का कोई उल्लेख ही नहीं किया।

१. 'अग्निरप्सामृतीषहं वीरं ददाति सत्पतिम्' । (ऋ० ६.१४.४)
'तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते' । (ऋ० ८.६८.१)
'तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः' । (ऋ० ८.८८.१)

अनुरूप है। अतएव वैदिकसंहिताओं के पदपाठों में सर्वत्र 'ऋतिऽसहम्' तथा मन्त्रों में 'ऋतीषहम्' पाठ मिलता है।[1]

परन्तु यहां पर 'षत्वं च' इस अंश को काशिका के उस्मानियासंस्करण में छोड़ दिया गया है और इस के छोड़ने का कोई कारण भी टिप्पण में नहीं बताया गया। पूर्व सब मुद्रितसंस्करणों तथा हस्तलेखों में भी यह पाठ अद्ययावत् अक्षुण्ण है। न्यासकार के निम्नस्थ व्याख्यान से भी इस पाठ का काशिका में होना सुनिश्चित होता है—

'ऋतीषहमिति। कृत्यल्युटो बहुलम् इति क्विप्। नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ इति दीर्घत्वम्।[2] संहितायामेतद् दीर्घत्वं षत्वं चेति। उभयोरपि विधाने संहिताऽधिकारात्। दीर्घस्य प्रतिपादनम्—ऋतिशब्दस्यायं[3] प्रयोग इति प्रतिपादनार्थम्। अन्यथा हि ऋतीशब्दान्तरमेवेदमित्याशङ्क्येत।[4] यस्तु मन्यते—वर्णव्यत्ययेनैवात्र षत्वं भविष्यति, तत् किमेतदर्थेन योगविभागेनेति, तं प्रति षत्वस्य सांहितिकत्वम्प्रतिपादितम्। यदि हि व्यत्ययो बहुलम् इति षकारः क्रियते, ततोऽसंहितायामेव स्यात्, न हि तत्र संहिताऽधिकारोऽस्ति। तस्मात् संहिताधिकारे यथा स्यादिति योगविभागः कर्त्तव्य इति भावः।' (न्यास ८.३.१०७)

हरदत्तमिश्र भी इसी पाठ का समर्थन करते हैं—

'उभयत्रापि संहिताधिकारादयं विशेषो लभ्यते।' (पदमञ्जरी ८.३.१०७)

यहां पर 'उभयत्र' कहने से दीर्घ और षत्व दोनों विधियों का द्योतन होता है अतः काशिका में 'षत्वं च' पाठ की विद्यमानता हरदत्तानुमोदित सिद्ध होती है।

उस्मानियासं० में यह पाठ सम्भवतः अनवधानतावश छूट गया होगा।

---

१. दीक्षित ने सि० कौ० के वैदिकप्रकरण में इस सूत्र पर चकार से 'ऋतीषाहम्' उदाहरण दिया है। इस का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर हुआ है—'नू ष्ठिरं मरुतो वीरवन्तमृतीषाहम्' (ऋ० १.६४.१५)। परन्तु पदपाठ में इसे भी 'ऋतिऽसहम्' लिखते हैं।

२. क्विप् प्रत्यय करने पर तो नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ (६.३.११६) से पूर्वपद को संहिता में दीर्घ करना युक्त है। पर 'ऋतीषाहम्' में ण्विप्रत्यय मानते हुए भी शेखरकार नागेशभट्ट का पुनः नहि-वृति-वृषि० सूत्र द्वारा दीर्घविधान युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नहि-वृति० सूत्र में स्पष्टतः 'क्वौ' कहा गया है। अतः ण्विप्रत्यय में अन्येषामपि दृश्यते (६.३.१३७) से दीर्घ मानना चाहिये जैसाकि प्रौढमनोरमा में दीक्षित ने माना है।

३. मुद्रिते न्यासे 'ऋतिशब्दस्यायं प्रयोगः' इत्यस्य स्थाने 'ऋतीशब्दस्यायं प्रयोगः' इति भ्रष्टः पाठ उपलभ्यते।

४. अत्रापि मुद्रिते न्यासे 'ऋतीशब्दान्तरमेव—' इत्यस्य स्थाने 'ऋतिशब्दान्तरमेव—' इत्युपलभ्यमानः पाठो भ्रष्टोऽवसेयः। दृश्यताम् (५.८६)।

[४.४८] शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे (८.४.१८) सूत्र पर काशिका के अद्य-यावत् सब मुद्रितसंस्करणों में प्रत्युदाहरण दर्शाते हुए निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'उपदेशग्रहणं किम् ? इह च प्रतिषेधो यथा स्यात्—प्रनिचकार, प्रनिचखाद, प्रनिपेक्ष्यतीति। इह च मा भूत्—प्रणिवेष्टा, प्रणिवेक्ष्यति।' (काशिका ८.४.१८)

यहां पर 'प्रणिवेक्ष्यति' पाठ अनुचित है। 'इह च मा भूत्' यहां पर यद्यपि 'प्रतिषेधः' का अध्याहार होता है तथापि यहां ऐसा उदाहरण दर्शाना चाहिये जहां उपदेश में धातु कादि, खादि और षान्त तो न हो पर अब वैसी बन चुकी हो। 'प्रणि-वेष्टा' उदाहरण तो ठीक है क्योंकि वह 'विश्' धातु का रूप है जो उपदेश में कादि, खादि या षान्त न होकर अब व्रश्चादिसूत्र (८.२.३६) से षान्त बन चुकी है अतः उस में प्रतिषेध नहीं होता। परन्तु 'प्रणिवेक्ष्यति' उदाहरण ठीक नहीं है यतः उपदेशा-वस्था में विश् धातु के अषकारान्त होने पर भी उस का रूप षकारान्त नहीं बना। षढोः कः सि (८.२.४१) द्वारा प्रवृत्त कत्व को त्रैपादिकपूर्व होने से असिद्ध भी नहीं समझ सकते। न्यास और पदमञ्जरी की व्याख्या से भी यही प्रतीत होता है कि यहां केवल 'प्रणिवेष्टा' प्रत्युदाहरण ही दिया गया है 'प्रणिवेक्ष्यति' नहीं।

[४.४९] यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८.४.४५) सूत्र पर काशिका में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यवचनं कर्त्तव्यम्। वाङ्मात्रम्। त्वङ्-मात्रम्।'

परन्तु न्यासकार यहां पर व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'वाङ्मयमिति। नित्यं वृद्धशरादिभ्य इति मयट्। त्वङ्मयमिति। अत्रापि 'मयड् वैतयोः' इत्यादिना।'[१]

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि काशिका के उदाहरण 'वाङ्मयम्' और 'त्वङ्-मयम्' हैं न कि 'वाङ्मात्रम्' और 'त्वङ्मात्रम्'। 'वाङ्मात्रम्' आदि इसलिये भी असंगत हैं कि यहां अर्थ की असंगति से परिमाणार्थक मात्रच् प्रत्यय नहीं माना जा सकता, यहां तो मात्र (नित्यनपुंसक) अवधारणार्थक उत्तरपद है और मयूरव्यंसकादि तत्पुरुष समास।

हरदत्तमिश्र ने भी पदमञ्जरी में यहां पर न्यास का अनुसरण किया है।

सौभाग्य से काशिका का यह भ्रष्ट पाठ प्राच्यसंस्करण तथा उस्मानिया-संस्करणों में शुद्ध कर दिया गया है।

[४.५०] अनचि च (८.४.४७) सूत्र पर काशिका के प्राच्यसंस्करण और उस्मानिया संस्करण में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'अच इति वर्त्तते, यर इति च। अनच्परस्य अच उत्तरस्य यरो द्वे वा भवतः। दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र॥'

---

१. न्यासकार की प्रक्रिया यहां युक्त नहीं है। देखें (५.९६)।

यहां पर 'वा' का पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इस में निम्नस्थ सात हेतु दिये जा सकते हैं—

(१) काशिकाकार द्वित्व का वैकल्पिकत्व **सर्वत्र शाकल्यस्य** (८.४.५१) से ही सिद्ध करते हैं, **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (८.४.४५) सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति ला कर नहीं। इसीलिये तो उन्हों ने **अचो रहाभ्यां द्वे** (८.४.४६) सूत्र पर भी 'वा' की अनुवृत्ति नहीं दिखाई।

(२) इस सूत्र पर तथा **अचो रहाभ्यां द्वे** (८.४.४६) सूत्र पर 'दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र, अर्क्कः, मर्क्कः' आदि केवल द्वित्वघटित उदाहरणों को प्रदर्शित करना यही सिद्ध करता है कि काशिकाकार यहां पर 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं करते। अन्यथा वे दूसरे द्वित्वाभावपक्ष के भी रूप देते।[1]

(३) न्यासकार (८.४.५१) सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—

'विधिरपि योगद्वयेनोच्यते प्रतिषेधोऽपि। अत्र सामर्थ्यादेव विकल्पो भविष्यति, अन्यथा विधेरनवकाशः स्यात्।'

पुनः 'अवसाने च यरो द्वे भवत इति वक्तव्यम्' (वा ८.४.४७) की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

'अनचि चेति पर्युदासाश्रयणादिदमुच्यते। प्रसज्यप्रतिषेधे तु यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा इत्यतो वाग्रहणमनुवर्त्य शक्यमिदमकर्तुम्, नैतत्, प्रसज्यप्रतिषेधे हि विधिवाक्यत्वं सूत्रस्य नोपपद्यते, ततश्च केनचिद् द्विर्वचनं स्यात्? तस्मादेव प्रतिषेधवाक्याद् विधिवाक्यताऽस्यानुमास्यत इत्यदोषः। प्रसज्यप्रतिषेधे सति प्रतिपत्तिगौरवभयात् पर्युदासाश्रयणम्।' (न्यास ८.४.४७)

प्रथम सन्दर्भ से स्पष्ट है कि योगद्वय (**अचो रहाभ्यां द्वे, अनचि च**) विधिसूत्र हैं और नित्य कार्य विधान करते हैं। निषेधद्वय (**सर्वत्र शाकल्यस्य, दीर्घादाचार्याणाम्**) के कारण इनका पर्यवसान स्वतः ही विकल्प में हो जाता है। दूसरे सन्दर्भ का अभिप्राय यह है कि काशिकाकार ने प्रतिपत्तिगौरव से बचने के लिये **अनचि च** सूत्र में पर्युदास का आश्रय किया, इसलिये उन को 'अवसाने च यरो द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इस वार्तिक की आवश्यकता पड़ी है। अन्यथा यदि वे प्रसज्यप्रतिषेध स्वीकार करते तो 'वा' का अनुकर्षण कर **अनचि च** से दोनों रूप सिद्ध कर सकते थे। यही भाव हरदत्तमिश्र ने भी पदमञ्जरी में व्यक्त किया है—

'अवसान इति। पर्युदासाऽऽश्रयणादिदमारब्धम्। प्रसज्यप्रतिषेधे तु परस्य निमित्तस्यानाश्रयणाद् 'वा' इत्यधिकारात् सिद्धम्।' (पदमञ्जरी ८.४.४७)

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि काशिकाकार से पूर्ववर्त्ती पाणिनीय वैयाकरणों में दो पक्ष थे। एक इस में प्रसज्यप्रतिषेध मानते थे और दूसरे पर्युदासप्रतिषेध,

१. वाक्क्, वाक् आदि कुछ वैकल्पिक उदाहरण भाष्यपाठानुरोध के कारण ही काशिका में प्रदर्शित किये गये हैं जो **सर्वत्र शाकल्यस्य** (८.४.५१) के परिणामस्वरूप फलित हुए हैं।

पर्युदासप्रतिषेध मानने वाले वैयाकरण पूर्वसूत्र (यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा) से 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं करते थे परन्तु प्रसज्यप्रतिषेधवादी 'वा' की अनुवृत्ति लाते थे। काशिकाकार पर्युदासप्रतिषेध मानने वाले हैं अतः उन्होंने यहां 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं किया— यह सुतरां सिद्ध हो जाता है।

(४) सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित इस सूत्र में 'वा' का अनुवर्त्तन करते हैं।[1] इस विषय में वे प्रौढमनोरमा में प्रमाण उपस्थित करते हुए लिखते हैं—

'यरोऽनुनासिके० इति सूत्राद्वाग्रहणमनुवर्त्तत इति नाज्झलौ इति सूत्रे कैयटः। एवं च सर्वत्र शाकल्यस्य इति सूत्रं प्रपञ्चभूतं पूर्वोत्तरद्वयं च नाऽऽरम्भणीयमिति भावः।' (प्रौढमनोरमा पृष्ठ ६३)

यहां पर भट्टोजिदीक्षित का 'वा' के अनुवर्त्तन के समर्थन में कैयट को प्रमाणत्वेन उपस्थित करना इस बात को सुतरां स्पष्ट करता है कि उन के सामने काशिकावृत्ति में 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं था, वरन् वे वृत्ति को भी प्रमाणत्वेन उपस्थित करते। उन्हों ने वृत्ति की परम्परा को तोड़ा अत एव उन को अपने पक्ष की पुष्टि के लिये कैयट के वचन को उद्धृत करना पड़ा।

(५) प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने अचो रहाभ्यां द्वे तथा अनचि च सूत्र पर 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं किया। पुनः विकल्पसिद्धि के लिये वे लिखते हैं—

'अन्त्यमतेन सर्वद्वित्वविकल्पः सिद्धः।' (प्रक्रियास०, प्रथमखण्ड पृष्ठ ३७)

इस की व्याख्या करते हुए सर्वस्वप्रकाशिकाव्याख्याकार लिखते हैं—

"एतच्च वृत्त्यनुसारेणोक्तम्। नाज्झलावितिसूत्रे कैयटस्त्वाह—'यरोऽनुनासिके० इतिसूत्राद् वाग्रहणमनुवर्त्तते' इति।" (वही पृ० ३७)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि वृत्तिकार ने 'अनचि च' आदि सूत्रों में 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं किया।[2]

(६) काशिका के कई प्राचीन मुद्रित संस्करणों में 'वा' का पाठ नहीं पाया जाता। यथा—लाजरेसप्रेस मुद्रित बालशास्त्रिसम्पादित संस्करण, अनन्तशास्त्रिसम्पादित चौखम्बासंस्करण (सन् १९३१)।

(७) यदि यहां 'वा' का अनुवर्त्तन करते हैं तो त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८.४.५०) और सर्वत्र शाकल्यस्य (८.४.५१) ये दोनों सूत्र अथवा मतान्तर से दीर्घादाचार्याणाम् (८.४.५२) सहित तीनों सूत्र व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि रूपद्वय के सिद्ध हो जाने से उन का कुछ उपयोग ही नहीं रहता जैसाकि 'वा' का अनुवर्त्तन करने पर दीक्षित कहते हैं—

---

१. अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि—सि० कौ०।

२. इसी प्रकार मिताक्षराकार अन्नम्भट्ट ने भी दोनों सूत्रों में 'वा' का अनुवर्त्तन नहीं किया। परन्तु सम्पादक ने दोनों सूत्रों में 'वा' को कोष्ठकान्तर्गत छाप दिया है जो उन की कौमुदीवासनावासित मनःस्थिति का परिचायक है।

'एवं च सर्वत्र शाकल्यस्येति सूत्रं प्रपञ्चभूतं पूर्वोत्तरद्वयं च नाऽऽरम्भणीयमिति भावः ।' (अनचि च सूत्र पर प्रौढमनोरमा)

अतः काशिकाकार के लिये यह सम्भव ही नहीं कि वे ऐसा मार्ग अपनाएं जिस से पाणिनि के सूत्र निरुपयोगी या व्यर्थ समझे जायें। इसलिये इस बात की ही पूरी पूरी सम्भावना है कि वे सूत्रों की व्यर्थता सिद्ध करने की अपेक्षा 'वा' का अनुवर्त्तन ही नहीं करेंगे। जैसाकि बालमनोरमाकार ने कहा है—

'एतत्सूत्रत्रयविरोधाद् अनचि चेत्यत्र वाग्रहणं नाऽनुवर्त्यमिति युक्तं प्रतिभाति।'

(सि० कौ०, बालमनोरमा, पृष्ठ ३८)

[४.५१] **खरि च** (८.४.५५) सूत्र पर काशिका में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'खरि च परतो झलां चरादेशो भवति। झल्ग्रहणं नाऽनुवर्त्तते, पूर्वसूत्रे चाऽनुकृष्टत्वात्।'

बड़े कुतूहल का विषय है कि 'झलां चरादेशो भवति' इस प्रकार अर्थ करते हुए भी काशिकाकार यह कह रहे हैं कि यहां 'झलाम्' की अनुवृत्ति नहीं आती क्योंकि पूर्वसूत्र (**अभ्यासे चर्च** ८.४.५४) में चकारग्रहण से उस का अनुवर्त्तन हुआ है—'चाऽनुकृष्टं नोत्तरत्र'। अध्येतृवृन्द काशिका के इस पाठ से प्रायः गड़बड़ा जाते हैं और इस की संगति लगाने में असमर्थ रहते हैं। संगति लगे भी कैसे जबकि पाठ ही भ्रष्ट हो? अब देखिये इस से पूर्वसूत्र **अभ्यासे चर्च** (८.४.५४) पर न्यास की व्याख्या। इस से गुत्थी तुरन्त सुलझ जाती है—

'अभ्यासे चर्च। चकारेण जश्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेनोत्तरत्र तदनुवृत्तिर्न भवति।'

(न्यास ८.४.५४)

इस से बात स्पष्ट हो जाती है कि पूर्वसूत्र में चकार से जश् का अनुवर्त्तन हुआ था वह अब यहां **खरि च** (८.४.५५) में 'चाऽनुकृष्टं नोत्तरत्र' न्याय से नहीं आयेगा। यही बात काशिकाकार यहां कहना चाह रहे हैं। अतः न्यास के अनुसार काशिका का यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

'जश्ग्रहणं नाऽनुवर्त्तते, पूर्वसूत्रे चाऽनुकृष्टत्वात्।'

अब यह पाठ सुसंगत और बुद्धिग्राह्य हो जाता है।

सौभाग्य से एक शताब्दी से भी अधिक समय से अशुद्ध चला आ रहा यह पाठ अब उस्मानियासंस्करण में शुद्ध कर दिया गया है।

[४.५२] **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** (८.४.६१) सूत्र पर काशिका के मुद्रित सब संस्करणों में यह पाठ पाया जाता है—

'उदः पूर्वसवर्णत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम्—अग्ने दूरमुत्कन्दः।'

यहां पर प्रदत्त उदाहरण इदानीमुपलब्ध समग्र वैदिकसाहित्य में कहीं नहीं पाया जाता। महाभाष्य में इस उदाहरण का 'अघ्न्ये दूरमुत्कन्द' इस प्रकार पाठ पाया

जाता है। V.P. Limaye इसे वैदिकसाहित्य में अनुपलब्ध (Untraced) बताते हैं।[1]

उपर्युक्त काशिकोक्त उदाहरण पर हरदत्तमिश्र ने कोई टिप्पण नहीं की। परन्तु न्यासकार इस के अन्त्य पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'उत्कन्देति। लोट्, सिप्, सेर्ह्यपिच्च इति हिरादेशः, अतो हेः इति हेर्लुक्।'
(न्यास ८.४.६१)

इस से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि काशिकानिर्दिष्ट उदाहरण के अन्त में वर्त्तमानमुद्रित 'उत्कन्दः' के स्थान पर 'उत्कन्द' पाठ होना चाहिये। उपर्युक्त महाभाष्यस्थ उदाहरण के अन्त में भी 'उत्कन्द' पाठ है। विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादव्याख्या (द्वितीयभाग पृष्ठ ७३४) में इसे 'अग्ने दूरमुत्कन्दनम्' लिखा है। इसी प्रकार लघुशब्देन्दुशेखर की व्याख्या चिदस्थिमाला में 'अघ्न्ये इहमुत्कन्द' पाठ दिया गया है (पृष्ठ ३५७)। ये दोनों पाठ अर्थानवबोधमूलक हैं।

[४.५३] **हलो यमां यमि लोपः** (८.४.६४) सूत्र पर काशिका के प्राच्य और उस्मानिया संस्करणों में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'हल इति किम्? आन्नम्।'

यहां पर 'आन्नम्' पाठ के स्थान पर 'अन्नम्' पाठ चाहिये। बालशास्त्रिसम्पादित तथा अनन्तशास्त्रिसम्पादित संस्करणों में 'अन्नम्' पाठ ही दिया गया है। हरदत्तमिश्र ने भी यहां 'अन्नमिति। भवत्ययं नकारोऽयम्, यम्परश्च, न तु हलः परः' इस प्रकार कह कर 'अन्नम्' पाठ की ही पुष्टि की है। न्यासकार यहां पर लिखते हैं—

'अन्नाण्णः इति निपातनाद् अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति इति न भवति जग्ध्यादेशः, रदाभ्यामित्यादिना निष्ठानत्वम्।'

प्रतीत होता है कि प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने न्यास में उद्धृत **अन्नाण्णः** (४.४.८५) सूत्र को देखकर उदाहरण में तद्धितान्तप्रयोग की कल्पना कर 'आन्नम्' यह भ्रष्ट पाठ छाप दिया। प्राच्यसंस्करण के इसी भ्रष्ट पाठ का उस्मानियासंस्करण के सम्पादकों ने अन्धानुकरण किया। न्यासकार तो 'अद्+क्त=अद्+त=अन्नम्' में अद् को जग्धि आदेश क्यों नहीं होता इस का समाधान प्रस्तुत करने के लिये **अन्नाण्णः** सूत्र को उद्धृत कर रहे हैं न कि तद्धितप्रत्यय दर्शाने के लिये।

काशिका के प्रायोऽनुगामी अभयनन्दी ने जैनेन्द्रमहावृत्ति में 'हल इति किम्? अन्नम्' ऐसा ही पाठ दिया है।[2] पाल्यकीर्त्ति की अमोघावृत्ति,[3] हेमचन्द्रसूरि की बृहद्वृत्ति[4] तथा अन्नम्भट्ट की मिताक्षरा[5] आदि में भी 'अन्नम्' ही प्रत्युदाहरण दिया गया है।

१. देखें (Critical Studies on the Mahabhasya, Page 772)।
२. देखें—जैनेन्द्रमहावृत्ति (५.४.१३८)।
३. देखें—शाकटायनव्याकरण अमोघावृत्ति (१.१.१३२)।
४. देखें—हैमशब्दानुशासन बृहद्वृत्ति (१.३.४७)।
५. देखें—व्याकरणमिताक्षरा (८.४.६४)।

[४.५४] हलो यमां यमि लोपः (८.४.६४) सूत्र पर काशिका के सब मुद्रित संस्करणों में यह पाठ उपलब्ध होता है—

'यमामिति किम् ? अग्निः । अर्घ्यम् ।'

इन में से केवल 'अर्घ्यम्' प्रत्युदाहरण का ही न्यास और पदमञ्जरी में उल्लेख और व्याख्यान मिलता है, 'अग्निः' का कहीं निर्देश तक नहीं। काशिका के भूयोऽनुगामी जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी ने भी इस प्रत्युदाहरण का उल्लेख नहीं किया। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्रत्युदाहरण बाद का प्रक्षिप्त है। इस के अतिरिक्त इस का औचित्य भी कुछ नहीं है, क्योंकि यदि यहां नकार को 'यमि' मानें तो गकार हल् से परे नहीं रहता। अथवा यदि 'अनचि च' (८.४.४७) से गकार को द्वित्व कर लें तो अग्ग्निः' में द्वितीय गकार का प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक लोप कर देने पर भी 'अग्निः' रूप ही बनेगा जो पहले से ही 'अनचि च' के द्वित्वाभावपक्ष में विद्यमान है। अतः लोप का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, लोप से पूर्व भी दो रूप थे और अब लोप करने के बाद भी दो ही रूप रहे। इसलिये यह प्रत्युदाहरण युक्त नहीं है। 'अर्घ्यम्' प्रत्युदाहरण ही ठीक बैठता है, क्योंकि यदि रेफ-हल् से परे घकार का लोप हो जाये तो अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है।

न्यास की सहायता से केवल काशिका के ही नहीं अपितु पदमञ्जरी, अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्ति, ज्ञानेन्द्रभिक्षुकृत तत्त्वबोधिनी आदि के कई अपपाठ भी शुद्ध किये जा सकते हैं। निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण यथा—

[४.५५] व्यन्त्सपत्ने (४.१.१४५) सूत्र पर हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'ननु च नित्यं सपत्न्यादिषु इति सपत्नीशब्द एव स्त्रीलिङ्गो व्युत्पादितः, तत्कथं पुंलिङ्गस्य प्रयोगस्तत्राह—सपत्नशब्द इत्यादि। इवार्थ इति। सादृश्ये। यथा पत्नी दुःखहेतुस्तथा शत्रुरपीत्येतत्सादृश्यम्।' (पदमञ्जरी ४.१.१४५)

यहां पर 'यथा पत्नी दुःखहेतुस्तथा शत्रुरप्येतत्सादृश्यम्' यह पाठ हास्यास्पद है। मिश्र ने न्यास के अनुकरण पर ऐसा लिखा है। न्यासस्थ पाठ इस प्रकार है—

'ननु नित्यं सपत्न्यादिषु इति सपत्नीशब्द एव स्त्रीलिङ्गो व्युत्पादितः, तत्कथं सपत्न इति प्रयोगः पुंलिङ्गस्य युज्यत इत्याह—सपत्नशब्दः शत्रुपर्याय इत्यादि। इवार्थं इति। इवार्थः—सादृश्यम्। यथैव हि सपत्नी दुःखहेतुः, तथा शत्रुरपीति।' (न्यास ४.१.१४५)

इस से सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि पदमञ्जरी का उपर्युक्त पाठ भ्रष्ट है। उस का शुद्ध पाठ इस प्रकार ऊहित करना चाहिये—

'यथा सपत्नी दुःखहेतुस्तथा शत्रुरपीत्येतत्सादृश्यम्।'

अब यह पाठ सुसंगत तथा स्पष्ट हो जाता है।

[४.५६] कत्र्यादिभ्यो ढकञ् (४.२.९५) सूत्र पर 'कात्त्रेयकः' की सिद्धि दर्शाते हुए पदमञ्जरी में निम्नस्थ पाठ उपलब्ध होता है—

'कात्त्रेयक इति । कुत्सितास्त्रय इति बहुव्रीहिर्वा ।' (पदमञ्जरी ४.२.९५)

'कुत्सितास्त्रयः' यह विग्रह बहुव्रीहि का कैसे हो सकता है ? अत एव यहां पाठ-भ्रष्टता स्पष्ट है । यह पाठ हरदत्तमिश्र ने न्यास का अनुकरण करते हुए लिखा है । न्यास में पाठ इस प्रकार है—

'कत्त्रिशब्दश्च तत्पुरुषः—कुत्सितास्त्रयः, कोः कत्० इति योगविभागात् कद्भावः, अत एव निपातनात् । बहुव्रीहिर्वा कुत्सितास्त्रयो यस्याः सा कत्त्रिः ।'

(न्यास ४.२.९५)

इस से स्थिति स्पष्ट हो जाती है । पदमञ्जरी का शुद्ध पाठ सामने आ जाता है—

'कुत्सितास्त्रय इति तत्पुरुषः । बहुव्रीहिर्वा ।'

अथवा विरामचिह्न दे देने से उपर्युक्त पाठ भी शुद्ध हो सकता है । तद्यथा—

'कात्त्रेयक इति । कुत्सितास्त्रय इति । बहुव्रीहिर्वा ।'

[४.५७] सर्वत्राण् च तलोपश्च (४.३.२२) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

"ननु च 'छन्दसि' इति नाऽनुवर्तिष्यते ? सैवाऽननुवृत्तिः शब्देनाऽऽख्यायते प्रयत्नाऽऽधिक्येन पूर्वसूत्रेऽपि सम्बन्धार्थम् । हैमन्तिकमिति हि भाषायामपि ठनं स्मरन्ति ।"

काशिकाकार का अभिप्राय यह है कि इस सूत्र में छन्दसि ठञ् (४.३.१९) से 'छन्दसि' का अनुवर्त्तन आ रहा है परन्तु सूत्रकार इस सूत्र की प्रवृत्ति भाषा (लोक) में भी चाहते हैं अतः उन्हों ने यहां 'सर्वत्र' का ग्रहण किया है । इस पर पूर्वपक्षी पूछता है कि हम अस्वरितत्वात् 'छन्दसि' का यहां अनुवर्त्तन ही नहीं करेंगे तो भला उस के लिये 'सर्वत्र' ग्रहण की आवश्यकता ही क्या ? इस पर काशिकाकार उत्तर देते हैं कि 'छन्दसि' की वह अननुवृत्ति ही यहां 'सर्वत्र' शब्द से प्रयत्नपूर्वक अनूदित की गई है, अतः इस से यह विदित होता है कि पूर्वसूत्र (हेमन्ताच्च ४.३.२१) में भी 'सर्वत्र' का सम्बन्ध होता है । इस से पूर्वसूत्र की भी प्रवृत्ति लोक में हो जाती है । अब देखिये इस पाठ पर पदमञ्जरी की व्याख्या—

'सैवेत्यादि । याऽसौ अस्वरितत्वाद् अनुवृत्तिः सैव सर्वत्रेत्यनेन शब्देनाख्यायते ।'

भला अस्वरितत्वाद् अनुवृत्ति कैसे हो सकती है, वह तो अननुवृत्ति (अनुवृत्ति का अभाव) ही होगी ? अतः यहां का पाठ भ्रष्ट है । मिश्र ने यह व्याख्या न्यास का अनुकरण करते हुए लिखी है । न्यास में यहां का पाठ इस प्रकार है—

'याऽसावस्वरितत्वाद् अननुवृत्तिः सैव सर्वत्रेत्यनेन शब्देनाऽऽख्यायते ।'

(न्यास ४.३.२२)

अतः पदमञ्जरी में भी 'अननुवृत्तिः' पाठ होना चाहिये । ध्यान रहे कि पद-

मञ्जरी के लाज़रसप्रेस के संस्करण में यह पाठ शुद्ध छपा था (देखें पदमञ्जरी, लाज़रस प्रेस संस्करण द्वितीय भाग पृष्ठ १६६)।

[४.५८] 'अमावास्या' शब्द से **तत्र जातः** के अर्थ में **अमावास्याया वा** (४.३.३०) से वुन् प्रत्यय विकल्प से विधान किया जाता है—अमावास्यायां जातः—अमावास्यकः, पक्ष में सन्धिवेलादिगणान्तर्गत पाठ के कारण **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६) से अण् प्रत्यय भी हो जाता है। अमावास्यायां जातः—आमावास्यः। इन दो प्रत्ययों के अतिरिक्त **अ च** (४.३.३१) सूत्र से तीसरा 'अ' प्रत्यय भी विधान किया जाता है। अमावास्यायां जातः—अमावास्यः। इस प्रकार **तत्र जातः** के अर्थ में अमावास्याशब्द से 'वुन्, अण्, अ' ये तीन प्रत्यय किये जाते हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि **अमावास्याया वा** (४.३.३०) और **अ च** (४.३.३१) इन दो योगों को पृथक् पृथक् रखने की क्या आवश्यकता है, दोनों के स्थान पर 'अमावास्याया अ च वा' इस प्रकार एक ही सूत्र क्यों नहीं बना दिया जाता, 'च' से 'वुन्' का आकर्षण हो जायेगा और 'वा' के कारण पक्ष में सन्धिवेलादित्वात् अण् भी हो सकेगा? अब इस शङ्का और इस के समाधान को न्यासकार के शब्दों में देखिये—

'अथ योगविभागः किमर्थः, न 'अमावास्याया अ च वा' इत्येवोच्येत, चकारो वुनोऽनुकर्षणार्थो भविष्यति, वावचनं चोभयोर्विकल्पार्थम्, तेन ताभ्यां मुक्तेऽणपि भविष्यति? अस्त्येतत्, किन्तु एकयोगे सति 'सिन्ध्वपकराभ्यां कन्' इति कन्नेव विकल्पेन भवतीति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यादतस्तन्निवृत्त्यर्थं योगविभागे हि सति व्यवधानतया विकल्पस्य कन् नित्यो विज्ञायते।' (न्यास ४.३.३१)

न्यासकार के समाधान का अभिप्राय यह है कि **अमावास्याया वा** (४.३.३०) से वुन् और पक्ष में अण् प्रत्यय हो जायेगा, पुनः **अ च** (४.३.३१) सूत्र से 'अ' प्रत्यय भी संगृहीत हो जायेगा। इस तरह **अ च** (४.३.३१) सूत्र में 'वा' की अनुवृत्ति नहीं लाई जायेगी, इस से **सिन्ध्वपकराभ्यां कन्** (४.३.३२) इस अग्रिम सूत्र के वैकल्पिक होने की आशङ्का नहीं रहेगी।

अब देखिये न्यास का अनुकरण एवं अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र का पदमञ्जरीस्थ पाठ—

'किमर्थो योगविभागः, न च 'अमावास्याया वा' इत्युच्येत, चकाराद्वुन्,[1] वावचनादुभयोरभावेऽणपि भविष्यति? सत्यम्; उत्तरत्र तु विकल्पानुवृत्तिः शङ्क्येत। योगविभागे तु सन्धिवेलाद्यणोऽभ्यनुज्ञानाय पूर्वसूत्रे वाग्रहणसामर्थ्याद् अस्यापि विकल्पसिद्धेरिह वाग्रहणं नानुवर्त्यमिति व्यवधानादुत्तरत्र विकल्पस्य निवृत्तिः सिद्धा भवति।' (पदमञ्जरी ४.३.३१)

यहां पदमञ्जरी का पाठ भ्रष्ट है। अमावास्याया वा इत्युच्येत—यह कैसा?

---

१. 'चकाराद् वुन्' इति मुद्रितः पाठोऽपपाठः। न हि 'पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद् वुन्' (४.३.२८) इति पूर्वसूत्रेण वुन् विधीयते, अपि तु वुन्नेव।

यह सूत्र तो पूर्वतः विद्यमान है ही, पुनः 'इत्युच्येत' कैसा ? इस सूत्र की स्थिति में 'चकाराद्वुन्' तथा 'उभयोरभावे' इस की संगति कैसे लगेगी ? अतः यहां पर भी न्यासवत् 'अमावास्याया अ च वा' इस प्रकार का पाठ रखना चाहिये तभी संगति लग सकेगी।

[४.५९] समः सुटि (८.३.५) सूत्र पर भाष्यकार तथा काशिकाकार ने सम् के मकार को सकार आदेश करने के लिये द्विसकारक निर्देश का उल्लेख किया है। उन का अभिप्राय यह है कि 'समः सुटि' सूत्र को 'समः स्सुटि' या 'समस्स्सुटि' इस प्रकार पढ़ना चाहिये। इस की व्याख्या करते हुए पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'द्विसकारको निर्देश इति। स च सुटः सकारे सन्देहाऽभावात् तद्व्यतिरेकेण द्विसकारकत्वम्। वस्तुतस्तु त्रयः सकाराः—एको विभक्तिसम्बन्धी, द्वितीय आदेशः, तृतीयस्तु रुसम्बन्धी।' (पदमञ्जरी ८.३.५)

यहां पर 'तृतीयस्तु रुसम्वन्धी' यह पाठ समझ से परे है। यतः 'समस्स्सुटि' इस तीन सकार वाले सूत्र में पहला सकार 'समः' के विसर्ग से बना विभक्तिसम्बन्धी ठीक है, दूसरा सकार भी आदेश किये जाने वाले सकार का प्रथमान्त रूप ठीक है, पर तीसरा रुसम्वन्धी है—यह बुद्धिगम्य नहीं। इस प्रकार हरदत्त के पाठ की असङ्गति स्पष्टतर है। परन्तु ये पंक्तियां हरदत्त ने न्यास का अनुकरण करते हुए लिखी हैं। अतः न्यास को देखने से असंगति तत्क्षण दूर हो जाती है। यहां पर न्यास का पाठ इस प्रकार है—

'यस्मिन् पक्षे विभक्तिसकारस्य विसर्जनीये कृते 'वा शरि' इति सकारो न क्रियते, तं पक्षमाश्रित्येदमुक्तम्; अन्यथा हि त्रिसकारकोऽयं निर्देश इति वक्तव्यं स्यात्, त्रयाणां सकाराणां सन्निपातात्। एको हि विभक्तिसम्बन्धी सकारः, द्वितीयस्त्वादेशसम्बन्धी, तृतीयः सुट्सम्बन्धी।' (न्यास ८.३.५)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि हरदत्तमिश्र का यहां पर शुद्ध पाठ 'सुट्सम्वन्धी' था जो किसी अल्पज्ञ लिपिकर के हाथों 'रुसम्बन्धी' होकर एक समस्या बन गया है।

[४.६०] समः सुटि (८.३.५) सूत्र पर हरदत्तमिश्र का यह पाठ भ्रष्ट है—'यदि सकारे आदेशो विधीयते, अनुनासिको न प्राप्नोति।'

यह पंक्ति न्यास की निम्ननिर्दिष्ट पंक्ति के आधार पर लिखी गई है—

'यदि तर्हि सकार आदेशो विधीयते, अनुनासिको न प्राप्नोति।'

अतः पदमञ्जरी में भी 'सकारे' के स्थान पर 'सकारः' पाठ होना चाहिये। किसी अल्पज्ञ लिपिकर ने 'सकार आदेशः' इस पाठ का 'सकारे आदेशः' इस प्रकार सन्धिच्छेद कर लिया प्रतीत होता है।

[४.६१] 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८.४.३) सूत्र पर पदमञ्जरी के प्राच्यसंस्करण में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'यद्यपि पूर्वपदस्थं निमित्तमुत्तरपदस्थो निमित्तीति भिन्नपदस्थत्वमप्यस्ति तथापि समासे कृते ततो वा विभक्तिरुत्पद्यते तया समुदायस्य पदसंज्ञायां सत्यां तस्मिन् समानेऽपि पदे भावाद् अस्त्येव पूर्वेण प्राप्तिः।'

यहां पर 'ततो वा' के स्थान पर 'ततो या' पाठ चाहिये। ये पंक्तियां हरदत्त-मिश्र ने न्यास के निम्नस्थ पाठ के आधार पर लिखी हैं—

'यद्यपि समासार्थाभ्यां पदाभ्यां या विभक्तिरुत्पन्ना तस्यां लुप्तायामपि तयोः प्रत्येकं प्रत्ययलक्षणेन पदसंज्ञायां सत्यां समासावयवापेक्षया समानपदतास्ति, तथापि समासाद् या विभक्तिरुत्पन्ना तया समासस्य पदसंज्ञायां सत्यां समुदायापेक्षया समान-पदताऽस्त्येव तस्मात् समासेऽपि समानपदे निमित्तनिमित्तिनोर्भावादस्ति पूर्वेण प्राप्तिः।' (न्यास ८.४.३)

यहां पर स्पष्टतः न्यासकार ने 'या विभक्तिरुत्पन्ना' लिखा है जो असन्दिग्ध तथा सुसङ्गत है। अतः हरदत्त के अनुकरणरूपग्रन्थ में भी ऐसा ही होना चाहिये। लेखकप्रमाद से अन्यथा हो गया है।

[४.६२] उपसर्गाद् बहुलम् (८.४.२८) सूत्रस्थ पदमञ्जरी में यह पाठ पाया जाता है—

'न सम्प्रति क्रियायोगाभावात् प्राद्युपलक्षणमुपसर्गग्रहणम्।'

यह पाठ किसी भी तरह सङ्गत नहीं। पदमञ्जरीकार को क्या विवक्षित है इस का पता नहीं चलता। अब देखिये न्यास का पाठ जिस के अनुकरण पर हरदत्त ने यह पाठ लिखा है—

'नसादेशस्याक्रियावाचित्वात् तं प्रति उपसर्गत्वं न सम्भवतीति प्राद्युपलक्षणार्थ-मेतदुपसर्गग्रहणं विज्ञायते।' (न्यास ८.४.२८)

इस से पदमञ्जरी का पाठ तुरन्त समझ में आ जाता है। किसी कुलेखक ने 'नसं प्रति—' के स्थान पर 'न सम्प्रति—' पाठ लिख कर बड़े-बड़े वैयाकरणों को भी 'दशरा मशराः' (दश रामशराः) की तरह चक्कर में डाल दिया है। शोक तो इस बात पर है कि पदमञ्जरी के सम्पादकों को भी यहां कुछ न सूझा।[1]

---

१. प्राच्यसंस्करण में विरामों के सम्पादकजन्य दुष्प्रयोगों के कारण अनेक स्थानों पर न केवल न्यास का अपितु पदमञ्जरी का पाठ भी भ्रष्ट और दुर्बोध हो गया है। निदर्शनार्थं कंशम्भ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः (५.२.१३८) सूत्र पर पदमञ्जरी का निम्नस्थ पाठ देखिये—

'अल्पाच्तरम् इति सुखस्य पूर्वनिपातः प्राप्तः, न कृतः सूत्रकारेणैव; तत्र व्यभिचरितत्वात्।'

यहां पाठक सोचता ही रह जाता है कि सूत्रकार ने कहां 'सुख' का पूर्वनिपात नहीं किया क्योंकि समग्र अष्टाध्यायी में तो ऐसा कोई स्थल है नहीं। वस्तुतः

[४.६३] न भा-भू-पू-कमि-गमि-प्यायी-वेपाम् (८.४.३४) सूत्र पर काशिकास्थ 'ण्यन्तानां भादीनामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्' वार्त्तिक की व्याख्या के प्रसङ्ग में पदमञ्जरी में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'ण्यन्तस्याधात्वन्तरत्वान्न प्राप्नोतीति वचनम्'।

यहां पर ण्यन्त को अधात्वन्तर कहा गया है जो 'न प्राप्नोति' के साथ संगत नहीं होता। परन्तु हरदत्तमिश्र का यह पाठ न्यास के अधोलिखित वचन के आधार पर लिखा गया है—

'ण्यन्तानां ग्रहणं शब्दान्तरत्वान्न प्राप्नोति तस्मादुपसंख्यानं कर्त्तव्यमेवेति।' (न्यास ८.४.३४)

इस से पदमञ्जरी के पाठ में नञ् का प्रक्षेप लेखककृत सिद्ध होता है। शुद्ध पाठ ऐसा होना चाहिये—

'ण्यन्तस्य धात्वन्तरत्वान्न प्राप्नोतीति वचनम्।'

कैयट ने महाभाष्यप्रदीप में भी यहां यही कहा है—

'ण्यन्तस्य धात्वन्तरत्वान्निषेधो न प्राप्नोतीति वचनम्।' (प्रदीप ८.४.३४)

[४.६४] क्षुभ्नादिषु च (८.४.३९) सूत्र पर पदमञ्जरी में यह पाठ पाया जाता है—

'क्षुभ्ना इति स्वरूपग्रहणं न धातुग्रहणम्, तेन क्षोभणमित्यादौ णत्वं भवत्येव। क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्तीति। अत्र त्वाल्लोपयोः स्थानिवद्भावाद् एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाद्वा णत्वं न भवति।' (पदमञ्जरी ८.४.३९)

यहां पर 'अत्र त्वाल्लोपयोः स्थानिवद्भावात्' इस की संगति नहीं बैठती, क्योंकि 'क्षुभ्नीतः' में तो ई हल्यघोः (६.४.११३) से ईत्व हुआ है, किञ्च 'आल्लोपयोः' यहां द्विवचन कैसा? अतः अवश्य ही यहां कुछ पाठ भ्रंश है।

मिश्र ने ये पंक्तियां न्यास का अनुकरण करते हुए लिखी हैं। अतः न्यास को

बात विरामचिह्नों के दुष्प्रयोग की है। मिश्र इस सूत्र पर काशिका के 'कम्शमिति मकारान्तावुदकसुखयोर्वाचकौ' इन वचनों की व्याख्या कर रहे हैं। काशिकाकार ने 'उदकसुखयोः' का प्रयोग किया है। इस में 'सुख' का पूर्वनिपात न कर 'उदक' का पूर्वनिपात किया गया है। हरदत्त यहां यह कहना चाहते हैं कि काशिकाकार के वचन को दूषित नहीं समझना चाहिये क्योंकि पूर्वनिपात में इस प्रकार का व्यभिचार सूत्रकार ने स्वयं भी कई स्थानों पर किया है। पदमञ्जरी का यह पाठ इस प्रकार छपना चाहिये था—

'अल्पाच्तरम् इति सुखस्य पूर्वनिपातः प्राप्तः, न कृतः। सूत्रकारेणैव तत्र व्यभिचरितत्वात्।'

सम्पादकों ने हरदत्त के आशय को न समझ कर 'सूत्रकारेणैव' पर Semi-colon (;) लगा कर सारे आशय को ही पलट दिया है।

देखकर इस के पाठ का संशोधन किया जा सकता है। न्यास का अत्रत्य पाठ इस प्रकार है—

'क्षुम्ना इति स्वरूपग्रहणमेतत्, न धातुग्रहणम्। अन्यथा 'क्षोभणम्' इत्यत्रापि स्यात् प्रतिषेधः। यद्येवं क्षुम्नन्तीत्यत्र श्नाभ्यस्तयोरातः इत्याकारलोपे कृते क्षुम्नीत इत्यत्र 'ई हल्यघोः' इतीत्वे कृते णत्वस्य प्रतिषेधो न स्यात्, स्वरूपस्याऽभावात्। अजादेशस्य स्थानिवद्भावाद् एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्वा भविष्यतीत्यदोषः।' (न्यास ८.४.३९)

न्यासकार के इस व्याख्यान से स्थिति स्पष्ट हो जाती है और पदमञ्जरी का शुद्धपाठ सामने आ जाता है। पदमञ्जरी में यहां 'अत्रेत्वाल्लोपयोः स्थानिवद्भावाद्—' इस प्रकार सुसंगत और बुद्धिग्राह्य पाठ था जिसे किसी अनक्षर लिपिकर ने अन्यथा लिखकर अध्ययनाध्यापन में महान् अन्तराय उपस्थित कर दिया। पदमञ्जरी के सम्पादकों ने भी सावधानी से काम नहीं लिया।

[४.६५] तोः षि (८.४.४३) सूत्र पर पदमञ्जरी में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'षि इति सप्तमीनिर्देशात् पूर्वभूतेनापि सन्निपाते भवत्येव—लोष्टा, पेष्टेति।'

यहां पर यत्न करने पर भी कोई 'पूर्वभूतेनापि' में 'अपि' ग्रहण का तात्पर्य नहीं समझ सकता। यदि परभूत सन्निपात 'भवान् षण्डे' आदि में ष्टुत्व का विधान होता तो 'पूर्वभूतेनापि' कहा जा सकता था। किन्तु परभूत सन्निपात में तो ष्टुत्व का निषेध है अतः यहां 'अपि' शब्द का कुछ अभिप्राय नहीं, वह व्यर्थ है। पदमञ्जरीकार ने यह पंक्ति न्यास के आधार पर लिखी है। न्यास का पाठ इस प्रकार है—

"अत्र 'षि' इति सप्तमीनिर्देशात् पूर्वभूतेन सन्निपातेन भवत्येव ष्टुत्वम्—पेष्टा, पेष्टुमिति।" (न्यास ८.४.४३)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि किसी कुलेखक ने पदमञ्जरी में यहां व्यर्थ ही 'अपि' शब्द जोड़ दिया है।

[४.६६] अनचि च (८.४.४७) सूत्र पर 'यणो मयो द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इस वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए पदमञ्जरीकार लिखते हैं—

'उल्क्का, वल्म्मीक इति। लकारो यण्, ककारमकारौ यमौ।'

यहां पर कोई भी 'ककारमकारौ यमौ' पाठ को समझ नहीं सकता। यह पाठ भ्रष्ट है। इस का संशोधन न्यास के पाठ से हो सकता है। यहां पर न्यासकार लिखते हैं—

'यण उत्तरस्य ककारस्य मकारस्य च मयो द्विर्वचनम्।' (न्यास ८.४.४७)

इस से समझ में आ जाता है कि पदमञ्जरी में 'ककारमकारौ यमौ' के स्थान पर 'ककारमकारौ मयौ' पाठ चाहिये।

[४.६७] नाऽऽदिन्याक्रोशे पुत्रस्य (८.४.४८) सूत्र पर 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्कर-सादेः' इस वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए हरदत्तमिश्र लिखते हैं—

'खयो द्वितीया इति। खय इति षष्ठी। द्वितीया इति वर्गेषु खकारादयः।'
(पदमञ्जरी ८.४.४८)

इस से प्रतीत होता है कि हरदत्तमिश्र इस वार्त्तिक का पाठ 'खयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः' इस प्रकार मानते हैं। न्यासकार ने यहां पर 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः' इस प्रकार का पाठ ही माना है। तद्यथा—

'चयो द्वितीया इत्यादि। चय इति स्थानषष्ठी। खछठथफा इति द्वितीया इत्यस्यार्थः। द्वितीयत्वमेषां प्रथमवर्णापेक्षया भवति।' (न्यास ८.४.४८)

कहा नहीं जा सकता कि हरदत्तमिश्र के पाठ का क्या आधार है। पाणिनीय-निकाय में न्यासोक्त पाठ ही सर्वत्र प्रचलित है। महाभाष्य में भी अद्यत्वे यही पाठ उपलब्ध होता है। दीक्षित आदि द्वारा भी यही पाठ स्वीकृत है। अतः पदमञ्जरी के पाठ के भ्रष्ट होने की ही अधिक सम्भावना है।

[४.६८] त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८.४.५०) सूत्र पर काशिकाकार ने 'इन्द्रः, चन्द्रः, उष्ट्रः, राष्ट्रम्, भ्राष्ट्रम्' ये उदाहरण दिये हैं। यहां पर व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'इन्द्र इत्यादौ अनचि च इति प्राप्तिः।' (न्यास ८.४.५०)

न्यासकार की इस व्याख्या के अनुसार 'इन्द्र, चन्द्र, उष्ट्र, राष्ट्र, भ्राष्ट्र' में नकार और षकार को द्वित्व प्राप्त था जिस का प्रकृतसूत्र से निषेध किया गया है। परन्तु हरदत्तमिश्र इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'इन्द्र इत्यादौ नकारदकारयोर्द्विर्वचनाऽभावः।' (पदमञ्जरी ८.४.५०)

यहां पर नकार का द्वित्वनिषेध तो न्यासोक्तरीत्या ठीक है पर दकार का द्वित्वनिषेध बुद्धिग्राह्य नहीं, जब दकार को किसी सूत्र से द्वित्व प्राप्त ही नहीं तो पुनः उस का निषेध कैसा? वस्तुतः यहां पर पदमञ्जरी का पाठ भ्रष्ट है, यहां पर न्यासोक्तरीत्या पदमञ्जरी का 'नकारषकारयोर्द्विर्वचनाऽभावः' ऐसा पाठ होना चाहिये। सौभाग्य से हरदत्तमिश्र के इस शुद्ध पाठ को नागेशभट्ट ने अपने बृहच्छब्देन्दुशेखर और शब्दरत्न में उद्धृत किया है, वहां पर षकार का ही उल्लेख किया गया है। तद्यथा—

'इन्द्रः, राष्ट्रम्—इत्यत्र नकारषकारयोरेव प्राप्तद्वित्वस्य निषेधविकल्पः। स्पष्टं चेदं हरदत्तग्रन्थे।' (बृ० श० शे० पृ० १७०)

"त्रिप्रभृतिष्वित्येतद्विषये 'नकारषकारयोर्द्विर्वचनाऽभावः' इति मिश्रग्रन्थेन प्राप्त्युल्लेखस्य कृतप्रायत्वाच्च।" (अनचि च सूत्रस्थ शब्दरत्न)

[४.६९] महाभाष्य में पाणिनि के प्रायभवः (४.३.३९) सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है। भाष्यकार प्रत्याख्यानवार्त्तिक का अवतरण करते हुए लिखते हैं—

'प्रायभवग्रहणमनर्थकं तत्रभवेन कृतत्वात् । प्रायभवग्रहणमनर्थकम्; किं कारणम्? तत्रभवेन कृतत्वात् । यो हि राष्ट्रे प्रायेण भवति तत्रभवोऽसौ भवति । तत्र तत्र भवः (४.३.५३) इत्येव सिद्धम् ।' (महाभाष्य ४.३.३९)

अर्थात् **तत्र भवः** (४.३.५३) में ही **प्रायभवः** (४.३.३९) का भी अन्तर्भाव हो जाता है अतः **प्रायभवः** इस पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं। इस पर पूर्व-पक्षी कहता है कि 'न सिध्यति; अनित्यभवः प्रायभवः, नित्यभवस्तत्रभवः ।'

इस का उत्तर देते हुए भाष्य में निम्नस्थ पाठ उपलब्ध होता है—

'अनित्यभवः प्रायभव इति चेन्मुक्तसंशयेन तुल्यम् । यद्भवान् मुक्तसंशयं तत्र-भव उदाहरणं न्याय्यं मन्यते—स्रौघ्नो देवदत्त इति, तेनैतत्तुल्यम् । सोऽपि ह्यवश्यमुदक-देशादीन्यभिनिष्क्रामति ।'

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि **तत्र भवः** का जो उदाहरण पूर्वपक्षी की दृष्टि में निःसन्दिग्ध है वह भी **प्रायभवः** से ग्रस्त है। स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नो देवदत्तः—यह **तत्र भवः** पर दिया जाने वाला मूर्धाभिषिक्त उदाहरण भी **प्रायभवः** ही है 'नित्यभवः' नहीं, क्योंकि स्रुघ्न में होने वाला देवदत्त भी कदाचित् (जलाहरण के लिये) उदकस्थान अर्थात् जलस्थान को बाहर जाता ही है।

यहां पर भाष्यगत 'उदकदेशादीनि' यह पाठ कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। स्रुघ्न में भी जलस्थान सुलभ हो सकते हैं अतः वहां का निवासी पानी लेने के लिये स्रुघ्न छोड़ कर कहीं अन्यत्र जाये यह भाव सुष्टुतया बुद्धिगम्य नहीं होता अतः यहां पर अवश्य ही कुछ पाठभ्रष्टता व्यक्त होती है। अब देखिये भाष्य के इस व्याख्यान का आश्रय लेकर लिखा गया न्यास का निम्नस्थ पाठ—

'स्रुघ्ने भवो देवदत्तः स्रौघ्न इत्युच्यते । न चासौ स्रुघ्ने सदा भवति, अवश्यं हि कदाचिदुदग्देशानपक्रामति, अथ च तत्रभवप्रत्ययो भवति ।' (न्यास ४.३.३९)

न्यासकार का यह कथन कि स्रुघ्न में होने वाला देवदत्त कभी उदग्देशों (उदीच्य देशों) को भी जाता है—अत्यन्त युक्त पाठ है इस में असंगति की आशङ्का तक नहीं हो सकती। अत एव नागेशभट्ट प्रदीपोद्योत में इसी स्थल पर लिखते हैं—

'उदग्देशादीनि—इति क्वचित्पाठः, अयमेव युक्तः पाठः । जलादेः स्रुघ्नदेशेऽपि सुलभत्वादिति बोध्यम् ।' (उद्योत ४.३.३९)

नागेशभट्ट की बात सही है न्यास में भाष्य का यह युक्त पाठ अद्ययावत् सुरक्षित है।

न्यास के इस पाठ से पदमञ्जरी का भी यहां का भ्रष्ट पाठ शुद्ध किया जा सकता है। पदमञ्जरी के प्राच्यसंस्करण में यहां इस प्रकार पाठ मुद्रित हुआ है—

'यं[1] भवान् मुक्तसंशयं न्याय्यं तत्रभव उदाहरणं मन्यते—स्रौघ्नो देवदत्त इति तेनैव तुल्यम् । सोऽपि हि कदाचित् तस्मादुदक्देशादभिनिष्क्रामति ।'

(पदमञ्जरी ४.३.३९)

१. उदाहरणमितिविशेष्योपादानादत्र 'यद्' इति पाठः समुचितः ।

यह पाठ नितान्त भ्रष्ट है, यहां पर 'उदक्देशात्' के स्थान पर न्यासवत् 'उदग्देशान्' या 'उदग्देशादीनि' पाठ चाहिये।

[४.७०] माधवीयधातुवृत्ति के पृष्ठ ५६० पर यह पाठ पाया जाता है—

'क्यचि चित्करणं पुत्रकामिष्यतीत्यादौ सतिशिष्टस्वरं बाधित्वा धातुस्वरो यथा स्यादिति।'

यहां पर 'क्यचि' और 'पुत्रकामिष्यति' का पाठ भ्रष्ट है। यह पाठ माधव ने न्यास के आधार पर लिखा है अतः न्यास के पाठ से इसका संशोधन हो सकता है। न्यास का वह पाठ इस प्रकार है—

'एवं मन्यते—क्रियते विन्यास एवम्, द्विचकारको निर्देशः—सुप आत्मनः क्यच्च्काम्यच्चेति। स इत्सञ्ज्ञकश्चकारः ककारस्येत्संज्ञापरित्राणार्थो भविष्यतीति। अथ द्वितीयश्चकारः किमर्थः? यावंता धातोः इत्येवमन्तोदात्तत्वं सिद्धम्? इह पुत्रकाम्यिष्यतीति सतिशिष्टस्वरमपि बाधित्वा चित्करणसामर्थ्यात् काम्यच एव स्वरो यथा स्यात्।' (न्यास ३.१.९)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि धातुवृत्ति के उपर्युक्त पाठ में 'क्यचि' के स्थान पर 'काम्यचि' तथा 'पुत्रकामिष्यति' के स्थान पर 'पुत्रकाम्यिष्यति' पाठ होना चाहिये।[1] इस प्रकार धातुवृत्ति का शुद्ध पाठ यह होगा—

'काम्यचि चित्करणं पुत्रकाम्यिष्यतीत्यादौ सतिशिष्टस्वरं बाधित्वा धातुस्वरो यथा स्यादिति।'

इसी प्रकार न्यास के उपर्युक्त पाठ की सहायता से व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि (पृष्ठ १२०४) का निम्नस्थ पाठ भी शुद्ध किया जा सकता है—

'चकारोऽन्तोदात्तत्वार्थः। धातुस्वरेणैव सिद्धेः।'

यहां पर 'चकारो नाऽन्तोदात्तत्वार्थः, धातुस्वरेणैव सिद्धेः' इस तरह का पाठ होना चाहिये।

[४.७१] इन्द्र-वरुण-भव-शर्व० (४.१.४९) सूत्र पर प्रक्रियाकौमुदी की विट्ठलकृत प्रसादटीका में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'आनुका सिद्धावनुकरणम्—इन्द्रमाचष्ट इन्द्रयति, ततः क्विपि इन्द्रः स्त्रीत्यत्र इन्द्राणीति दीर्घश्रवणार्थम्।' (प्रसाद, पू० पृ० ३६१)

इस पाठ में 'आनुका सिद्धावनुकरणम्' यह असंगत तथा अस्पष्ट है। परन्तु विट्ठल ने यह पाठ न्यास का अनुकरण करते हुए लिखा है अतः न्यास को देख कर इस का संशोधन किया जा सकता है। न्यास का वह पाठ निम्नस्थ है—

'अथ किमर्थमानुक् क्रियते, अनुगेव नोच्येत, तेन सवर्णदीर्घत्वेन सिध्यति? न सिध्यति, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वं हि प्राप्नोति। अकारोच्चारणसामर्थ्यान्न

१. 'पुत्रकाम्यिष्यति' पाठ के लिये देखें (५.१४)।

भविष्यति, पररूपे हि नुगेव वक्तव्यः स्यात्। एवं तर्हि अकारोच्चारणसामर्थ्याद् भविष्यति। स्वरसन्धिरेव न भवतीत्येवमपि विज्ञायते, तस्मान्नैवं विज्ञायि—इत्यानुगेव वक्तव्यः। अथवा—इन्द्रमाचष्ट इति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि 'णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य' इति टिलोपः, इन्द्रयतेः क्विप्, णिलोपः, इन्द्रः स्त्री—इन्द्राणीत्यत्र दीर्घस्याकारस्य श्रवणं यथा स्यादित्येवमर्थम् आनुको विधानम्। अनुकि हि सति दीर्घो न श्रूयेत।' (न्यास ४.१.४९)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद का शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

'आनुका सिद्धावानुक्करणम्—इन्द्रमाचष्टे इन्द्रयति, ततः क्विपि इन्द्रः स्त्रीत्यत्र इन्द्राणीति दीर्घश्रवणार्थम्।'

अब यह पाठ सुसंगत तथा बुद्धिगम्य हो जाता है।

[४.७२] जैनेन्द्रव्याकरण के 'स्तोः श्चुना श्चुः' (पृष्ठ ४१६) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में अभयनन्दि-कृत-महावृत्ति में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'मस्जिनशोर्झलि (५.१.३९) इति निर्देशाद् मज्जति भृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वं नाऽसिद्धम्।' (जैनेन्द्रमहा० पृ० ४१६)

यहां यह समझ में नहीं आता कि 'मस्जिनशोर्झलि' में ऐसा कौन सा निर्देश किया गया है जिस से 'चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वं नाऽसिद्धम्' की प्रतीति हो सके। परन्तु महावृत्तिकार की ये पंक्तियां न्यास के अनुकरण पर लिखी गई हैं। न्यास में वह पाठ इस प्रकार है—

"टुमस्जो शुद्धौ, 'झलां जश्झशि' इति सकारस्य दकारः, तस्यानेन जकारः। श्चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वस्यासिद्धत्वं नाऽऽशङ्कनीयम्, 'मज्जिनशोर्झलि' इत्यत्र मज्जेः कृत-चुत्वनिर्देशात्।" (न्यास ८.४.४०)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य अभयनन्दी भी न्यासकार की तरह अपने व्याकरण में 'मस्जिनशोर्झलि' सूत्र का 'मज्जिनशोर्झलि' इस प्रकार पाठ मानते हैं। किसी अल्पज्ञ प्रतिलिपिकर ने उन के भाव को न समझते हुए महावृत्ति के सूत्रपाठ में अशुद्धि कर दी। अतः न्यास की सहायता से महावृत्ति का शुद्ध पाठ इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिये—

'मज्जिनशोर्झलीति निर्देशाद् मज्जति भृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्त्तव्ये जश्त्वं नाऽसिद्धम्।'

अब यह पाठ सुसंगत सरल तथा झटिति बुद्धिगम्य हो जाता है।

तदित्थं काशिकादीनां पाठ-संशोधनोत्सुकैः।
यत्नः परम आस्थेयो न्यासस्याऽभ्यसने बुधैः॥

पञ्चम अध्याय

[न्यासकार की भ्रान्तियां तथा भ्रष्ट पाठ]

पाठाः प्रमादजा न्यासे तत्कर्तुर्भ्रान्तयस्तथा ।
दर्शिताः पञ्चमेऽध्याये शताधिक-निदर्शनैः ॥

[५.०] इस अध्याय में न्यासकार की भ्रान्तियों तथा न्यासग्रन्थ के भ्रष्ट पाठों का उल्लेख किया गया है। **स्खलनधर्माणो मनुष्याः**—मनुष्य स्खलनशील हैं अतः उस के लेख आदियों में भ्रम आदि दोष अनिवार्य हैं। परन्तु ऐसा समझ कर दोषों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती क्योंकि इस से पठन-पाठन में बड़ा अन्तराय उपस्थित होता है जिस से व्याख्येय ग्रन्थ का यथार्थ बोध नहीं हो पाता।

न्यास के भ्रष्ट-पाठों में अधिकांश पाठ लिपिकरों एवं सम्पादकों की अनवधानतामूलक हैं। इन की ओर भी दृष्टिपात करना अत्यावश्यक है। यहां इन में से कुछ भ्रष्टपाठों का ही समालोचनापूर्वक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकार के भ्रष्ट पाठ सौ दो सौ की संख्या में ही नहीं अपितु सहस्रों की संख्या में न्यास में विद्यमान हैं जिन का साकल्येन निर्देश करना भी एक दुष्कर कार्य है। मेरे इस निदर्शनार्थ दिग्दर्शन से न्यास के भाविसम्पादक सतर्क होंगे—इस का मुझे पूर्ण विश्वास है।

[५.१] **ष्णान्ता षट्** (१.१.२४) सूत्र पर न्यास के राजशाहीसंस्करण में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'यदि सङ्ख्येत्यनुवर्त्तते सामर्थ्यादेव तदन्तता विज्ञास्यते। न हि कारमात्रं वा नकारमात्रं वा सङ्ख्याऽस्ति। तदपार्थकमन्तग्रहणम्। (न्यास राजशाही० १.१.२४)

यहां पर 'कारमात्रं वा' के स्थान पर 'षकारमात्रं वा' चाहिये तभी पाठ संगत होगा। सम्भवतः लेखक या कम्पोज़ीटर के प्रमाद से यहां पाठ भ्रष्ट हुआ है। इस भ्रष्ट पाठ का प्राच्य सं० में शोधन कर दिया गया है।

[५.२] **न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप०** (१.१.५८) सूत्र पर काशिका के 'किर्योः, गिर्योः' उदाहरणों की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'एतच्च व्युत्पत्तिपक्षमाश्रित्योक्तम्, यदा कृग्रोरिच्चेति किरिगिरिशब्दौ व्युत्पाद्येते।' (न्यास १.१.५८)

हरदत्त इसी का अनुसरण करते हुए पदमञ्जरी (१.१.५८) में लिखते हैं—

'किर्योः, गिर्योरिति। कृग्रोरिच्चेति व्युत्पत्तिपक्ष एतदुदाहृतम्।'

इस स्थल पर न्यास और पदमञ्जरी का 'कृग्रोरिच्च' यह वचन विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यासकार ने यहां कोई उणादिसूत्र निर्दिष्ट किया हो। परन्तु उणादिसूत्रों (पञ्चपादी तथा दशपादी दोनों) में कहीं पर इस प्रकार के सूत्र का उल्लेख नहीं पाया जाता। अतः भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में इस स्थल की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

"यत्तु न पदान्तेतिसूत्रे न्यासकार-हरदत्ताभ्यां किर्योगिर्योरित्यत्र 'कृग्रोरिच्च'

इत्युपन्यस्तम्, तत्क्वचिद् उणादिवृत्तिषु अन्वेषणीयम्। "कुर्वोः, गुर्वोः—'कृग्रोरुच्च'[1] इति वा पाठः शोधनीयः।" (प्रौढम० पृ० ७९९)

परन्तु दीक्षित की उपर्युक्त आलोचना सही नहीं कही जा सकती, क्योंकि न्यासकार उपधायां च (८.२.७८) सूत्र की 'व्याख्या में 'किर्योः, गिर्योः' आदि रूपों की सिद्धि दर्शाते हुए उणादिसूत्रों का स्पष्टतया यथावद् उल्लेख करते हैं—

'अच इ इत्यतः इप्रत्ययेऽनुवर्त्तमाने भुजेः किच्च इति च कॄ-गॄ-शॄ-पॄ-कुटि-भिदि-च्छिदिभ्यः इति किरतिप्रभृतिभ्यो धातुभ्य इप्रत्ययं विधाय व्युत्पाद्यन्ते।'[2]

(न्यास ८.२.७८)

इसे देखते हुए यही निश्चय होता है कि न्यास का 'कृग्रोरिच्च' स्थल कुछ भ्रष्ट है।[3] प्रतीत होता है कि इस की देखादेखि पदमञ्जरी का पाठ भी यहां भ्रष्ट हो गया है। सम्भवतः यहां 'कॄग्रोरिः किच्च' पाठ था जिस का बिगड़ कर 'कृग्रोरिच्च' हो गया। इस का अभिप्राय यह था कि 'कॄ' और 'गॄ' धातुओं से इ प्रत्यय हो जाता है और वह कित् होता है। न्यासकार ने यह वचन उणादिसूत्रों के फलितार्थ को अपने शब्दों में समेट कर कहा था।

प्रौढमनोरमा की व्याख्या लघुशब्दरत्न में न्यास और हरदत्त के उपर्युक्त वचन की कुछ संगति लगाने की चेष्टा की गई है परन्तु अन्त में यही कहा गया है कि यह संगति शब्दस्वारस्य के अनुकूल नहीं।[4]

[५.३] तपरस्तत्कालस्य (१.१.७०) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्न-लिखित पाठ मुद्रित मिलता है—

'सवर्णस्येति वर्त्तते। वर्णस्य च सवर्णो न भवति। ननु वर्णसमुदायस्य। तस्माद-विशेषाभिधानेऽपि वर्ण एव तपरो विज्ञायत इत्यत आह—तपरो वर्ण इति।'

यह पाठ असंगत होने से बुद्धिग्राह्य नहीं है। इस न्यासीय वचन के आधार पर हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में इस स्थल का स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं—

---

१. पञ्चपादी० (१.२४); दशपादी० (१.१०९)।

२. यहां पर कहे तीनों सूत्र पञ्चपादी तथा दशपादी उणादिसूत्रों में अद्ययावत् अविकल पाये जाते हैं। तथाहि—

अच इः। (पञ्चपादी ४.१४८; दशपादी १.६७)

भुजेः किच्च। (पञ्चपादी ४.१५२; दशपादी १.७१)

कॄगॄशॄ०। (पञ्चपादी ४.१५३; दशपादी १.७२)

३. इस में 'कॄ' के स्थान पर 'कृ' इस प्रकार ह्रस्वऋकारघटित पाठ ही इस की भ्रष्टता को द्योतित करने में पर्याप्त है।

४. 'कृग्रोरिच्चेति। केचित्त्वनयोरित्, ॠत इद्धातोरित्यनेन। चात्प्रत्ययः प्रकृतसूत्रेणेति प्रक्रियास्मरणपरतया हरदत्तग्रन्थं योजयन्ति। तदक्षरस्वरसविरुद्धम्।'

(प्रौढम०, ल० रत्न, पृष्ठ ७९९)

'वर्णस्यैव सवर्णसम्भवाद् वर्ण इत्युक्तम् ।' (पदमञ्जरी १.१.७०)

इस वचन से न्यासकार के उपर्युक्त भ्रष्ट पाठ का आशय समझ में आ जाता है। अतः न्यास के उस पाठ का इस प्रकार संशोधन सम्भव हो सकता है—

'सवर्णस्येति वर्त्तते। वर्णस्य च सवर्णो भवति न तु वर्णसमुदायस्य। तस्माद-विशेषाभिधानेऽपि वर्ण एव तपरो विज्ञायत इत्यत आह—तपरो वर्ण इति।'

अब यह पाठ सुसंगत तथा बुद्धिग्राह्य हो जाता है।

[५.४] इन्धिभवतिभ्यां च (१.२.६) सूत्र पर काशिकाकार ने लिखा है—

'श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनामिति वक्तव्यम्। श्रेथतुः, श्रेथुः। ग्रेथतुः, ग्रेथुः। देभतुः, देभुः। परिषस्वजे, परिषस्वजाते।' (काशिका १.२.६)

यद्यपि काशिका के दिये सब उदाहरण अपित्-लिट्-विषयक हैं तथापि हरदत्त-मिश्र यहां पर सन्देह प्रकट करते हुए लिखते हैं—

'अथ पित्सु वचनेषु कथम्? यदि संयोगार्थमेव वचनम्, पित्सु न भाव्यम्। अथ संयोगार्थं पिदर्थञ्च? पित्स्वपि भाव्यम्। किम्पुनरत्रार्थतत्त्वं देवो ज्ञातुमर्हति।' (पदमञ्जरी १.२.६)

इस प्रकार हरदत्तमिश्र को यहां सन्देह है कि यह वचन केवल अपित् लिट् को कित्त्व करने के लिये है या पित्-लिट्-विषयक भी?

वर्त्तमान मुद्रित न्यास में काशिका के उपर्युक्त उदाहरणों की व्याख्या तो की गई है पर इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। तथाहि—

'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः क्रियते, तेन श्रन्थिप्रभृतीनामपि संयोगान्तानां लिटः कित्त्वं भविष्यति।' (न्यास १.२.६)

यहां पर न्यासोक्तपाठ से 'लिटः कित्त्वं भविष्यति' ऐसा साधारण निर्देश ही प्राप्त होता है। परन्तु शब्दकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित न्यासकार के मत का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं—

'एतच्च कित्त्वं पिदर्थम् अपिदर्थञ्चेति सुधाकरः। अपिदर्थमेवेति न्यासकाराऽऽ-त्रेयादयः। हरदत्तस्तु सन्दिदेह। वस्तुतस्तु न्यासाद्युक्तमेव ज्यायः। इह वृत्तौ षाष्ठभाष्ये च अपित एवोदाहृतत्वात्।' (शब्दकौस्तुभ द्वितीय भाग पृ० ४)

यहां दीक्षित स्पष्टतः न्यासकार का मत 'अपिदर्थमेव' कह कर प्रकट कर रहे हैं परन्तु वर्त्तमान मुद्रित न्यास में इस का कोई उल्लेख नहीं, अतः यहां न्यास के पाठ का भ्रष्ट होना सुतरां व्यक्त होता है। माधवीय-धातुवृत्ति का निम्नस्थ उद्धरण भी यहां के पाठ की भ्रष्टता को पुष्ट करता है—

'इदं च कित्त्वं श्रन्थ्यादीनाम् अपिदर्थं पिदर्थं चेति सुधाकरः। आत्रेयमैत्रेयादय-स्तु अपिदर्थमिति। न्यासकारस्याप्ययमेव पक्षः। यदाह—'श्रन्थि-ग्रन्थि-प्रभृतीनां संयोगान्तानाम् अपितो लिटः कित्वम्।' (मा० धा० वृत्ति पृ० ४५७)

यहां पर माधव ने न्यासकार का केवल नाम ही नहीं अपितु उन का वचन भी

उद्धृत कर दिया है। इस से स्पष्ट है कि न्यास का इस स्थान का शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'श्रन्थिग्रन्थिप्रभृतीनामपि संयोगान्तानाम् अपितो लिटः कित्वं भविष्यति।'

[५.५] यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु (१.२.३४) सूत्र पर 'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' (ऋ० १०.१२८.१) इस प्रत्युदाहरण के 'मम' शब्द की स्वरप्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"असु क्षेपणे, 'युष्यसिभ्यां मदिक्' इति मदिक्। अस्मच्छब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। षष्ठ्येकवचनस्य युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् इत्यशादेशः, तवममौ ङसि इत्यस्मदो ममादेशः। स्थानिवद्भावादन्तोदात्तः। अतो गुणे पररूपत्वम्। एकादेश उदात्तेनोदात्तः।" (न्यास १.२.३४)

न्यासकार ने यहां 'मम' शब्द को अन्तोदात्त सिद्ध किया है, जो अशुद्ध है। क्योंकि यहां युष्मदस्मदोर्ङसि (६.१.२११) सूत्र से आद्युदात्तस्वर होता है। वैदिक उदाहरण में भी यही स्वर प्रयुक्त है। किञ्च न्यासकार के स्वलेख से भी यह विरुद्ध है। उपर्युक्त (६.१.२११) सूत्र पर न्यासकार ने स्वयं इसे आद्युदात्त सिद्ध किया है।

अतएव हरदत्तमिश्र यहां पर लिखते हैं—

"ममेत्यादि। 'युष्मदस्मदोर्ङसि' इत्याद्युदात्तत्वम्।" (पदमञ्जरी १.२.३४)

न्यास (राजशाही सं०) के सम्पादक भी यहां पर टिप्पण करते हुए लिखते हैं—

"इदं तु चिन्त्यम्। 'युष्मदस्मदोर्ङसि' इत्याद्युदात्तत्वविधानात्।"

[५.६] आकडारादेका सञ्ज्ञा (१.४.१) सूत्रस्थ काशिका के 'एका सञ्ज्ञा वक्तव्या, का पुनरसौ? या पराऽनवकाशा च' इन वचनों की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के राजशाही संस्करण में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'यद्येवम् अङ्गसञ्ज्ञायां भपदसञ्ज्ञयोः समावेशो वक्तव्यः। बाभ्रव्यो धानुष्क इति। बभ्रुशब्दाद् मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः इति यञ्। तत्र भत्वाद् ओर्गुणः, अङ्गत्वादादिवृद्धिः। तत्र वान्तो यि प्रत्यये इत्यवादेशः। धनुःशब्दाच्च धनुः प्रहरणमस्य तदस्य प्रहरणम् इति ठक्। इसुसुक्तान्तात्कः इति कादेशः। अत्र पदत्वाद् इणः षः इति षत्वम्। अङ्गत्वाद् आदिवृद्धिर्न वक्तव्यः। वा क्यषः इत्यतो वाग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन क्वचित् सञ्ज्ञासमावेशो भविष्यतीति।'

(राजशाही० न्यास १.४.१)

इस न्यासीय उद्धरण में 'अङ्गत्वादादिवृद्धिर्न वक्तव्यः' यह वचन किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य नहीं होता। काशीसंस्करण में सम्पादकों ने इसे बुद्धिगम्य और संगत बनाने के लिये 'अङ्गत्वादादिवृद्धिर्न वक्तव्या' इस प्रकार पाठ में संशोधन कर दिया। फिर भी 'अङ्ग होने से आदिवृद्धि नहीं कहनी चाहिये' यह बात कथमपि समझ में नहीं आती, क्योंकि 'धानुष्कः' में आदिवृद्धि तो की जा रही है पुनः उसे 'न वक्तव्या' क्यों कहा जा रहा है?

परन्तु यदि सूक्ष्म विचार किया जाये तो राजशाही संस्करण के पाठ की संगति लगाई जा सकती है, केवल विरामचिह्नों की त्रुटि के कारण वह दुर्बोध बन गया है। न्यासकार आरम्भ में 'यद्येवम् अङ्गसञ्ज्ञायां भपदसञ्ज्ञयोः समावेशो वक्तव्यः' द्वारा जिस विषय का प्रसङ्ग चलाते हैं—उस के लिये अन्त में कहते हैं—'न वक्तव्यः'। अर्थात् भ और पद संज्ञाओं के समावेश के कहने की कोई आवश्यकता नहीं। सम्पादक की भूल से 'न वक्तव्यः' अंश 'अङ्गत्वादादिवृद्धिर्न वक्तव्यः' इस प्रकार पिछले अंश के साथ समुदित छप गया। चाहिये था यहां 'अङ्गत्वादादिवृद्धिः। न वक्तव्यः।' इस प्रकार छपना। काशीसंस्करण के सम्पादकों को विरामचिह्न की यह छोटी सी अशुद्धि समझ में नहीं आई। उन्हों ने 'आदिवृद्धिः' शब्द में वृद्धिशब्द के स्त्रीत्व को देखते हुए 'न वक्तव्यः' का भी 'न वक्तव्या' बना दिया। इस से पाठ और भी दुर्बोध हो गया। सम्पादकों की अज्ञता से पाठों के दुर्बोध होने का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

[५.७] विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१.४.२) सूत्र पर न्यास के प्राच्यसंस्करण में यह पाठ मुद्रित उपलब्ध होता है—

'तेन वृक्षैरिति परमप्येत्वम्भवति, ऐस्भाव एव तु भवति।'

इस पाठ से कोई कुछ समझ नहीं सकता कि न्यासकार क्या कहना चाहते हैं। वस्तुतः यह न्यासकार का दोष नहीं, कम्पोज़ीटरों का ही प्रमाद है, उन्हों ने राजशाही-संस्करण को आगे रख कर कम्पोज़ करते समय वाक्यगत 'न' शब्द को असावधानता-वश छोड़ दिया, इस से यह महान् अनर्थ हो गया। शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'तेन वृक्षैरिति परमप्यैत्त्वं न भवति, ऐस्भाव एव तु भवति।'

अब यह पाठ सुसंगत और सुबोध बन जाता है।

[५.८] अकथितं च (१.४.५१) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

'अकथितं च यत्कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति। केनाऽकथितम्? अपादानादिविशेष-कथाभिः।'

इस स्थल की व्याख्या न्यास में इस प्रकार मुद्रित हुई है।

'अपादानादिविशेषकथाभिरिति। कारकसामान्यकथाया व्यवच्छेदार्थमेतत्। यदि हि केनाऽप्यकथितस्य कर्मसंज्ञा स्यात् तदा माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छतीत्यत्र अकारकस्यापि माणवकस्य कर्मसञ्ज्ञा स्यात्।' (न्यास १.४.५१)

यहां पर 'कारकसामान्यकथाया व्यवच्छेदार्थमेतत्' यह न्यासीय पाठ भ्रष्ट है। क्योंकि काशिकाकार ने 'अपादानादिविशेषकथाभिः' यह वचन कारकसामान्य के व्यव-च्छेद के लिए नहीं लिखा अपितु कारकसामान्य के अव्यवच्छेद के लिये लिखा है जैसाकि न्यासकार ने स्वयं अग्रिम पंक्ति 'यदि हि केनाप्यकथितस्य कर्म-सञ्ज्ञा स्यात् तदा—' द्वारा व्यक्त किया है। अत एव यहां का शुद्ध पाठ 'कारकसामान्यकथाया अव्यवच्छेदार्थ-मेतत्' ऐसा होना चाहिये। इसीलिये यहां पर कैयटोपाध्याय प्रदीप में लिखते हैं—

'इह कारके इत्यनुवर्त्तनात् सत्येव कारकत्वेऽकथितस्य कर्मसञ्ज्ञया भाव्यम् इति सामर्थ्याद् विशेषकथाभिरकथितत्वमाश्रीयते ।' (प्रदीप १.४.५१)

यही बात हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में कहते हैं—

"इह 'कारके' इत्यनुवर्त्तनात् सत्येव कारकत्वेऽकथितस्य सञ्ज्ञया भाव्यम् इति सामर्थ्याद् विशेषकथाभिरित्युक्तम् ।" (पदमञ्जरी १.४.५१)

[५.६] द्वितीया श्रितातीत० (२.१.२४) सूत्र पर 'श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्' वार्त्तिक के प्रसङ्ग में 'ग्रामं गामी ग्रामगामी' उदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'ग्रामं गामीति । 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्यावश्यके णिनिः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधः ।' (न्यास २.१.२४)

यहां पर न्यासकार ने कृद्योगलक्षणा षष्ठी का अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (२.३.७०) द्वारा निषेध प्रतिपादित किया है । परन्तु यहां कृद्योगषष्ठी प्राप्त ही कैसे हो सकती है, क्योंकि गत्यर्थकर्मणि० (२.३.१२) सूत्र पर काशिका के 'द्वितीयाग्रहणं किम् ? न चतुर्थ्येव विकल्प्येत, अपवादविषयेऽपि यथा स्यात्—ग्रामं गन्ता' इस वचन से जब द्वितीया का ही विधान कहा गया है तो पुनः कृद्योग में षष्ठी का प्रसङ्ग कैसा ? अत एव इस स्थल की आलोचना करते हुए कैयट प्रदीप में लिखते हैं—

'गत्यर्थकर्मणीत्यत्र द्वितीयाग्रहणमपवादविषयेऽपि विधानार्थमिति कृत्प्रयोगे द्वितीयैव भवति इति षष्ठ्याः प्राप्तिरेव नास्तीति, ये तस्या अकेनोरिति प्रतिषेधं वर्णयन्ति ते पूर्वाऽपरविस्मरणशीलत्वाद् उपेक्ष्याः । भाष्यकारेण तु गत्यर्थसूत्रस्य प्रत्याख्यानात् कृत्प्रयोगे षष्ठ्येवेष्यत इति तद्दर्शने सौत्रः षष्ठीनिषेधः ।' (प्रदीप २.१.२३)

कैयट का अनुसरण करते हुए हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में यही कहते हैं—

'ग्रामं गामीति । आवश्यके णिनिः । गत्यर्थकर्मणीत्यत्र द्वितीयाग्रहणमपवादविषयेऽपि विधानार्थमिति कृत्प्रयोगे द्वितीयैव भवति ।' (पदमञ्जरी २.१.२४)

भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं—

"ग्रामं गामी ग्रामगामी । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (२.३.७०) इति कृद्योगलक्षणषष्ठीनिषेधात् कर्मणि द्वितीया । केचित्तु आवश्यके णिनिः । अभविष्यदर्थत्वेऽपि गत्यर्थकर्मणि० (२.३.१२) इत्यत्र द्वितीयाग्रहणम् अपवादविषयेऽपि विधानार्थमिति कृत्प्रयोगेऽपि द्वितीयैवेत्याहुः । तत्तु भाष्यविरुद्धम्, भाष्ये गत्यर्थसूत्रस्य प्रत्याख्यानतया कृद्योगे षष्ठ्या एव स्वीकारात् । एतेन—'तथाविदूराद्रिरदूरताङ्गमी, यथा स गामी तव केलिशैलताम्' (नैषधे १२.५५) इति श्रीहर्षप्रयोगो व्याख्यातः ।" (शब्दकौस्तुभ २.१.२४)

परन्तु इस से न्यासकार को दोष नहीं दिया जा सकता । स्वयं काशिकाकार ने भी अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (२.३.७०) सूत्र पर 'ग्रामं गमी' और 'ग्रामं गामी' उदाहरण दिये हैं । काशिका के इन पूर्वापर विरोधी स्थलों की संगति लगाते हुए हरदत्तमिश्र अपनी पदमञ्जरी में अतीव उपयुक्त लिखते हैं—

'ग्रामं गमीति । भविष्यति गम्यादयः । ननु च नात्र षष्ठ्याः प्रसङ्गः, कथम् ? गत्यर्थकर्मणीत्यत्रोक्तम्—'द्वितीयाग्रहणं किम् ? न चतुर्थ्येव विकल्प्येत, अपवादविषयेऽपि यथा स्यात्—ग्रामं गन्ता' इति, सत्यम्, श्रौते तावत् प्रतिषेधे लभ्यमाने किं द्वितीया-ग्रहणसामर्थ्याश्रयणेनेति मन्यते ।' (पदमञ्जरी २.३.७०)

[५.१०] **चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि** (२.३.६२) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

'बहुलग्रहणं किम् ? कृष्णो रात्र्यै । हिमवते हस्ती ।'

काशिका के इस स्थल की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'कृष्णो रात्र्यै, हिमवतो हस्तीति । अत्र बहुलग्रहणात् सप्तम्यर्थेऽपि चतुर्थी भवति ।' (न्यास २.३.६२)

यहां पर दो अशुद्धियां स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं—

(१) न्यास में काशिका का 'हिमवतो हस्ती' प्रतीक ग्रहण किया गया है, जो स्पष्टतः अशुद्ध है, क्योंकि न्यासकार स्वयं कह रहे हैं कि यहां 'सप्तम्यर्थे चतुर्थी भवति'। अतः 'हिमवतो हस्ती' के स्थान पर 'हिमवते हस्ती' ऐसा प्रतीक होना चाहिये । वैदिक-संहिताओं में भी यही पाठ उपलब्ध होता है, देखें (४.५) ।

(२) 'कृष्णो रात्र्यै' तथा 'हिमवते हस्ती' में न्यासकार ने 'सप्तम्यर्थेऽपि चतुर्थी' कहा है जो वैदिकसाहित्य के नितान्त विपरीत है । क्योंकि यहां पर सप्तमी के अर्थ में चतुर्थी न तो प्रकरणशः उचित है और न ही किसी भाष्यकार को अभिमत ।[1]

[५.११] **काम्यच्च** (३.१.९) सूत्र पर 'उपयट्काम्यति' रूप की सिद्धि दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'उपयट्काम्यतीति । विजुपे छन्दसि इति विच् । उपयजमिच्छतीति काम्यच् । व्रश्चादिना षत्वम् । तस्य जश्त्वं डकारः । तस्यापि वाऽवसाने इति चर्त्वं टकारः ।'

यहां पर न्यासकार का **वाऽवसाने** (८.४.५६) से चर्त्व करना प्रमाद है । यहां अवसान का प्रसङ्ग नहीं अतः **खरि च** (८.४.५५) से ही चर्त्व करना चाहिये । अत एव न्यास के सम्पादक ने भी यहां टिप्पणी करते हुए लिखा है—

'इदन्तु चिन्त्यम् । अनवसानत्वात् पक्षे डकारश्रवणप्रसङ्गाच्च । खरि च इति चर्त्वेनात्र टकार इत्यन्ये ।' (न्यास राजशाही सं० पृ०४९९)

[५.१२] **सुप आत्मनः क्यच्**, (३.१.८) **काम्यच्च** (३.१.९) इन दो सूत्रों द्वारा एक ही अर्थ में क्यच् और काम्यच् प्रत्यय विधान किये जाते हैं । इन में प्रथम प्रत्यय 'क्यच्' के आदि ककार की **लशक्वतद्धिते** (१.३.८) से इत्संज्ञा अभीष्ट है परन्तु

१. देखें—'कृष्णो रात्र्यै' (यजुः० २४.३६) तथा 'हिमवते हस्ती' (यजुः० २४.३०) पर उवट-महीधर-दयानन्दभाष्य ।

दूसरे काम्यच् प्रत्यय के ककार की नहीं। ऐसा भेद क्यों किया जाता है ? इस शङ्का के समाधानार्थ काशिकाकार लिखते हैं—

'ककारस्येत्संज्ञाप्रयोजनाऽभावान्न भवति। चकारादित्वाद्वा काम्यचः।'

काशिकोक्त प्रथम समाधान सरल है। द्वितीय समाधान का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों के संहितापाठ में **सुप आत्मनः क्यच्चकाम्यच्च** इस प्रकार निर्देश मान कर पदच्छेद करते समय 'च्काम्यच्' प्रत्यय मान लेंगे, इस से आदि चकार की **चुटू** (१.३.७) द्वारा इत्सञ्ज्ञा होकर 'काम्यच्' ही बच रहेगा, पुनः आदि में स्थित न होने से इस के ककार की इत्सञ्ज्ञा का प्रसङ्ग ही उत्पन्न न हो सकेगा। अब देखिये इस स्थल पर न्यास के प्राच्यसंस्करण का मुद्रित पाठ—

'अभ्युपगम्यापि प्रयोजनं परिहारान्तरमाह—चकारादित्वादिति। एवं मन्यते—क्रियते विन्यास एवम्, द्विचकारको निर्देशः, सुप आत्मनः क्यच्च काम्यच्चेति; स इत्संज्ञकश्चकारः ककारस्येत्संज्ञापरित्राणार्थो भविष्यतीति।' (न्यास प्राच्य० ३.१.९)

न्यासकार के 'द्विचकारको निर्देशः' का अभिप्राय प्राच्य सं० के सम्पादकों ने सूत्र के संहितापाठ में दो 'च' लगाकर 'सुप आत्मनः क्यच्च काम्यच्च' इस प्रकार समझा है। यह एक हास्यास्पद प्रमाद है। राजशाहीसं० में शुद्ध पाठ छपा था परन्तु प्राच्यसं० के सम्पादकों ने शुद्ध को अशुद्ध समझते हुए अन्ततः उसे अशुद्ध ही कर दिया।

पदमञ्जरी के दोनों संस्करणों में भी सम्पादकों के प्रमाद के कारण यह पाठ अशुद्ध ही छपा है। वहां का मुद्रित पाठ इस प्रकार है—

"अन्ये तु 'सुप आत्मनः क्यच् काम्यच्च' इति द्विचकारकनिर्देशाश्रयेण चकारादित्वं वर्णयन्ति।" (पदमञ्जरी ३.१.९)

पदमञ्जरी के इस पाठ पर चुस्की लेते हुए रघुनाथ शास्त्री निर्णयसागरमुद्रित महाभाष्य की एक टिप्पण में लिखते हैं—

"काशीमुद्रितपदमञ्जरीशोधकदामोदरशास्त्रिभिस्तु 'क्यच् काम्यच्च' इति निर्देशं दर्शयद्भिः स्वस्मिन् सत्यमेव भारद्वाजत्वं दर्शितम्, पूर्वपक्षिसिद्धान्तिनोर्भेदे कारणाभावात्।"[1] (महाभाष्य नि०सा० ३.१.९ पर टिप्पण)

आश्चर्य तो यह है कि रघुनाथशास्त्रिसम्पादित इस महाभाष्य के मूल में भी पदमञ्जरीवत् भ्रष्ट पाठ छप गया है। डा० कीलहार्न तथा गुरुप्रसादशास्त्री के संस्करणों में यह पाठ शुद्ध दिया गया है।

[५.१३] **काम्यच्च** (३.१.९) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

'ककारस्येत्संज्ञा प्रयोजनाऽभावान्न भवति।'

---

१. यह चुस्की महाभारत के निम्नस्थ श्लोक के आधार पर ली गई है—

भरे सुतान् भरे शिष्यान् भरे देवान् भरे द्विजान्।
भरे भार्यां भरे द्वाजं भरद्वाजोऽस्मि शोभने॥

(महाभारत अनुशा० ९३.९२)

अर्थात् काम्यच् प्रत्यय के ककार की 'लशक्वतद्धिते' (१.३.८) से इत्सञ्ज्ञा प्रयोजनाभाव के कारण नहीं होती। अब इस स्थल की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के मुद्रित संस्करणों में पाठ देखिये—

'अथ लशक्वतद्धिते इति ककारस्येत्संज्ञा कस्मान्न भवतीत्याह—ककारस्येत्संज्ञेत्यादि। ननु च लोप एव कार्यम्? न कार्यम्, लोप इह हि वर्णस्य कार्यार्थो भवत्युपदेशः, श्रवणार्थो वा। कार्यं तावदिह नास्ति। तत्र यदि श्रवणार्थो न स्यादुपदेशोऽनर्थकः स्यात्।'[1] (न्यास ३.१.६)

यहां पर 'लोप इह हि वर्णस्य कार्यार्थो भवत्युपदेशः, श्रवणार्थो वा' यह अंश असङ्गत होने से बुद्धिगम्य नहीं होता। यह सब लिपिकरों के प्रमाद का फल है। यदि सम्पादकमहोदय किञ्चित् ध्यान देते तो यह पाठ शुद्ध मुद्रित हो सकता था। यहां पर 'लोपः' पद पूर्ववाक्य से सम्बद्ध था जो अब इस वाक्य के अन्तर्गत प्रविष्ट कर दिया गया है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'—ननु च लोप एव कार्यम्? न कार्यं लोपः। इह हि वर्णस्य कार्यार्थो भवत्युपदेशः श्रवणार्थो वा।——'

अब यह पाठ सुसङ्गत होकर बुद्धिग्राह्य हो जाता है।

[५.१४] 'काम्यच्' प्रत्यय के अन्त्य चकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन बतलाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अथ द्वितीयश्चकारः किमर्थः, यावता धातोः (६.१.१६२) इत्येवमन्तोदात्तत्वं सिद्धम्? इह पुत्रकामिष्यतीति सतिशिष्टस्वरमपि बाधित्वा चित्करणसामर्थ्यात् काम्यच एव स्वरो यथा स्यात्।' (न्यास प्राच्य सं० ३.१.६)

यहां पर न्यासकार का सतिशिष्टस्वर के बाध के लिये दिया गया 'पुत्रकामिष्यति' उदाहरण युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि 'पुत्रकाम्य' धातु के यकार का लोप यस्य हलः (६.४.४६) से हो नहीं सकता। वहां संघात 'य' का ग्रहण सर्वसम्मत है। सङ्घात 'य' क्यच् आदि में सार्थक तथा काम्यच् में निरर्थक है— 'समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशो निरर्थकः'। अतः 'अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य' के अनुसार यहां यकार का लोप न होगा। इस से यहां 'पुत्रकाम्यिष्यति' पाठ होना चाहिये। पदमञ्जरी में भी यह पाठ भ्रष्ट छपा है। महाभाष्य पर टिप्पणी करते हुए शिवदत्त शास्त्री दाधिमथ पदमञ्जरी के इस पाठ के विषय में लिखते हैं—

"भारद्वाजदामोदरशास्त्रि-शोधित-पदमजरीपुस्तकेऽपि मकारो यकाररहित एवोप-

---

१. न्यासकार ने ये पंक्तियां महाभाष्य के आधार पर लिखी हैं—
'ककारस्येत्सञ्ज्ञा कस्मान्न भवति? इदर्थाभावात्। इत्कार्याभावादत्रेत्सञ्ज्ञा न भविष्यति। ननु च लोप एवेत्कार्यम्? अकार्यं लोपः। इह हि शब्दस्य कार्यार्थो वा स्यादुपदेशः श्रवणार्थो वा। कार्यं चेह नास्ति। असति कार्ये यदि श्रवणमपि न स्यात्, उपदेशोऽनर्थकः स्यात्।' (महाभाष्य ३.१.६)

लभ्यते। परन्तु यस्य हलः इत्यस्याङ्गसंज्ञानिमित्तस्य यकारस्य लोप इति भाष्यसम्मतेऽर्थे यलोपस्याऽप्राप्त्यां यकारसहित एव मकारः साधुरिति दाधिमथाः।"

(महाभाष्य निर्णयसागर सं० ३.१.६)

भट्टोजिदीक्षित भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं—

"पुत्रकाम्यिता, पुत्रकाम्यिष्यति—इह यस्य हलः इति न भवति, अनर्थकत्वाद् यस्येति सङ्घातग्रहणात्। 'अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य' इति वक्ष्यते। अत एव 'प्रयतौ पुत्रकाम्यये'ति (रघु० १.३५) सिध्यति।" (शब्दकौस्तुभ ३.१.६)

न्यास के राजशाहीसंस्करण में यह पाठ शुद्ध था, परन्तु प्राच्यसं० में पदमञ्जरी की देखादेखि उस शुद्ध पाठ को भी अशुद्ध छाप दिया गया है।

यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि भट्टोजिदीक्षित ने न्यासकार और हरदत्त की आलोचना करते हुए शब्दकौस्तुभ में जो रूप उद्धृत किया है उसमें यकारयुक्त शुद्ध पाठ दिया गया है।[1] इस से स्पष्ट हो जाता है कि न्यास और पदमञ्जरी में यह प्रतिलिपिकरों या सम्पादकों का ही प्रमाद है मूल लेखक का नहीं।

[५.१५] मेघर्तिभयेषु कृञः (३.२.४३) सूत्र पर काशिका के 'उपपदविधौ भयादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति—अभयङ्करः।' इस वार्त्तिक की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित हुआ है—

'ननु चाभयशब्दो नञ्समासे सिध्यत्येव ? नैवं शक्यम्, सति शिष्टत्वाद्धि तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६.२.२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वराद्युदात्तत्वं स्यात्, गतिकारकोपपदात्कृत् (६.२.१३९) इत्यादिनाऽन्तोदात्तत्वं चेष्यते। तस्मात् कर्त्तव्यम्।'

यहां पर 'अभयशब्दः' के स्थान पर 'अभयङ्करशब्दः' पाठ चाहिये। मूल में 'अभय' की नहीं अपितु 'अभयङ्कर' की सिद्धि का प्रसङ्ग है।

[५.१६] त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कं च (३.२.६०) सूत्र पर न्यास के दोनों मुद्रित संस्करणों में निम्नस्थ पाठ उपलब्ध होता है—

'अनालोचनमिह चक्षुर्ज्ञानमात्रमभिप्रेतम्। यदि तत्र दृशिर्न वर्त्तत एवं प्रत्ययो भवति नान्यथा।'

(न्यास ३.२.६०)

परन्तु यह पाठ भ्रष्ट है। यहां पर 'आलोचनमिह चक्षुर्ज्ञानमात्रमभिप्रेतम्' ऐसा पाठ चाहिये तभी आगे के 'यदि तत्र दृशिर्न वर्त्तते एवं प्रत्ययो भवति नाऽन्यथा' इन वचनों की सङ्गति लग सकती है। अत एव हरदत्तमिश्र ने यहां लिखा है—'आलोचनं चक्षुःसाधनं विज्ञानमिति।'

(पदमञ्जरी ३.२.६०)

[५.१७] भाषायां सद-वस-श्रुवः (३.२.१०८) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

१. देखें पीछे पृ० २२३ पर शब्दकौस्तुभ का उद्धरण।

'ननु चेह प्रकरणे भूतसामान्ये लिड् विहितः, तेनासौ भाषायां नास्त्येव, तदसतस्तस्य कथं क्वसुरादेशः शक्यते विज्ञातुमित्यत आह—आदेशविधानादेवेत्यादि। यदेतद् भाषायां लिटः क्वसोरादेशविधानमत एव विज्ञानाद् भूतसामान्ये भाषायां लिडित्यनुमीयते, अन्यथा ह्यादेशविधानम् अनर्थकं स्यात्। न ह्यविद्यमानस्य स्थानिनः आदेश उपपद्यते।' (न्यास ३.२.१०८)

यहां पर 'ननु चेह प्रकरणे भूतसामान्ये लिड् विहितः, तेनासौ भाषायां नास्त्येव' यह पाठ संगत प्रतीत नहीं होता। यदि इस प्रकरण में भूतसामान्य में लिट् का विधान किया गया है तो 'तेनासौ भाषायां नास्त्येव' यह कैसा? अतः यहां पर लेखक तथा मुद्रकों के प्रमाद से 'न' का पाठ छूट गया प्रतीत होता है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—'ननु न चेह प्रकरणे भूतसामान्ये लिड् विहितः, तेनासौ भाषायां नास्त्येव—।' अत एव पदमञ्जरीकार ने भी यही कहा है—

'यदि भाषायां सदादिभ्यो भूतसामान्ये लिण्न स्यात् ततस्तादृशस्य लिट आदेशविधानमनुपपन्नं स्यादिति मन्यते।' (पदमञ्जरी ३.२.१०८)

यदि न्यास के पाठ में ही आग्रह हो तो संगति इस तरह लगेगी—

इह प्रकरणे—अस्मिन् छन्दःप्रकरणे भूतसामान्ये लिड् विहितः, छन्दसि लिट् (३.२.१०५) इत्यनेनेति भावः, तेनासौ भाषायां नास्त्येव।

[५.१८] लुङ् (३.२.११०) सूत्र पर न्यास में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'दिवसः सकलोऽतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामिन्याश्च प्रथमो यामः—इत्येषोऽनद्यतनः कालः।'

न्यास का यह पाठ भ्रष्ट है क्योंकि यह अद्यतनकाल का लक्षण है न कि अनद्यतनकाल का। न्यासकार ने (१.२.५७) सूत्र पर स्वयं लिखा है—

'तदेवं सकलो दिवसः, पूर्वस्याश्च रात्रेः पश्चिमो यामः, आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतनः काल इत्युक्तं भवति।'

इस से स्पष्ट हो जाता है कि न्यास का पाठ यहां भ्रष्ट है। अनुमानतः न्यास का शुद्ध पाठ इस प्रकार रहा होगा—

"दिवसः सकलोऽतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतनः, तद्भिन्नोऽनद्यतनः कालः।'

[५.१९] अलंकृञ्-निराकृञ्० (३.२.१३६) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

"अलम्पूर्वः करोतिः, पुनः स एव निराङ्पूर्वः, 'जनी प्रादुर्भावे' प्रपूर्वः, 'पचि व्यक्तीकरणे', 'पद गतौ', पतिमन्ये पठन्ति, 'शल हुल पत्लृ गतौ', 'मदी तृप्तिसाधने'—एते पदादय उत्पूर्वाः।" (न्यास ३.२.१३६)

यहां पर 'एते पदादयः' के स्थान पर 'एतें पचादयः' पाठ चाहिये।

[५.२०] दा-धेट्-सि-शद-सदो रुः (३.२.१५९) सूत्र पर काशिका में 'धारुर्वत्सो मातरम्' उदाहरण दिया गया है। 'धारु' शब्द कृदन्त है अतः कृद्योग में 'मातृ' शब्द से षष्ठी प्राप्त होती है। इस पर काशिकाकार लिखते हैं—

'न लोकाव्ययनिष्ठा-खलर्थतृनाम् इत्युकारप्रश्लेषात् षष्ठी न भवति।'

अब इस स्थल की व्याख्या के प्रसङ्ग में निम्नस्थ पाठ न्यास के दोनों संस्करणों में मुद्रित मिलता है—

"अथ धारुर्वत्सो मातरमिति कथमत्र द्वितीया, यावता कर्तृकर्मणोः कृति इति षष्ठ्या भवितव्यमित्यत आह—न लोकाव्ययनिष्ठेति। उको य उकारस्तेन सह अकः सवर्णदीर्घत्वेन प्रश्लिष्टः, तेन तदन्तविधौ विज्ञायमाने उकारान्तस्य प्रत्ययस्य प्रयोगे षष्ठी न भवति, तेन द्वितीयैव भवतीति न षष्ठी। नन्विह तर्हि—कटं चिकीर्षुरिति प्रतिषेधो न स्यात्, उप्रत्ययस्यानुकारान्तत्वात्। घिनुणपि भवति। छन्दस्यृकारान्तत्वाद् आदृगमहनेत्यादिना किकिनावपि भवतः"। (न्यास ३.२.१५९)

यहां पर प्रश्न तो यह था कि यदि उकारान्तकृद्योग में षष्ठी का प्रतिषेध मानेंगे तो 'कटं चिकीर्षुः' में षष्ठी का प्रतिषेध न हो सकेगा क्योंकि यहां सनाशंसभिक्ष उः (३.२.१६८) से केवल 'उ' प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः उकारान्त नहीं। इस प्रश्न का उत्तर न देकर न्यास में 'घिनुणपि भवति। छन्दस्यृकारान्तत्वाद् आदृगमहनेत्यादिना किकिनावपि भवतः' ये असम्बद्ध दो वाक्य दिये गये हैं। सम्भवतः किसी अन्य स्थान के व्याख्यांश का यहां पर लेखकप्रमाद से सम्मिश्रण हो गया है। सम्पादक महोदयों ने यहां कुछ ध्यान नहीं दिया—यह बड़े आश्चर्य की बात है।

[५.२१] विदि-भिदिच्छिदेः कुरच् (३.२.१६२) सूत्र में किस 'विद्' का ग्रहण करना चाहिये? इस पर काशिकाकार लिखते हैं—

'ज्ञानार्थस्य विदेर्ग्रहणम्, न लाभार्थस्य स्वभावात्।'

यहां पर काशिका में 'लाभार्थस्य' के स्थान पर 'लाभाद्यर्थस्य' पाठान्तर भी पाया जाता है। इस की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"ज्ञानार्थस्य विदेर्ग्रहणमिति 'विद ज्ञाने' इत्येतस्य। न लाभार्थस्येति। 'विद्लृ लाभे' इत्येतस्य। अज्ञानार्थस्य विदेरुपलक्षणमेतत्, तेन सत्ताविचारणार्थौ यौ विदी तयोरपि ग्रहणं न भवत्येव। क्वचित्त्वनयोरादिशब्देनोपसंग्रहाय लाभार्थस्येति पाठः।"

(न्यास ३.२.१६२)

यहां पर 'लाभार्थस्येति पाठः' यह न्यास का पाठ अशुद्ध है। यदि आदिशब्द से उपसंग्रह किया जायेगा तो यह पाठ कैसे हो सकता है? अतः यहां न्यास में 'लाभाद्यर्थस्येति पाठः' ऐसा पाठ होना चाहिये। न्यास के दोनों संस्करणों में यह पाठ भ्रष्ट है। यहां लिपिकरों तथा सम्पादकों की अनवधानता समझनी चाहिये।

[५.२२] लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके (३.३.९) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'निपातनात्समास इत्यादि। ऊर्ध्वमौहूर्तिकशब्दस्योच्चारणमेव निपातनम्।

ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादिति विगृह्यास्मादेव निपातनात् समासः। ततः बह्वचोऽन्तोदात्तात्० इति ठञ्। तत उत्तरपदवृद्धिः, सा ह्यत एव निपातनात्।'

यहां पर न्यासकार-का 'ऊर्ध्वंमुहूर्त्त' से भव अर्थ में **बह्वचोऽन्तोदात्ताद् ठञ्** (४.३.६७) सूत्र द्वारा ठञ् प्रत्यय करना युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण कि उस सूत्र में **तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः** (४.३.६६) का अनुवर्त्तन होता है, ऊर्ध्वमुहूर्त्त शब्द 'व्याख्यातव्यनाम' नहीं। अत एव यहां की आलोचना करते हुए हरदत्त-मिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'निपातनात् समास उत्तरपदवृद्धिश्चेति। ठञ्प्रत्ययश्चाध्यात्मादित्वात्। बह्वचो-ऽन्तोदात्तादित्यत्र तु व्याख्यातव्यनाम्न इति वर्त्तते।' (पदमञ्जरी ३.३.९)

हरदत्तमिश्रकृत आलोचना तो ठीक है पर श्राध्यात्मादित्वात् ठञ् करने की अपेक्षा **कालाद् ठञ्** (४.३.११) से ठञ् करना और भी सुकर है। जैसा कि तत्त्वबोधिनी, शेखर, बालमनोरमा आदियों में किया गया है।

[५.२३] **रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्** (३.३.१०८) सूत्रस्थ काशिका के 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' वार्तिक की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'इक्श्तिपाविति। ककारः कित्कार्यार्थः, तेन पचतिरिति सार्वधातुकनिबन्धनः शब् भवति।' (न्यास ३.३.१०८)

कित्त्व के कारण 'पचतिः' में किस प्रकार सार्वधातुकनिबन्धन शप् होता है—इसे समझने में बुद्धि असमर्थ है। यहां का पाठ भ्रष्ट है। प्रतिलिपिकरों ने 'शकारः शित्कार्यार्थः' के बदले 'ककारः कित्कार्यार्थः' प्रमादवश लिख दिया, अथवा—'ककारः कित्कार्यार्थः' के आगे 'शकारः शित्कार्यार्थः' यह पाठ उन से छूट गया। दोनों संस्करणों के सम्पादकों में से किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया अतः भ्रष्ट पाठ मुद्रित हो गया।

[५.२४] **गोचर-संचर-वह-व्रज-व्यजापण-निगमाश्च** (३.३.११९) सूत्र पर काशिका-कार लिखते हैं—

'हलश्चेति घञं वक्ष्यति, तस्यायमपवादः।'

अर्थात् यद्यपि गोचर आदि शब्द पूर्वसूत्र **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (३.३.११८) से भी घप्रत्यय करने पर सिद्ध हो सकते थे परन्तु वक्ष्यमाण **हलश्च** (३.३.१२१) सूत्र से प्राप्त घञ् का बाध करने के लिये इन का इस सूत्र में घप्रत्ययान्त निपातन किया गया है। अब इस स्थल की व्याख्या न्यास में देखिये—

'ननु पूर्वसूत्रेणैव गोचरादिषु घः सिद्धः, तत्किमित्ययं योग आरभ्यते? इत्यत आह—हलश्चेत्यादि। ननु च प्रत्ययग्रहणं तत्रानुवर्त्तिष्यते, तेन गोचरादिषु घञ् भविष्यति? प्रतिपत्तिगौरवं तु स्यात्, प्रायग्रहणानुवृत्तेरज्ञापकत्वात्।' (न्यास ३.३.११९)

यहां पर न्यासगत 'ननु च प्रत्ययग्रहणं—' इत्यादि पाठ असम्बद्ध और असंगत

है। समझ में नहीं आता कि न्यासकार यहां कहना क्या चाहते हैं? परन्तु यदि इस स्थल का महाभाष्य, प्रदीप और पदमञ्जरी आदि में अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि न्यास का यह पाठ भ्रष्ट है। इन के अनुसार न्यास का शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'ननु च प्रायग्रहणं तत्रानुवर्त्तिष्यते, तेन गोचरादिषु घञ् न भविष्यति ? प्रतिपत्तिगौरवं तु स्यात्। प्रायग्रहणानुवृत्तेरज्ञापकत्वात्।'

अब यह पाठ सुसंगत, स्पष्ट और बुद्धिगम्य हो जाता है। किसी अनभिज्ञ प्रतिलिपिकर्त्ता ने न्यासगत 'प्रायग्रहणम्' को अशुद्ध समझ कर 'प्रत्ययग्रहणम्' कर दिया तथा 'घञ् न भविष्यति' को 'घञ् भविष्यति' लिख दिया—बस सारी बात ही बिगड़ गई। आश्चर्य तो यह है कि न्यास के दोनों संस्करणों के सम्पादकों में से किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं गया।

[५.२५] तिर्यच्यपवर्गे (३.४.६०) सूत्र में पाणिनि ने 'तिर्यचि' पद का प्रयोग किया है जो उनके अपने नियमों के अनुसार शुद्ध नहीं ठहरता। क्योंकि तिरस्पूर्वक क्विन्नन्त अञ्च् का सप्तमी के एकवचन में **अचः** (६.४.१३८) सूत्र द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'तिरश्चि' रूप बनना चाहिये न कि 'तिर्यचि'। **तिरसस्तिर्यलोपे** (६.३.६४) सूत्र द्वारा तिरि आदेश की प्रवृत्ति वहां पर हुआ करती है जहां पर अकारलोप का प्रसङ्ग न हो यथा—तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः आदि। आचार्य के इस तरह के प्रयोग का प्रयोजन बतलाते हुए काशिकाकार (३.४.६०) सूत्र पर लिखते हैं—

'तिर्यचि—इति शब्दानुकरणम्। न च प्रकृतिवदनुकरणेन भवितव्यम्, अनुक्रियमाणरूपविनाशप्रसङ्गात्—एतदोऽश् (५.३.५), अदसो मात् (१.१.१२) इति।'

काशिकाकार ने **एतदोऽश्** (५.३.५) और **अदसो मात्** (१.१.१२) ये दो निदर्शन दिये हैं जहां अनुकरण प्रकृतिवत् नहीं हुआ। यदि यहां अनुकरण प्रकृतिवत् हुआ होता तो 'एतदः' के स्थान पर 'एतस्य' और 'अदसः' के स्थान पर 'अमुष्य' होता।

अब इस स्थल की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के मुद्रितपाठ देखें—

राजशाहीसंस्करण—

'प्रकृतिवदनुकरणं भवति इत्यस्य तु यत्रार्थपदार्थस्यानुकरणं सोऽवकाशो वेदितव्यः। क्व ? यथा प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्याह—एतदोऽश् इत्यादि।'

काशीसंस्करण—

'प्रकृतिवदनुकरणं भवति इत्यस्य तु यत्रार्थपदार्थस्यानुकरणं सोऽवकाशो वेदितव्यः। क्व च यथा प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्याह—एतदोऽशित्यादि।'

न्यास के इन मुद्रित पाठों से काशिकाकार का सारा आशय ही विपरीत हो जाता है। कहां तो काशिकाकार का यह कहना कि यहां अनुकरण प्रकृतिवत् नहीं होता

और कहां न्यास के इन पाठों द्वारा अनुकरण का यहां प्रकृतिवत् प्रतिपादन ? निश्चय ही न्यास के दोनों संस्करणों के पाठ ही यहां भ्रष्ट हैं। राजशाहीसंस्करण के यशस्वी सम्पादक ने 'क्व' के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर इसे पूर्ववाक्य के साथ सम्बद्ध कर के पाठ को और भी कठिन कर दिया है। काशीसंस्करण के सम्पादक न केवल यहां की पाठभ्रष्टता समझने में असमर्थ रहे बल्कि उन्होंने न्यास की देखादेखि पदमञ्जरी के शुद्ध पाठ को भी भ्रष्ट कर दिया।

हरदत्तमिश्र ने न्यास की उपर्युक्त पंक्ति को आत्मसात् करते हुए पदमञ्जरी में इस प्रकार लिखा है—

'क्व च यथा प्रकृतिवदनुकरणं न भवतीत्याह—एतदोऽश् इत्यादि।'
(पदमञ्जरी लाज़रेस सं० ३.४.६०, पृ० ७३६)

हरदत्तमिश्र की इस पंक्ति से सुतरां सिद्ध हो जाता है कि न्यास की उपर्युक्त पंक्ति में भी 'न' शब्द का पाठ था जो लिपिकरों तथा सम्पादकों के प्रमाद के कारण छूट गया है। न्यास का शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्यस्य तु यत्रार्थपदार्थस्यानुकरणं सोऽवकाशो वेदितव्यः। क्व च यथा प्रकृतिवदनुकरणं न भवतीत्याह—एतदोऽशिति।'

अब यह पाठ काशिकाकार के आशय के अनुरूप तथा न्यास की स्वकीय अग्रिम पंक्तियों के भी अनुकूल है। न्यासकार इसी स्थल पर आगे स्वयं कहते हैं—

'एतदोऽदस इत्युभयमप्येतच्छब्दरूपपदार्थकस्यानुकरणम्। यदि च शब्दपदार्थकस्य यदनुकरणं तस्यापि प्रकृतिभावः स्यात् तदा त्यदाद्यत्वादिके प्रकृतिकार्ये कृते—एतस्य, अमुष्येति रूपं स्यात्। तस्माद् यथेह प्रकृतिभावो न भवति तथा तिर्यचीत्यत्रापि।' (न्यास दोनों संस्करण ३.४.६०)

न्यासकार के इस सन्दर्भ से और विशेषकर इसकी अन्तिम पंक्ति से न्यास के उपर्युक्त पाठ के संशोधन में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह अवशिष्ट नहीं रहता।

[५.२६] वनो र च (४.१.७) सूत्रस्थ 'वनो न हशः' वार्त्तिक की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"वनो न हश इति। क्वचिदिति शेषः। हशः परो यो वनिब्, हशन्ताद् धातोर्विहितस्तदन्तात् प्रातिपदिकात् क्वचिद् ङीब्रेफश्चान्तादेशो न भवति। सहयुध्वेति। युध सम्प्रहारे। 'दृशेः क्वनिप्', 'राजनि युधिकृञः', 'सहे च' इति क्वनिप्। 'नोपधायाः' 'सर्वनामस्थाने—' इति दीर्घः, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'। क्वचित्तु प्रतिषेधो न भवत्येव—शर्वरीति, अत्र रेफाद्धशः परो वनिप्।" (न्यास ४.१.७)

यहां पर न्यासकार एक तरफ तो 'वनो न हशः' वार्त्तिक का 'हशन्ताद्धातोर्विहितो यो वनिप् तदन्तात् प्रातिपदिकात् क्वचिन् ङीब्रेफश्चान्तादेशो न भवति' अर्थ करते हैं वहां दूसरी तरफ 'शर्वरी' के लिये यह कहते हैं कि 'क्वचित्तु प्रतिषेधो न भवत्येव—शर्वरीति। अत्र रेफाद् हशः परो वनिप्।' यहां न्यासकार की महती अनवधानता प्रकट होती है। क्योंकि उन के अर्थ के अनुसार तो वार्त्तिकद्वारा निषेध की

प्राप्ति ही नहीं हो सकती, कारण कि वनिप् प्रत्यय 'शृ' से विधान किया गया है न कि 'शर्' से। अतः हशन्त से विहित न होने से निषेध का प्रसङ्ग कैसा ? इसलिये यहां पर या तो कुछ पाठ भ्रष्ट है या पुनः न्यासकार का प्रमाद। इस प्रसङ्ग में हरदत्तमिश्र ने यहां अतीव समुचित लिखा है—

'विहितविशेषणं हश्ग्रहणं तेन शर्वरीत्यत्र प्रतिषेधाऽभावः।'

(पदमञ्जरी ४.१.७)

[५.२७] वनो र च (४.१.७) सूत्र पर 'शर्वरी' और 'परलोकदृश्वरी' प्रयोगों की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'शर्वरीति। शॄ हिंसायाम्, **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** इति वनिप्, गुणः, रपरत्वम्। परलोकदृश्वरीति। दृशेस्तेनैव सूत्रेण क्वनिप्।' (न्यास ४.१.७)

यहां पर 'परलोकदृश्वरी' में 'तेनैव सूत्रेण' कहना उचित नहीं, क्योंकि यहां **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** द्वारा क्वनिप् प्रत्यय नहीं होता किन्तु **दृशेः क्वनिप्** (३.२.९४) से क्वनिप् प्रत्यय का विधान होता है। जैसाकि हरदत्तमिश्र ने कहा है—'परलोकदृश्वरीति। **दृशेः क्वनिप्**।' (पदमञ्जरी ४.१.७)

यह न्यासकार की एक ऐसी अनवधानता है जो त्वरावश अतीव सुलभ है।

[५.२८] **धान्ये नित्** (पञ्चपादी उणा० १.१०) इस औणादिक सूत्र की व्याख्या करते हुए उज्ज्वलदत्त अपनी वृत्ति में न्यास को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

'नित्यग्रहणमिदं स्वरार्थम्। फलि-पाटि० इत्यादिसूत्रं यावदनुवर्त्तते, इति **वोतो गुणवचनादित्यत्र** सूत्रे न्यासः।'

परन्तु वर्त्तमान न्यास में न तो यह उद्धरण मिलता है और न ही इस प्रकार का कुछ उल्लेख। मुद्रित न्यास में तो निम्नस्थ पाठ पाया जाता है—

'फलिपाटीत्युप्रत्ययः। पाटेश्च पटिरादेशः। धान्ये निद् इत्यनुवृत्तेर्नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्।' (न्यास ४.१.४४)

इस पाठ से यह कदाचित् प्रतीत नहीं होता कि 'धान्ये नित्' सूत्रगत 'नित्' पद का अनुवर्त्तन 'फलिपाटि०' सूत्र तक ही न्यासकार को अभिमत है। दशपादी उणादि के सम्पादक युधिष्ठिर मीमांसक ने न्यास का वचन उद्धृत कर उज्ज्वलदत्त के कथन पर आश्चर्य व्यक्त किया है। उन का कथन है कि ययु, शिशु आदि कुछ शब्द वेद में आद्युदात्त ही देखे जाते हैं अतः उन में आद्युदात्तत्व की सिद्धि के लिये 'नित्' का अनुवर्त्तन 'फलिपाटि०' से भी आगे ले जाना उचित है (देखें दशपादी उणादि० टिप्पणी पृ० ६०)।

परन्तु हमारा विचार है कि वर्त्तमान मुद्रित न्यास का पाठ ही यहां कुछ भ्रष्ट हो गया है। उज्ज्वलदत्त के समय न्यास में वह पाठ अवश्य रहा होगा, क्योंकि

भट्टोजिदीक्षित तथा ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने भी न्यासकार के इस पाठ की आलोचना की है। दीक्षित प्रौढमनोरमा में लिखते हैं—

'यद्यपि फलिपाटीतिसूत्रं यावदनुवर्त्तत इति न्यासग्रन्थेन मर्यादीकृत्येत्यपि प्रतीयते। तथापि अभिव्याप्येत्युचितम्। पिबतं सौम्यं मधु इत्यादौ मधुशब्दस्याद्युदात्तता-दर्शनात्। वोतो गुणवचनादितिसूत्रे हरदत्तेन अभिव्याप्येति स्पष्टमभिधानाच्चेति भावः।' (प्रौढमनोरमा उणादि० पृ० ७४६)

ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने भी तत्त्वबोधिनी में इसी शब्दावली का प्रयोग किया है (देखें सि० कौ० तत्त्वबोधिनी, उत्तरार्ध, पृ० ४६१)।

इस से यह भी सिद्ध होता है कि न केवल यहां पर न्यास का ही पाठ भ्रष्ट है बल्कि हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी का पाठ भी भ्रष्ट है क्योंकि मुद्रित पदमञ्जरी में दीक्षितनिर्दिष्ट वचन इस समय उपलब्ध नहीं है।

[५.२६] इन्द्र-वरुण-भव-शर्व० (४.१.४६) सूत्र पर काशिका में निम्नस्थ वार्तिक पाया जाता है—

'मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च। रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ।'

यह वार्तिक और इस का यही उदाहरण महाभाष्य में भी इसी सूत्र पर पढ़ा गया है। मुद्गल शब्द से पुंयोग में ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम— यह प्रकरण-सिद्ध है, परन्तु प्रकृत वार्तिक से लित्त्व का विधान किया जाता है। अब यहां जिज्ञा-सितव्य है कि लित्त्व किसे किया जाये ? इस स्थल की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'लिच्चेति। कस्य तल्लित्त्वम् ? आनुकः। तथाहि—मुद्गलानीशब्दस्य द्वितीय उदात्त आम्नाये पठ्यते। ङीषस्तु लित्त्वे तृतीय उदात्तः स्यात्।' (न्यास ४.१.४६)

न्यासकार का मत यह है कि 'आनुक्' के आगम को लित् किया गया है इस से लित् के परे रहते लिति (६.१.१९३) सूत्र द्वारा 'मुद्गलानी' शब्द में द्वितीय वर्ण 'ग' उदात्त हो जाता है। यदि ङीष् को लित् करते तो तृतीय वर्ण 'ला' अर्थात् आनुक् का आकार उदात्त हो जाता। परन्तु वेद में सर्वत्र द्वितीय वर्ण 'ग' ही उदात्त उपलब्ध होता है अतः आनुक् को ही लित् मानना चाहिये, ङीष् को नहीं।

न्यासकार का यह मत युक्त नहीं है। उन्हें इस विषय में भ्रान्ति हो गई है। वेद में कहीं 'मुद्गलानी' में 'ग' उदात्त नहीं पाया जाता, सर्वत्र 'ला' उदात्त ही उपलब्ध होता है। यही वैदिकसम्प्रदाय की परम्परा है। उपर्युक्त काशिकास्थ उदाहरण में भी 'ला' ही उदात्त है 'ग' नहीं।[1]

---

१. यह उदाहरण ऋग्वेद (१०.१०२.२) का मन्त्रांश है। इस में 'ला' के उदात्तत्व में कोई सन्देह या मतभेद नहीं है। इसी प्रकार 'मुद्गलानीम्' का प्रयोग ऋग्वेद (१०.१०२.६) में पाया जाता है, वहां पर भी 'ला' की उदात्तता सर्वसम्मत है। इन दो स्थानों के अतिरिक्त इदानीमुपलब्ध संकल वैदिकवाङ्मय में कहीं भी

अत एव उपाध्याय कैयट न्यासकार से विपरीत मत प्रकट करते हुए महाभाष्य-प्रदीप में लिखते हैं—

'ङीषो लित्त्वाद् आनुगाकारस्य लित्स्वरः।' (प्रदीप ४.१.४६)

हरदत्तमिश्र भी कैयट की शब्दावली प्रयुक्त करते हुए यही कहते हैं—

'ङीषो लित्त्वाद् आनुगाकारस्य लित्स्वरः।' (पदमञ्जरी ४.१.४६)

भट्टोजिदीक्षित भी शब्दकौस्तुभ में यही कहते हैं—

'मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च। रथीरभून्मुद्गलानी। ङीषो लित्त्वादानुगाकारस्य लित्स्वरः। यत्तु न्यासकृतोक्तं मुद्गलानीशब्दे द्वितीय उदात्त इति तत्तु वेदबाह्यम् अयुक्तमेव।' (शब्दकौस्तुभ ४.१.४६)

पुनः वे प्रौढमनोरमा में न्यासकार की भर्त्सना करते हुए लिखते हैं—

'यत्तु न्यासकृतोक्तं मुद्गलानीशब्दे द्वितीय उदात्त इति। तद् वेदबाह्यत्व-प्रयुक्तमेव। लितीति प्रत्ययात् पूर्वस्य विधीयमानं सन्निहितमानुकं विहाय द्वितीये प्रवर्त्तत इत्यत्र बीजाभावात् सकलवैदिकपाठविरोधाच्चेत्यास्तां तावत्।'[1] (प्रौढम० पृ० ८४८)

बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट भी यही कहते हैं—

लित्स्वर इति। आनुगाकारस्य उदात्तत्वमित्यर्थः।'

(बृ० श० शे० पृ० २१७४)

व्याकरणदीपिका में ओरम्भट्ट भी—

'मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च। ङीषो लित्त्वम् आनुगागमश्च। लित्स्वरः। रथीर-भून्मुद्गलानी।' (व्या० दी० पृ० ३४५)

'मुद्गलानी' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता। न्यासकार के सामने शायद वेद की कोई लुप्त शाखा रही हो जिस में 'मुद्गलानी' का द्वितीय वर्ण उदात्त हो—इस की भी सम्भावना नहीं है। न्यासकार का वेदविषयक शैथिल्य सुप्रसिद्ध है। इस की चर्चा १.११ पर पीछे की जा चुकी है।

१. न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती, भट्टोजिदीक्षित की इस आलोचना पर टिप्पण करते हुए लिखते हैं—

"My Brahmin readers will no doubt realise here a taunt by भट्टोजि on the न्यासकार.—न्यासकार was वेदबाह्य because he was a बौद्ध." (न्यास, राजशाही सं० पृ० ८५१)

परन्तु हमारे विचार में प्रौढमनोरमागत 'वेदबाह्यत्वप्रयुक्तमेव' पाठ अपपाठ है। इस के स्थान पर 'वेदबाह्यमयुक्तमेव' ऐसा शुद्ध पाठ होना चाहिये, क्योंकि शब्दकौस्तुभ में भी ऐसा ही पाठ पाया जाता है। इस प्रकार इस पाठ से वह बात ध्वनित नहीं होती जिसे न्यास के सम्पादक कहना चाहते हैं। 'वेदबाह्यम्' या 'अयुक्तम्' विशेषण न्यासकार के लिये प्रयुक्त नहीं किये गये अपितु उस कथन के लिये प्रयुक्त किये गये हैं जो न्यासकार का मन्तव्य है।

इस प्रकार समस्त पाणिनीयजगत् में प्रसादकार के सिवाय न्यासकार का इस विषय में किसी ने अनुसरण नहीं किया।[१] प्रसादकार कोई वैदिक विद्वान् नहीं हैं—यह सर्वविदित है। अतः न्यासकार का यह मत नितान्त भ्रान्त है। और इस भ्रान्ति को दूर करने का श्रेय सर्वप्रथम उपाध्याय कैयट को ही जाता है।

पाणिनीयेतरव्याकरणों में केवल भोजप्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण में ही वैदिक-स्वरप्रकरण उपलब्ध है। इस प्रकरण से भी यहां एक महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त हो सकती है। तद्यथा—

सरस्वतीकण्ठाभरण में 'बहुलं छन्दसि' (८.१.१) के अधिकार के अन्तर्गत 'मुद्गलस्य नुग्लिच्च'[२] (८.१.९४) सूत्र का निर्माण किया गया है। पीछे से 'ङीप्' की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार भोजदेव मुद्गलशब्द से ङीप् प्रत्यय तथा नुक् (न्) का आगम विधान कर सम्भवतः बाहुलकात् छान्दसदीर्घ करने से 'मुद्गलानी' प्रयोग को सिद्ध करते प्रतीत होते हैं। इन्हों ने भी अपने सूत्र में 'लिच्च' कह कर लित्त्व का अतिदेश किया है। परन्तु यहां लित्त्व चाहे ङीप् को हो या नुक् को, 'मुद्गलानी' के स्वर में कोई अन्तर नहीं पड़ता, तृतीय वर्ण 'ला' ही उदात्त रहता है द्वितीय वर्ण 'ग' नहीं। इस से सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि भोजदेव इस विषय में न्यासकार का समर्थन नहीं करते। यदि यह सब ठीक है तो निस्सन्देह उपर्युक्त श्रेय कैयट को न मिल कर भोजदेव को ही मिलना चाहिये। भोजदेव कैयट से कुछ पूर्ववर्त्ती हैं—ऐसा बहुत से विद्वान् मानते हैं।[३]

[५.३०] **दीर्घजिह्वी चच्छन्दसि** (४.१.५९) सूत्र पर 'दीर्घजिह्वीति निपातनं नित्यार्थम्' इस काशिकावचन की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'कल्पितत्वात् प्रकृतस्य ङीष इहापि विकल्पित एवासौ विज्ञायेत, निपातनात्तु नित्यो भवति।' (न्यास ४.१.५९)

यहां पर 'कल्पितत्वात्' यह पाठ न तो संगत है और न ही बुद्धिगम्य। इस के स्थान पर 'विकल्पितत्वात्' पाठ होना चाहिये—

'विकल्पितत्वात् प्रकृतस्य ङीष इहापि विकल्पित एवासौ विज्ञायेत, निपातनात्तु नित्यो भवति।'

---

१. देखें—प्रक्रिया कौ० प्रसादव्याख्या उत्तरार्ध पृ० ७१९।

२. अत्र 'मुद्गवस्य नुग्लिच्चे'ति मुद्रितः पाठोऽपपाठोऽत्रसेयः। नहि मुद्गवशब्दः क्वचिद् वैदिकवाङ्मये प्रयुक्तः। सरस्वतीकण्ठाभरणसम्पादकाः T. R. Chintamani महोदयाः परिशिष्टे सूत्रस्यास्य साम्यं पाणिनीयतन्त्रगतस्य ४.१.४९ सूत्रस्थपञ्चमवार्त्तिकेन सह दर्शयन्तो हन्तास्माकीनं पाठमेव समर्थयन्तीति मन्यामहे। (पृ० २२)

३. देखें श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती का Introduction of the Nyasa.

अब यह पाठ सुसङ्गत तथा बुद्धिगम्य हो जाता है। हरदत्तमिश्र की पदमञ्जरी में भी इसी प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—

'दीर्घजिह्वात् इत्युच्यमाने प्रकृतस्य ङीषो विकल्पितत्वाद् इहापि विकल्पो विज्ञायेत।' (पदमञ्जरी ४.१.५६)

न्यासगत यह पाठ-भ्रष्टता मुद्रणजन्य प्रतीत होती है।[1]

[५.३१] **गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च** (४.१.१४७) सूत्र पर काशिकाकार ने 'गार्ग्या अपत्यं गार्गो जाल्मः, गार्गिकः' ये उदाहरण दिये हैं। इन में प्रथम 'गार्गः' की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'गर्गशब्दाद् गोत्रे गर्गादियञन्ताद् **यञश्च** इति ङीपि **हलस्तद्धितस्य** इति लोपे सति यकारस्य 'गार्गी' इति स्थिते ण-ठकौ।' (न्यास ४.१.१४७)

यहां पर न्यासकार ने 'गार्गी' की सिद्धि दर्शा कर पुनः इस से ण और ठक् प्रत्यय करने को कहा है। इस स्थल पर न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती टिप्पण करते हुए लिखते हैं—

'वस्तुतस्तु **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाऽऽति** (६.४.१५१) इत्यनेनात्र यलोपः। **यस्येति च** (६.४.१४८) इत्यकारलोपः।' (न्यास राजशाही सं० ४.१.१४७)

न्यास के सम्पादक का अभिप्राय यह है कि 'गार्गी' की सिद्धि में न्यासकार को **हलस्तद्धितस्य** (६.४.१५०) सूत्र की वजाय **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाऽऽति** (६.४.१५१) सूत्र द्वारा यकार का लोप करना चाहिये था। किं च **यस्येति च** (६.४.१४८) से अकार का लोप भी प्रतिपाद्य है।

जहां तक **यस्येति च** (६.४.१४८) द्वारा अकार के लोप का प्रश्न है वह ठीक है, न्यासकार ने अत्यन्त सुगम होने के कारण ही उसे छोड़ दिया प्रतीत होता है। परन्तु यहां यकार का लोप न्यासकारोक्त **हलस्तद्धितस्य** (६.४.१५०) से ही युक्त है, **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाऽऽति** (६.४.१५१) से नहीं। 'आपत्यस्य०' सूत्र की प्रवृत्ति तो तद्धित परे होने पर ही होती है—और यहां 'गार्गी' बनाते समय अभी तद्धित परे आया नहीं, केवल ङीप् परे है जो **तद्धिताः** (४.१.७६) अधिकार से पूर्ववर्ती होने के कारण तद्धित सञ्ज्ञक नहीं। अतः श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती का यहां प्रमाद ही समझना चाहिये।

आश्चर्य तो यह है कि न्यास के प्राच्यसंस्करण में सम्पादकों ने राजशाही-संस्करण की इस अशुद्ध सम्पादकीय टिप्पणी को विना सोचे समझे अपने संस्करण में हूबहू छाप दिया है, हालांकि इस संस्करण में राजशाहीसंस्करण की सम्पादकीय टिप्पणियों का प्रायः बहिष्कार किया जाता है।

---

१. यह पाठभ्रष्टता प्रतिलिपिकरजन्य नहीं अपितु सम्पादकप्रमादजन्य है। राजशाही-संस्करण में यह अशुद्धि ग्रन्थान्त (प्रथमभाग पृष्ठ १०६३) के शुद्धिपत्र (Errata) में निर्दिष्ट भी है, परन्तु प्राच्यसंस्करण के अनुकारी सम्पादक प्रायः Errata की ओर दृष्टिपात ही नहीं किया करते।

वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती यहां कुछ और ही कहना चाहते थे जिसे लिखते समय वे भ्रान्त हो गये। न्यासकार ने यहां 'गार्गी' की सिद्धि तो ठीक दर्शाई है परन्तु इस से कुत्सन अर्थ में प्रकृतसूत्र से ण और ठक् प्रत्ययों में उन्होंने कोई प्रक्रिया नहीं दर्शाई। ण या ठक् की विवक्षा में 'भस्याढे तद्धिते' वार्त्तिक से 'गार्गी' को पुंवद्भाव होकर 'गार्ग्य' बन जाता है। अब इस से णप्रत्यय करने पर न्याससम्पादकोक्त प्रकार से **यस्येति च** से अकार का लोप तथा **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाऽऽति** से यकार का लोप होकर—'गार्गः' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्भवतः श्रीशचन्द्र यहां यही कहना चाहते थे। हरदत्तमिश्र ने भी यहां पर यही प्रक्रिया दर्शाई है। तद्यथा—

'गार्गीशब्दो यञश्चेति ङीवन्तः। तस्य 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावेन पुंशब्दस्यातिदेशाद् गार्ग्यशब्दाद् गोत्रस्त्र्यभिधायिनः प्रत्ययः। **यस्येति च, आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति** इत्यल्लोपयलोपौ।' (पदमञ्जरी ४.१.१४७)

सिद्धान्तकौमुदी तथा शब्दकौस्तुभ में भी यहां यही लिखा है—

'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावाद् गार्ग्यशब्दाद् ण-ठकौ। यस्येति लोपः, आपत्यस्येति यलोपः। (सि० कौ० पूर्वार्ध पृष्ठ ६०३)

'पुंवद्भावाद् गार्ग्यशब्दात् ण-ठकोः कृतयोः **यस्येति च, आपत्यस्य च तद्धिते०** इत्यल्लोपयलोपौ।' (शब्दकौस्तुभ ४.१.१४७)

न्यासकार ने 'गार्गी' से आगे की सिद्धि नहीं दर्शाई। सम्भवतः उन्हें पुंवद्भाव का ध्यान नहीं रहा होगा। अथवा इस में उन का सूत्रकार के प्रति आस्थातिशय भी कारण हो सकता है।[1]

[५.३२] सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्टचुटचुलौ तुट् च (४.३.२३) सूत्र पर काशिका में निम्नस्थ वार्त्तिक पढ़ा गया है—

'प्रगस्य छन्दसि गलोपश्च। प्रत्नम्।' (काशिका ४.३.२३)

इस वार्त्तिक की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के मुद्रित दोनों संस्करणों में यह पाठ उपलब्ध होता है—

'प्रगस्य छन्दसि गलोपश्चेति। वक्तव्य इति सम्बन्धः। वक्तव्यशब्दस्य स एवार्थः।

---

१. न्यासकार ने न केवल यहां पर ही पुंवद्भाव नहीं दिखाया अपितु आगे इसी सूत्र पर 'ग्लौचुकायनः' की सिद्धि में भी उस का वर्णन नहीं किया। इस में दो कारण हो सकते हैं—या तो न्यासकार को यह स्थल विस्मृत हो गया होगा, अथवा वे वार्त्तिकों के बिना ही केवल अष्टाध्यायीस्थ सूत्रों से ही काम चलाने के अभ्यस्त हो चुके थे जैसाकि उनकी अनुत्सूत्रपदन्यासा व्याख्या से पदे पदे स्पष्ट होता है। यहां पर पुंवद्भाव के बिना भी 'गार्गी' शब्द से णप्रत्यय करने पर ईकार का लोप करने से 'गार्गः' सिद्ध हो सकता है अतः उन्होंने पुंवद्भाव की उपेक्षा कर दी होगी। इस दूसरे कारण की ही अधिक सम्भावना प्रतीत होती है।

व्याख्यानात् त्विहापि **प्रत्न-पूर्व-विश्वेमात् थाल् छन्दसि** (५.३.१११) इति निपातनमाश्रित्य कर्त्तव्यम् ।' (न्यास ४.३.२३)

यहां पर 'व्याख्यानात्' के स्थान पर 'व्याख्यानम्' पाठ उचित है, तभी उस का 'कर्त्तव्यम्' के साथ सामानाधिकरण्य बन सकेगा। अथवा यहां 'प्रतिपादनम्' पद छूट गया होगा। 'व्याख्यानात् त्विहापि—प्रतिपादनं कर्त्तव्यम् ।'

[५.३३] **कत्त्र्यादिभ्यो ढकञ्** (४.२.९५) सूत्र पर 'कत्त्रि' शब्द की निष्पत्ति दर्शाते हुए न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'कत्त्रिशब्दश्च तत्पुरुषः—कुत्सितास्त्रयः, 'कोः कत्' इति योगविभागात् कद्भावः। अत एव निपातनाद् बहुव्रीहिर्वा—कुत्सितास्त्रयो यस्याः सा कत्त्रिः ।'

(न्यास ४.२.९५)

यहां पर 'अत एव निपातनाद् बहुव्रीहिर्वा' यह पाठ बुद्धिगम्य नहीं होता। इस निपातन में ऐसा कौन सा निर्देश है जिस से 'कत्त्रिः' में बहुव्रीहिसमास समझा जा सके ? प्रतीत होता है कि लिपिकरों ने 'अत एव निपातनात्' इस पूर्वसम्बद्ध वाक्यांश को अगले वाक्य में मिला कर भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

"कत्त्रिशब्दश्च तत्पुरुषः—कुत्सितास्त्रयः, 'कोः कत्' इति योगविभागात् कद्भावोऽत एव निपातनात् । बहुव्रीहिर्वा—कुत्सितास्त्रयो यस्याः सा कत्त्रिः ।"

यही भाव हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में व्यक्त किया है—

"अस्मादेव निपातनात् कोः कद्भावः, तेन कद्भावे 'त्रावुपसंख्यानम्' इति न वक्तव्यं भवति ।" (पदमञ्जरी ४.२.९५)

तत्त्वबोधिनीकार भी यही कहते हैं—

'इहैव निपातनात् कोः कद्भावः । कद्भावे त्रावुपसंख्यानमिति प्रत्याख्येयम् ।'

(सि० कौ० तत्त्व० उ० पृ० ६३७)

[५.३४] **कालाट्ठञ्** (४.३.११) सूत्र में 'काल' ग्रहण से कालविशेषवाचक शब्दों का ही ग्रहण अभीष्ट है न कि 'काल' शब्द का—ऐसा वृत्तिकार का मत है। वृत्तिकार के इस मत को द्योतकद्वारा पुष्ट करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'कालविशेषवाचिन इति । अनेन कालादित्यर्थग्रहणम् । न स्वरूपस्येति । यदि हि स्वरूपग्रहणं स्यात् । सन्धिवेलादिसूत्रेण अणो विधानमनर्थकं स्यात् । प्राग्दीव्यतोऽण् इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । इह त्वर्थग्रहणे ठञ्बाधनार्थत्वात् तस्याऽऽनर्थक्यं भवति । तस्माद् अर्थग्रहणमेतत् ।' (न्यास ४.३.११)

यहां पर न्यास के दोनों संस्करणों में छपा 'इह त्वर्थग्रहणे ठञ्बाधनार्थत्वात् तस्यानर्थक्यं भवति' पाठ असङ्गत है। यदि इस सूत्र में अर्थग्रहण अर्थात् कालविशेषवाचकों का ग्रहण किया जाता है तो 'सन्धिवेलादि०' (४.३.१६) सूत्र का आनर्थक्य नहीं होगा

बल्कि सार्थक्य होगा। अतः यहां पर 'न' शब्द लेखक या सम्पादक के प्रमाद से छूट गया प्रतीत होता है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'इह त्वर्थग्रहणे ठञ्बाधनार्थत्वात् तस्याऽनर्थक्यं न भवति।'

अब यह पाठ सुसङ्गत तथा स्पष्ट हो जाता है।

[५.३५] तत्र जातः (४.३.२४) के विषय में **अमावास्याया वा** (४.३.३०) सूत्र द्वारा अमावास्या शब्द से वुन् और पक्ष में सन्धिवेलादित्वात् अण् प्रत्यय विधान किया जाता है। अमावास्यायां जातः—अमावास्यकः (वुन्), आमावास्यः (अण्)। परन्तु ये दोनों प्रत्यय 'अमावस्या' इस ह्रस्वघटित शब्द से भी सब वैयाकरणों को अभीष्ट हैं। अतः इस की सिद्धि के लिये काशिकाकार निम्नस्थ वचन लिखते हैं—

'एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् अमावस्याशब्दादपि भवति—अमावस्यकः, आमावस्यः।' (काशिका ४.३.३०)

काशिकाकार का अभिप्राय यह है कि अमापूर्वक वस् धातु से ण्यत् प्रत्यय करने पर 'अमावास्या' शब्द न्यायानुसार प्राप्त था, इस पर **अमावस्यदन्यतरस्याम्** (३.१.१२२) द्वारा उस में पाक्षिक वृद्ध्यभाव अर्थात् ह्रस्वविधान का निपातन किया गया है[1]। इस प्रकार 'अमावस्या' शब्द 'अमावास्या' शब्द का एकदेशविकृतरूप निश्चित होता है। अतः यहां 'अमावास्या' शब्द से विधान होने वाले वुन् और अण् प्रत्यय 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय के अनुसार 'अमावस्या' शब्द से भी सुतरां हो जायेंगे। अब देखिये इस स्थल की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास का मुद्रित पाठ—

'एकदेशविकृतस्येत्यादि। **अमावस्यदन्यतरस्याम्** इत्यत्र ण्यति अवृद्धिरेव निपात्यते। अवृद्धिस्तु वृद्धेरेकादेशभूततया विकारो भवतीत्येकदेशविकृतत्वम् अमावस्याशब्दस्योपपद्यते।' (न्यास ४.३.३०)

यहां यत्न करने पर भी 'अवृद्धिस्तु वृद्धेरेकादेशभूततया विकारो भवति' यह पाठ सङ्गत नहीं होता। अवृद्धि अर्थात् ह्रस्व कैसे वृद्धि का एकादेश होने से विकार है—इसे समझने में विशेषज्ञों की बुद्धि भी असमर्थ है। यह पाठ न्यास के पठनपाठन में एक ग्रन्थि (knot) के रूप में सामने आता है। परन्तु यदि किंचित् समाहित होकर चिन्तन किया जाये तो यहां की पाठभ्रष्टता तुरन्त समझ में आ सकती है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'अवृद्धिस्तु वृद्धेरेवादेशभूततया विकारो भवति।'

अर्थात् अवृद्धि (ह्रस्व) तो वृद्धि के स्थान पर ही आदेश होने से उस का विकार है। अब यह पाठ सुसंगत होकर स्पष्ट हो जाता है। यहां पर किसी कुलेखक अथवा अक्षरयोजक के प्रमाद से न्यास का 'एवादेशभूततया' पाठ 'एकादेशभूततया' के रूप में मुद्रित होकर अनर्थ का मूल बन गया प्रतीत होता है।

---

१. 'ण्यति वृद्धौ कृतायां पक्षे ह्रस्वोऽपि निपात्यते, स एव वृद्ध्यभाव उक्तः।' (पदमञ्जरी ३.१.१२२)

'ण्यदन्तस्यैव वृद्धौ सत्यां पक्षे ह्रस्वो निपात्यते।' (शब्दकौस्तुभ ३.१.१२२)

[५.३६] संसृष्टे (४.४.२२) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'ननु च संस्कृतम् इत्येव संसृष्टे प्रत्ययो भविष्यति, यत् पुनर्येन संसृष्टं तत्तेन संस्कृतम्भवति ? नैतत्, सतो ह्युत्कर्षाधानं संस्कारः, एकभावः संसर्गः, न च तत्रोत्कर्षेण भवितव्यम्, स्वशुचिद्रव्यसंसर्गे स्वप्रकर्ष एव भवति नोत्कर्षः। संसर्गमात्रे प्रत्यय इष्यते, तस्मात् संसृष्टे इति वक्तव्यमेतत्।' (न्यास ४.४.२२)

यहां पर 'स्वशुचिद्रव्यसंसर्गे स्वप्रकर्ष एव भवति, नोत्कर्षः' यह पाठ अन्वित न होने से सुष्ठुतया बुद्ध्यारूढ नहीं होता। यहां का पाठ भ्रष्ट है। किसी कुवाचक या कुलेखक ने 'अशुचिद्रव्यसंसर्गे त्वपकर्ष एव भवति, नोत्कर्षः' इस प्रकार के शुद्ध और समन्वित पाठ को उपर्युक्तप्रकारेण अशुद्ध और अनन्वित पढ़ तथा लिख दिया प्रतीत होता है।[1] इस की पुष्टि न्यास के इस व्याख्यान के आधार पर लिखे हरदत्तमिश्र के निम्नस्थ वचनों से भी होती है—

'ननु यद् येन संसृष्टं तत्तेन संस्कृतम्भवति, ततश्च संस्कृतमित्येव संसृष्टेऽपि प्रत्ययः सिद्धः ? न सिध्यति, सत उत्कर्षाधानं संस्कारः, एकीभावस्तु संसर्गः, न च यत्रासौ तत्रावश्यम् उत्कर्षोऽस्ति, अशुचिद्रव्यसंसर्गे हि प्रत्युतापकर्ष एव भवति। तस्मात् संसृष्ट इति वक्तव्यम्।' (पदमञ्जरी ४.४.२२)

[५.३७] ओजःसहोऽम्भसा वर्त्तते (४.४.२७) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ उपलब्ध होता है—

'तत्प्रक्रियाविशेषणमित्यादि। अनेन हि वृत्त्यर्थस्य कर्त्तव्यतामाचष्टे। वर्त्तत इति वर्त्तमानं करोतीत्यर्थः। स हि वृत्त्यर्थः कर्त्तव्यतया सम्बध्यमानः कर्म सम्पद्यते। तत्सामानाधिकरण्याच्च तद्विशेषणमपि कर्त्तव्यतया युज्यते। तदपि कर्म च प्रसक्तम्। क्रियाविशेषणस्यैवाकर्मकेऽपि धातौ कर्मत्वमाख्यातम्। तदित्यनेन द्वितीया-समर्थविभक्तौ लब्धायामपि द्वितीयान्ता इह प्रकृतयो निर्दिष्टा विस्पष्टार्थम्, अन्यथा प्रत्ययविधौ पञ्चमी न्याय्येति तदन्ता एव निर्दिश्येरन्॥' (न्यास ४.४.२७)

यह समग्र व्याख्यान इस सूत्र पर अनुचित है, क्योंकि इस सूत्र पर मूल में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया जिस के लिए यह अपेक्षित हो। यह व्याख्यान इस से अगले सूत्र तत्प्रत्यनुपूर्वम् ईपलोमकूलम् (४.४.२८) पर ही सम्भव हो सकता है क्योंकि वहां

---

१. न्यास के इस पाठ की भ्रष्टता न्यासकार के स्ववचनों से भी स्पष्ट हो जाती है। व्यञ्जनैरुपसिक्ते (४.४.३६) सूत्र पर पुनः इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'ननु यद् व्यञ्जनैरुपसिक्तं तत्तैः संस्कृतम्भवति। तत्र संस्कृतमेव सिद्धम् ? न सिध्यति। सतो ह्युत्कर्षाधानं संस्कारः। न चासौ सर्वत्रोपसिक्ते सम्भवति। तथाहि —व्यपगते स्वादुरसैः प्रतिभावापन्नैरुपसिक्तेषु ओदनादिषु अपकर्ष एव भवति नोत्कर्षः।'

पर ही मूल में इस की चर्चा की गई है—'क्रियाविशेषणमकर्मकाणामपि कर्म भवति ।' इसीलिये तो यहां 'तदित्यनेन द्वितीयासमर्थविभक्तौ लब्धायामपि द्वितीयान्ता इह प्रकृतयो निर्दिष्टा विस्पष्टार्थम्' इत्यादि कहा गया है। न्यास के प्रथम संस्करण के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती की असावधानी से ही अस्थान पर यह पाठ मुद्रित हुआ था। परन्तु आश्चर्य है कि दूसरी बार छपते समय प्राच्यसंस्करण के सम्पादकयुगल को यहां यह नहीं सूझा।

[५.३८] अधृष्ट अर्थात् अप्रगल्भ या जड़ अर्थ में शालीनकौपीने अधृष्टाऽकार्ययोः (५.२.२०) सूत्र द्वारा 'शालीन' शब्द का निपातन किया जाता है। काशिकाकार ने यहां 'शालीनो जडः' ऐसा लिखा भी है। काशिकोक्त इस वचन की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के दोनों संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'शालीनो जड इति। स हि जाडचात् प्रतिवचनमपि दातुं शक्तोऽप्यार्यैराद्रियमाणो न शक्नोति तत्र स्थातुं जनता पश्यतीति। अतः शालाप्रवेशनमर्हति।'

यह पाठ बुद्धिगम्य न होने से अवश्य ही भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ इस प्रकार का होना चाहिये—

'स हि जाडचात् प्रतिवचनमपि दातुमशक्तोऽप्यार्यैरनाद्रियमाणो न शक्नोति तत्र स्थातुं जनता न पश्यतीत्यतः शालाप्रवेशनमर्हति।'

अथवा इसी प्रकार के आशय वाला कुछ अन्य किञ्चित्परिवर्त्तित पाठ भी हो सकता है। यहां पर न्यास के हस्तलेख (Manuscripts) अनुसन्धातव्य हैं।

[५.३९] किमिदम्भ्यां वो घः (५.२.४०) सूत्र द्वारा वतुप् प्रत्यय के वकार को घ् विधान किया जाता है। इस स्थल की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अथ वग्रहणं किमर्थम्? यावताऽऽदेः परस्येति वकारस्यैव घो विज्ञायते। ननु चानेकाल्त्वात् सर्वादेशः प्राप्नोति। नैष दोषः। अकारो ह्यत्रोच्चारणार्थो वर्णमात्रमेव न त्वादेशः। कुतः पुनरेतद्विज्ञेयम्? व्याख्यानात्। तर्हि वकार एव लघीयान् इति युक्तं तस्य स्थानित्वेनोपादानम्। वकारे त्वस्थानिन्युपात्ते यद्यपि समुदायादेशस्तथापि न दोषः, द्वयोरकारयोः पररूपं भविष्यति।' (न्यास ५.२.४०)

यहां पर 'वकारे त्वस्थानिन्युपात्ते' यह मुद्रित पाठ असङ्गत है। इस के स्थान पर 'वकारे तु स्थानिन्युपात्ते' ऐसा पाठ चाहिये तभी सङ्गति लग सकेगी।

[५.४०] मतौ छः सूक्तसाम्नोः (५.२.५९) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'इहास्यवामादिशब्दोऽनेकपदान्तत्वाद् वाक्यम्। वाक्यस्य चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमिति प्रातिपदिकसंज्ञा नास्ति अतस्तेभ्यो न प्राप्नोति अप्रातिपदिकत्वात्।' (न्यास ५.२.५९)

यहां पर 'अनेकपदान्तत्वाद्' के स्थान पर 'अनेकपदावयवत्वाद्' पाठ होना चाहिये। न्यासकार ने स्वयम् अन्यत्र ऐसा कहा भी है—

'ननु च पूर्वं कृतमित्यनेकपदावयवत्वाच्च वाक्यमिदम्। वाक्यस्य चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमिति प्रातिपदिकसंज्ञा नास्ति।' (न्यास ५.२.८७)

[५.४१] शीतोष्णाभ्यां कारिणि (५.२.७२) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'न स पदार्थोऽस्ति यः शीतोष्णस्पर्शौ नियोगतः करोति। तुषारातपावपि हि नाऽवश्यं कुरुतः, प्रतिबन्धसम्भवात्। कर्तृशक्तिस्तु पदार्थानां नियतेति सा शक्तिः कर्तृत्वे कश्चिन्नियोगतो मन्दं करोति कश्चिच्छीघ्रम्।'

यहां पर अन्तिम पङ्क्ति अनन्वित होने से निरन्तर अस्पष्ट है। यदि यहां 'कश्चित्' शब्द के स्थान पर 'क्वचित्' कर दें तो पाठ स्पष्ट बुद्धिगम्य हो जाता है— 'कर्तृशक्तिस्तु पदार्थानां नियतेति सा शक्तिः कर्तृत्वे क्वचिन्नियोगतो मन्दं करोति क्वचिच्छीघ्रम्'। राजशाही सं० के Errata में इस का निर्देश भी है पर प्राच्यसं० में इसे पुनः अशुद्ध छाप दिय गया है।

[५.४२] अर्शआदिभ्योऽच् (५.२.१२७) सूत्र पर 'स्वाङ्गाद्धीनात्' इस गणसूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'स्वाङ्गाद्धीनादिति। हीनस्वाङ्गवृत्तेः प्रातिपदिकादज् भवति—खञ्जः पादोऽस्तीति खञ्जः, काणञ्चक्षुरस्तीति काणः।'

यहां पर मत्वर्थप्रकरण के कारण 'खञ्जः पादोऽस्यास्तीति खञ्जः, काणं चक्षुरस्यास्तीति काणः' इस प्रकार पाठ चाहिये। अत एव यहां हरदत्तमिश्र लिखते हैं—'हीनम्=विकलम्। हीनस्वाङ्गवाचिभ्योऽज्भवति। खञ्जः पादोऽस्यास्तीति खञ्जः, काणं चक्षुरस्यास्तीति काणः।'

यह अशुद्धि स्पष्टतः लेखकप्रमादजन्य प्रतीत होती है।

[५.४३] किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः (५.३.२) सूत्र पर 'बहुग्रहणे संख्याग्रहणम्। इह न भवति—बहोः सूपात्, बहौ सूपे इति।' काशिकास्थ इस वार्त्तिक की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'बहुग्रहणे संख्याग्रहणमिति। कथमिह सर्वनामसञ्ज्ञया सर्वादयः सञ्ज्ञिनो निर्दिश्यन्ते? तस्मात् तैः सह निर्देशात् बहुशब्दस्यापि बहुगणादिसूत्रेण यस्य संख्यासंज्ञा विहिता तस्यैव सञ्ज्ञिनो ग्रहणं विज्ञायते। बहोः सूपादिति। अत्र वैपुल्यवाची बहुशब्दः।' (न्यास ५.३.२)

यहां पर न्यासकार के 'कथमिह—' इत्यादि वचन समझ में नहीं आते। न्यासकार यहां 'कथमिह' द्वारा क्यों प्रश्न पूछ रहे हैं और पुनः उस का क्या उत्तर देने लग पड़े हैं—यह एक उलझन है। इसी प्रकार इस के अनुकरण पर लिखा गया पदमञ्जरी

का पाठ भी वुद्धिगम्य नहीं है।[1] परन्तु यदि तनिक गम्भीरता से विचार किया जाये तो इस पाठ की सारी समस्या हल हो जाती है। यहां संपादकों ने ग्रन्थकार का तात्पर्य न जान कर अस्थान में ही प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर सारी उलझन उत्पन्न कर दी है। यहां पर निम्नप्रकारेण प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर न्यासकार का तात्पर्य समझा जा सकता है—

'वहुग्रहणे संख्याग्रहणमिति। कथम् ? इह सर्वनामसंज्ञया सर्वादयः संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते, तस्मात् तैः सह निर्देशात् वहुशब्दस्यापि बहुगणादिसूत्रेण यस्य संख्या संज्ञा विहिता तस्यैव संज्ञिनो ग्रहणं विज्ञायते। वहोः सूपादिति। अत्र वैपुल्यवाची वहुशब्दः।'

अव सारा पाठ झटिति समझ में आ जाता है कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार पदमञ्जरीस्थ यहां का पाठ भी प्रश्नवाचक चिह्न के यथास्थान प्रयोग करने से शुद्ध कर लेना चाहिये।

[५.४४] नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् (५.४.१२१) सूत्र पर 'हलि' के ग्रहण का प्रयोजन बतलाते हुए न्यास में इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—

'अकारान्तोऽपि हलशब्दोऽस्ति तत्र यदा तेन समासः, तदा हल इति भविष्यति, यदा त्विकारान्तेन तदा हलिरिति, तदनर्थकं हलग्रहणम् ? नाऽनर्थकम्, भिन्नार्थत्वात्। तेन यो महद् हलं हलिः, तस्मिन् विषये विवक्षितेऽहल इति न सिध्यति। अहल इति यदाकारान्तेन समासः क्रियते, पूर्ववत् प्रकृतिभावेनाद्युदात्तत्वं चेष्यते। शेषाद्विभाषा इति कप् प्रसज्येत। तस्माद्युक्तं हलिग्रहणम्।' (न्यास ५.४.१२१)

यहां पर न्यासीयपाठ में निम्नप्रकारेण पाठभ्रष्टता समझनी चाहिये—

(क) 'तदा हल इति भविष्यति' 'तदा हलिरिति' ये पाठ भ्रामक हैं। इन दोनों स्थानों पर क्रमशः 'तदाऽहल इति भविष्यति' 'तदाऽहलिरिति' इस प्रकार मुद्रित होना चाहिये था। यह मुद्रणदोष है।

(ख) 'तदनर्थकं हलग्रहणम्' के स्थान पर 'तदनर्थकं हलिग्रहणम्' यह पाठ चाहिये, तभी 'तस्माद्युक्तं हलिग्रहणम्' इस उपसंहारवचन से संगति लग सकेगी। किञ्च सूत्र में भी 'हलि' का ग्रहण सर्वसम्मत है।

(ग) 'पूर्ववत् प्रकृतिभावेनाद्युदात्तत्वं चेष्यते' यह पाठ भ्रष्ट है। इस के स्थान पर 'पूर्वपदप्रकृतिभावेनाद्युदात्तत्वं स्याद् अन्तोदात्तत्वं चेष्यते' ऐसा पाठ सुसंगत बैठता है। न्यास की शब्दावलि का यहां पर अनुकरण करने वाले विट्ठल की प्रसादव्याख्या से भी इस पाठ की पुष्टि होती है। (देखें प्रसाद पू० पृ० ६०६)

---

१. 'बहुग्रहणे संख्याग्रहणमिति। कथमिह सर्वनामसंज्ञया संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते ? तैः साहचर्याद् बहुशब्दस्यापि संज्ञिनो ग्रहणम्, यस्य बहुगणवतुडतिसंख्या इति संख्यासञ्ज्ञा विहिता, न च तत्र वैपुल्यवाचिनो ग्रहणमिति अत्रापि तस्य ग्रहणाऽभावः।' (पदमञ्जरी ५.३.२)

इस प्रकार न्यास का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'अकारान्तोऽपि हलशब्दोऽस्ति, तत्र यदा तेन समासः, तदाऽहल इति भविष्यति तदा त्विकारान्तेन तदाऽहलिरिति, तदनर्थकं हलिग्रहणम् ? नाऽनर्थकम्, भिन्नार्थत्वात् । तेन यो महद्धलं हलिस्तस्मिन् विषये विवक्षितेऽहल इति न सिध्यति, अहल इति यदा-कारान्तेन समासः क्रियते । पूर्वपदप्रकृतिभावेनाद्युदात्तत्वं स्याद् अन्तोदात्तत्वं चेष्यते[1] । **शेषाद्विभाषा** इति कप् प्रसज्येत । तस्माद्युक्तं हलिग्रहणम् ।'

[५.४५] लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६.१.१७) सूत्र द्वारा वच्यादियों तथा ग्रह्यादियों के अभ्यास को सम्प्रसारण किया जाता है। इस पर काशिकाकार लिखते हैं—'तत्र ग्रहेरविशेषः ।' काशिकाकार का अभिप्राय यह है कि ग्रह् धातु के अभ्यास को सम्प्रसा-रणविधान किया जाये या न किया जाये दोनों अवस्थाओं में रूपसिद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि सम्प्रसारण नहीं करते तो अभ्यास में हलादिशेष से रेफ की निवृत्ति होकर 'जग्राह' आदि रूप बनते हैं और यदि सम्प्रसारण कर लेते हैं तो भी उरत् (७.४.६६) से अत्व, रपर होकर हलादिशेष से रेफ के लुप्त हो जाने पर वैसे ही 'जग्राह' आदि रूप बनते हैं। अब देखिये इस स्थल पर न्यास के दोनों संस्करणों में मुद्रित पाठ—

'ग्रहेरविशेष इति । तस्मात् सति सम्प्रसारणे हलादिशेषेण रेफनिवृत्तौ जग्राहेति ग्रहेर्यद् रूपं भवति, सत्यपि सम्प्रसारण उरत्व-रपरत्व-हलादिशेषेष्वपि कृतेषु तदेव भवति ।
(न्यास ६.१.१७)

यहां पर स्पष्टतः 'सति सम्प्रसारणे' के स्थान पर 'सत्यसम्प्रसारणे' पाठ उचित है क्योंकि सम्प्रसारणदशा का वर्णन तो आगे हो ही रहा है।

[५.४६] आदेच उपदेशेऽशिति (६.१.४५) द्वारा आत्वविधान में 'अशिति' कहा गया है, इस से शित्प्रत्ययों में इस की प्रवृत्ति नहीं होती यथा—ग्लायति, ग्लायतः, ग्लायन्ति ।

---

१. 'अहलः' इत्यत्र स्वरप्रदर्शने न्यासकारेण रभसवशाद् **नञ्सुभ्याम्** (६.२.१७१) इति सूत्रं विस्मृतमिवेति प्रतिभाति । अन्यथा हलशब्देनापि बहुव्रीहिसमासे पूर्वपद-प्रकृतिस्वरं बाधित्वा तेनान्तोदात्तता सुतरां सिध्यत्येव । न्यासोक्तस्वरदोषस्तु 'दुर्हलः' इत्यत्रैव सम्भाव्यते । अत एव हरदत्तमिश्रैः सुष्ठूपपादितमत्र—

'इह तर्हि—दुर्हल इत्यकारान्तेनापि समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्राप्नोति, समा-सान्ते तु विहिते चित्स्वरो भवति । अहलः, सुहल इत्यत्र नञ्सुभ्याम् इत्यन्तोदात्त-विधानान्नास्ति विशेषः ।' (पदमञ्जरी ५.४.१२१)

न्यासकार इतोऽग्रिमे **नित्यमसिच् प्रजामेधयोः** (५.४.१२२) इति सूत्रे स्वय-मप्येवं व्याचख्यौ—

'अप्रजाः सुप्रजा इत्यादौ तु नार्थश्चित्करणेन, नञ्सुभ्याम् इत्यनेनैवोत्तरपदान्तो-दात्तत्वस्य सिद्धत्वात्' । (न्यास ५.४.१२२)

'शित्' में बहुव्रीहिसमास नहीं माना जाता अपितु 'श् एव इत् शित्' इस तरह कर्मधारय मान कर शित् एक वर्ण समझा जाता है तब 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' से तदादिविधि होकर शिदादि प्रत्ययों में आत्व का निषेध हो जाता है। यदि बहुव्रीहिसमास मानते तो 'जग्ले, मम्ले' यहां भाववाच्य के लिट्स्थानीय एश् में भी आत्व न हो सकता। तब इस का क्या रूप बनता ? इस पर न्यासकार लिखते हैं—

'श इद् यस्य सोऽयं शिदिति। यश्च लिटस्तझयोरेशिरेच् इत्येशादेशः स शिद् भवति, ततश्च शिति प्रतिषेधे क्रियमाण एश्यप्यात्वं न प्राप्नोति। अत्रायादेशे कृते स्थानिवद्भावेन 'ग्लै' इत्यस्य द्विर्वचने 'जग्लाये' इत्यनिष्टं रूपं स्यात्।"

(न्यास ६.१.४५)

यहां पर न्यासप्रदर्शित 'जग्लाये' पाठ उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि तब 'ग्लै ग्लाय् ए' इस दशा में ह्रस्वः (७.४.५९) से अभ्यासह्रस्व होकर 'जिग्लाये' होना चाहिये न कि 'जग्लाये'। पदमञ्जरी का भी यहां का पाठ भ्रष्ट है। वहां पर भी 'जग्लाये' के स्थान पर 'जिग्लाये' पाठ चाहिये। अत एव प्रौढमनोरमाकार और तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं—

'किं च जग्ल इत्यत्राभ्यासे इकारः श्रूयेत द्विर्वचनेऽचीति वचनात्।'

(प्रौढमनोरमा पृष्ठ ५८६, तत्त्वबोधिनी उत्तरार्ध पृष्ठ १२३)

न्यास के राजशाही संस्करण में यह पाठ शुद्ध छपा था परन्तु प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने पदमञ्जरी के अशुद्ध पाठ को देख कर उसे शुद्ध करने की बजाय न्यास के शुद्ध पाठ को भी तदनुसार अशुद्ध छाप दिया।

[५.४७] धात्वादेः षः सः (६.१.६४) सूत्र पर 'आदेरिति किम् ? कषति, लषति, कृषति।' ऐसा पाठ काशिका के अद्यत्वे मुद्रित संस्करणों में उपलब्ध होता है।[1] यहां तीन प्रत्युदाहरण दिये गये हैं। परन्तु न्यास और पदमञ्जरी में आद्य दो प्रत्युदाहरणों का ही वर्णन आता है, तीसरे का नहीं, अतः तीसरा प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। आद्य दोनों प्रत्युदाहरणों की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

---

१. बालशास्त्रिसंस्करण तथा चौखम्बाप्रकाशित संस्करणों में यहां पर केवल 'कर्षति, कृषति' पाठ ही पाया जाता है। प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने सम्भवतः न्यास और पदमञ्जरी के अनुरोध से 'कर्षति' का 'कषति' कर दिया तथा 'लषति' अधिक सन्निविष्ट कर दिया। उस्मानियासंस्करण में भी प्राच्यसंस्करण का अनुगमन किया गया है।

'कषति' पाठ काशिका का मौलिक पाठ था—इस में सन्देह नहीं, अतएव न्यास और पदमञ्जरी में इस का उल्लेख है। परन्तु जब इस प्रत्युदाहरण का वक्ष्यमाणरीत्या प्रत्याख्यान होने लगा तो कुछ वैयाकरणों ने इसे 'कर्षति' और कुछ अन्य लोगों ने इसे 'कृषति' लिखना शुरू कर दिया, इस से पाठ-भेदों की उत्पत्ति हुई होगी—ऐसी सम्भावना है।

'कषतीति । भ्वादौ कषसिषेत्यादिर्हिंसार्थो धातुवर्गे पठ्यते । लषतीति । लष कान्तौ । अनयोरादिग्रहणान्न भवति । ननु चोपदेशसामर्थ्यादिवात्र न भविष्यतीति, अन्यथा ह्युपदेशस्य वैयर्थ्यं स्यात् ? नैतदस्ति, अस्ति हि अन्यदुपदेशस्य प्रयोजनम् । किं तत् ? **शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे** इत्यत्र कषेर्ग्रहणम्मा भूत्, लषेश्च लेषतुः, लेषुरिति षत्वं यथा स्यात् ।' (न्यास ६.१.६४)

यहां पर न्यासकार का 'कष्' के विषय में यह कहना कि 'प्रनिकषति' में 'शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे' (८.४.१८) द्वारा णत्वविधान न हो जाये अतः इसे षकारान्त उच्चरित किया गया है—युक्त नहीं है। यह कथन 'लष्' के विषय में तो ठीक हो सकता है परन्तु कष् के विषय में नहीं। क्योंकि षकारान्त पढ़ने पर भी कका-रादि होने के कारण 'कष्' ('प्रनिकषति') में णत्व का विधान नहीं हो सकता। अत एव हरदत्तमिश्र लष् के विषय में तो न्यासकार का अनुसरण करते हैं परन्तु कष् के विषय में नहीं। तथाहि—

'लषतीति । षकारोपदेशस्तु प्रनिलषतीत्यादौ **शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे** इति नेर्णत्वप्रतिषेधार्थं स्यात्, लेषतुः लेषुरित्यत्र **आदेशप्रत्यययोः** इति षत्वार्थम् । क्वचित्तु कषतीत्यपि पठ्यते, तदयुक्तम्, षकारोपदेशसामार्थ्यादिवात्र न भविष्यति, प्रनिकषतीत्यत्रापि कखादावित्येव णत्वप्रतिषेधः सिद्धः, आदेशादित्वादभ्यासलोपौ च न स्तः—चकषतुः, चकषुः ।' (पदमञ्जरी ६.१.६४)

यही कारण है कि आगे चल कर पाणिनीय तथा पाणिनीयेतर प्रायः सब वैयाकरण इस सूत्र पर 'आदेरिति किम् ?' के प्रत्युदाहरण में 'कष्' का उल्लेख नहीं करते केवल 'लष्' का ही करते हैं।[1]

कष् का उल्लेख करने में काशिकाकार और न्यासकार पर सम्भवतः चान्द्र-प्रभाव प्रतीत होता है, क्योंकि चान्द्रवृत्ति में ही सर्वप्रथम इस प्रत्युदाहरण का उल्लेख देखा जाता है (देखें चान्द्रवृत्ति ५.१.६१)।

[५.४८] निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् (६.२.११०) सूत्र पर काशिका में 'उपसर्गपूर्व-मिति किम् ? शुष्कमुखः' ऐसा प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस की व्याख्या के प्रसंग में न्यासकार लिखते हैं—

'शुष्कमुख इति । **शुषः कः** इति निष्ठायां कादेशः । प्रत्ययस्वरेण शुष्कशब्दो-ऽन्तोदात्तः । बहुव्रीहौ प्रकृतिभावेन नित्यमेवान्तोदात्तो भवति ।' (न्यास ६.२.११०)

यहां न्यासकार का शुष्क शब्द को प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त बताना अशुद्ध है क्योंकि पाणिनि ने **शुष्कधृष्टौ** (६.१.२०६) सूत्र से इसे आद्युदात्त विधान किया है। अत एव यहां हरदत्त मिश्र लिखते हैं—

'शुष्कशब्दः **शुष्कधृष्टौ** इत्याद्युदात्तः ।' (पदमञ्जरी ६.२.११०)

१. देखें—जैनेन्द्रमहावृत्ति ४.३.५३; शाकटायनअमोघा ४.२.२६१; हैम-बृहद्वृत्ति २.३.९८; तत्त्वबोधिनी उ० पृ० ५२; ल० श० शे० उ० पृ० ५२; व्या० मि० पृ० ६०१; व्या० दी० पृ० ५७३ आदि।

यह न्यासकार की अपनी भूल है, लिपिकरप्रमाद नहीं।

[५.४९] समानस्य छन्दस्यमूर्ध० (६.३.८४) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'सस्थानीय इति । स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति चेत् इति छः प्रत्ययः।'

(न्यास ६.३.८४)

यहां पर ऐसा प्रतीत होता है कि न्यासकार 'सस्थानीयः' पाठ की व्याख्या कर रहे हैं, परन्तु मूल में यहां न तो ऐसा पाठ है और न ही इस की आवश्यकता। न्यास का यह पाठ अस्थान पर मुद्रित हुआ भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है।

[५.५०] ऋचि तु-नु-घ-मक्षु-तङ्-कुत्रोरुष्याणाम् (६.३.१३३) सूत्र पर प्राच्यसंस्करण को छोड़ काशिका के अन्य सब संस्करणों में 'उत वा घा स्यालात्' उदाहरण मुद्रित मिलता है। यह पाठ ऋग्वेद (१.१०९.२) में उपलब्ध है। परन्तु न्यासकार काशिका के इस शुद्ध पाठ को भी अनवधानतावश 'उत वा घा लस्यात्' समझ कर मनमाना अर्थ करते हुए लिखते हैं—

"लस्यादिति । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इत्यस्याशिषि लिङि रूपमेतत् ।"

(न्यास ६.३.१३३)

इस से न्यासकार की वैदिक साहित्य से नितान्त हास्यकरी अनभिज्ञता प्रकट होती है। वेदानुयायी व्याख्याकारों को यहां के ऋक्पाठ में कुछ भी सन्देह नहीं। सभी एकस्वर से 'स्यालात्' पाठ स्वीकार करते हैं। अत एव हरदत्तमिश्र को यहां पर लिखना पड़ा है—

'उत वा घा स्यालादिति । भार्याया भ्राता स्यालः, ततः पञ्चमी ।'

भट्टोजिदीक्षित भी प्रौढमनोरमा में इसी ओर निर्देश करते हैं—

'उत वेति । भार्याया भ्राता स्यालः । ततः पञ्चमी ।' (प्रौढम० पृ० ८५३)

नोट—काशिका-प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने पूर्वमुद्रित पाठों तथा सम्पूर्ण वैदिकसाहित्य और हरदत्तमिश्र की भी उपेक्षा करते हुए काशिका के मूल से शुद्ध पाठ को हटा कर जो न्याससम्मत अशुद्ध पाठ छापा है इस से उन की भी वैदिक-साहित्य से अनभिज्ञता ही प्रकट होती है। सौभाग्य से उस्मानियासंस्करण में प्राच्यसंस्करण का अनुकरण नहीं किया गया, शुद्ध वैदिकपाठ ही दिया गया है।

[५.५१] ज्वरत्वर० (६.४.२०) सूत्र पर न्यास के प्राच्यसंस्करण में काशिका का प्रतीक 'जूः, जुरौ, जुरः' दिया हुआ है तथा मूल काशिका में 'सुतः, सुतवान्, सुतिः' उदाहरण मुद्रित हुए हैं। यह सब किसी व्याकरणशास्त्रानभिज्ञ शोधक का ही प्रमाद समझना चाहिये। न्यास में 'जूः, जूरौ, जूरः' ऐसा प्रतीक ही मुद्रित होना चाहिये जैसाकि राजशाही संस्करण में शुद्ध छपा है। काशिका के उदाहरणों का शुद्ध पाठ भी 'सूतः, सूतवान्, सूतिः' इस प्रकार होना चाहिये क्योंकि ऊठ् करने पर दीर्घोकार-घटित रूप ही बनते हैं ह्रस्वोकारघटित नहीं।

ज्ञानेन्द्रसरस्वतीविरचित तत्त्वबोधिनी में भी इस सूत्र पर इस प्रकार का भ्रष्ट पाठ प्रायः मुद्रित मिलता है, उसे भी इसी प्रकार शुद्ध कर लेना चाहिये। पाणिनीयेतर-व्याकरणग्रन्थों के मुद्रण में भी यह प्रमाद प्रायः पाया जाता है (यथा—जैनेन्द्र-महावृत्ति, पृष्ठ ३१८)।

[५.५२] आडजादीनाम् (६.४.७२) सूत्र पर काशिका के 'शब्दान्तरप्राप्तेरडागमस्यानित्यत्वम्, कृते हि विकरणान्तस्याङ्गस्य तेन भवितव्यम्, अकृते तु धातुमात्रस्य।' इन वचनों की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के सब मुद्रित संस्करणों में यह पाठ उपलब्ध होता है—

'शब्दान्तरप्राप्तिरित्यादि। कथम्पुनः शब्दान्तरप्राप्तिः? इत्यत आह—कृते हीत्यादि। अङ्गस्याडागमो विधीयते। कृते च विकरणे तदादिग्रहणस्य स्यादिति। नुमर्थत्वाद् विकरणान्तमङ्गं भवति, अकृते तु धातुमात्रम्। अन्यच्च विकरणान्तादङ्गाद् धातुमात्रमङ्गम्, अतोऽन्यस्य कृते प्राप्नोति अकृते त्वन्यस्येति स्फुटैव शब्दान्तरप्राप्तिः।'
(न्यास ६.४.७२)

यहां पर 'कृते च विकरणे तदादिग्रहणस्य स्यादिति। नुमर्थत्वाद्—' यह पाठ बुद्धिगम्य नहीं है। यह किसी अल्पज्ञ लिपिकर का कार्य प्रतीत होता है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—'कृते च विकरणे तदादिग्रहणस्य स्यादिनुमर्थत्वाद् विकरणान्तमङ्गम्भवति।'

इस व्याख्यान में न्यासकार ने **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** (१.४.१३) सूत्र पर पढ़े गए 'तदादिग्रहणं स्यादिनुमर्थम्' वार्त्तिक की ओर संकेत किया है। यह वार्त्तिक महाभाष्य तथा काशिका दोनों में पढ़ा गया है।[1] किसी अल्पज्ञ कुलेखक ने 'स्यादिनुमर्थम्' में 'स्यादि' को देख कर 'स्यात्+इति' की कल्पना कर 'ति' को छूटा हुआ (Omitted) जान 'स्यादिति' लिख दिया, इस से सम्पूर्ण वाक्य ही भ्रष्ट होकर समझ से परे हो गया।

[५.५३] आडजादीनाम् (६.४.७२) सूत्र पर काशिकाकार ने 'ऐज्यत, औप्यत, औह्यत' इन कर्मणि-लङ्-प्रयोगों की साधनप्रक्रिया के प्रसङ्ग में अट् की लादेश, विकरण और सम्प्रसारण के साथ यौगपद्य प्राप्ति दर्शाई है। लादेश की अपेक्षा अडागम को बहिरङ्ग तथा अन्यों की अपेक्षा उसे अनित्य ठहराया गया है। और अन्त में अङ्ग के

---

१. 'अङ्गसञ्ज्ञायां तदादिग्रहणं स्यादि-नुमर्थम्—अङ्गसंज्ञायां तदादिग्रहणं क्रियते स्याद्यर्थं नुमर्थं च। स्याद्यर्थं तावत्—करिष्यावः, करिष्यामः। नुमर्थम्—कुण्डानि वनानि।'
(महाभाष्य १.४.१३)
'तदादिवचनं स्यादिनुमर्थम्। करिष्यावः। करिष्यामः। कुण्डानि।'
(काशिका १.४.१३)

अजादि हो जाने से आट् द्वारा उस का बाध दर्शाया है। अब देखिये इस स्थल का न्यास जो इस से सर्वथा विपरीत मुद्रित मिलता है—

'विकरणे तर्हि कृते सम्प्रसारणात् पूर्वम् आडागमो भविष्यतीत्यत आह— विकरणे कृते सम्प्रसारणमित्यादि। नित्यत्वं तु सम्प्रसारणस्य पूर्ववत्, कृताऽकृतप्रसङ्गित्वात्। आडागमस्तु कृते सम्प्रसारणे प्राप्नोति, कृते हि सम्प्रसारणेऽजादित्वाद् आटा भवितव्यम् इत्यनित्योऽयमाडागमः'। (न्यास ६.४.७२)

यहां पर अडागम को छोड़कर आडागम की चर्चा शुरू कर दी गई है जो नितान्त अशुद्ध है, सम्प्रसारण से पूर्व तो आडागम की प्राप्ति ही नहीं। अतः यहां आडागम के स्थान पर यथोचित अडागम का पाठ समझ लेना चाहिये। यह भूल लिपिकरों की है न्यासकार की नहीं।

[५.५४] भियोऽन्यतरस्याम् (६.४.११५) सूत्र का काशिका में इस प्रकार अर्थनिर्देश किया गया है—

'भी इत्येतस्याङ्गस्यान्यतरस्यामिकारादेशो भवति हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः।'

अब इस स्थल की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'हलादौ सार्वधातुके क्ङिति परत इति। यद्यप्येते विशेषाः पूर्वस्मिन्निर्वर्त्तितास्तथापीह मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तन्त इत्यभिप्रायः।' (न्यास ६.४.११५)

न्यासकार यहां पर भ्रान्त प्रतीत होते हैं। इस सूत्र से पूर्व इद् दरिद्रस्य (६.४.११४) सूत्र में 'हलादौ क्ङिति सार्वधातुके' का अनुवर्त्तन काशिका में स्पष्ट देखा जाता है अतः यहां मण्डूकप्लुतिन्याय से इन का अनुवर्त्तन मानना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता।

[५.५५] इतोऽत्सर्वनामस्थाने (७.१.८६) सूत्र पर इत् और अत् में तपर करने का प्रयोजन दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'स्थानिन्यादेशे च तपरकरणं मुखसुखार्थमित्येके। पथीरित्यत्र दीर्घनिवृत्त्यर्थमित्यन्ये। पन्थानमिच्छति, सुप आत्मनः क्यच्, अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः। पथीयति। पथीयतेः क्विप्। अतो लोप इत्यल्लोपः। क्यस्य विभाषेति यकारस्य लोपः। पथीः।'[1] (न्यास ७.१.८६)

---

१. न्यासकार द्वारा निर्दिष्ट इस 'पथीः' रूप का यद्यपि जैनेन्द्रमहावृत्तिकार अभयनन्दी (पृष्ठ ३४४), शाकटायन-अमोघाकार पाल्यकीर्त्ति (पृष्ठ ४८), हैमशब्दानुशासनकार हेमचन्द्र (हैमबृहद्वृत्ति १.४.७६), प्रसादकार विट्ठल (पूर्वार्ध पृष्ठ २३४) आदियों ने समर्थन तथा अनुकरण किया है तथापि भट्टोजिदीक्षित ने अपनी प्रौढमनोरमा में न्यासकार का उल्लेख करते हुए इसका खण्डन किया है और इस का शुद्ध रूप 'पन्थाः' ही माना है (देखें प्रौढम०, पृ० ३४६)।

यहां पर क्विबन्त 'पथीय' में **अतो लोपः** (६.४.४८) द्वारा अत् का लोप करने के बाद न्यासकार का **क्यस्य विभाषा** (६.४.५०) से यकार का लोप विधान करना अनुचित है क्योंकि उस सूत्र में **यस्य हलः** (६.४.४९) से 'हलः' का अनुवर्त्तन सर्वसम्मत है। अतः हल् से परे ही उस सूत्र द्वारा यकारलोप की प्रवृत्ति होती है; यहां ईकार से परे यकार है, हल् से परे नहीं। इसलिये **लोपो व्योर्वलि** (६.१.६६) से ही यकार का लोप करना चाहिये।

न्यासकार की यह भ्रान्ति बहुत पहले से ही पकड़ में आ चुकी है। अत एव अभयनन्दी जैनेन्द्रमहावृत्ति में लिखते हैं—

"पथीयतेः क्विप्। 'अतः खम्' (जैनेन्द्र० ४.४.५०), 'वलि व्योः खम्' (जैनेन्द्र० ४.३.५५)।" (जैनेन्द्रमहावृत्ति पृष्ठ ३४४)

जैनेन्द्रव्याकरण का 'वलि व्योः खम्' सूत्र पाणिनि के 'लोपो व्योर्वलि' (६.१.६६) सूत्रस्थ विषय को संगृहीत करता है।

आचार्य हेमचन्द्र भी शब्दमहार्णवन्यास में यही कहते हैं—

"पन्थानमिच्छति 'अमाव्ययात् क्यन् च' (हैम० ३.४.२३) इति क्यनि नलोपे दीर्घत्वे पथीयतेः क्विपि 'अतः' (हैम० ४.३.८२) इत्यलोपे 'य्वोः प्यय्व्यञ्जने' (हैम० ४.४.१२१) इति यलोपे पथीः।' (हैमशब्दार्णवन्यास १.४.७६)

न्यास के व्याख्याता मैत्रेयरक्षित भी यहां न्यासकार को भ्रान्त स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

'न्यासे प्रमादपाठो दृश्यते क्यस्य विभाषेति यकारलोप इति। न ह्यनेन प्राप्तिर्यस्य हल इत्यतो हल्ग्रहणानुवृत्तेः।' (न्यास, उ० राजशाही० पृ० ६७८)

[५.५६] **थो न्थः** (७.१.८७) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'थो न्थ इति द्वावपि स्थान्यादेशावनच्कौ। यस्त्वन्थ इत्यत्राकारः श्रूयते स उच्चारणार्थः। सत्यप्यादेशस्यानेकाल्त्वे निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति थकारमात्रस्यादेशो विज्ञायते न सर्वस्य।' (न्यास ७.१.८७)

यहां पर 'यस्त्वन्थ' यह पाठ भ्रष्ट है। किसी अनभिज्ञ लेखक ने 'न्थ' के थकारोत्तर अकार के लिये लिखे गये 'अकारः श्रूयते स उच्चारणार्थः' को अन्यथा समझ कर 'अन्थ' पाठ की कल्पना कर ली, तब से यह पाठ भ्रष्ट हो गया। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'थो न्थ इति द्वावपि स्थान्यादेशावनच्कौ। यस्तु न्थं इत्यत्राकारः श्रूयते स उच्चारणार्थः।—'

ध्यान रहे कि प्रक्रियाकौमुदी के प्रसादव्याख्याकार विट्ठल ने न्यास का यह पाठ (पृष्ठ २३४ पर) अक्षरशः उद्धृत किया है, उस में उन्हों ने शुद्ध पाठ ही दिया है मुद्रित अशुद्ध पाठ नहीं।

न्यास के इस अशुद्ध पाठ की देखा-देखी पदमञ्जरी का भी इहस्थ पाठ भ्रष्ट हो गया है। तथाहि—

"स्यादेतत्—'थेरन्थः' इति सूत्रमस्तु, अकारोऽत्र विवक्षितोऽस्तु, थिशब्दस्यान्थ आदेशः। एवं च कृत्वा इतोत्० इति न वक्तव्यमिति ? तदपि वक्तव्यम् ऋभुक्षिन्शब्दार्थम्।" (पदमञ्जरी ७.१.८७)

यहां पर शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

"स्यादेतत्—'थेन्थः' इति सूत्रमस्तु, अकारोऽत्र विवक्षितोऽस्तु, थिशब्दस्य न्थ आदेशः।"

अत एव भट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा में हरदत्तमिश्र के भावों को हृद्गत कर अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

'थेन्थः इत्येव सिद्धे इतोऽद्वचनम् ऋभुक्षिन्नथंम्।' (प्रौढम० पृ० ३४७)

[५.५७] शाच्छासा० (७.३.३७) सूत्र पर काशिकास्थ वार्तिक 'धून्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'एतयोर्नुग्वक्तव्यः, व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—धूञ् विधूनने, तृप प्रीणन इति निपातनादेतयोर्लुग्भविष्यतीति।' (न्यास ७.३.३७)

यहां पर 'लुग्भविष्यतीति' के स्थान पर 'नुग्भविष्यतीति' पाठ चाहिये। आश्चर्य तो यह है कि न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती यहां 'नुक्' के समर्थन में टिप्पण करते हुए भी मूल में भ्रष्ट पाठ दे रहे हैं। काशीसंस्करण में भी यह अशुद्धि अक्षुण्ण है।

[५.५८] शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७.३.३७) सूत्र पर 'पा' धातु के विषय में काशिकाकार लिखते हैं—

'पा—पाययति। पा-ग्रहणे 'पै ओवै शोषणे' इत्यस्यापीह ग्रहणमिच्छन्ति। 'पा रक्षणे' इत्यस्य लुग्विकरणत्वान्न भवति। लुगागमस्तु तस्य वक्तव्यः। पालयति॥' (काशिका ७.३.३७)

अब देखिये यहां पर न्यास की व्याख्या—

'लुगागमस्तु तस्य वक्तव्य इति। ननु च 'पाल रक्षणे' इति चुरादौ पठ्यते, तस्य पालयतीति भविष्यति ? सत्यमेतत्, पुकस्तु निवृत्त्यर्थो लुगागम उपसङ्ख्यायते, अन्यथा हि पातेः पाययतीति स्यात्।' (न्यास ७.३.३७)

यदि पुक् की निवृत्ति के लिये लुक् का आगम है तो 'लुक्' के विधानाभाव में 'पापयति' रूप बनता न कि 'पाययति' जैसाकि उपर्युक्त पाठ में लिखा है। अतः यहां स्पष्टतः न्यास का पाठ भ्रष्ट है।

[५.५९] अजिव्रज्योश्च (७.३.६०) सूत्रस्थ काशिका के 'समाजः' और 'उदाजः' उदाहरणों की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'समाजः, उदाज इति । अज गतिक्षेपणयोः । समुदोरजः पशुषु इति घञ् ।'
(न्यास ७.३.६०)

यहां पर न्यासकार भ्रान्त प्रतीत होते हैं क्योंकि समुदोरजः पशुषु (३.३.६६) सूत्र घञ् का विधान नहीं करता अपितु अप् प्रत्यय का विधान करता है। घञ् के लिये हलश्च (३.३.१२१) सूत्र लिखा जाना चाहिये।

अत एव हरदत्त पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'पशुभ्योऽन्यत्र हलश्च इति घञ्, पशुषु तु समुदोरजः पशुषु इत्यब्भवति।'
(पदमञ्जरी ७.३.६०)

[५.६०] आण्नद्याः (७.३.११२) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—'आगमा आद्युदात्ता भवन्तीत्यनुदात्तत्वं यथा स्यादिति'।

यहां का पाठ भ्रष्ट है। यदि आगम आद्युदात्त होते तो अनुदात्तत्व कैसे प्रसक्त होता तब तो उदात्तत्व ही होता ? अतः यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार समझना चाहिये—

'आगमा अनुदात्ता भवन्तीत्यनुदात्तत्वं यथा स्यादिति।'

[५.६१] शाच्छोरन्यतरस्याम् (७.४.४१) सूत्र पर 'देवत्रातो गलो ग्राहः—' कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'गल इति। गिरतेः पदाद्यच्।' (न्यास ७.४.४१)

यहां पर 'पदाद्यच्' के स्थान पर 'पचाद्यच्' पाठ होना चाहिये।

[५.६२] जहातेश्च क्त्वि (७.४.४३) सूत्र में श्तिप् प्रत्यय लगा कर 'जहातेः' कहा गया है, इस से 'ओहाङ् गतौ' धातु का ग्रहण नहीं होता क्योंकि उस का श्तिप् में 'जिहाति' रूप बनता है[1] 'जहाति' नहीं। अत एव काशिकाकार स्वयं कहते हैं—

'जहातेर्निर्देशाज्जिहीतेर्न भवति—हात्वा।'

अब इस से आगे विचार प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'एवंविधेऽपि श्तिपा निर्देशे यङ्लुगन्तस्य न भवति—जाहात्वेति। ईत्वमप्यत्र न भवति, तद्विधावपि श्तिपा निर्देशात्। अत्र चेटि कृते आतो लोप इटि च इत्याकारलोपः।'
(न्यास ७.४.४३)

यहां पर यङ्लुगन्त में न्यासकार के अनुसार इट् करने के बाद आकार का लोप करना चाहिये। परन्तु ऐसा करने से तो 'जाहित्वा' रूप बनेगा न कि 'जाहात्वा'। अतः न्यास में 'जाहात्वेति' के स्थान पर 'जाहित्वेति' पाठ चाहिये। यह लिपिकरप्रमाद प्रतीत होता है। पदमञ्जरी में यहां 'जाहित्वा' शुद्ध रूप दिया गया है।

[५.६३] जहातेश्च क्त्वि (७.४.४३) सूत्र पर न्यास में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

---

१. 'भृञामित्' (७.४.७६) से अभ्यास को इत्व हो जाता है।

'पूर्ववदीत्वे प्राप्ते क्त्वाप्रत्यये हिरादेशो विधीयते। यद्यपि 'हि गतौ' इत्यस्यापि हित्वेति सिध्यति तथापि जहातेरिकारनिवृत्त्यर्थं वचनम्।' (न्यास ७.४.४३)

यहां न्यासकार एक तरफ तो यह कह रहे हैं कि क्त्वा प्रत्यय के परे होने पर **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (६.४.६६) से प्राप्त ईत्व के बाध के लिए यह 'हि' आदेश विधान किया जा रहा है, वहां दूसरी ओर उन का यह कहना कि 'जहातेरिकारनिवृत्त्यर्थं वचनम्' अर्थात् इकारनिवृत्ति के लिये यह वचन है—परस्पर विरुद्ध है। किं च 'हि' आदेश करने से इकार की निवृत्ति नहीं अपितु उपलब्धि होती है। अतः यहां पर न्यास का 'जहातेरीकारनिवृत्त्यर्थं वचनम्।' ऐसा पाठ चाहिये। यह पाठभ्रष्टता लिपिकरों के प्रमाद के कारण प्रतीत होती है।

यहां पर पदमञ्जरीकार का 'इदमपि वचनं जहातेर्हात्वेति मा भूदिति' यह कथन भी असंगत प्रतीत होता है। यहां पर 'जहातेर्हित्वेति मा भूदिति' ऐसा पाठ चाहिये। अत एव उन्हों ने इस से पूर्व **दधातेर्हिः** (७.४.४२) सूत्र पर अत्यन्त समुचित लिखा है—'यद्यपि हिनोतेर्हित्वा इत्यादि सिद्धम्, दधातेस्तु धीत इत्यादि-निवृत्तये सूत्रारम्भः।'

[५.६४] **अच उपसर्गात्तः** (७.४.४७) सूत्र पर भाष्य तथा काशिका में द्वितकार-पक्ष का भी निर्देश किया गया है अर्थात् दो तकारों वाला 'त् त्' इस प्रकार का आदेश भी बताया गया है। इस से अगले सूत्र **अपो भि** (७.४.४८) में भी द्वितकार वाले आदेश का अनुवर्त्तन होता है। तब अप् शब्द के पकार को भी दो तकारों वाला आदेश हो जाता है—अप्+भिस्=अत्त्+भिस्। अब यहां आगे की प्रक्रिया के विषय में न्यासकार निम्नस्थ विचार व्यक्त करते हैं—

'अद्भिरिति। **झलां जशोऽन्त** इति जश्त्वम्। तकारस्य दकारः। द्वितकार-पक्षे तु पूर्वस्यापि **झलां जश् झशि** इति जश्त्वम्—दकारः। **झरो झरि सवर्णे** इति पूर्वदकारलोपः।' (न्यास ७.४.४८)

इत्थं द्वितकारपक्ष में न्यासकार दूसरे तकार को **झलां जशोऽन्ते** (८.२.३९) से दकार कर तत्पश्चात् पहले तकार को भी **झलां जश्झशि** (८.४.५३) से दकार कर लेते हैं, फिर **झरो झरि सवर्णे** (८.४.६५) से पूर्व दकार का लोप कर 'अद्भिः' प्रयोग सिद्ध करते हैं।

परन्तु न्यासकार का यह प्रक्रियामार्ग उचित नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि 'अत्त्+भिस्' यहां पर जश्त्व (८.२.३९) के त्रिपादीपरत्व के कारण असिद्ध होने से प्रथम **संयोगान्तस्य लोपः** (८.२.२३) से संयोगान्तलोप हो जायेगा—अत्+भिस्। अब जश्त्व होकर 'अद्भिः' प्रयोग सिद्ध होगा। यदि न्यासकारानुसार दोनों तकारों को भिन्न-भिन्न सूत्रों द्वारा जश्त्व कर भी दें तो भी प्रथम दकार का **झरो झरि सवर्णे** (८.४.६५) से लोप न हो सकेगा क्योंकि वहां 'हलः' का अनुवर्तन होने से हल् से परे ही झरोझरिलोप किया जाता है।

जैनेन्द्रमहावृत्ति में अभयनन्दी ने न्यास का अनुकरण किया है—

'द्वितकारनिर्देशपक्षे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम् ।' (महावृत्ति० पृष्ठ ३८०)

कैयट भी इसी तरह न्यास का अविचारित अनुसरण करते हैं—

'तेनाऽप्शब्दस्य योऽच् तस्मात्परस्य पकारस्य द्वितकार आदेशः। तत्राऽन्त्यस्य झलां जशोऽन्ते इति जश्त्वं पूर्वस्य झलां जश् झशि इति।" (प्रदीप ७.४.४७)

सम्भवतः सर्वप्रथम हरदत्तमिश्र ही न्यासकार की इस अशुद्धि को भांप कर अत्रत्य शुद्ध प्रक्रिया का निर्देश करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'अत्र द्वयोस्तकारयोरन्त्यस्य संयोगान्तलोपः, पूर्वस्य जश्त्वम् ।'

(पदमञ्जरी ७.४.४७)

भट्टोजिदीक्षित भी प्रौढमनोरमा में यही कहते हैं—

'अच इत्यनुवर्त्य अचः परस्य पकारस्यादेशविधानम्। तत्रान्त्यस्य संयोगान्तलोपे पूर्वस्य जश्त्वे रूपसिद्धेः।' (प्रौढम० पृष्ठ ७३८)

तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती भी यही कहते हैं—

'तत्रान्त्यस्य संयोगान्तलोपे पूर्वस्य जश्त्वेन सिद्धमिष्टमिति ।'

(तत्त्व० पृष्ठ ४४०)

बृ० श० शे० में नागेश भी इसी तरह की प्रक्रिया का निर्देश करते हैं—

"अपोऽभीत्यत्र तु 'अचः' इत्यनुवर्त्य अचः परस्य पकारस्य तद्द्वयात्मके आदेशे, अन्त्यस्य संयोगान्तलोपे, पूर्वस्य जश्त्वे रूपसिद्धेः।" (बृ० श० शे० पृ० २०६०)

[५.६५] काशिका में **अपो भि** (७.४.४८) सूत्र पर एक वार्त्तिक पढ़ा गया है—

'स्ववःस्वतवसोर्मास उषसश्च तकारादेश इष्यते छन्दसि भकारादौ' ।

यहां की वार्त्तिक का प्रथम शब्द 'स्ववस्' है। महाभाष्य, पदमञ्जरी और सिद्धान्तकौमुदी आदि में भी यही शब्द पढ़ा गया है। अतएव काशिकाकार ने भी यहां का उदाहरण दिया है—स्ववद्भिः ।

परन्तु न्यासकार इस वार्त्तिक का प्रथम शब्द 'सुवस्' स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। वे यहां पर लिखते हैं—

'सुव इत्यादि। सुवस्, स्वतवस्, मास्, उषस् इत्येतेषां च भकारादौ परतस्त इत्ययमादेश इष्यते च्छन्दसि विषये। स च **व्यत्ययो बहुलम्** इत्यनेनैव लभ्यत इति वेदितव्यम् ।' (न्यास ७.४.४८)

इस प्रकार न्यासकार के मतानुसार उदाहरण होगा—सुवद्भिः। परन्तु वर्तमान उपलब्ध वैदिकसाहित्य में न तो 'स्ववद्भिः' मिलता है और न ही 'सुवद्भिः'। हां! वेद में 'स्ववस्' शब्द का कुछ अन्य विभक्तियों में प्रयोग अवश्य देखा जाता है। तद्यथा—

स्ववान् (ऋग्वेद १.३५.१०; यजुः० २०.५१; २०.५२; ३४.२६ आदि)।

स्ववसम् (ऋग्वेद ५.८.२; ५.६०.१; १०.४७.२)।

स्ववसा (ऋग्वेद १.९३.७) इत्यादि ।

इससे प्रतीत होता है कि न्यास का पाठ ही भ्रष्ट है । शायद यह पाठ प्रारम्भ से ही भ्रष्ट है तभी तो हरदत्तमिश्र इस की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए यहां पर लिखते हैं—

'अवतेरसुन्, शोभनमवो येषां ते स्ववसः ।' (पदमञ्जरी ७.४.४८)

[५.६६] तिङ्ङतिङः (८.१.२८) के अपवाद निपातैर्यद्-यदि-हन्त-कुविन्-नेच्-चेच्-चण्-कच्चिद्-यत्र-युक्तम् (८.१.३०) सूत्र पर काशिकोक्त 'स चेद् अधीते' उदाहरण में 'अधीते' का स्वर दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'स चेद् अधीत इति । इङ् धातुस्वरेणोदात्तः । ङित इति लसार्वधातुकमेवानुदात्तम् ।' (न्यास ८.१.३०)

न्यासकार ने इङ् के ङित्त्व के कारण यहां लकारादेश सार्वधातुक 'ते' को तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (६.१.१८६) से अनुदात्त ठहरा कर धातुस्वर के कारण 'अधीते' को मध्योदात्त सिद्ध किया है—जो नितान्त अशुद्ध है । क्योंकि उस सूत्र में स्पष्टतः 'अह्न्विङोः' कहा गया है । अतः ह्नुङ् और इङ् धातु से परे उस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । इसलिये यहां 'ते' को प्रत्ययस्वर से उदात्त मान कर 'अधीते' को अन्तोदात्त मानना ही युक्त है । जैसाकि यहां हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में कहा है—

'अधीत इति । 'अह्न्विङोः' इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वप्रतिषेधादन्तोदात्तः ।'

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती ने भी यहां यही लिखा है—

'But there is an exception in the सूत्र 6.1.186 viz. अह्न्विङोः which does not make the लसार्वधातुक after ह्नु and इङ् as अनुदात्त. So by प्रत्ययस्वर, ते of अधीते is उदात्त.' (न्यास राजशाही० ८.१.३०)

[५.६७] यद्धितुपरं छन्दसि (८.१.५६) सूत्र पर 'रोहाव' की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे । लोट् । वस् । शप् । आडुत्तमस्य पिच्च । स उत्तमस्य इति सकारलोपः ।' (न्यास ८.१.५६)

यहां पर न्यासकार का लोट्-उत्तमपुरुष के सकार का लोप करने के लिये स उत्तमस्य (३.४.९८) सूत्र की प्रवृत्ति दर्शाना अयुक्त है क्योंकि इस सूत्र में 'लेटः' की अनुवृत्ति आती है इसलिये वह लेट्-उत्तमपुरुष के ही सकार का लोप विधान करता है। अतः यहां लोटो लङ्वत् (३.४.८५) द्वारा लङ्वद्भाव के कारण नित्यं ङितः (३.४.९९) सूत्र से ही सकार का लोप करना उचित है । न्यासकार की इस त्रुटि की ओर ध्यान दिलाते हुए हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

रुहेर्लोट्, वस्, शप्, आडुत्तमस्य पिच्च, लोटो लङ्वद् इति लङ्वद्भावाद् नित्यं ङित इति सलोपः ।' (पदमञ्जरी, ८.१.५६)

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती भी अपनी एक टिप्पणी में यही कहते हैं—

'वस्तुतस्तु लोटो लङ्वदित्यनेन लङ्वद्भावान् नित्यं ङित इति सलोपः, स उत्तमस्य इति तु लेटो विधानम् ।' (न्यास राजशाही० उत्तरार्ध पृष्ठ ६३३)

[५.६८] **यद् वृत्तान्नित्यम्** (८.१.६६) सूत्र पर 'ददाति' और 'जुहुमः' पदों की स्वरप्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'ददाति, जुहुम इति । **अभ्यस्तानामादिः** इत्युभयमप्येतद् आद्युदात्तम् ।'

यहां न्यासकार दोनों स्थानों पर भ्रान्त हुए हैं। 'ददाति' पद आद्युदात्त तो है पर वह **अभ्यस्तानामादिः** (६.१.१८९) द्वारा नहीं अपितु **'अनुदात्ते च'** (६.१.१९०) द्वारा।[1] **अभ्यस्तानामादिः** (६.१.१८९) सूत्र में 'अचि' का अनुवर्त्तन सर्वसम्मत है। यहां 'ददा' अभ्यस्त से परे अच् नहीं किन्तु 'ति' यह हल् विद्यमान है। इसी प्रकार 'जुहुमः' में भी अच् परे न होने के कारण इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। किञ्च 'जुहुमः' पद आद्युदात्त भी नहीं, यह प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।[2] **भी-ह्री-भृ-हु-मद-जन-धन-दरिद्रा-जागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति** (६.१.१९२) सूत्र में भी 'पिति' कहा गया है अतः वह भी यहां आद्युदात्तत्व विधान नहीं कर सकता। हरदत्तमिश्र ने भी यहां लिखा है—

'जुहुम इति। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तमेतत्। **अभ्यस्तानामादिः, भीह्रीभृहुमद०** इति चोभयत्रापि अचीति वर्त्तते।'[3] (पदमञ्जरी ८.१.६६)

[५.६९] **गतिर्गतौ** (८.१.७०) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'उपसर्गेऽपि कारकप्रवृत्तिर्विशिष्यत एव। न हि उत्तरतीति हरत्यर्थं एव केवलं कर्तृव्यापारं व्यवच्छिनत्ति। किं तर्हि ? उपसर्गार्थोऽपि। अथवा हरणादर्थान्तरमेवो-द्धरणम्।' (न्यास ८.१.७०)

यहां पर 'उत्तरतीति' वह पाठ अशुद्ध है। इस के स्थान पर 'उद्धरतीति' पाठ चाहिये। तभी 'अथवा हरणादर्थान्तरमेवोद्धरणम्' की संगति लग सकेगी। यह सुतरां लिपिकरजन्य प्रमाद है।

[५.७०] **दधस्तथोश्च** (८.२.३८) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्न-लिखित पाठ मुद्रित हुआ है—

---

१. न्यासकार ने (८.१.४८) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में भी 'ददाति' पद का इसी अशुद्ध प्रकार से स्वर प्रतिपादन किया है।

२. काशिकाप्रदर्शित **यत्कामास्ते जुहुमः** (ऋग्वेद १०.१२१.१०) इस ऋग्वैदिक मन्त्र में भी वह अन्तोदात्त ही प्रयुक्त है।

३. भीह्रीतिसूत्रे त्वचीति नानुवर्त्तते। अमूलं हरदत्तस्य वचः।

"इह झलीत्यनुवर्तते, झषन्तस्येति च । तकारथकाराभ्यामन्यः स झलस्ति यत्र दधातेर्झषन्तस्य भष्भावो नेष्यते । तस्मात् 'तथोः' इति वचनमन्तरेणापि सिद्धमिष्ट-मित्यभिप्रायेणाह—तथोरिति किमिति ।" (न्यास ८.२.३८)

यहां पर 'तकारथकाराभ्यामन्यः स झलस्ति यत्र दधातेर्झषन्तस्य भष्भावो नेष्यते' यह पंक्ति बुद्धिगम्य नहीं है। यदि यहां 'नेष्यते' का 'न' वाक्य के आदि में ला कर पढ़ें तो पाठ की संगति सुगमता से लग जाती है—'न तकारथकाराभ्यामन्यः स झलस्ति यत्र दधातेर्झषन्तस्य भष्भाव इष्यते ।'

हरदत्तमिश्र भी पदमञ्जरी में इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हैं—

'झलीति वर्त्तते । झषन्तस्येति च । न च तकारथकाराभ्यामन्यो दधो झलस्ति, स्ध्वोस्तावदिष्टमेव । तस्मात्तथोरिति न वक्तव्यम् । एवं च कृत्वा चकारोऽपि न कर्त्तव्यः, सर्वत्र झलीत्येव सिद्धमिति प्रश्नः ।' (पदमञ्जरी ८.२.३८)

[५.७१] नसत्त-निषत्तानुत्त-प्रतूर्त० (८.२.६१) सूत्र पर 'प्रतूर्तम्' रूप की व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'प्रतूर्तमिति । यदा 'ञित्वरा सम्भ्रमे' इत्यस्य निपात्यते तदा ज्वरत्वरेत्यादिना रकारस्योपधायाश्चोत्वम् । यदा 'उर्वी तुर्वी थुर्वी हिंसार्थाः' इत्यस्य तदा राल्लोपः इति रकारलोपः । पूर्ववद् दीर्घः ।' (न्यास ८.२.६१)

यहां पर 'रकारलोपः' के स्थान पर 'वकारलोपः' पाठ चाहिये, राल्लोपः (६.४.२१) सूत्र में छ्वोः शूडनु० (६.४.१९) से 'छ्वोः' का ही अनुवर्त्तन होता है रेफ का नहीं ।

यह स्पष्टतः लेखक-प्रमाद है; सम्पादकों ने ध्यान नहीं दिया ।

[५.७२] मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि (८.३.१) सूत्र पर 'मीढ्वस्तोकाय तनयाय' उदाहरण के अन्तर्गत 'मीढ्वन्' शब्द की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'मिह सेचने, लिटः क्वसुः, दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च इत्यद्वित्वम् अनिट्-त्वम् उपधादीर्घत्वं च निपात्यते, हो ढः इति ढत्वम् । रोर्विसर्जनीये कृते तस्य विसर्जनीयस्य स इति सकारः ।' (न्यास ८.३.१)

यहां पर न्यासकार का हो ढः (८.२.३१) द्वारा हकार को ढत्वविधान करना अनुचित है, क्योंकि 'मिह्+वस्' में हकार न तो पदान्त में स्थित है और न ही इस से परे झल् विद्यमान है। अतः ढत्वविधान को भी निपातन में डालना चाहिये । जैसा कि काशिकाकार ने दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च (६.१.१२) सूत्र पर इसी उदा-हरण के प्रसङ्ग में कहा है—

'मिह सेचन इत्येतस्याद्वित्वमनिट्त्वमुपधादीर्घत्वं ढत्वं च निपातनात् ।'

चन्द्राचार्य ने भी अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में यही लिखा है—

'दाश्वान् इति दाशेः क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते । साह्वान् इति सहेः क्वसुदीर्घत्वं च । मीढ्वान् इति मिहेर्ढत्वं च ।' (चान्द्रवृत्ति उ० पृ० १२६)

सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता दण्डनारायण भी यही कहते हैं—

"दाशृ दान इत्येतस्य क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते। 'षह मर्षणे' इत्येतस्य परस्पैपदमुपधादीर्घत्वमद्वित्वमनिट्त्वं च। 'मिह सेचने' इत्यस्याद्वित्वमनिट्त्वमुपधादीर्घत्वं ढत्वं च।" (सरस्वती० हृदय० ६.१.१२)

आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में यही कहते हैं—

'मिह सेचन इत्यस्याद्वित्वमनिट्त्वमुपान्त्यदीर्घत्वं ढत्वं च निपात्यते मीढ्वान्।' (हैम बृहद्वृत्ति ४.१.१५)

आचार्य माधव भी माधवीयधातुवृत्ति में यही लिखते हैं—

'मीढ्वान्—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च इति क्वसावद्वित्वानिट्त्वोपधादीर्घत्वढत्वानि निपात्यन्ते।'[1] (मा० धा० वृत्ति० पृ० २८६)

[५.७३] ढो ढे लोपः (८.३.१३) सूत्र पर न्यास में निम्नस्थ पाठ पाया जाता है—

'ढकारोऽत्र ढलोपनिमित्तेनाश्रीयते, न चाऽसौ क्वचित्सिद्धः सम्भवति यत्राऽनेन ढलोपः कर्त्तव्यः। तस्माद् ढकारस्य निमित्तत्वेनाश्रयणादेव ष्टुत्वस्य सिद्धत्वं वेदितव्यम्, अन्यथा ह्यस्य वचनस्य वैयर्थ्यं स्याद् अनवकाशत्वात्।'

यहां पर 'ढकारोऽत्र ढलोपनिमित्तेनाश्रीयते' के स्थान पर 'ढकारोऽत्र ढलोपनिमित्तत्वेनाश्रीयते' यह पाठ चाहिये। अत एव अग्रिम पंक्ति में 'तस्माद् ढकारस्य निमित्तत्वेनाश्रयणादेव—' यह पाठ सुसंगत होता है।

[५.७४] रो रि (८.३.१४) सूत्र पर काशिकाकार लिखते हैं—

'पदस्येत्यत्र विशेषणे षष्ठी। तेनाऽपदान्तस्य रेफस्य लोपो भवति। जर्गृधेः—अजर्घाः, पास्पर्धेः—अपास्पा इति।'[2]

काशिकाकार का अभिप्राय यह है कि यहां पर पदस्य (८.१.१६) इस अधिकृत में यदि स्थानषष्ठी मानेंगे तो अलोऽन्त्यपरिभाषा के कारण पदान्त रेफ का लोप हो सकेगा अपदान्त का नहीं, जबकि इष्ट दोनों स्थानों पर लोप करना है। अतः यहां लक्ष्यानुरोध के कारण विशेषण-षष्ठी (अवयवावयविभावसम्बन्ध में षष्ठी) मान कर निर्वाह करना चाहिये। इस से पदान्त अपदान्त दोनों स्थलों पर रेफ का लोप हो कर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

अब देखिये यहां पर न्यासकार की व्याख्या—

'इह यदि पदस्येति स्थानषष्ठी स्यात्, ततः अलोऽन्त्यस्य इति पदान्तस्य न स्यात्। विशेषणषष्ठ्यां त्वस्यामिहापि भवतीत्येतच्चेतसि कृत्वाह—पदस्येत्यादि। विशेषण-

१. दाश्वान् साह्वान् इत्यत्रानिट्त्वं निपातनादस्तु, मीढ्वानित्यत्र इण्निषेधाय निपातनं नाश्रयितव्यम्। अनुदात्तो मिहिः।

२. काशिका का पाठ भ्रष्ट है यहां शुद्ध पाठ दिया गया है, देखें (४.४५)।

षष्ठ्यां हि पदस्येत्यस्यैवमभिसम्बन्धः क्रियते—पदस्यावयवो यो रेफस्तस्य रेफे परतो लोपो भवतीति। तेनाऽपदान्तस्यापि भवति।' (न्यास प्राच्यसं० ८.३.१४)

यहां पर यह कथन कि यदि **पदस्य** में स्थानषष्ठी मानेंगे तो **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा के कारण पदान्त रेफ का लोप न हो सकेगा—अत्यन्त हास्यास्पद है। इस के अतिरिक्त 'विशेषणषष्ठ्यां त्वस्याम् इहापि भवतीत्येतच्चेतसि कृत्वाह' यह कथन भी सुसंगत नहीं, क्योंकि किसी का निर्देश किये विना 'इहापि' कहना नितान्त अस्पष्ट है।

वस्तुतः यहां पर न्यासकार का कोई दोष नहीं। प्राच्यसंस्करण के कम्पोज़ीटरों ने राजशाहीसंस्करण को सामने रख कर कम्पोज़ करते समय अनवधानतावश पूरी एक पंक्ति ही छोड़ दी, सम्पादकमण्डल ने इस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। राजशाहीसंस्करण में इस स्थल का पाठ इस प्रकार मुद्रित हुआ है—

'इह यदि पदस्येति स्थानषष्ठी स्यात् ततोऽलोऽन्त्यस्येति **पदान्तस्यैव रेफस्य लोपः स्यान्नीरक्तमित्यादौ, अजर्घा इत्यादौ** त्वपदान्तस्य न स्यात्। विशेषणषष्ठ्यां त्वस्यामिहापि भवतीत्येतच्चेतसि कृत्वाऽऽह पदस्येत्यादि। विशेषणषष्ठ्यां हि पदस्येत्यस्यैवमभिसम्बन्धः क्रियते—पदस्यावयवो यो रेफस्तस्य रेफे परतो लोपो भवतीति। तेनाऽपदान्तस्यापि भवति।' (न्यास राजशाही० ८.३.१४)

अब यह पाठ सुसंगत हो जाता है। स्थूलाङ्कित पाठ प्राच्यसं० में छूट गया है।

[५.७५] **मोऽनुस्वारः** (८.३.२३) सूत्र पर न्यास में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'पदस्येति स्थानषष्ठी, तच्च पदं मकारेण विशेष्यते, विशेषणे च तदन्तविधिर्भवतीति मकारान्तपदस्यानुस्वारो विधीयमानोऽलोन्त्यपरिभाषया मकारस्यैव विज्ञायत इत्याह—मकारान्तस्य पदस्येति।' (न्यास ८.३.२३)

यहां पर न्यासोद्धृत काशिका के प्रतीकवचन तथा न्यासकार द्वारा किये गये उस के व्याख्यान में कोई तालमेल नहीं बैठता। न्यासकार शास्त्रीय विवेचन के बाद इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पदान्त मकार के स्थान पर अनुस्वार किया जाना चाहिये परन्तु काशिका का प्रतीक इस से विपरीत 'मकारान्तस्य पदस्य' अर्थात् मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार करने को कह रहा है। अतः यहां न्यासकार के व्याख्यान के अनुरूप काशिका का प्रतीक होना चाहिये—'मकारस्य पदान्तस्य'। यही प्रतीक हरदत्तमिश्र ने पदमञ्जरी में माना है। काशिका के वर्त्तमान उपलब्ध समस्त संस्करणों में भी यही पाठ पाया जाता है।

[५.७६] **मो राजि समः क्वौ** (८.३.२५) सूत्रस्थ काशिका के 'राजीति किम्? संयत्' इस प्रत्युदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'संयदिति। यमेः सम्पूर्वात् क्विप्, **अनुदात्तोपदेश०** इत्यादिना मकारलोपः। अकारस्य ह्रस्वस्य पिति कृति० इति तुक्।' (न्यास ८:३.२५)

(२६)

यहां पर अनुदात्तोपदेश० (६.४.३७) सूत्र द्वारा मकार का लोप चिन्त्य है क्योंकि उस की प्रवृत्ति झलादि कित् ङित् प्रत्ययों में ही होती है, क्विप् प्रत्यय झलादि नहीं। यहां पर गमः क्वौ (६.४.४०) सूत्रस्थ 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' वार्त्तिक से ही मकार का लोप होता है। अत एव हरदत्तमिश्र यहां पर लिखते हैं—

'संयदिति। गमः क्वौ इत्यत्र गमादीनामिति वचनाल्लोपः, ह्रस्वस्य तुक्।'[1]
(पदमञ्जरी ८.३.२५)

[५.७७] हे मपरे वा (८.३.२६) सूत्र पर 'पर' शब्द का प्रयोजन बतलाते हुए न्यास में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'अथ हे मः इत्येवं कस्मान्नोक्तम्, एवं हि पर-ग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति, सप्तम्यैव हि तदर्थं प्रतिपादयिष्यते—मकारे परतो योऽकार इति। नैतदस्ति, हे म इत्युच्यमाने विपर्ययोऽपि विज्ञायेत—हकारपरे मकार इति ततश्च किमह्न इत्यादावेव स्यात्। अकारेण व्यवधानान्न भविष्यतीति चेत्? न, येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचन-प्रामाण्याद् इत्येकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते न पुनरनेकेनेति। (न्यास ८.३.२६)

यहां पर स्थूलाङ्कित तीनों स्थानों का पाठ भ्रष्ट है। तथाहि—

प्रथम स्थान पर 'हे मः' पाठ के स्थान पर 'हे मे' पाठ चाहिये। 'हे म इत्येवं कस्मान्नोक्तम्' इस प्रकार राजशाहीसंस्करण के संहिताघटितपाठ को प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने विपरीत सन्धिच्छेद कर विसर्गान्त पाठ मुद्रित करा दिया।

द्वितीय स्थान पर 'योऽकारः' पाठ के स्थान पर 'यो हकारः' पाठ चाहिये। यह अशुद्धि राजशाही तथा प्राच्य दोनों संस्करणों में एक समान है।

तृतीय स्थान पर 'किमह्नः' यह उदाहरण संगत नहीं होता, अतः यहां पर सम्भवतः 'किम्मह्नः' पाठ हो सकता है।

[५.७८] ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (८.३.३२) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

"अथ परमदण्डिनोत्तमदण्डिनेति 'सन्महत्०' इत्यादिना समासे कृते ङमन्तात् तृतीयैकवचने तस्य नुट् कस्मान्न भवति; अत्र हि 'यचि भम्' इति भत्वेऽपि समासस्य ह्रस्वादिकारात् परो ङम् नकारः, तदन्ताद् दण्डिनेत्यस्माद् या विभक्तिस्तस्यां लुप्तायामपि प्रत्ययलक्षणेन लब्धपदसञ्ज्ञत्वात् तृतीयैकवचनम् अच्परं भवतीत्यस्ति ङमुट्प्राप्तिः? इत्याह—परमदण्डिनेत्यादि। उत्तरपदत्वे उत्तरपदव्यपदेशे कर्त्तव्ये सति अपदादिविधौ

१. संयदिति यमेः सम्पूर्वात् क्विबिति ब्रुवन्तो न्यासकारादयो संमूढाः। तत्रार्थे प्रयोगाभावादभिधानिकैरप्यसंग्रहात्। वस्तुतः संयदिति यती प्रयत्ने इत्यस्मात्क्विपि रूपम्। युद्धनामधेयमेतत्। देवाश्चासुराश्च संयेतिरे, देवाश्चासुराश्च संयत्ता आसन्नित्यादिषु तत्प्रसिद्धेः। यमेस्तु भावे प्रत्यये संयमः, संयमनम्, संयतिरित्येतानि रूपाणि प्रसिध्यन्तीति चारुदेवशास्त्रिणः।

पदादिविधेरन्यत्र प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वाक्यार्थः । असति प्रत्ययलक्षणे दण्डिनेत्यस्य पदसंज्ञा न भवति । ततश्च पदान्तादुत्तरस्योच्यमानो ङमुडागमो न भवति ।"

(न्यास ८.३.३२)

यहां पर स्थूलाङ्कित दोनों स्थानों का पाठ भ्रष्ट है। 'परमदण्डिना' में 'परमदण्डिन्+आ' इस अवस्था में समासगत लुप्त विभक्ति का प्रत्ययलक्षण द्वारा आश्रय कर 'दण्डिन्' शब्द को पदत्व प्राप्त था जिस का 'उत्तरपदत्वे चाऽपदादिविधौ' (वा० १.१.६३) से निषेध किया जाता है। परन्तु यहां मुद्रित पाठों में 'दण्डिना' के पदत्व का उल्लेख किया गया है जो किसी भी तरह उपपन्न नहीं होता । यह लिपिकर का ही प्रमाद समझना चाहिये, न्यास के सम्पादकवरों का इस ओर ध्यान क्यों नहीं गया— यह आश्चर्यकर है। उपरिनिर्दिष्ट स्थानों पर क्रमशः 'दण्डिन् इत्येतस्मात्' तथा 'दण्डिन् इत्येतस्य' इस प्रकार पाठ शुद्ध कर लेना चाहिये । अत एव हरदत्तमिश्र इसी स्थल की व्याख्या करते हुए पदमञ्जरी में अतीव उपयुक्त लिखते हैं—

'परमदण्डिनेत्यादौ सुबन्तयोः समासः, तत्र समासार्थायां विभक्तौ लुप्तायामपि प्रत्ययलक्षणेन 'दण्डिन्' इत्यस्य पदत्वमस्तीति ङमुट् प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—इहेति ।'

(पदमञ्जरी ८.३.३२)

[५.७९] **मय उञो वो वा** (८.३.३३) सूत्र पर काशिकाकार 'शमु अस्तु वेदिः, शम्वस्तु वेदिः' आदि उदाहरणों को प्रदर्शित करने के बाद लिखते हैं—

'प्रगृह्यत्वाद् उञः प्रकृतिभावे प्राप्ते वकारो विधीयते, तस्याऽसिद्धत्वाद् हलीति मोऽनुस्वारः न भवति ।'

(काशिका ८.३.३३)

अब यहां पर काशिका के 'प्रगृह्यत्वात्' प्रतीक को लेकर व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'प्रगृह्यत्वादित्यादि । प्रगृह्यत्वम्पुनः **उञः** इति प्रगृह्यसञ्ज्ञाविधानात् ।'

न्यासकार का यहां **उञः** द्वारा प्रगृह्यत्व प्रतिपादन करना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि उस सूत्र की प्रवृत्ति अवैदिक इति-शब्द के परे होने पर ही सर्वसम्मत है अन्यमात्र में नहीं । अतः यहां **निपात एकजनाङ्** (१.१.१४) द्वारा प्रगृह्यता की प्राप्ति दर्शानी चाहिये थी । अत एव हरदत्तमिश्र न्यासकार की इस अशुद्धि को भांपते हुए यहां पर लिखते हैं—

'प्रगृह्यत्वादिति । प्रगृह्यत्वं च निपात एकाजनाङ् इति । यदा तु इतिपर उञ् भवति मयश्च परः, तदा उञः इति प्रगृह्यसञ्ज्ञाया विकल्पः, ऊँ आदेशश्च ।'

(पदमञ्जरी ८.३.३३)

[५.८०] **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** (८.३.५५) सूत्र पर न्यास के प्राच्यसंस्करण में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'अथान्तग्रहणं किमर्थम् 'अपदस्य मूर्धन्यः' इत्युच्यमाने पदस्य यः सकारस्तस्य मूर्धन्यो विज्ञायेत । तथा च करिष्यतीत्यादौ न स्यात्, पदसकारत्वात् । क्व तर्हि स्यात् ?

करिष्यतीत्यादौ यत्र पदसञ्ज्ञा नास्ति । अत्र हि भसञ्ज्ञा पदसञ्ज्ञां बाधते । तस्मादन्तग्रहणं क्रियते ।'

चाहे कोई कितना भी प्रबुद्ध एवं व्युत्पन्न क्यों न हो इस पाठ की संगति नहीं लगा सकता । 'करिष्यति' यह पद है भी और नहीं भी—यह एक ही श्वास में कैसे सम्भव हो सकता है ?

वस्तुतः यहां पर न्यासकार का कोई दोष नहीं मुद्रकों की ही अनवधानता है । न्यासकार ने यहां 'करिष्यति' और 'करिष्यता' दो उदाहरण प्रस्तुत किये थे । 'करिष्यति' को तो वे पद मान रहे हैं परन्तु 'करिष्यता' में टा विभक्ति के परे होने पर 'करिष्यत्' की यचि भम् (१.४.१८) से भसंज्ञा कर रहे हैं जो अत्यन्त समुचित है । अतः यहां अन्तिम पंक्ति को इस प्रकार शुद्ध कर के पढ़ना चाहिये—

'करिष्यतेत्यादौ यत्र पदसंज्ञा नास्ति । अत्र हि भसञ्ज्ञा पदसञ्ज्ञां बाधते । तस्मादन्तग्रहणं क्रियते ।'

न्यास के राजशाहीसंस्करण में यह पाठ शुद्ध छपा था परन्तु प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों की असावधानता से शुद्ध पाठ भी अशुद्ध छाप दिया गया ।

[५.८१] न्यास के दोनों संस्करणों में सहेः साडः सः (८.३.५६) सूत्र पर निम्नस्थ पाठ मुद्रित हुआ है—

'सकारस्योष्मणो घोषवत आन्तरतम्यात् तादृश एव षः ।'

यहां पर सम्पादकों के प्रमाद से 'घोषवतः' पद को पृथक् दूर छाप दिया गया है जो नितान्त अशुद्ध तथा आपत्तिजनक है, क्योंकि सकार का घोष यत्न किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है । अतः यहां पर 'सकारस्योष्मणोऽघोषवत आन्तरतम्यात् तादृश एव षः' इस प्रकार लिख कर पूर्वरूप हुए अकार की सहायता से 'अघोषवतः' पाठ समझना चाहिये ।

[५.८२] इण्कोः (८.३.५७) सूत्र पर 'इण्कोरिति किम् ? दास्यति' इस काशिकास्थ प्रत्युदाहरण की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

"दास्यतीति । कथम्पुनरिदं प्रत्युदाहरणमुपपद्यते, यावता अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः इत्यत्र हकारेण गृह्यमाणेन आकारो गृह्यत इति । अस्ति ह्याकारस्य हकारेण सह सवर्णत्वम्, तुल्यस्थानप्रयत्नत्वात् । स्थानमस्ति ह्यनयोस्तुल्यमिति 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः' इति । प्रयत्नोऽपि तुल्यः—विवृतं करणमूष्मणां स्वराणां चेति । तस्मात् सत्यपीण्कोरिति प्राप्नोत्येव मूर्धन्यः, नाज्झलौ इति सवर्णसञ्ज्ञाप्रतिषेधादिति चेत् ? नैष दोषः, यदयम् वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप् इत्यत्राकारादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यमकृत्वा निर्देशं करोति, ततोऽवसीयते—हकारो गृह्यमाणो नाकारं ग्राहयति, अन्यथा 'वयस्यासु' इति निर्देशं न कुर्यात् ।" (न्यास ८.३.५७)

यहां पर 'नाज्झलौ इति सवर्णसञ्ज्ञाप्रतिषेधात्' यह हेतुवचन उपपन्न नहीं

होता, क्योंकि जब नाज्झलौ से आकार और हकार के सावर्ण्य का निषेध ही है तो पुनः 'सत्यपीण्कोरिति प्राप्नोत्येव मूर्धन्यः' यह कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः यहां पर 'सवर्णसञ्ज्ञाऽप्रतिषेधात्' इस प्रकार सवर्णदीर्घघटित पाठ की कल्पना कर लेनी उचित है। न्यास के सम्पादकों को यहां स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये पूर्वरूप का चिह्न (ऽ) उट्टङ्कित करना चाहिये था।

[५.८३] शासि-वसि-घसीनां च (८.३.६०) सूत्र पर 'जक्षतुः' रूप की सिद्धि करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अदेर्लिटि कृते लिटयन्यतरस्याम् इति घस्लादेशः, गमहनेत्यादिनोपधालोपः, द्विर्वचनेऽचीति स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनं कुहोश्चुः इति चुत्वम्—झकारः, तस्यापि जश्त्वम्—जकारः, घकारस्य चर्त्वम्—ककारः। तस्य चाऽऽश्रयत्वात् सिद्धम्भवतीति वेदितव्यम्।' (न्यास ८.३.६०)

यहां पर 'जघ्स्+अतुस्' इस स्थिति में न्यासकार पहले घकार को चर्त्व (८.४.५५) कर देते हैं पुनः यह चर्त्व, षत्वविधायक शासि-वसि-घसीनां च (८.३.६०) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध ठहरता है तो इस के लिये वे कहते हैं कि 'तस्य चाऽऽश्रयत्वात् सिद्धम्भवतीति वेदितव्यम्' अर्थात् षत्वविधि में इण्कोः (८.३.५७) का अधिकार है परन्तु घस् में सर्वत्र हमें चर्त्व द्वारा निष्पन्न ही ककार मिलता है अतः एक मात्र आश्रय होने से उस असिद्ध को भी वचनसामर्थ्य से सिद्ध समझ लेना चाहिये—यह है न्यासकार का तात्पर्य। परन्तु न्यासकार का यह कथन चिन्त्य प्रतीत होता है। कारण कि षत्वविधान में इण्कोः (८.३.५७) द्वारा केवल ककार का ही आश्रय नहीं लिया गया अपितु 'कु=कवर्ग' का आश्रय लिया गया है। अतः 'जक्षतुः' की सिद्धि में चर्त्व करने से पूर्व 'जघ्स्+अतुस्' इस स्थिति में घकार के कवर्गान्तर्गत होने से प्रथम षत्व करके बाद में चर्त्व द्वारा यथेष्ट रूप सिद्ध करना चाहिये, इस से आश्रय की असिद्धता वाली कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। इसीलिए तो 'इण्कोः' में केवल ककार न पढ़ कर 'कु' इस वर्ग का ग्रहण किया गया है। अत एव उस सूत्र पर न्यासकार की आलोचना करते हुए हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'वर्गग्रहणम् शासि-वसि-घसीनां च इत्यत्र घकारस्यापि ग्रहणार्थम्—जक्षतुरिति। अन्यथा चर्त्वस्याऽसिद्धत्वाद् न स्यात्। अथ वचनसामर्थ्यात् चर्त्वस्य सिद्धत्वम् आश्रीयेत चिन्त्यं वर्गग्रहणस्य प्रयोजनम्।' (पदमञ्जरी ८.३.५७)

[५.८४] शासि-वसि-घसीनां च (८.३.६०) सूत्र में 'घसि' के ग्रहण से 'घस्लृ अदने' धातु तथा अद् के स्थान पर होने वाले घस्लृ आदेश (२.४.४०) इन दोनों का ग्रहण करना चाहिये—ऐसा न्यासकार बड़े यत्न से सिद्ध करते हैं—

'घस्लृ अदने, यश्चादेशो घसिः=तयोर्द्वयोरपि ग्रहणम्। ननु चादेशस्य लाक्षणिकत्वाद् ग्रहणमयुक्तम्? नैष दोषः, अनित्या हि लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा। अनित्यत्वं चास्याः यावत्पुरानिपातयोर्लट् इत्यत्र निपातग्रहणेन ज्ञापितम्। भुवश्च

महाव्याहृतेः इत्यत्र महाव्याहृतिग्रहणेन च ज्ञापितम् । अपि चात्र घसिवसोरेकतरस्य लघ्वक्षरत्वात् पूर्वनिपाते कर्त्तव्ये शासेः पूर्वनिपातं कुर्वता शास्त्रनिरपेक्षता सूच्यते—किञ्चिच्छास्त्रमत्र नाऽपेक्षितव्यमित्यमुमर्थं दर्शयितुम् । तेन लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयत इति युक्तमादेशस्यापि ग्रहणमिति ।' (८.३.६०)

परन्तु यदि ध्यान दिया जाये तो न्यासकारोक्त 'घस्लृ अदने' धातु का ग्रहण यहां उचित प्रतीत नहीं होता। इस का कारण यह है कि 'घस्लृ अदने' धातु का प्रयोग सार्वत्रिक नहीं है। वह सार्वत्रिक होता तो लिट्यन्यतरस्याम् (२.४.४०) सूत्र की आवश्यकता ही न होती, तब घस्लृ धातु से 'जघास, जक्षतुः, जक्षुः' आदि तथा अद् धातु से 'आद, आदतुः, आदुः' आदि यथेष्ट रूप बन जाते पुनः इस वैकल्पिक आदेश का क्या प्रयोजन? इस प्रकार घस्लृ धातु का लिट् आदि में अप्रयोग मानना ही उचित है। जब उस का लिट् में प्रयोग ही नहीं होता तो पुनः उस के लिये न्यासकार का इतना आयासपूर्ण व्याख्यान कैसा? अत एव यहां हरदत्तमिश्र को कहना पड़ा है—

'यस्त्वनादेशो घसिस्तस्येह ग्रहणं न भवति, विरलप्रयोगत्वात् ।'

(पदमञ्जरी ८.३.६०)

न्यासकार स्वयं भी अन्यत्र घस् धातु का असार्वत्रिक प्रयोग मानते हैं—

"ननु च 'घस्लृ अदने' इत्येतस्य 'जघास, जक्षतुः, जक्षुः' इति भविष्यति, 'अद भक्षणे' इत्यस्य 'आद, आदतुः, आदुः' इति । अस्ति घसिः प्रकृत्यन्तरम्, 'सृघस्यदः क्मरच्' इति क्मरज्विधानात्, तत् कथमिह लिटि विकल्पविधानम्? घसेः प्रकृत्यन्तरस्यासर्वविषय-ज्ञापनार्थम् । तेन तस्य सार्वधातुक आर्धधातुके च यत्र लिङ्गं नास्ति वचनं च, तत्र प्रयोगो न भवति ।" (न्यास २.४.४०)

न्यासकार का अन्धानुकरण करते हुए आचार्य हेमचन्द्रसूरि भी स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति में इसी प्रकार के परस्परविरुद्ध विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'घस्यदिभ्यामेव सिद्धे विकल्पवचनं घसेरसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम् । तेन घस्ता, घस्मर इत्यादावेव घसेः प्रयोगो भवति ।' (हैमबृहद्वृत्ति ४.४.१८)

पुनः इस के विरुद्ध घस् धातु का लिट् में प्रयोग सिद्ध करते हुए स्वोपज्ञवृत्ति में लिखते हैं—

'जक्षतुः, जक्षुः ।—घसिरिह प्रकृत्यन्तरम् । आदेशस्य कृतत्वेनैव[1] सिद्धत्वात्, अकृतसकारार्थं वचनम् ।' (हैमबृहद्वृत्ति २.३.३६)

[५.८५] सहेः पृतनर्त्ताभ्यां च (८.३.१०७) सूत्र पर काशिका में 'ऋताषाहम्' यह उदाहरण दिया गया है, और 'ऋतीषहम्' को योगविभाग या 'चकारोऽनुक्तसमुच्च-यार्थः' से सिद्ध किया गया है। परन्तु न्यास में उदाहरण का प्रतीक 'ऋतीषाहमिति'

---

१. कृतत्वेनैव—विहितत्वेनैवेत्यर्थः । तथा चोक्तं हैमसूत्रे—'नाम्यन्तस्था-कवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्नान्तरेऽपि' (२.३.१५)

यह पाठ मुद्रित हुआ है जो भ्रमोत्पादक है। यहां पर न्यास का पाठ भ्रष्ट मानना चाहिये। इस में तीन हेतु दिये जा सकते हैं—

(क) न्यासकार इस सूत्र की व्याख्या के आरम्भ में ही कहते हैं—'असाडर्थम् अनिणर्थं च'। अर्थात् जहां साड्रूप नहीं और जहां पूर्व में इण् नहीं वहां सह् धातु के सकार को षत्व करने के लिये सूत्र बनाया गया है। 'ऋतीषाहम्' में तो इण् से परे सह् है अतः यह इस सूत्र का उदाहरण नहीं बन सकता।

(ख) सूत्र में ऋतपूर्वक सह् के सकार को षत्व का विधान किया गया है अतः उदाहरण में 'ऋताषाहम्' पाठ ही रखना चाहिये न कि 'ऋतीषाहम्'।

(ग) न्यासकार स्वयं 'ऋतीषाहम्' की तरह सिद्ध होने वाले 'ऋतीषट्' रूप की सिद्धि दर्शाते हुए **नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ** (६.३.११६) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'ऋतिं सहत इति ऋतीषट्। **सहेः पृतनर्ताभ्यां च** इत्यत्र 'सहेः' इति योग-विभागाद् अनुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वा चकारस्य षत्वम्।' (न्यास ६.३.११६)

इस से स्पष्ट हो जाता है कि न्यासकार का यहां उदाहरण का प्रतीक 'ऋताषाहमिति' था 'ऋतीषाहमिति' नहीं।

न्यास के इस अशुद्ध पाठ को आधार बना कर प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने मूल काशिका में से 'ऋताषाहम्' इस शुद्ध पाठ को हटा कर जो यह अशुद्ध पाठ मूल के उदाहरण में दे दिया है यह और भी चिन्त्य है। न्यास के आधार पर काशिका का पाठ निर्धारण या संशोधन करने से पहले प्रमाणान्तरों से यह अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि क्या न्यासोक्त पाठ शुद्ध भी है या नहीं? वैदिक उदाहरणों में तो यह और भी आवश्यक है—यह अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है।

[५.८६] **सहेः पृतनर्ताभ्यां च** (८.३.१०७) सूत्र पर 'ऋतीषहम्' की प्रक्रिया दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'ऋतीषहमिति। **कृत्यल्युटो बहुलमिति** क्विप्। **नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ** इति दीर्घत्वम्। संहितायाम् एतद् दीर्घत्वं षत्वं चेति। उभयोरपि विधाने संहिताधिकारात्। दीर्घस्य प्रतिपादनम्—ऋतीशब्दस्यायं प्रयोग इति प्रतिपादनार्थम्, अन्यथा हि ऋतिशब्दान्तरमेवेदमित्याशङ्क्येत।' (न्यास ८.३.१०७)

यहां पर 'दीर्घस्य प्रतिपादनम्—ऋतीशब्दस्यायं प्रयोग इति प्रतिपादनार्थम्, अन्यथा हि ऋतिशब्दान्तरमेवेदमित्याशङ्क्येत' यह मुद्रितपाठ असंगत है। क्योंकि दीर्घ का प्रतिपादन इसलिये नहीं किया गया कि कोई इसे 'ऋती' शब्द का प्रयोग समझ ले, बल्कि इसलिये किया गया है कि वस्तुतः यहां 'ऋति' शब्द था जो सांहितिक दीर्घ से 'ऋती' बन गया है। अतः यहां का शुद्ध पाठ इस से विपरीत इस प्रकार होना चाहिये—

'दीर्घस्य प्रतिपादनम्—ऋतिशब्दस्यायं प्रयोग इति प्रतिपादनार्थम् । अन्यथा हि ऋतीशब्दान्तरमेवेदमित्याशङ्क्येत ।'

[५.८७] अट्कुप्वाङ्० (८.४.२) सूत्र पर न्यास में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'यथैव हि नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचो विसृज्येरन् इत्यत्र नक्षत्रदर्शनकालस्योपलक्षणार्थत्वादसत्यपि नक्षत्रादर्शने तस्मिन् कालविशेषे सति वाचो विसृज्यन्ते, सत्यपि च नक्षत्रदर्शने तस्मिन् कालविशेषाभावे वाचो न विसृज्यन्ते, तथेहापि नुम्ग्रहणस्यानुस्वारोपलक्षणार्थत्वादसत्यपि नुमि यत्रानुस्वारव्यवायोऽस्ति तत्र णत्वं भवति, सत्यपि नुमि यत्रानुस्वारव्यवायो नास्ति तत्र न भवतीत्येवमर्थं वेदितव्यम् ।' (न्यास ८.४.२)

यहां पर 'नक्षत्रादर्शने' के स्थान पर 'नक्षत्रदर्शने' पाठ उचित है ।

[५.८८] पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः (८.४.३) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

"सम्बन्धिशब्दो हि नियतमेव प्रतियोगिनं सन्निधापयन्ति, यथा हि 'मातरि भक्त्या प्रवर्त्तितव्यम्' इत्युक्ते यद्यपि स्वस्यामिति नोच्यते तथापि स्वस्यां मातरीति गम्यते ।" (न्यास ८.४.३)

यहां पर 'सन्निधापयन्ति' के स्थान पर 'सम्बन्धिशब्दः' इस एकवचनान्त कर्त्ता के अनुसार 'सन्निधापयति' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग पढ़ना चाहिये, अथवा कर्तृपद को ही बहुवचनान्त बना कर 'सम्बन्धिशब्दाः' पाठ पढ़ना चाहिये । हरदत्तमिश्र ने न्यासीय-पाठ का अनुकरण करते हुए लिखा है—

'सम्बन्धिशब्दो नियतमेव प्रतियोगिनमुपस्थापयति, तद्यथा—मातरि वर्त्तितव्यं पितरि शुश्रूषितव्यमिति, न चोच्यते स्वस्यां मातरि, स्वस्मिन् पितरीति । अथ च सम्बन्धादेतद् गम्यते यस्य या माता तस्यामिति, यो यस्य पिता तस्मिन्निति ।' (पदमञ्जरी ८.४.३)

[५.८९] वाहनमाहितात् (८.४.८) सूत्र पर न्यासकार लिखते हैं—

'उह्यतेऽनेनेति करणे ल्युट् । अत एव निपातनादुपधादीर्घः ।'

यहां पर हरदत्तमिश्र संशोधन प्रस्तुत करते हुए पदमञ्जरी में लिखते हैं—

'उह्यतेऽनेनेति वाहनम्—शकटादि, करणे ल्युट्, अस्मादेव निपातनादुपधावृद्धिः ।' (पदमञ्जरी ८.४.८)

न्यासकारोक्त 'उपधादीर्घः' की अपेक्षा हरदत्तमिश्रोक्त 'उपधावृद्धिः' कथन ही अधिक उपयुक्त है । घञ् आदि कृत्प्रत्ययों के परे पाणिनीयव्याकरण में उपधावृद्धि का ही विधान हुआ करता है उपधादीर्घ का नहीं[1] । दीक्षित आदियों ने भी यहां उपधावृद्धि का ही प्रतिपादन किया है—

---

१. न्यासकार पर यहां चान्द्रप्रभाव की सम्भावना कल्पित की जा सकती है । चान्द्र-व्याकरण में 'ञ्णिति' (चान्द्र० ६.१.६) सूत्र द्वारा उपान्त अकार को वृद्धि न कर दीर्घ आकार का ही विधान किया जाता है ।

'वहतेर्ल्युटि वृद्धिरिहैव सूत्रे निपातनात्।' (सि० कौ० पू० पृ० ५६४)

सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याता बालमनोरमाकार का यहां 'उपधादीर्घः' का निर्देश करना प्रमादज समझना चाहिये।

जैनेन्द्रव्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी ने यहां वह् धातु से ल्युट् ला कर 'वहनम्' बना कर पुनः प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिक अण् करने पर 'वहनमेव—वाहनम्' इस प्रकार प्रक्रियामार्ग भी दर्शाया है (देखें जैनेन्द्रमहा० पृ० ४१३)।

[५.६०] उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८.४.१४) सूत्र पर काशिका के 'णोपदेशस्येति किम्? प्रनर्दति, प्रनर्दकः' इस प्रघट्टक की व्याख्या करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'सत्यप्यच्परत्वेऽच्परोऽयं णोपदेशो न भवति, नृतिनर्दिनन्दिनक्किनाथृनवर्जम् इत्यपवादविधानात्।' (न्यास ८.४.१४)

यहां का पाठ असंगत होने से भ्रष्ट है। सम्भवतः न्यासकार णोपदेश का व्याख्यान करते हुए षोपदेश के चक्कर में पड़ गये, क्योंकि षोपदेश में ही अच्परक या दन्त्यपरक पर ध्यान देना अपेक्षित होता है। 'नृतिनर्दि०' यह पाठ भी भ्रष्ट है इस के लिये देखें (४.१८)।

[५.६१] उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८.४.१४) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

'पूर्वपदाद् इति वर्त्तते। असमासे भवति पूर्वपदत्वम्। रूढिशब्दो हि पूर्वपदशब्दः पूर्वमाश्रितः, स एव चेहानुवर्त्तते, स च समास एव सम्भवति।'

यहां पर 'असमासे भवति पूर्वपदत्वम्' के स्थान पर 'समासे भवति पूर्वपदत्वम्' पाठ उचित है, अत एव 'स च समास एव सम्भवति' कहा गया है।

[५.६२] आनि लोट् (८.४.१६) सूत्र पर 'आनि' में आकारग्रहण का प्रयोजन बतलाते हुए न्यास में निम्नस्थ पाठ मुद्रित मिलता है—

"आनीत्याकारोच्चारणं किमर्थम्? यदागमो न भवति तदा शुद्धस्य निशब्दस्य स्यादित्येवमर्थम्। ननु च नित्यमेव आडागमेन भवितव्यम्, न हि तद्विधौ विकल्पोऽस्ति? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—अनित्यमागमशासनमिति। तेनापि 'शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः' इत्यादयः प्रयोगाः सिद्धा भवन्तीति।" (न्यास प्राच्यसं० ८.४.१६)

यहां पर 'यदागमो न भवति तदा शुद्धस्य निशब्दस्य स्यादित्येवमर्थम्' यह पाठ असङ्गत होने से भ्रष्ट है। यहां पर राजशाहीसंस्करण में 'स्यादित्येवमर्थम्' के स्थान पर 'भूदित्येवमर्थम्' ऐसा पाठ मुद्रित हुआ था। वहां 'भूत्' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि 'मा' शब्द का लिखना लिपिकरप्रमाद या मुद्रणप्रमाद से छूट गया है। परन्तु प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने 'भूत्' के स्थान पर 'स्यात्' पाठ देकर सारी

बात ही बिगाड़ दी और आगे के लिये पाठ के शोधन की संभावना तक समाप्त कर दी। यहां का शुद्ध पाठ इस तरह समझना चाहिये।

'यदागमो न भवति तदा शुद्धस्य निशब्दस्य मा भूदित्येवमर्थम्।'

इसी प्रकार—तेनापि 'शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः—' में 'तेनापि' के 'अपि' शब्द की संगति नहीं लगती। यहां पर भी प्राच्यसंस्करण के सम्पादकमण्डल की महती अनवधानता व्यक्त होती है। उन्हों ने उदाहरणार्थ उद्धृत श्लोक के 'अपि' शब्द को उद्धरणचिह्नों से बाहर रख कर पाठकों में बुद्धि-भ्रम उत्पन्न कर दिया है। शुद्ध पाठ इस तरह समझना चाहिये—तेन 'अपि शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः'।

[५.९३] **अनि लोट्** (८.४.१६) सूत्र पर 'लोडिति किम्? प्रवपानि मांसानि' इस काशिकावचन की व्याख्या करते हुए न्यास के प्राच्यसं० में यह पाठ मुद्रित हुआ है—

'प्रवपानि मांसानीति। प्रकृष्टा वपा येषामिति बहुव्रीहिः, **जश्शसोः शिः** इति शिरादेशः, **नपुंसकस्य झलचः** इति नुम्, **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** इति दीर्घः—प्रवपानीति। अत्र लोड्ग्रहणान्न भवति। **प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च** इत्यनेन तर्हि कस्मान्न भवतीति? भवत्येव पक्षे। ननु चोपसर्गादिति वर्त्तते, न चानि प्रति प्रशब्दस्योपसर्गत्वम्, किं तर्हि? वपिं प्रति, तस्मादुपसर्गत्वाभावादेव न भविष्यतीति किं लोड्ग्रहणेन? नैतदस्ति, मूलोदाहरणेष्वपि तर्हि न स्यात्।' (न्यास ८.४.१६)

यहां पर न्यास में 'किं तर्हि? वपिं प्रति' यह अंश बुद्धिग्राह्य नहीं, क्योंकि 'प्रकृष्टा वपा येषां तानि प्रवपानि' इस बहुव्रीहिसमास में वप् धातु के प्रति 'प्र' की उपसर्गता कहां है? यह तो 'वपा' शब्द का विशेषण है। प्राच्यसंस्करण के सम्पादकों ने यहां पर अपने टिप्पण में लिखा है कि उन्हों ने 'कृषिं प्रति' इस मुद्रित (राजशाहीसंस्करणस्थ) पाठ को बदल कर 'वपिं प्रति' कर दिया है। परन्तु उन्हों ने ऐसा करने का कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया। वस्तुतः सम्पादकयुगल ने अनवधानतावश न्यास के मुद्रित शुद्ध पाठ को भी अशुद्ध बना कर भ्रष्ट कर दिया है। सम्भवतः उन्हों ने यह समझा कि न्यासकार लोट्घटित मूलोदाहरण 'प्रवपानि' रूप की चर्चा चला रहे हैं अतः 'वपिं प्रति' लिखना चाहिये, परन्तु उन का ऐसा समझना ठीक नहीं। कारण कि न्यासकार ने यहां 'प्रकृष्टा वपा येषाम्' इस विग्रहगत 'प्रकृष्टा' शब्द को दृष्टि में रख कर 'प्र' की 'कृषिं प्रति' उपसर्गता कही है जो अत्यन्त समुचित है। मूलोदाहरण के विषय में तो न्यासकार स्वयं आगे 'मूलोदाहरणेष्वपि तर्हि न स्यात्' कह कर आशंका प्रकट कर रहे हैं। अतः 'वपिं प्रति' यह पाठ सर्वथा अशुद्ध है, उस के स्थान पर पुनः राजशाही संस्करण का 'कृषिं प्रति' पाठ रखना चाहिये।

[५.९४] **शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे** (८.४.१८) सूत्र पर न्यास में काशिका का उद्धृत 'प्रणिपेक्ष्यतीति' यह प्रतीक अशुद्ध है, यहां पर 'प्रनिपेक्ष्यतीति' पाठ चाहिये। 'पिष्' धातु उपदेशावस्था में षान्त है अतः इस के परे रहते प्रकृतसूत्र से णत्व का

विधान नहीं हो सकता। मूल में कहा भी है—'उपदेशग्रहणं किम्? इह च प्रतिषेधो यथा स्यात्—प्रनिचकार, प्रनिचखाद, प्रनिपेक्ष्यतीति।' हरदत्तमिश्र ने यहां प्रतीक ठीक उद्धृत किया है।

इसी प्रकार इसी सूत्र पर "अपि चोपदेशग्रहणे सति 'प्रणिचकार, प्रणिचखाद' इत्यभ्यासस्य कुहोचुः इति चुत्वे प्रतिषेधो न स्यात्, अकखादित्वात्" इस न्यासीय पाठ में भी 'प्रणिचकार, प्रणिचखाद' के स्थान पर 'प्रनिचकार, प्रनिचखाद' पाठ चाहिये। यही मौल पाठ है जो ऊपर दिया गया है। हरदत्तमिश्र ने यहां पर भी शुद्ध प्रतीक उद्धृत किया है।

यह लिपिकारों की ही अशुद्धि प्रतीत होती है।

[५.९५] हलश्चेजुपधात् (८.४.३१) सूत्र में काशिकाकार ने 'विभाषा' का अनुवर्त्तन किया है। इस पर टिप्पण करते हुए न्यासकार का निम्नस्थ वचन प्राच्यसंस्करण में मुद्रित हुआ है—

'चकारो विभाषेत्यनुकर्षणार्थः, तेनोत्तरत्र भवति।' (न्यास ८.४.३१)

यहां पर न्यासकार का 'उत्तरत्र भवति' यह वचन अपूर्ण है क्योंकि 'उत्तर में क्या होता है?' इस जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं होती। प्रतीत होता है कि यहां न्यासकार 'चाऽनुकृष्टं नोत्तरत्र' इस न्याय के आश्रयण से यह बतलाना चाहते हैं कि इस से अग्रिम सूत्र में 'विभाषा' का अनुवर्त्तन नहीं होगा अतः वहां नित्य विधि होगी। इस तरह यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार होगा—

'चकारो विभाषेत्यनुकर्षणार्थः, तेनोत्तरत्र नित्यो विधिर्भवति।'

न्यास के राजशाहीसंस्करण में यहां शुद्ध पाठ दिया भी हुआ है।

[५.९६] यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८.४.४५) सूत्र पर काशिका के उदाहरण 'त्वङ्मयम्' की सिद्धि दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'वाङ्मयमिति। नित्यं वृद्धशरादिभ्यः इति मयट्। त्वङ्मयमिति। अत्रापि मयड्वैतयोरित्यादिना।' (न्यास ८.४.४५)

यहां पर 'त्वङ्मयम्' में मयड्वैतयोः० (४.३.१४३) से वैकल्पिक मयट् नहीं हो सकता क्योंकि नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४.३.१४४) द्वारा नित्य मयट् उस का बाध कर लेता है। अत एव वहां कहा भी गया है—'एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति'। त्वच्, वाच् दोनों एकाच् हैं। न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती ने अपनी एक टिप्पणी में यहां ठीक ही कहा है—

'इदं चिन्त्यम्। एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्तीति नित्यग्रहणस्य नित्यं वृद्धशरादिभ्यः इत्यत्र फलम्। तेनानेनैवात्र मयट्। वाच्त्वच्शब्दस्यैकाच्त्वात्।'

(न्यास राजशाही सं० फुटनोट ८.४.४५)

[५.९७] अचो रहाभ्यां द्वे (८.४.४६) सूत्र पर 'अपह्नुते' की सिद्धि दर्शाते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'अह्नोति। अत्राऽप्यकारादेवाच उत्तरो हकारः, तस्मादपि परो मकारो यरिति। अपह्नुत इति। अत्राप्यकारादुत्तरो हकारः। पूर्ववच्छपो लुक्। तस्मात्परस्य नकारस्य द्विर्वचनम्।' (न्यास ८.४.४६)

यहां पर 'पूर्ववच्छपो लुक्' पाठ संगत नहीं होता, क्योंकि इस से पहले कहीं शप् के लुक् की चर्चा नहीं की गई। परन्तु यदि किंचित् ध्यान से देखा जाये तो यह पाठभ्रष्टता विरामचिह्नों के अस्थानप्रयोग के कारण ही उत्पन्न प्रतीत होती है। यहां का शुद्ध पाठ इस प्रकार लिखा जाना चाहिये—

'अह्नोति। अत्राऽप्यकारादेवाच उत्तरो हकारः, तस्मादपि परो मकारो यरिति। अपह्नुत इति। अत्राप्यकारादुत्तरो हकारः पूर्ववत्। शपो लुक्। तस्मात्परस्य नकारस्य द्विर्वचनम्।'

अब इस पाठ में किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती।

[५.९८] नाऽऽदिन्याऽऽक्रोशे पुत्रस्य (८.४.४८) सूत्र पर 'तत्परे चेति वक्तव्यम्' के व्याख्याप्रसङ्ग में न्यास का निम्नस्थ पाठ दोनों संस्करणों में मुद्रित मिलता है—

'स आदिनिशब्दः परो यस्मात् पुत्रशब्दात् तत्र द्विर्वचनं न भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः।' (न्यास ८.४.४८)

यहां पर 'आदिनिशब्दः' के स्थान पर 'आदिन्शब्दः' या 'आदिन् इति शब्दः' पाठ होना चाहिये। कारण कि तद्शब्द पूर्व का परामर्श कराया करता है। पूर्वस्थ नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य (८.४.४८) सूत्र में न्यासकार ने 'आदिनीति परसप्तमीयम्' कह कर 'आदिन्' शब्द का प्रयोग माना है अतः यहां पर भी उसी पूर्वनिर्दिष्ट का परामर्श होगा न कि 'आदिनि' शब्द का। एतद्विषयक विस्तृत विचार पीछे (३.२९) पर कर चुके हैं।

[५.९९] शश्छोऽटि (८.४.६३) सूत्र पर न्यास के दोनों संस्करणों में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'अत्र वा पदान्तस्य इत्यतः पदान्तग्रहणमनुवर्त्तते, झयो विशेषणार्थम्। तेन शि तुक् इत्यत्र तुकः पूर्वान्तिकरणं छत्वार्थमुपपन्नं भवति, अन्यथा ङः सि धुट् इत्यतो धुड्ग्रहणानुवृत्तेः परस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वान्तिकरणम् अनर्थकं स्यात्।'

(न्यास ८.४.६३)

इस सन्दर्भ द्वारा न्यासकार यह कहना चाहते हैं कि शश्छोऽटि (८.४.६३) सूत्र में वा पदान्तस्य (८.४.५९) सूत्र के 'पदान्तस्य' पद का अनुवर्त्तन हो कर विभक्ति-विपरिणामद्वारा 'पदान्तात्' उपलब्ध हो जाता है, इस से पदान्त झय् से परे ही शकार

को छत्व होता है अन्यथा नहीं।[1] अपने इस कथन को परिपुष्ट करते हुए न्यासकार कहते हैं कि सूत्रकार को भी यहां 'पदान्तात्' का अनुवर्त्तन करना अभीष्ट था तभी तो उन्हों ने शि तुक् (८.३.३१) सूत्र में तुक् का आगम विधान किया अन्यथा डः सि धुट् (८.३.२९) सूत्र से धुट् की अनुवृत्ति आ ही रही थी पुनः 'शि तुक्' सूत्र के स्थान पर 'शि' इतना मात्र सूत्र बना देते तो भी धुट् का आगम तथा परकार्य-छत्व आदि निर्बाध सिद्ध होकर यथेच्छ रूप सिद्ध हो सकते थे। परन्तु मुनिवर जानते थे कि शश्छोऽटि (८.४.६३) सूत्र में 'पदान्तात्' का अनुवर्त्तन किया जायेगा अतः यदि मैं धुट् करूंगा तो वह पूर्वान्त (पूर्व का अन्तावयव अर्थात् पदान्त) नहीं बनेगा अपितु परादि (पर का आद्यवयव अर्थात् शकार का आद्यवयव) बनेगा तब उस के पदान्त न होने से छत्व न हो सकेगा। अतः उन्हों ने अनायासप्राप्त धुट् का मोह छोड़ नये सिरे से तुक् का विधान किया है।

अब इस व्याख्यान के आलोक में यदि हम न्यासकार के इन वचनों—'अन्यथा डः सि धुट् इत्यतो धुड्ग्रहणाऽनुवृत्तेः परस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वान्तिकरणमनर्थकं स्यात्' पर विचार करते हैं तो यहां 'परस्यासिद्धत्वात्' इस हेतु को अनुपपन्न और अनन्वित पाते हैं, क्योंकि पूर्वान्तिकरण (तुग्विधान) की अनर्थकता परकार्य (छत्व) के असिद्ध होने से नहीं अपितु सिद्ध होने से ही हो सकती है। अतः यहां 'परस्याऽसिद्धत्वात्' के स्थान पर 'परस्य सिद्धत्वात्' पाठ होना चाहिये।

[५.१००] झरो झरि सवर्णे (८.४.६५) सूत्र पर 'प्रियपञ्च्ञा' की सिद्धि दर्शाते हुए न्यास में यह पाठ मुद्रित मिलता है—

'प्रियाः पञ्चाऽस्येति बहुव्रीहिः, ततस्तृतीयैकवचनम्। अल्लोपोऽनः इत्यकार-लोपः, स्तोः श्चुना श्चुः इति श्चुत्वं तवर्गस्य। वर्गो वर्गेण सवर्ण इति ङकारश्चवर्गस्य सवर्णः, न त्वयं ञकारो झर्। तेन तस्मिन् परभूते पूर्वस्माद्धलः परस्यापि चकारस्य लोपो न भवति।' (न्यास ८.४.६५)

यहां पर 'वर्गो वर्गेण सवर्ण इति ङकारश्चवर्गस्य सवर्णः' इस पाठ के स्थान पर 'वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्ण इति ञकारश्चवर्गस्य सवर्णः' ऐसा पाठ चाहिये। तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् (१.१.९) सूत्र पर 'वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः' ऐसा ही पाठ काशिका में दिया गया है और यह समुचित भी है। न्यासकार ने भी वहां इसी पाठ की ही व्याख्या की है। 'ङकारः' के स्थान पर तो 'ञकारः' चाहिये ही, अत एव आगे 'न त्वयं ञकारो झर्' में ञकार का ही उल्लेख किया गया है। न्यास के राजशाही संस्करण में 'ञकारः' पाठ दिया भी गया है पर पूर्वांश अशुद्ध है।

यह स्पष्टतः लिपिकरप्रमाद ही समझना चाहिये।

---

१. अत एव विरप्शते (ऋ० ४.४५.१), विरप्शम् (ऋ० ४.५०.३), विरप्शिन् (ऋ० ६.२२.६), चक्शौ, चक्शे आदि में अपदान्त झय् से परे छत्व नहीं होता।

[५.१०१] **नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्** (८.४.६७) सूत्र पर काशिका के 'उदात्तस्वरितपरस्य इति वक्तव्ये उदयग्रहणं मङ्गलार्थम्' इस पाठ की व्याख्या करते हुए न्यास के दोनों संस्करणों में यह पाठ मुद्रित हुआ है—.

'उदात्तस्वरितमिति वक्तव्ये लाघवार्थत्वाद् विस्पष्टार्थत्वाच्चोदयग्रहणं मङ्गलार्थमिति ।' (न्यास ८.४.६७)

यहां पर न्यास का 'उदात्तस्वरितपरमिति वक्तव्ये···' इस प्रकार पाठ चाहिये। क्योंकि 'उदय' शब्द की अपेक्षा 'पर' शब्द के प्रयोग में ही लघुता और स्पष्टता व्यक्त होती है। इसी के आधार पर काशिका के मूल में भी 'उदात्तस्वरितपरस्य इति वक्तव्ये···' के स्थान पर 'उदात्तस्वरितपरमिति वक्तव्ये ··' यह पाठ होना उचित है।

भ्रान्तयो न्यासकारस्य दोषा लिपिकरस्य च ।
भ्रमाः सम्पादकादीनाम् इह संक्षिप्य दर्शिताः ॥१॥
विहिता शतकेनात्र न न्यासस्यावमानना ।
नैव संशोधने हेम्नो दोषमाप्नोति शोधकः ॥२॥

षष्ठ अध्याय

[उपसंहार]

अतिसंक्षेपमाश्रित्य निखिलार्थ-प्रकाशकः ।
ग्रन्थस्य सारभूतोंऽशः षष्ठेऽध्याये निरूपितः ॥

[६.०] कथनीय प्रायः कहा जा चुका है। अब इस उपसंहाराध्याय में समग्र शोध-प्रबन्ध का एक प्रकार से विहंगमदृश्य संक्षिप्ततया साररूपेण उपस्थित करना है, जिस के अवलोकनमात्र से इस प्रबन्ध का कुछ आभास मिल सके।

[६.१] पाणिनीयव्याकरण के काशिकावृत्ति जैसे प्रौढ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर व्याख्याओं का लिखा जाना स्वाभाविक था। अतः काशिका पर अनेक व्याख्याओं, टीकाओं तथा विवरणों की रचना हुई। परन्तु इस समय प्रधानतया इस की दो व्याख्याएं ही उपलब्ध होती हैं—(१) जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास या काशिकाविवरण-पञ्जिका और (२) हरदत्तमिश्रकृत पदमञ्जरी। इन दोनों में न्यास नामक व्याख्या ही प्राचीन है। सम्भवतः यह काशिका की प्रथम व्याख्या ही है क्योंकि इस से पूर्व अन्य किसी व्याख्या का अभी तक कहीं कोई उल्लेख नहीं मिला है। जैसे काशिकावृत्ति अपने से पूर्ववर्त्ती वृत्तिग्रन्थों का सार ले कर संगृहीत की गई है इसी तरह न्यास भी तत्तद्वृत्तिग्रन्थों पर लिखे गये प्राचीन व्याख्यासाहित्य का सार लेकर उद्भूत हुआ है। जिनेन्द्रबुद्धि ने यह सब न्यास के आदि में स्वयं स्वीकार भी किया है।

न्यास नाम का आधार यह व्युत्पत्ति है—न्यस्यते स्थाप्यते दृढीक्रियते मूलोक्तोऽर्थोऽनेनेति न्यासः। अर्थात् मूलोक्त विषय एवं वचनों को स्पष्ट एवं दृढ़ करने वाली व्याख्या को न्यास कहते हैं। न्यास केवल पाणिनीयव्याकरण पर ही नहीं लिखे जाते रहे हैं अपितु पाणिनीयेतर अन्य व्याकरणों पर भी लिखे गये हैं। जिनेन्द्रबुद्धि से पूर्व भी न्यासों की सत्ता का उल्लेख कई जगह पाया जाता है। परन्तु इस समय पाणिनीयव्याकरण पर जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास के सिवाय अन्य कोई न्यास उपलब्ध नहीं होता।

जिनेन्द्रबुद्धि ने सन् ७०० ई० के आसपास इस न्यास की रचना की थी। उन्हों ने अपने ग्रन्थ में ऐसा कहीं कोई निर्देश नहीं दिया जिस से उन के वंश या जन्म-स्थान आदि का कुछ परिचय मिल सके। केवल उन की व्याख्या के प्रत्येक पाद के अन्त में दी गई पुष्पिकाओं में उन के लिये 'श्रीबोधिसत्त्वदेशीयाचार्यजिनेन्द्रबुद्धि' का ही उल्लेख मिलता है। 'बोधिसत्त्वदेशीय' पद का क्या अभिप्राय है यह अभी तक अनिर्णीत है। कुछ लोग जिनेन्द्रबुद्धि को जैन पर इतर बहुत से लोग इन्हें बौद्ध मानते हैं। परन्तु इन के ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्यों से ऐसा कुछ भी प्रमाणित नहीं होता बल्कि इस से विपरीत इन का वैदिकधर्मी होना ही सिद्ध होता है। किञ्च न्यासान्तर्गत कुछ अन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर इन के वंगप्रान्तीय होने की ही अधिक सम्भावना प्रतीत होती है।

वृत्ति (काशिका) का भाव समझाने और उन के दुरूह स्थलों की व्याख्या करने में न्यास का योगदान सर्वप्रसिद्ध है। न्यास ने इस क्षेत्र में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसे अभी तक कोई व्याख्याकार लांघ नहीं सका है। इस में न्यासकार की प्रवाहमयी

अकृत्रिम प्रसादपूर्ण भाषाशैली का भी कम योग नहीं है। न्यासकार जैसी सरल, स्पष्ट और भावबहुल संस्कृत लिखने वाले वैयाकरण कम से कम पाणिनीयव्याकरण में तो बहुत ही कम हुए हैं। सत्य तो यह है कि भाष्यकार के बाद इस तरह की शैली अपनाने वाले वैयाकरणों में न्यासकार का स्थान सर्वोपरि है। जिस प्रकार सिद्धान्तकौमुदी पर वासुदेवदीक्षित की बालमनोरमाटीका सारल्य में अपना उपमान नहीं रखती ठीक यही अवस्था बल्कि इस से भी कहीं अधिक, वृत्ति के व्याख्याताओं में न्यासकार की है। अत एव यह टीका व्याकरणजिज्ञासुओं में आरम्भ से ही अत्यन्त प्रिय होती चली आ रही है। प्रतिपादन और भाषागत सारल्य के अतिरिक्त न्यासव्याख्या में अन्य भी अनेक गुण विद्यमान हैं। इस में मूलवृत्ति से कहीं अधिक विषय का प्रतिपादन किया गया है। वृत्तिकार के कई अस्पष्ट तथा अस्पृष्ट विषयों की भी इस व्याख्या में विशद चर्चा की गई है। चान्द्र आदि व्याकरणों के पाणिनीयतन्त्र पर किये गये कई आक्षेपों का भी इस में परोक्षरूपेण समाधान प्रस्तुत किया गया है।

वृत्तिकार से असहमति या विरोध इस व्याख्या में नगण्य सा पाया जाता है। **नहि वृत्तिं व्याख्यातुमुद्यतस्य तद्विरुद्धं व्याख्यानं युज्यते कर्तुम्** (न्यास १.१.१) यह न्यासकार का उद्‌घोष है अतः न्यास में प्रायः सर्वत्र वृत्त्युक्त मत तथा वचनों का समर्थन ही किया गया है। सम्भवतः इस के न्यास नामकरण का भी यही आधार रहा होगा। न्यासकार वृत्ति के कठिन स्थलों की व्याख्या करते हुए पहले सुन्दर पूर्वपीठिका का अवतरण करते हैं और बाद में वृत्त्युक्त विषय का स्फोरण; इस से जिज्ञासुओं के अन्तस्तल तक विषय का प्रवेश बड़ी सरलता से हो जाता है। न्यास में प्रायः सर्वत्र काशिकोक्त रूपों की साधनप्रक्रिया ससूत्र दर्शाई गई है। न्यास का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग इन साधनप्रक्रियाओं को ही समर्पित किया गया है, इस से व्याकरण के आरम्भिक जिज्ञासुओं को वृत्ति समझने में अतीव सुविधा रहती है।

न्यासकार पाणिनि के सूत्रार्थ से हट कर कुछ भी मानने को कदापि उद्यत नहीं होते। वे सम्पूर्ण वार्त्तिकों, उपसंख्यानों इष्टियों एवं परिभाषा आदियों का मूलस्रोत सूत्रपाठ को ही मानते हैं। **सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके। सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्।** इस पद्योक्त सिद्धान्त के मानो वे सच्चे उपासक हैं। इस क्षेत्र में अभी तक कोई वैयाकरण उन की तुलना नहीं कर सका है। वे सूत्रगत पदों से ही वार्त्तिक आदियों की निष्पत्ति कैसे करते हैं—यह देखते ही बनता है। अत एव भारतीय मनीषियों ने न्यास को 'अनुत्सूत्रपद' पदवी से विभूषित किया है। न्यासकार इस अनुत्सूत्रता के कार्य को उच्छृङ्खलता या मनमाने ढंग से कभी नहीं करते, अपितु सर्वत्र अपने आप को शिष्ट प्रयोगों तथा पूर्वाचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा तक सीमित रखते हुए ही निष्पन्न करते हैं। इस कार्य के लिये अपनाए जाने वाले लगभग दो दर्जन उपाय भी उन्हों ने कोई नये आविष्कृत नहीं किये अपितु ये सब प्राचीन एवम् आधुनिक वैयाकरणों के जाने-माने और पदे पदे उपयोग में आने वाले चिरपरिचित उपाय ही हैं।

अनुसन्धाताओं की दृष्टि में न्यास की सब से बड़ी विशेषता उस में प्राचीन

सामग्री का बाहुल्य है। न्यासकार ने व्याकरणविषयक जितनी प्राचीन सामग्री अपने ग्रन्थ में संगृहीत की है शायद महाभाष्य और काशिका के बाद यह पाणिनीयव्याकरण के अन्य किसी ग्रन्थ में अद्ययावत् देखने में नहीं आई है। प्राचीन आचार्यों की अनेक संज्ञाओं, विविध मतों एवं वचनों से यह ग्रन्थ ओतप्रोत है। पाणिनीयसूत्रों के भी कई जगह अनेक प्राचीन पाठों व पाठभेदों की ओर इस में संकेत किया गया है। प्रायशः सम्प्रदायविच्छेद के कारण उत्सन्न कई एक परित्यक्त गणसूत्रों की भी इस में यथावत् व्याख्या प्राप्त होती है जो इस से पूर्व अन्यत्र कहीं उपलब्ध न थी। काशिकावृत्ति जयादित्य और वामन दो विद्वानों की मिली-जुली वृत्ति है और उन दोनों में भी कई स्थानों पर मौलिक मतभेद है—इस का सब से प्रथम व प्राचीन निर्देश हमें न्यास में ही मिलता है। प्रत्याहारसूत्रों तथा **अथ शब्दानुशासनम्** सूत्र के विषय में भी अश्रुतपूर्व विशिष्ट सूचना इस में उपलब्ध होती है। आचार्य पाणिनि के लिये **शालातुरीय** शब्द व्याकरण-ग्रन्थों में सम्भवतः सब से प्रथम न्यास में ही प्रयुक्त हुआ है। न्यासकार किसी सूत्रात्मिका शिक्षा को सर्वत्र उद्धृत करते हैं। इस शिक्षा के लगभग पचास-साठ सूत्र इस में निर्दिष्ट किये गये हैं; **अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा** वाली इदानीं प्रचलित श्लोकात्मिका पाणिनीयशिक्षा का एक भी श्लोक कहीं उद्धृत नहीं है। ये शिक्षासूत्र कहां के हैं? यह अभी तक अज्ञात था। परन्तु हेमचन्द्राचार्य की बृहद्वृत्ति के प्रकाश में अब यह निश्चित हो चुका है कि न्यासकार द्वारा उद्धृत ये शिक्षासूत्र आपिशलि के ही शिक्षासूत्र हैं। वाक्यपदीय के व्याख्याकार वृषभदेव भी इस में सहमत हैं। इस तरह न्यास में पाणिनि से भी पौर्वकालिक आचार्य आपिशलि का एक सूत्रात्मक ग्रन्थ (कुछ अधूरा) हमें देखने को मिलता है। इस के अतिरिक्त आपिशलिव्याकरण का "सकारमात्रमस्तिं धातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः, किं तर्हि? 'स भुवि' इति स पठति।" यह मत भी हमें न्यास द्वारा विदित होता है। इस तरह न्यास ग्रन्थ व्याकरण पर अनुसन्धान करने वालों के लिये एक अपूर्व प्रकाशस्तम्भ का काम देता है, वे व्याकरणशास्त्रविषयक भूत और वर्त्तमान की कई कड़ियों के जोड़ने में इस से पर्याप्त सहायता ले सकते हैं।

व्याकरणशास्त्र के असाधारण और लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् होते हुए भी न्यासकार वेदविषयक पाण्डित्य से प्रायः मण्डित न थे। यही कारण है कि उन्हों ने वैदिकप्रतीकों की व्याख्या करते समय अनेक भयंकर अशुद्धियां की हैं। इन की मुद्गलानी पर स्वर-सम्बन्धी अशुद्धि, उत वा घा स्यालात् को उत वा घा लस्यात् समझ कर की गई भ्रम-पूर्ण व्याख्या तथा **'शन्नो देवीरभिष्टये'** में 'अभिष्टये' को सप्तमी का एकवचन समझना आदि कुछ ऐसी प्रमुख अशुद्धियां हैं जो प्रायः उत्तरवर्त्ती अनेक वैयाकरणों द्वारा बहुधा आलोचित की जाती रही हैं।

न्यासग्रन्थ पर अनेक व्याख्याओं की रचना हुई है। इन में मैत्रेयरक्षितप्रणीत तन्त्रप्रदीप बहुत प्रसिद्ध रहा है। मैत्रेयरक्षित व्याकरणशास्त्र के प्रौढ विद्वान् थे। तन्त्र-प्रदीप के हस्तलेख आज से पचास-साठ वर्ष पहले तक पूर्वी वंगप्रदेश में विद्यमान थे

पर अब उन का कुछ पता नहीं चलता । सम्भव है विशेष यत्न करने पर अब भी इस ग्रन्थ के कुछ अंश प्राप्त हो सकें । तन्त्रप्रदीप पर भी कुछ टीकाओं की रचना की गई है । इन के भी हस्तलेख क्वचित् अभी तक विद्यमान हैं ।

काशिका की दूसरी सब से बड़ी व्याख्या हरदत्तमिश्रकृत पदमञ्जरी है । हरदत्त-मिश्र ने व्याकरण में भूरि परिश्रम किया है वे न्यासकार तथा कैयट की शब्दावली को बहुधा अक्षरश: अपने ग्रन्थ में उद्धृत करते हैं । न्यासकार और कैयट के साक्षात् व परोक्ष उभयविध उल्लेख भी उनके ग्रन्थ में कई स्थानों पर पाये जाते हैं । इस तरह हरदत्त-मिश्र न्यासकार और कैयट के उत्तरवर्त्ती ही सिद्ध होते हैं । कैयट का काल ईस्वीय एकादशशती का पूर्वार्ध ही प्राय: माना जाता है । एतदनुसार हरदत्तमिश्र की स्थिति ईस्वीय एकादशशती के उत्तरार्ध में ही समझनी चाहिये ।

हरदत्तमिश्र व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्ड के भी प्रकाण्ड पण्डित थे । इन्होंने श्रौत, गृह्य एवं धर्म आदि अनेक सूत्रों की भी व्याख्याएं लिखी हैं । अत एव अष्टाध्यायी का वैदिकप्रकरण न्यास की अपेक्षा पदमञ्जरी में अधिक स्पष्ट और सम्यग् व्याख्यात हुआ है । हरदत्त के पिता का नाम पद्मकुमार (पाठा-न्तर—रुद्रकुमार), माता का नाम श्री, ज्येष्ठ भ्राता का नाम अग्निकुमार तथा गुरु का नाम आचार्य अपराजित था । मिश्र ने ग्रन्थ के आदि में शिव को नमस्कार किया है अत: इन का शैव होना सुनिश्चित है । ये दाक्षिणात्य थे—ऐसा पदमञ्जरीगत अनेक अन्त:साक्ष्यों से विदित होता है । मिश्र ने पदमञ्जरी के अतिरिक्त व्याकरण पर 'महापदमञ्जरी' और 'परिभाषाप्रकरण' नामक दो अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे जो अब कालकवलित हो चुके हैं । हरदत्तमिश्र का भी व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त योगदान रहा है; इनके वचनों, मन्तव्यों और व्याख्यानों से माधव, भट्टोजिदीक्षित आदि अनेक उत्तरवर्त्ती वैयाकरण प्रभावित हुए हैं ।

मिश्रजी बहुत अधिक विकत्थनशील हैं । पदमञ्जरी के आरम्भ में इन की दर्पोक्तियां प्राय: साधुजनगर्हित ही समझी जाती हैं । इन्होंने न्यासकार की स्थान स्थान पर आलोचना की है परन्तु इस से न्यासकार की लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं पड़ा है । इस का कारण केवल यही है कि जहां हरदत्त की व्याख्या अतीव गूढपदा और शास्त्रार्थबहुला है वहां न्यासकार की व्याख्या प्रसन्नपदा सरला और सद्योऽर्थप्रत्यायिका है । यही कारण है कि न्यास पर जितनी व्याख्योपव्याख्याओं की रचना हुई है उतनी पदमञ्जरी पर नहीं । यह न्यासकार की लोकप्रियता का ही द्योतक है ।

[६.२] पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर उभयविध उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों पर न्यास-कार का अमिट प्रभाव पड़ा है । न्यासोत्तरवर्त्ती शायद ही कोई वैयाकरण होगा जो न्यासकार के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव से अछूता रहा हो । न्यासप्रतिपादित शतश: व्याख्यानों, मान्यताओं एवं धारणाओं को उत्तरवर्त्ती पूर्वोक्त उभयविध वैयाकरणों ने मुक्तकण्ठ से अपनाया है । उदाहरणार्थ **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (७.२.३७) पर विहितविशेषण-

पक्ष, **लिटचन्यतरस्याम्** (२.४.४०) पर 'प्रकृत्यन्तरस्य घसेरसार्वत्रिकः प्रयोगः', **अकथितं च** (१.४.५१) पर 'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा', **वनो र च** (४.१ ७) पर 'अवावरी' प्रयोग की निष्पत्ति, **कृत्याः** (३.१.९५) में बहुवचन प्रयोग का हेतु, ओहाक् धातु में ककारानुबन्ध का प्रयोजन, **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) का योगविभाग, **शिवादिभ्योऽण्** (४.१.११२) में विश्रवण और रवण शब्दों का आदेशत्व, **सनाशंसभिक्ष उः** (३.२.१६८) में सन् से सन् धातु के ग्रहण न करने का ज्ञापक, **ददातिदधात्योर्विभाषा** (३.१.१३९) सूत्र की उपयोगिता, **ऊरूत्तरपदादौपम्ये** (४.१.६९) में 'उत्तरपद' के ग्रहण का प्रयोजन, **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२.३.१९) में 'युक्त' ग्रहण का प्रयोजन, **हो हन्तेर्०** (७.३.५४) में श्तिप्-निर्देश का धातुनिर्देशार्थक होना आदि नाना नव्य-भव्यार्थ सैंकड़ों विषय हैं जो आधुनिक वैयाकरणों ने न्यास से ही प्राप्त किये हैं। इन में से कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हो सकते हैं जो न्यासकार को भी पूर्वमनीषियों से विरासत में मिले हों परन्तु आज वे हमें न्यास से पूर्ववर्त्ती किसी ग्रन्थ में मिल नहीं रहे अतः हम उन्हें न्यासकार की स्वोपज्ञा ही मान रहे हैं, कालान्तर में कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों व वृत्तियों के उपलब्ध होने पर उन की उपज्ञा में कुछ फेर-बदल भी सम्भव हो सकता है।

[६.३] न्यासकार की कई बातों एवं मतों का उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने जम कर विरोध व खण्डन भी किया है। निदर्शनार्थं न्यासकार ने 'अग्रेवणम्' को संज्ञा माना है जिसे उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने नितान्त अस्वीकार किया है; न्यासकार ने 'यवलपरे यवला वा' (वा० ८.३.२६) वार्त्तिक में विधीयमान अणों से भी सवर्णग्रहण माना है जो पाणिनि के **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (१.१.६९) सूत्र के अनुसार उपपन्न नहीं हो सकता; 'मज्जति' आदि की प्रक्रिया में विपरीतक्रम आदि कुछ ऐसी बातें भी हैं जो बुद्धि और युक्ति दोनों की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं। न्यासकार की कुछ बातों का उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने भाष्य को परमप्रमाण या एकान्तप्रमाण मान कर भी खण्डन किया है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि न्यासकार **उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** इस आधुनिक प्रवाद के समर्थक नहीं हैं। यह प्रवाद उन के काल में सम्भवतः उद्भूत नहीं हुआ था, अथवा यदि उद्भूत हुआ भी था तो दृढ़मूल न था अभी आरम्भिक स्थिति में ही था। अतः न्यासकार भाष्यकार को एक आचार्य का दर्जा तो देते हैं पर उन की दृष्टि में जैसे अन्य अनेक पूर्ववृत्तिकार आचार्य हैं वैसे भाष्यकार भी उन में अन्यतम हैं। वे अन्य आचार्यों के मुकाबले पतञ्जलि को उत्कृष्ट या पतञ्जलि की अपेक्षा अन्य आचार्यों को निकृष्ट नहीं समझते। पर इस में सन्देह नहीं कि वे सूत्रकार के परम भक्त हैं, अत एव वे कई स्थानों पर पाणिनि के मत की अपेक्षा भाष्यकार के मत को तुच्छ या हेय भी कह देते हैं। निम्नस्थ चार स्थल यहां न्यास के विशेष अनुसन्धेय हैं जिन से न्यासकार का मन्तव्य सुष्ठुतया व्यक्त हो जाता है—

१) "पट्विकेति। अत्र विप्रतिषेधेन ह्रस्वत्वं भविष्यति। केन पुनः पुंवद्भावः ?

यावता तसिलादिषु परिगणनं कृतम्। न च तत्र क-प्रत्ययः परिगणितः। एतद् भाष्यकारः प्रष्टव्यो यः परिगणनं करोति न तु सूत्रकारः।" (न्यास ६.३.४२)

२) "इत्येवमादयोऽन्येऽपि बहवो दोषाः प्रत्येकं हलां संज्ञित्वे भाष्य उद्भाविताः। यद्यपि तत्रैव ते कथंचित् प्रयासेन परिहृतास्तथापि यस्तु तत्परिहारेण प्रतिपत्तौ साध्यायां प्रतिपत्तिगौरवदोष आपद्यते सोऽपरिहार्य एव। समुदाये तु संज्ञिनि दोषशङ्कापि नास्ति। तस्मात् स एव संज्ञी युक्त इत्यालोच्याह समुदायः संज्ञीति।" (न्यास १.१.७)

३) तसिलादिष्वाकृत्वसुचः (६.३.३५) सूत्र पर काशिकाकार ने उन तद्धित-प्रत्ययों का परिगणन किया है जिन के परे रहते पुंवद्भाव किया जाता है। इस पर न्यासकार लिखते हैं—

'तसिलादिषु परिगणनं कर्त्तव्यमिति भाष्यकारस्य मतमेतत्, न तु सूत्रकारस्य। न चासति परिगणने किंचिदनिष्टमापद्यते। तसिलादिषु अनन्तर्भूतेषु पुंवद्भाव इष्यते, तेषूत्तरसूत्रे चकारस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् भविष्यति। येषु तसिलादिष्वन्तर्भूतेषु नेष्यते, तत्र न कोपधायाः इति नेति योगविभागान्न भविष्यतीति। दोषः खल्वपि परिगणने—दरच्छब्दात् कप्रत्यये कृते दारदिकेत्यत्र पुंवद्भावो न प्राप्नोति, कप्रत्ययस्य अपरिगणितत्वात्।' (न्यास ६.३.३५)

४) महाभाष्य में ञमङणनम् सूत्र के मकार अनुबन्ध का प्रत्याख्यान किया गया है। इस पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए न्यासकार लिखते हैं—

'एवमनेकचोद्यपरिहारेण आगमिनोर्भ्भोरभावाद् हेतोरागमाभावप्रतिपत्तौ साध्यायां महाप्रतिपत्तिगौरवं स्यात्। तस्मादयुक्तं मकारप्रत्याख्यानमिति भावः।'

न्यासकार का यह मन्तव्य (भाष्यकार को एकान्तप्रमाण न मानना) कोई नया भी नहीं है। काशिकाकार भी स्वयं इसी विचार के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, अत एव काशिका के अनेक स्थानों पर भाष्यकार के मत के विरुद्ध पूर्ववृत्तिकारों के मत का समर्थन व अनुसरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यासकार के काल तक कात्यायन और पतञ्जलि को पूर्ण मुनित्व या ऋषित्व प्राप्त नहीं हुआ था। इस विषय में शबरस्वामी का निम्नस्थ वचन विशेष द्रष्टव्य है—

'सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम् असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य।'

(मीमांसाशाबरभाष्य १०.८.४)

यदि इस काल में उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् का उद्घोष हो चुका होता या इसे सर्वस्वीकृति प्राप्त हो चुकी होती तो शबरस्वामी यह वचन न लिखते। किञ्च वाक्यपदीय के व्याख्याकार पुण्यराज वाक्यपदीय २.२८१ पर वार्त्तिककार और भाष्यकार के मतों की आलोचना के प्रसङ्ग में कहते हैं—

'भाष्यकारस्तु अभिप्रायानभिज्ञ एव।'

इस से भी न्यासप्रतिपादित उपर्युक्त मन्तव्य की ही पुष्टि होती है। वस्तुतः यदि तटस्थ बुद्धि से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् इस उद्घोष से व्याकरण की प्रगति को बहुत हानि पहुंची है। व्याकरण-

शास्त्र का जो स्वच्छ प्रवाह कात्यायन, पतञ्जलि, काशिकाकार और न्यासकार आदि के समय में प्रवाहित हो रहा था वह रुक सा गया। पाणिनीय वैयाकरणों की सारी शक्ति भाष्यकार के तात्पर्य तथा उन के इंगित और निमिषित को समझने के लिये बाल की खाल उधेड़ने में ही लगने लगी, स्वतन्त्र चिन्तन अवरुद्ध सा हो गया। भाषा के प्रवाह में समयानुसार अनेक नवीन प्रयोग आया ही करते हैं यह स्वाभाविक है अतः इन का अन्वाख्यान किसी न किसी प्रकार होना ही चाहिये। हम महाभाष्य को एकान्त प्रमाण मानकर बैठ गये, इस से हमारी प्रगति रुक गई और हम तत्तत्प्रयोगों को अपशब्द मान कर व्यर्थ के ही झमेले में पड़ गये। पाणिनीयेतर व्याकरणशास्त्रों की उत्पत्ति का भी प्रधानतया यही रहस्य रहा है। परन्तु न्यासकार का दृष्टिकोण विशाल है; वे भाष्यकार को एकान्तप्रमाण मान कर नहीं चलते; उन के द्वार अनावृत हैं, अनुसूत्रपदत्व के कारण उन्हें कोई कठिनाई भी नहीं होती। नये नये प्रयोगों के स्वागत के लिये उन्हों ने कितने ही मार्ग खोल रखे हैं। बस शर्त केवल इतनी ही है कि वे प्रयोग शिष्टप्रयुक्त हों या आचार्य परम्परा से प्राप्त।

[६.४] काशिका के मुद्रित संस्करणों के पाठों की भी यहां कुछ चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। आज काशिका के शतशः पाठ इतने भ्रष्ट हो चुके हैं कि पदे पदे व्यामोह हो कर पठन-पाठन में महान् अन्तराय उत्पन्न हो जाता है। पाठों की यह अव्यवस्था तो बहुत प्राचीनकाल से ही चली आ रही थी; सिद्धान्तकौमुदी के प्रचार में आ जाने से इस की दशा और भी विगड़ गई। परन्तु इस में आधुनिक सम्पादकाचार्यों की बुद्धि का भी कम योगदान नहीं है। वे भी अपनी बुद्धि के अनुसार अवगत तथा अनवगत पाठों में मनमानी करते रहते हैं। **नपुंसकाच्च** (७.१.१९) सूत्र पर काशिकागत 'कुण्डे तिष्ठतः' उदाहरण में प्रथमा के द्विवचनान्त कुण्डशब्द का प्रयोग था, परन्तु प्राच्य-भारतीसंस्करण के मान्य सम्पादक ने 'कुण्डे' को सप्तम्येकवचनान्त समझ कर उसके साथ क्रिया का सुष्ठु अन्वय चाहते हुए 'तिष्ठतः' को 'तिष्ठति' कर 'कुण्डे तिष्ठति' पाठ कर दिया। इसी प्रकार किसी ने काशिकागत 'विहतम्' को अशुद्ध जान 'विहितम्' कर दिया, किसी ने 'न तु' को 'ननु' समझकर वैसा छाप दिया, किसी ने 'अभ्यासे नास्ति' को 'अभ्यासेन नास्ति', 'कार्यी नास्ति' को 'कार्यं नास्ति' छाप दिया। **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (७.३.७४) सूत्र में स्पष्टतः 'अष्टानाम्' कहा गया है परन्तु काशिका के अद्ययावत् सब मुद्रित संस्करणों में सात धातुओं के ही उदाहरण मिलते हैं आठवीं धातु का कहीं पता भी नहीं चलता। यही अवस्था **शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्** (३.२.१४) सूत्रस्थ उदाहरणों की भी है। इस प्रकार काशिका के पाठों की प्रत्येक संस्करण में दुर्दशा ही होती चली आ रही है। परन्तु इतना होने पर भी मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि अब भी कोई उत्साहसम्पन्न अष्टाध्यायी के क्रम का सम्यक् ज्ञाता परिश्रमी विद्वान् न्यासग्रन्थ का आश्रय लेकर काशिका के इन पाठों के शोधन का शुद्धहृदय से प्रयत्न करे तो काशिका के अधिकांश पाठ शुद्ध किये जा सकते हैं। इस में पदमञ्जरी से भी पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। न्यास की सहायता से न केवल काशिका के अपितु महाभाष्य,

पदमञ्जरी, अभयनन्दिप्रणीत जैनेन्द्रमहावृत्ति, माधवीयधातुवृत्ति एवं विट्ठलकृत प्रसाद आदि के भी अनेक भ्रष्ट और असंगत पाठों को शुद्ध किया जा सकता है। कारण स्पष्ट है—कुछ तो न्यासकार के उपजीव्य हैं और किसी का न्यासकार उपजीव्य।

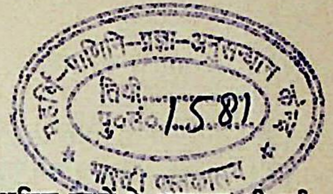
[६.५] न्यासग्रन्थ के शोधपूर्ण इस अध्ययन में यदि न्यास के सम्पादन की चर्चा न की जाये तो यह कृतघ्नता की पराकाष्ठा होगी। आज से ६०-७० वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ पूर्णतया लुप्तप्राय हो चुका था। इस के कुछ प्राचीन हस्तलेख भारत के विभिन्न प्रान्तों में क्वचित् खण्डशः प्राप्य थे पर समग्र ग्रन्थ कहीं पर भी प्राप्य न था। विद्वज्जन इस का नाम भी भूल चुके थे। इस अवस्था में दैववशात् राजशाही स्थित वरेन्द्र-रिसर्च-सोसाइटी को इस लुप्तप्राय ग्रन्थ के रक्षण की चिन्ता उत्पन्न हुई। उस ने ढाका विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्ती को इस के सम्पादन का कार्य सौंपा। चक्रवर्त्ती महोदय ने बंगाल, मैसूर, केरल, नेपाल, बनारस, काश्मीर, लाहौर, इलाहाबाद, मद्रास्, बड़ौदा, अहमदाबाद आदि विविध स्थानों से पुष्कल द्रव्य व्यय करके बड़ी कठिनाई से इस के खण्डशः प्राप्त विविध हस्तलेखों का संकलन कर बारह वर्षों के कठिन अध्यवसाय द्वारा इस ग्रन्थ का येन-केन-प्रकारेण सम्पादन सम्पन्न किया। इस काल में चक्रवर्तीजी को जिन जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा इस का संक्षिप्त वर्णन उनकी आंगल भाषा की भूमिका में देखा जा सकता है। अस्तु। किसी तरह इस लुप्यमान ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन हो गया। यह उस काल की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी जबकि इस के प्रकाशक इस के समग्र प्रकाशन की आशा भी छोड़ चुके थे। इस तरह चक्रवर्तीजी का यह अध्यवसाय चिरकाल तक वैयाकरणों और प्राच्यविद्या के प्रेमियों में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा—इस में कोई सन्देह नहीं। पर इस का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि यह कार्य पूर्णतया शुद्ध और सुचारुरूपेण सम्पन्न हो चुका है और अब इस में आगे किसी अन्य सुधार की गुंजाइश ही नहीं रही। क्योंकि तब यह कार्य नितान्त आरम्भिक था, इसे किसी न किसी तरह छाप देने की ही धुन थी, इस के शुद्धाशुद्ध मुद्रण की तब विशेष चिन्ता न थी। इस के अतिरिक्त मानवसुलभ प्रमाद के कारण भी इस में कितनी ही त्रुटियां व अशुद्धियां रह गईं, कुछ का Errata (शुद्धिपत्र) भी ग्रन्थान्त में जोड़ा गया पर फिर भी अनेक त्रुटियां व मुद्रणप्रमाद रह गये जो उस चिन्तावस्था में सुधारे नहीं जा सकते थे। यह सब द्वितीय संस्करण में अपेक्ष्यमाण था। परन्तु खेद है कि इस के दूसरे संस्करण (तारा-पब्लिकेशन वाराणसी द्वारा मुद्रित) में भी सम्पादकों ने कुछ भी परिश्रम नहीं किया, इसे पूर्वापेक्षया शुद्धतर छापने की बजाय इस के पाठ अनेक स्थानों पर और भी भ्रष्ट कर दिये। इस प्रकार की अशुद्धियों और भ्रान्तियों का दिग्दर्शन कराने के लिये पञ्चमाध्याय में प्रमादों का एक शतक समालोचनापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। यदि इस से न्यास के भावी सम्पादक कुछ लाभ उठा सकें और सावधान हो सकें तो मैं अपने श्रम को सफल मानूंगा। इति शम्॥

आश्रित्य तनुं सरणिं दीपकतुल्यार्थबोधदं नित्यम्।
पूर्वोक्तसारमेतत् षष्ठे प्रतिपादितं निखिलम्॥

परिशिष्ट

[सहायक ग्रन्थों की सूची]

ग्रन्थाः साहाय्यमायाताः प्रबन्धस्यास्य निर्मितौ ।
मुख्या निदर्शनीभूताः प्रदिष्टाः परिशिष्टके ॥



इस शोधप्रबन्ध के लिखने में यद्यपि बहुत अधिक ग्रन्थों से सहायता ली गई है तथापि मुख्यतः निम्नस्थ ग्रन्थों का साहाय्य उल्लेखनीय है—

[पाणिनीयव्याकरणग्रन्थाः]

(१) अपाणिनीयप्रमाणता [नारायणभट्ट], त्रिवेन्द्रम्।

(२) Ashtadhyayi of Panini [Vasu]. Reprint दिल्ली।

(३) अष्टाध्यायीभाष्यम् [दयानन्दसरस्वती], तृतीयाध्यायान्तम्, अजमेर।

(४) अष्टाध्यायीभाष्यम् [प्रज्ञादेवी], तीन भाग, बहालगढ़।

(५) उणादिकोशः, दयानन्दसरस्वतीव्याख्योपेतः, यु० मी०, बहालगढ़।

(६) उणादिकोशः, वेदान्तिमहादेववृत्त्युपेतः, मद्रास् (१९५६)।

(७) उणादिसूत्रवृत्तिः [उज्ज्वलदत्त], जीवानन्दसं० कलकत्ता (१८७३)।

(८) उणादिसूत्राणि, प्रक्रियासर्वस्ववृत्तियुतानि, मद्रास् (१९३३)।

(९) औणादिकपदार्णवः [पेरुसूरि], T. R. Chintamani सम्पादितः।

(१०) काशिकाविवरणपञ्जिका व न्यास [जिनेन्द्रबुद्धि], राजशाही (१९२४)।

(११) काशिकावृत्तिः [जयादित्य + वामन], अनन्तशास्त्रिसंपादिता, चौखम्बा (१९३१)

(१२) काशिकावृत्तिः, उस्मानियाविश्वविद्यालय० हैदराबाद (१९६९)।

(१३) काशिकावृत्तिः, न्यासपदमञ्जरीसहिता, छः भाग, वाराणसी।

(१४) काशिकावृत्तिः, बालशास्त्रिसम्पादिता, लाज्रेसप्रेस बनारस (१९२८)।

(१५) कृदन्तरूपमाला [रामसुब्रह्मण्यशास्त्री आदि], पांच भाग, मद्रास्।

(१६) क्षीरतरङ्गिणी [क्षीरस्वामी], यु० मी० सम्पादिता (१९५७)।

(१७) दशपाद्युणादिवृत्तिः, यु० मी० सम्पादिता, वाराणसी (१९४३)।

(१८) दुर्घटवृत्तिः [शरणदेव], गणपतिशास्त्रिसम्पादिता, त्रिवेन्द्रम् (१९४२)।

(१९) दैवम् [देव], पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्, यु० मी० सम्पादितम् (१९६२)।

(२०) धातुरूपकल्पद्रुमः [गुरुनाथ विद्यानिधि], कलकत्ता (१९२६)।

(२१) धातुप्रदीपः [मैत्रेयरक्षित], श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिसम्पादितः, राजशाही (१९१९)।

(२२) नन्दिकेश्वरकाशिका, उपमन्युकृतटीकोपेता, कलकत्ता (१९३७)।

(२३) पदमञ्जरी [हरदत्तमिश्र], दामोदरशास्त्रिसम्पादिता, बनारस (१८९८)।

(२४) परिभाषावृत्तिः [सीरदेव], चौखम्बाप्रकाशन, बनारस (१८८७)।

(२५) परिभाषासंग्रहः, काशीनाथ-अभ्यङ्करसंपादितः, भाण्डारकर० (१९३५)।

(२६) परिभाषेन्दुशेखरः [नागेशभट्ट], गदाटीकोपेतः, आनन्द आश्रम० पूना।

(२७) पाणिनीयशिक्षा, सव्याख्या, मनमोहनघोषसंपादिता, कलकत्ता (१९३८)।

(२८) पाणिनीयसूत्रपाठस्य तत्परिशिष्टानां च शब्दकोशाः, भाण्डारकर० (१९३५)।

(२९) पाणिनीयसूत्रवृत्तिः [जानकीलाल], शिवदत्तदाधिमथसंस्कृता, जयपुर।

(३०) पाणिनीयसूत्रव्याख्या [वीरराघवाचार्य], दो भाग, मद्रास् (१९५५)।
(३१) प्रक्रियाकौमुदी [रामचन्द्र], विट्ठलकृतप्रसादोपेता, दो भाग, भाण्डारकर०।
(३२) प्रक्रियासर्वस्व [नारायणभट्ट], चार भाग, त्रिवेन्द्रम्।
(३३) प्रक्रियासर्वस्व [नारायणभट्ट], तद्धितप्रकरण, मद्रास् (१९४१)।
(३४) प्रौढमनोरमा [भट्टोजिदीक्षित], शब्दरत्नद्वयोपेता, डा० सीताराम०, काशी।
(३५) प्रौढमनोरमा, बृहच्छब्दरत्नोपेता, वेङ्कटेशलक्ष्मणजोशिसंपादिता, पूना।
(३६) प्रौढमनोरमा, ज्योत्स्ना-प्रभा-कुचमर्दिनीसहिता, चौखम्बा० (१९३४)।
(३७) प्रौढमनोरमा, लघुशब्दरत्नोपेता, ३ भाग, सम्पूर्ण, चौखम्बा०।
(३८) प्रौढमनोरमाखण्डनम् [चक्रपाणि], लाज्रेसप्रेस बनारस।
(३९) फिट्सूत्राणि [शन्तनु], वृत्तित्रय-जर्मन्व्याख्यायुतानि, Leipzig (१८६६)।
(४०) बृहच्छब्देन्दुशेखरः [नागेशभट्ट], डा० सीतारामसंपादितः, वाराणसी (१९६०)
(४१) भागवृत्तिसङ्कलनम्, यु० मी सम्पादितम् (१९६४)।
(४२) भाषावृत्तिः [पुरुषोत्तमदेव], श्रीशचन्द्रचक्रवर्त्तिसंपादिता, राजशाही (१९१८)।
(४३) भाषावृत्त्यर्थविवृतिः [सृष्टिधर], प्रथमो भागः, एशियाटिक्० (१९१२)।
(४४) महाभाष्यम् [पतञ्जलि], डा० कीलहार्नसम्पादितम्, पूना।
(४५) महाभाष्यम्, प्रदीपोद्योतसहितम्, तीन भाग, दिल्ली।
(४६) महाभाष्यम्, प्रदीपोद्योतच्छायासहितम्, पांच भाग, नि० सा० वम्वई।
(४७) महाभाष्यम्, प्रदीपोद्योतादिसहितम्, सम्पूर्ण, गु० प्र० बनारस।
(४८) महाभाष्यदीपिका [भर्तृहरि], अभ्यङ्करसम्पादिता, भाण्डारकर० पूना।
(४९) महाभाष्यपदीपिका, स्वामिनाथन्संपादिता, प्रथम भाग, वाराणसी।
(५०) महाभाष्यशब्दकोशः [श्रीधर+सिद्धेश्वर], भाण्डारकर० पूना।
(५१) माधवीया धातुवृत्तिः [सायण], चौखम्बा० वनारस (१९३४)।
(५२) माधवीया धातुवृत्तिः [सायण], तारापब्लिकेशन बनारस (१९६४)।
(५३) रूपमाला [धर्मकीर्ति], दो भाग, मद्रास्।
(५४) लघुशब्देन्दुशेखरः [नागेशभट्ट], भैरवमिश्रटीका, संपूर्ण, चौखम्बा०।
(५५) लघुशब्देन्दुशेखरः, टीकाषट्कोपेतः, तीन भाग, गु० प्र० बनारस।
(५६) लघुसिद्धान्तकौमुदी [वरदराज], भैमीव्याख्या, चार भाग, दिल्ली।
(५७) वाक्यपदीयम् [भर्तृहरि], अभ्यङ्करसम्पादितं मूलम्, पूना (१९६५)।
(५८) वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम्, व्याख्याद्वयोपेतम्, चारुदेव० (१९३४)।
(५९) वाक्यपदीयम्, द्वितीयकाण्डे प्रथमो भागः, चारुदेव० (१९३६)।
(६०) वाक्यपदीयम्, वृत्तिपद्धतियुतम् ब्रह्मकाण्डम्, सुब्रह्मण्यअय्यर० पूना।
(६१) वाक्यपदीयम्, हेलाराजटीकोपेतम्, तृतीयकाण्डे प्रथमो भागः, पूना।
(६२) वेदाङ्गप्रकाशः [दयानन्दसरस्वती], १४ भाग, अजमेर।
(६३) वैयाकरणभूषणसारः [कौण्डभट्ट], दर्पणभैरवीटीकोपेतः, चौखम्बा०।
(६४) वैयाकरणभूषणसारः, भैमीभाष्योपेतः, धात्वर्थनिर्णयान्तः, दिल्ली।

(६५) व्याकरणकारिकाप्रकाशः [सुदर्शनदेव], गुरुकुल झज्झर (१९६४)।
(६६) व्याकरणचन्द्रोदय [चारुदेव०] पांच भाग, मोतीलाल० दिल्ली।
(६७) व्याकरणदीपिका [ओरम्भट्ट] बनारस (१९१६)।
(६८) व्याकरणमिताक्षरा [अन्नम्भट्ट], दो भाग, चौखम्बा० (१९०६)।
(६९) व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिः [विश्वेश्वरसूरि], चौखम्बा० (१९२४)।
(७०) शब्दकौस्तुभम् [भट्टोजिदीक्षित] चतुर्थाध्यायान्तम्, चौखम्बा० (१९२४)।
(७१) शब्दापशब्दविवेकः [चारुदेव०], जालन्धर (१९५४)।
(७२) सिद्धान्तकौमुदी [भट्टोजिदीक्षित], मूलम्, नि० सा०, चौखम्बा आदि।
(७३) सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनी-शेखरादिसहिता, गु० प्र० काशी।
(७४) सिद्धान्तकौमुदी, वसुकृताङ्ग्लानुवादोपेता, दो भाग, Reprint दिल्ली।
(७५) सिद्धान्तकौमुदी, कुमुदरञ्जनरायकृताङ्ग्लानुवादोपेता, कलकत्ता।
(७६) सिद्धान्तकौमुदी, सभापतिशर्मोपाध्यायकृतलक्ष्मीसहिता, दो भाग।
(७७) सिद्धान्तकौमुदी, तारानाथतर्कवाचस्पतिकृतसरलोपेता, कलकत्ता (१८८४)।
(७८) सिद्धान्तकौमुदी, गोपालशास्त्रिनेनेकृतव्याख्या, चौखम्बा०।
(७९) सिद्धान्तकौमुदी, शिवदत्तदाधिमथटिप्पणयुता, वेङ्कटेश्वर० बम्बई।
(८०) सिद्धान्तकौमुदी, वैदिकी-प्रक्रिया, उमाशङ्कर 'ऋषि', चौखम्बा०।
(८१) स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका [श्रीनिवासयज्वा], मद्रास् (१९३६)।

[पाणिनीयेतर-व्याकरण-ग्रन्थाः]

(१) उणादिसूत्राणि [भोजीय-कातन्त्रीयाणि], वृत्तियुतानि, मद्रास् (१९३४)।
(२) कविकल्पद्रुमः, [बोपदेव], दुर्गादासव्याख्या, जीवानन्द० (१९०४)।
(३) कविकल्पद्रुमः, गजाननबालकृष्णपालसुलेसम्पादितः, पूना (१९५४)।
(४) कातन्त्रव्याकरणम् [शर्ववर्मा], दुर्गसिंहवृत्तिटीकायुतम्, वंगाक्षर, कलकत्ता।
(५) काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् [चन्नवीर], यु० मी० सम्पादितम्, बहालगढ़।
(६) गणरत्नमहोदधिः [वर्धमान], भीमसेनशर्मसम्पादितः, इटावा (१८९४)।
(७) गणरत्नमहोदधिः Julis Eggling सम्पादितः, Reprint दिल्ली।
(८) चान्द्रव्याकरणम् [चन्द्रगोमी], धातुपाठोणादिसहितम् Leipzig (१९०२)।
(९) चान्द्रव्याकरणम्, स्वोपज्ञवृत्तियुतम्, क्षितीशचन्द्र चाटुर्जीसं०, दो भाग, पूना।
(१०) जैनेन्द्रव्याकरणम् [देवनन्दी], अभयनन्दिकृतमहावृत्तियुतम्, ज्ञानपीठ०।
(११) मलयगिरिशब्दानुशासनम् [मलयगिरि], स्वोपज्ञवृत्तियुतम्, अहमदाबाद।
(१२) मुग्धबोधव्याकरणम् [बोपदेव], टीकाद्वयोपेतम्, जीवानन्द० कलकत्ता।
(१३) मुग्धबोधव्याकरणम्, रामतर्कवागीशटीकोपेतम्, एशियाटिक्० (१९११)।
(१४) लिङ्गानुशासनम् [हर्षवर्धन], पृथ्वीश्वरकृतव्याख्या, मद्रास् (१९३१)।
(१५) वामनीयलिङ्गानुशासनम् [वामन], स्वोपज्ञवृत्तियुतम्, यु० मी०, बहालगढ़।
(१६) वैदिकव्याकरण [रामगोपाल] दो भाग, दिल्ली।

(१७) शब्दार्णवचन्द्रिका [गुणनन्दी + सोमदेवसूरि], बनारस (१६१५)।
(१८) शाकटायनव्याकरणम्, [पाल्यकीर्त्ति], चिन्तामणिवृत्तियुतम्, बनारस (१६२१)
(१९) शाकटायनव्याकरणम्, अमोघावृत्तियुतम्, Robert Birwe भूमिका, ज्ञानपीठ०।
(२०) शिक्षासङ्ग्रहः, नानाटीकोपेतविविधशिक्षासमुच्चयः, चौखम्बा (१८८६)।
(२१) सरस्वतीकण्ठाभरणम्, [भोजदेव], T. R. Chintamani सम्पादितम्, मद्रास्।
(२२) सरस्वतीकण्ठाभरणम्, दण्डनारायणकृतहृदयहारिणीसनाथितम्, त्रिवेन्द्रम्।
(२३) संक्षिप्तसारव्याकरणम् [क्रमदीश्वर], गोयीचन्द्रव्याख्योपेतम्, वंगाक्षर, कलकत्ता।
(२४) सारस्वतलघुभाष्यम् [रघुनाथ], वेङ्कटेश्वरप्रेस, बम्बई (१६००)।
(२५) सारस्वतव्याकरणम् [अनुभूतिस्वरूप], टीकाद्वयोपेतम्, चौखम्बा० (१६३६)।
(२६) सिद्धान्तचन्द्रिका [रामाश्रय], टीकाद्वयोपेता, चौखम्बा० (१६३३)।
(२७) श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् [हेमचन्द्र], स्वोपज्ञबृहद्वृत्तियुतम्, बम्बई।
(२८) श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्, आनन्दबोधिनीसहितम्, प्रथम भाग।
(२९) श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्, बृहद्वृत्तिन्यासादियुतम्, ५ भाग।
(३०) श्रीसिद्धप्रभाव्याकरणम्, सूरत (१६३४)।
(३१) हैमलघुप्रक्रिया [विनयविजयगणि०] दो भाग, अहमदाबाद।

[इतिहास- समालोचना-शोधप्रबन्धाः]

(१) आचार्य हेमचन्द्र और उन का शब्दानुशासन० [नेमिचन्द्र], चौखम्बा०।
(२) इत्सिङ्ग की भारतयात्रा, इण्डियनप्रेस प्रयाग (१६२५)।
(३) काशिकायाः समीक्षात्मकमध्ययनम् [प्रज्ञादेवी], वाराणसी।
(४) गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि [कपिलदेव], बहालगढ़।
(५) चान्द्रव्याकरणवृत्तेः समालोचनात्मकमध्ययनम् [हर्षनाथ], दिल्ली।
(६) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास [वेचरदास आदि], पांच भाग, वाराणसी।
(७) जैनसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास [नाथूराम प्रेमी], बम्बई।
(८) पतञ्जलिकालीन भारत [प्रभुदयाल अग्निहोत्री], बिहारराष्ट्रभाषा०।
(९) पाणिनिकालीन भारतवर्ष [वासुदेवशरण अग्रवाल], वाराणसी।
(१०) पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा [भागीरथप्रसाद], वाराणसी।
(११) पाणिनीयव्याकरण का अनुशीलन [रामशङ्कर भट्टाचार्य], वाराणसी।
(१२) प्रक्रियाकौमुदीविमर्शः [आद्याप्रसादमिश्र], वाराणसी।
(१३) व्याकरणदर्शनेर इतिहास [गुरुपदहालदार], वंगभाषा, कलकत्ता।
(१४) व्याकरणवार्त्तिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन [वेदपतिमिश्र], वाराणसी।
(१५) संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास [P.V. काणे], दिल्ली (१६६६)।
(१६) संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास [सुशीलकुमारडे], दो भाग, पटना।
(१७) संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास [यु० मीमांसक] तीन भाग, बहालगढ़।
(१८) संस्कृतशास्त्रों का इतिहास [बलदेव उपाध्याय], वाराणसी।

(१९) संस्कृतसाहित्य का इतिहास [कीथ], दिल्ली (१९६०)।
(२०) संस्कृतसाहित्य का इतिहास [बलदेव उपाध्याय], वाराणसी।
(२१) संस्कृतसाहित्य का इतिहास [V.वरदाचार्य], इलाहाबाद (१९७१)।
(२२) सर्वदर्शनसंग्रहः [माधव], अभ्यङ्करसम्पादितः, भाण्डारकर० पूना।
(२३) हुएनसांग का भारतभ्रमण, इण्डियनप्रस प्रयाग (१९२९)।
(२४) A Critical Study of the S. Dhatupathas [Palsule]. पूना।
(२५) A History of S. Literature [Max Muller], (1912)।
(२६) Critical Studies on the Mahabhasya [V.P. Limaye]।
(२७) Dictionary of Panini [S.M. Katre], Poona.
(२८) Panini : His Place in S.Literature [Goldstucker] (1914).
(२९) Panini : A Survey of Researches [George Cardona].
(३०) Systems of Sanskrit Grammar [S.K. Belvalkar] Poona.
(३१) Technical Terms & Technique of S. Grammar [क्षितीशचन्द्र०].
(३२) The Journal of Vedic Studies [Raghu Vira], Lahore.

[विविध-ग्रन्थाः]

(१) अग्निपुराणम्, मूलम्, आनन्द-आश्रम पूना (१९००)।
(२) अभिधानचिन्तामणिः [हेमचन्द्र], स्वोपज्ञवृत्तियुतः, दो भाग।
(३) अमरकोशः [अमरसिंह], भानुजिदीक्षितकृतव्याख्योपेतः, नि० सा०।
(४) अमरकोशः, वन्द्यघटीयसर्वानन्दकृतव्याख्योपेतः, ४ भाग, त्रिवेन्द्रम्।
(५) अमरकोशः, क्षीरस्वामिव्याख्ययोपेतः, पूना (१९१३)।
(६) ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्योपेता, पांच भाग, पूना।
(७) ऋग्वेदसंहिता, स्कन्दस्वाम्यादिभाष्योपेता, ८ भाग, V.V.R.I. होशियारपुर।
(८) ऋग्वेदसंहिता, स्वामिदयानन्दभाष्योपेता, ९ भाग, अजमेर।
(९) कात्यायनसर्वानुक्रमणी, षड्गुरुशिष्यटीकोपेता Oxford (1886)।
(१०) काव्यालङ्कार [भामह], बिहारराष्ट्रभाषा० पटना (१९६२)।
(११) किरातार्जुनीयम् [भारवि], मल्लिनाथटीकोपेतम्, वाराणसी।
(१२) चतुर्वेद-वैयाकरण-पदसूची, V.V.R.I. होशियारपुर।
(१३) निरुक्तम् [यास्क], स्कन्दमाहेश्वरटीकोपेतम्, लक्ष्मणसरूप० लाहौर।
(१४) नैषधीयचरितम्, नारायणीव्याख्योपेतम्, नि० सा० बम्बई।
(१५) भट्टिकाव्यम् [भट्टि], जयमङ्गलाव्याख्योपेतम्, नि० सा० बम्बई।
(१६) भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री [ठाकुरदास], वेङ्कटेश्वरप्रेस बम्बई।
(१७) मनुस्मृतिः, मेधातिथिभाष्योपेता, दो भाग, एशियाटिक्० कलकत्ता।
(१८) महाभारतम्, नीलकण्ठकृतटीकोपेता, ६ भाग, पूना (१९२९-३४)।
(१९) मीमांसा-शाबरभाष्यम्, ६ भाग, पूना।

(२०) यजुर्वेदसंहिता, उवटमहीधरभाष्योपेता, नि० सा० बम्बई।
(२१) यजुर्वेदसंहिता, स्वामिदयानन्दभाष्योपेता, ४ भाग, अजमेर।
(२२) राजतरङ्गिणी [कल्हण], M.A.STEIN संपादिता लाहौर।
(२३) रामायणम्, मूलम्, मेलापुर—मद्रास्।
(२४) रघुवंशम् [कालिदास], मल्लिनाथटीकोपेतम्, नि० सा०।
(२५) लौकिकन्यायाञ्जलि:,G.A.Jacob संकलितः, ३ भाग, (१९२५)।
(२६) वाचस्पत्यम् [तारानाथतर्कवाचस्पति], छः भाग, कलकत्ता (१८७३)।
(२७) वैदिकपदानुक्रमकोष: V.V.R.I. १६ भाग, होशियारपुर।
(२८) शब्दकल्पद्रुमः [राधाकान्तदेव], छः भाग, कलकत्ता (१८८६)।
(२९) शब्दार्थचिन्तामणिः [सुखानन्दनाथ], चार भाग, उदयपुर।
(३०) शिशुपालवधमहाकाव्यम् [माघ], टीकाद्वयोपेतम्, चौखम्बा० (१९२८)।
(३१) Sanskrit-English Dictionary [मोनियर विलियम्स] Oxford.
(३२) Sanskrit-English Dictionary [V.S. Apte], Poona.
(३३) सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, नि० सा० बम्बई।
(३४) हलायुधकोशः [हलायुध], उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ।

दिङ्मात्रमिह ग्रन्थानां साहाय्यं सम्प्रदर्शितम्।
भूयांसः सन्त्यनिर्दिष्टास्तत्कर्तृभ्यो नमोऽस्तु नः॥

1581




तिथी
पु०सं० 1581


भैमी - प्रकाशन
BHAIMI - PRAKASHAN
प्राप्य वरान् निबोधत